बौद्ध-संस्कृति

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक

आधुनिक पुस्तक भवन

३०-३१, कलाकर स्ट्रीट, कलकत्ता-७

प्रकाशक—
परमानन्द पोद्दार
आधुनिक पुस्तक भवन
३०-३१, कलाकर स्ट्रीट, कलकत्ता—७

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

विश्वभारतीस्थ-

श्रीप्रभातकुमार मुखोपाध्याय

महाशयेषु

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति देशकी सीमासे बाहर प्रायः बौद्ध धर्मके साथ गई, लेकिन यह भी कहना पड़ेगा, कि जहाँ तक इन्दोनेसिया, इन्दो-चीन और अफ़गानिस्तानका संबंध है, साँस्कृतिक प्रचार और प्रसारके इस काममें ब्राह्मणधर्मी भी पीछे नहीं रहे। स्वतन्त्रता खोनेके साथ उन देशोंसे भारतका संबंध नहीं रह गया, जो कि भारतीय संस्कृतिसे आज भी अनुप्राणित हैं। इस विस्मृत संबंधको फिरसे सामने रखनेमें बौद्ध धर्मके ज्ञानने हमारी बड़ी सहायता की, इसमें संदेह नहीं। यदि हम भारतके पुरान कालके उस कर्मठ जीवनके बारेमें जानना चाहते हैं, तो एसियाकी मुख्य-मुख्य भाषाओंमें अब भी मौजूद बौद्ध साहित्य, तथा वृहत्तर भारतका इतिहास और भूगोल हमारी कूपमंडूकता दूर करनेमें सहायक हो सकते हैं।

प्रायः सैंतीस वर्षोंसे दुनियाके भिन्न-भिन्न भूभागोंमें अपने पूर्वजोंके पथ-चिह्नोंको ढूँढ़नेका मेरा प्रयास रहा। कितने ही वर्षोंसे यह भी ख्याल आता रहा, कि इस विषयपर कोई पुस्तक लिखूँ। शायद यह संकल्प कार्यका रूप न लेता, यदि हिन्दुस्तानी एकडमी तथा उसके विद्याव्यसनी मन्त्री डा० धीरेन्द्र वर्माने इसके लिए प्रेरणा ही नहीं, बल्कि कुछ जबर्दस्ती भी न की होती। इस विषयपर हिंदुस्तानी एकडमीमें भाषण देना एक बार स्वीकार कर लेनेपर फिर तो 'शतं विहाय' इसमें हाथ लगाना ही था।

१९४९ ई० की जनवरी-फरवरीमें पुस्तक लिखनेमें श्री अवधबिहारी सिंह 'सुमन' की लेखनीने बड़ी सहायता की। दूसरी तरहसे सहायता करनेवाले इतने मित्र थे, जिन सबका नाम यहाँ देना भी मुश्किल है। सारनाथमें महाबोधि सभाके कर्णधारोंने पुस्तकों और रहने आदिका प्रबंध करके सहायता की। इसी बहाने शांतिनिकेतनमें श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीका आतिथ्य प्राप्त करनेका सौभाग्य हुआ। द्विवेदीजी कहनेको तो उन ब्राह्मणोंमें हैं, जिनके यहाँ अनादि कालसे 'नामांसो मधुपर्को भवति' के महावाक्यको माना जाता रहा, और मांसको कभी अभक्ष्य नहीं समझा गया, लेकिन हैं वह निरामिषाहारी। स्वयं निरामिषाहारी होते हुए भी शांति-निकेतनकी पुण्यभूमिमें पूर्वजोंके महा-वाक्यका उल्लंघन न कर उन्होंने मधुपर्कका प्रबन्ध मेरे लिए किया, इससे उनका सौहार्द और स्नेह प्रकट होता है। प्रभात बाबू जहाँ पुस्तकोंसे सहायता करनेके लिए हर वक्त तैयार रहते थे, वहाँ उन्होंने वृहत्तर भारतके अपने गंभीर ज्ञान और कितने ही अपने हस्तलिखित लेखोंसे लाभ उठानेका अवसर दिया। शांतिनिकेतनका प्रायः एक महीनेका निवास मेरे कामके लिए बहुत सहायक तो हुआ ही, साथ ही वहाँका परिचय और सत्संग बड़ा मधुर रहा। उन लेखकोंका भी आभारी हूँ, जिनकी पुस्तकोंसे मुझे मदद मिली और जिनका नाम जहाँ तहाँ आया है।

हिन्दुस्तानी एकडमीके लिए लिखा भाषण अधिक बढ़ता गया, लेकिन एक बार जब इस विषयमें हाथ लगा दिया, तो काटना छाँटना मुझे पसंद नहीं आया। अब भी जितना विस्तारके साथ इस विषयपर लिखा जाना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है; तो भी इससे वृहत्तर भारतके परिचयके लिए हिन्दी पाठकोंको मदद मिलेगी, यह मुझे विश्वास है। हिन्दुस्तानी एकडमीकी

ओरसे पुस्तकको प्रकाशित करनेमें असमर्थता प्रकट करते हुए जब ग्रन्थको संक्षिप्त करनेका प्रस्ताव हुआ, तो मैंने इसमें अपनी असमर्थता प्रकट की, और इसपर यही निश्चय हुआ, कि पुस्तक कहीं अन्यत्र प्रकाशित की जाय। मैंने आदतसे मजबूर होकर प्रकाशकका प्रबन्ध किये बिना ही पुस्तकको ला जर्नल प्रेसमें दे दिया। सोच लिया, पुस्तकको कंपोज़ होने दो, फिर कोई प्रकाशक मिल ही जायगा। अन्तमें श्री परमानन्द पोद्दार इसके लिए तैयार हो गये। १९४९ ई० की लिखी पुस्तक १९५३ ई० में छपे, यह सचमुच ही मेरे धैर्यसे बाहरकी बात है, किन्तु क्या करता? ला जर्नल प्रेसके सुयोग्य मैनेजरने पुस्तकको शुद्ध और साफ़ छापनेमें कोई कसर उठा नहीं रखी, यह पुस्तक देखने हीसे मालूम होगा। इसके लिए उनका आभारी हूँ।

मसूरी, २७-१२-५२ —राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

भाग १ (भारत, लंका, बर्मा)

अध्याय १

भारत

अध्याय २

लंकामें बौद्धधर्म

अध्याय ३

बर्मा

भाग २ (सुवर्णद्वीप, जावा —इन्दोनेशिया)

अध्याय १

आमुख

भाग ३ (इन्दो-चीन)

अध्याय १

चंपा

अध्याय २

फोनन्

अध्याय ३

कम्बुज (ख्मेर)

अध्याय ३

थाईभूमि (स्याम)

भाग ४ (अफगानिस्तान, मध्यएसिया)

अध्याय १

अध्याय २

पश्चिमी एसिया

पृष्ठ

अध्याय ३

सिङ्-क्याङ (चीनी तुर्किस्तान)

अध्याय ४

खोतन

अध्याय ५

अध्याय ६

कूचा

अध्याय ७

अध्याय ८

इतिहासकी निधियां

अध्याय ६

तुर्क और उइगुर

भाग ५ चीन

अध्याय १

प्रागैतिहासिक चीन

पृष्ठ

अध्याय २

प्रथम बौद्ध धर्मदूत

अध्याय ३

अध्याय ८

पांच वंश और दस रियासतें

अध्याय ९

सुङ-काल (९६०-१२१९ ई०)

अध्याय १०

अध्याय ११

भाग ६ (कोरिया, जापान)

अध्याय १

अध्याय २

भाग ७ (तिब्बत, मंगोलिया)

अध्याय १

अध्याय २

भाग १

भारत, लंका, बर्मा

अध्याय २

लंकामें बौद्धधर्म

§१. सिंहल जाति

लंका भारतका सबसे पुराना उपनिवेश है। परम्पराके अनुसार लाट (गुजरात) देशका राजकुमार विजयसिंह अपने साथियोंके साथ उसी साल ताम्रपर्णी (लंका) में उतरा, जिस साल (ई० पू० ४८३) कि भगवान् बुद्धका निर्वाण हुआ। विजयसिंहके "सिंह" के कारण ही ताम्रपर्णी द्वीपका दूसरा नाम "सिंहल" पड़ा। लंका नाम बहुत पीछे रामायणकी परम्पराके सिंहलमें अतिप्रसिद्ध हो जानेके बाद चिपकाया गया। आजकल यद्यपि निवासियों और भाषाका नाम सिंहल है, किन्तु देशका नाम सिंहलकी अपेक्षा लंका या श्री-लंका अधिक प्रसिद्ध है। अशोकके शिलालेखोंमें यह द्वीप ताम्रपर्णीके नामसे उल्लिखित हैं। रामायण-कथाको लेकर द्वीपका नाम लंका स्वीकार कर लेनेपर सीताकी अशोकवाटिका और दूसरे स्थानोंका भी संकेत बना देना स्वाभाविक है।

सिंहल लोगोंके अतिरिक्त लंकामें चौथाईके करीब तमिल-भाषा-भाषी भी रहते हैं। इनमेंसे अधिकांश उत्तरी लंकामें रहते हैं, जहाँ सिंहल-भाषा अपरिचित हो गई है।

सिंहल-पूर्वज विजय और उसके साथी लाटके थे। यद्यपि पाली 'लाल' का राढ़ और "लाट" दोनों ही बन सकता है, किन्तु विजयके पोत सूप्पारकसे आए थे, जो कि बम्बईके पास सुपाराके नामसे आज भी मौजूद है। निश्चय ही राढ़ (पश्चिमी बंगाल) का राजकुमार लंका जानेके लिए सुपाराके बन्दर पर नहीं जायगा। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्याने सिंहल-भाषाकी परख करके यह भी बतलाया है, कि उसका सम्बन्ध मागधी-वंश नहीं, पश्चिमी भाषाओंसे है। इसका एक प्रमाण सिंहल-भाषाके उच्चारणमें 'श' और 'ण' का अभाव भी है, जो कि मागधी और उसकी पुत्री बँगलाके लिए आत्यावश्यक है।

विजय और उसके साथियोंने ताम्रपर्णी द्वीपके मूल निवासियोंको पराजितकर द्वीपपर अपना अधिकार जमाया। लंकाके मूल निवासी ई. पू. पाँचवीं सदीमें बिल्कुल वन्य अवस्थामें थे, जैसे कि उनके कुछ सहस्र वंशज, "वेद्दा" आज भी जंगलोंमें रहते हैं और केवल शिकार, मधु तथा फल-संचयसे जीवन-निर्वाह करते हैं। सिंहलके उत्तर एक छोटी-सी खाड़ी पार करके पास ही में द्रविड-देश है, किन्तु आज भी सिंहल-भाषा तमिल-भाषासे प्रभावित न हो उत्तर-भारतीय भाषाके रूपमें बनी हुई है, । इससे मालूम होता है कि सिंहल लोगोंमें कभी भारी संख्यामें द्रविड़-भाषा-भाषी सम्मिलित नहीं हुए।

§२. बौद्धधर्म-स्थापना

१. महेन्द्र, संघमित्रा

विजयके आनेके प्रायः सवा दो सौ वर्ष बाद (४८३–२५२ ई० पू०) तक सिंहल लोग बौद्धधर्मके सम्पर्कमें नहीं आये थे। जम्बूद्वीप (सिंहल लोग उत्तरी भारतको इसी नामसे पुकारते हैं) में जिस समय धर्मराज अशोककी यशोदुंदुभी बज रही थी, उसी समय लंकामें तिस्स-राजा राज्य कर रहा था, जिसके नामके साथ भी प्रियदर्शी अशोककी भाँति "देवानांप्रिय" जुड़ा हुआ था। इसी समय अशोकके पुत्र महेन्द्रने बौद्धधर्मका बीज लंकामें रोपा। विनयपिटककी "अट्टकथा"[1]में महेन्द्रकी प्रब्रज्या (संन्यास) और लंकामें धर्म-प्रचारका वर्णन इस प्रकार आया है:—

"राजा (अशोक) ने अशोकाराम नामक महाविहार बनवाकर साठ हजार भिक्षुओंका नित्य बंधान किया। उसने सारे जम्बु द्वीपके चौरासी हजार नगरोंमें चौरासी हजार चैत्योंसे मंडित चौरासी हजार विहार बनवाये....।

"(राजाने) अशोकाराम विहार बनवानेमें काम लगवाया, संघने इन्द्रगुप्त स्थविरको निरीक्षक नियत किया....। तीन वर्षमें विहारका काम समाप्त हुआ। ....तब.... (राजा) सु-अलंकृत हो....नगरसे होते (विहार-प्रतिष्ठाके लिए) विहारमें जा, संघके बीचमें खड़ा हुआ।....भिक्षु-संघसे पूछा—

'भन्ते! मैं शासन (=धर्म) का दायाद हूँ या नहीं?'

"मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविरने....कहा—

'महाराज! इतनेसे शासनका दायाद नहीं, प्रत्यय-दायक या उपस्थापक कहलाया जाता है। महाराज! जो पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तककी प्रत्यय (=भिक्षुओंकी अपेक्षित चार वस्तुयें)-राशि भी देवे, तो भी वह दायाद नहीं कहा जा सकता।'

'तो भन्ते! शासनका दायाद कैसे हुआ जाता है?'

'महाराज! जो धनी या गरीब अपने औरस पुत्रको प्रव्रजित करता है, वह शासनका दायाद कहा जाता है।'

"तब अशोक राजाने..शासनमें दायाद होनेकी इच्छासे इधर-उधर देखते, पासमें खड़े महेन्द्रकुमारको देखकर, 'यद्यपि मैं तिष्यकुमारके प्रव्रजित हो जानेके बादसे ही, इसे युवराज-पदपर प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ, किन्तु युवराज-पदसे प्रव्रज्या ही अच्छी है' (सोचकर पूछा—)..

'तात, प्रव्रजित हो सकते हो?'..'देव, प्रव्रजित होऊँगा। मुझे प्रव्रजित कर तुम शासनके दायाद बनो।'

"उस समय राजपुत्री संघमित्रा भी उसी स्थानमें खड़ी थी। उसका भी पति अग्निब्रह्मा, तिष्यकुमारके साथ प्रव्रजित हो गया था। राजाने उसे देखकर कहा—

'अम्म! तू भी प्रव्रजित होना चाहती है?'

'हाँ तात! चाहती हूँ।'

"राजाने पुत्रोंकी इच्छा जानकर भिक्षुसंघसे कहा—

---

[1] **समंतपासादिका, पाराजिक-अट्ठकथा**

'भन्ते ! इन दोनों बच्चोंको प्रव्रजितकर मुझे शासन-दायाद बनाओ।'

"राजाके वचनको स्वीकार कर संघने कुमारको मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविरके उपाध्यायत्व और महादेव स्थविरके आचार्यत्वमें प्रव्रजित (=श्रामणेर) और मध्यान्तिक (=मज्झन्तिक[1]) स्थविरके आचार्यत्वमें उपसम्पन्न (=भिक्षु) किया। उस समय कुमार पूरे बीस वर्षका था। ....संघमित्रा राजपुत्रीकी आचार्या आयुपाला थेरी और उपाध्याया धर्मपाला थेरी थी। उस समय संघमित्रा अठारह वर्षकी थी।..दोनोंके प्रव्रजित होनेके समय (२७० ई० पू०) राजाका अभिषेक हुए छ वर्ष हो गये थे।"

२. महेन्द्र सिंहलमें धर्मदूत

"....महेन्द्र स्थविरने इट्टिय आदि स्थविरों, संघमित्राके पुत्र सुमन श्रामणेर तथा भंडुक उपासकके साथ अशोकारामसे निकलकर राजगृह नगरको घेरनेवाले दक्षिणागिरि-देशमें चारिका करते..छ मास बिता दिया। तब क्रमशः माताके निवास-स्थान विदिशा[2] नगर पहुँचे। अशोकने कुमार होते वक्त (इस) देश (का शासन) पाकर, उज्जयिनी जाते हुये विदिशा नगरमें पहुँच, देवश्रेष्ठीकी कन्याको ग्रहण किया था। उसने उसी दिन (ई० पु० २८४) गर्भ धारणकर उज्जैनमें जा पुत्र प्रसव किया। कुमारके चौदहवें वर्षमें राजाने (राज्य) अभिषेक पाया। उन (महेन्द्र) की माता उस समय पीहरमें वास करती थीं।..स्थविरको आये देख स्थविर-माता देवीने चरणोंमें सिर-से वन्दना कर, भिक्षा-प्रदान कर, स्थविरको अपने बनवाये वैदिश-गिरि-महाविहार[3]में वास कराया। स्थविरने उस विहारमें बैठे-बैठे सोचा—'हमारा यहाँका कार्य खतम हो गया, अब ताम्रपर्णी जानेका समय है।' तब सोचा—देवानांप्रिय तिष्यको मेरे पिताका भेजा (राज्य-) अभिषेक पा लेने दो।..तब एक मास और वहीं वास किया।..(वह) ज्येष्ठ पूर्णिमाके दिन अनुराधपुरकी पूर्वदिशामें मिश्रकपर्वत[3] पर (जा) स्थित हुए, जिसको कि आजकल चैत्यपर्वत[4] भी कहते हैं।..उसी दिन ताम्रपर्णी द्वीपमें ज्येष्ठमूल-नक्षत्र (=उत्सव) था। राजा आमात्योंको—'उत्सव (=नक्षत्र) की घोषणा करके क्रीड़ा करो'—कह, चौवालीस हजार पुरुषोंके साथ नगरसे निकलकर जहाँ मिश्रक पर्वत है, वहाँ शिकार खेलने गया। तब उस पर्वतकी अधिवासिनी देवता, राजाको स्थविरका दर्शन करानेकी इच्छासे, रोहित मृगका रूप धारण कर, पास ही में घास-पत्ता खाती-सी विचरने लगी। राजाने (उसे) देख—'गफलतमें इस समय मारना अच्छा नहीं है'—(सोचकर) ताली पीटी। मृग अम्बत्थल (=आम्रस्थल) के मार्गसे भागने लगा। राजा पीछा करते हुए अम्बत्थलपर चढ़ गया। मृग भी स्थविरोंके करीब जा अन्तर्धान हो गया। महेन्द्र स्थविरने राजाको पासमें आते देखकर..कहा—

'तिष्य ! तिष्य ! यहाँ आ।'

"राजाने सुनकर सोचा—इस द्वीपमें पैदा हुआ (कोई) मुझे 'तिष्य' नाम लेकर बोलने वाला नहीं है; यह छिन्न-भिन्न-पटधारी मलिन-काषाय-वसन मुझे नाम लेकर पुकारता है। फिर पूछा—'मनुष्य हो या अमनुष्य ?'

---

[1]कश्मीर-गंधारके धर्मदूत भी यही [2]भिलसा [3]साँची
[4]वर्तमान मिहिन्तले (लंका)

"स्थविरने कहा--'महाराज ! हम धर्मराज (=बुद्ध) के श्रावक श्रमण हैं। तेरे ही पर कृपाकर, जम्बू द्वीपसे यहाँ आये हैं" ।

"उस समय (देवानांप्रिय प्रियदर्शी) अशोक धर्मराज और देवानांप्रिय तिष्य अदृष्ट-मित्र थे।..सो तिष्य राजा उस दिनसे एक मास पूर्व अशोक राजाके भेजे अभिषेक (भांड) से अभिषिक्त हो चुका था—वैशाख-पूर्णिमाको उसका अभिषेक हुआ था। उसने हाल ही में (बुद्धधर्मका) समाचार सुना था। समाचारको, स्मरणकर--'वही आर्य आये हैं' (जान) उसी समय उसने हथियार अलग रख दिया, और संमोदन कर..वह एक ओर बैठ गया।.. वहाँ दूसरे चौवालीस हजार पुरुष भी आकर राजाको घेरकर खड़े हो गये। तब स्थविरने अपने साथी छ जनोंको भी दिखलाया। राजाने देखकर पूछा—

'यह कब आये ?' 'मेरे साथ ही महाराज !'

'इस वक्त जम्बूद्वीपमें और भी इस प्रकारके श्रमण हैं ?'

'हैं, महाराज ! इस समय जम्बूद्वीप काषायसे जगमगा रहा है।..

"तब स्थविरने—'राजा पंडित है, धर्म समझ सकता है' (सोचकर) 'चूलहत्थि-पदोपम-सुत्त' का उपदेश किया। कथाके अन्तमें चौवालीस हजार-आदमियों सहित राजा तीनों शरणोंमें प्रतिष्ठित (बौद्ध) हुआ।....

३. संघमित्राका आगमान

"उस समय अनुला देवीने राजाको प्रव्रजित होनेकी इच्छा प्रकट की। राजाने उसकी बात सुनकर स्थविरसे प्रार्थना की—

'महाराज, हमें स्त्रियोंको प्रव्रज्या देना विहित नहीं है। पाटलिपुत्रमें मेरी भगिनी संघ-मित्रा थेरी है, उसे बुलवाओ।..महाराज ! ऐसा पत्र भेजो, जिसमें संघमित्रा बोधि (=बोध-गयाके पीपलकी शाखा) भी लेती आये।...'

"गंगामें नावपर रखकर....विन्ध्याटवीको पारकर महाबोधि सात दिनमें ताम्रलिप्ति[१] पहुँची।....मार्गशीर्ष मासके प्रथम प्रतिपद्के दिन अशोक धर्मराजाने महाबोधिको उठा गले तक पानीमें जाकर नावपर रख, संघमित्रा थेरीको भी अनुचरों-सहित नावपर चढ़ाया.....। (रास्तेमें) सात दिन नागराजोंने पूजाकर फिर नावमें रख दिया। उसी दिन नाव जम्बुकोल पट्टनपर पहुँच गई। चौथे दिन महाबोधिको लेकर..अनुराधपुर गये....। अनुलादेवी (राजभगिनी) पाँच सौ कन्याओं और पाँच सौ अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ संघमित्रा थेरीके पास प्रव्रजित हुई। राजाका भांजा अरिष्ट भी पांच सौ पुरुषोंके साथ स्थविरके पास प्रव्रजित हुआ।...."

महेन्द्रका लंका-आगमन सिंहल जातिके लिए एक बड़ी ऐतिहासिक घटना है। महेन्द्रके नामसे सम्बद्ध उनकी चरणधूलिसे पवित्र, लंकाका एक-एक स्थान वहाँवालोंके लिए परम पुनीत है। महेन्द्रने तब तक बुद्धधर्मको लंकामें प्रतिष्ठित नहीं माना, जब तक लंका-पुत्रोंने भिक्षु बनकर धर्म-प्रचारको अपने हाथमें नहीं ले लिया। महेन्द्र राजधानी अनुराधपुरमें प्रथम बार आकर जब चैत्य-पर्वत (मिहिन्तले) को लौटने लगे, तो राजा ने आकर उनसे प्रार्थना की—

---

[१] तमलुक, जि० मेदिनीपुर (बंगाल)

'अब शाम हो गई है और पर्वत दूर है। यहाँ **नन्दनवनमें** रहना अच्छा होगा।'

'जिसपर महेन्द्रने कहा—"यह नगरके अति निकट है, इसलिए अनुकूल नहीं है।'

—'महामेघवन (नगरसे) न बहुत दूर है, न बहुत समीप। वह रमणीय तथा छाया-जलसे युक्त है। चलें भन्ते ! वहाँ निवास करें।'

महेन्द्र लौट पड़े। अनुराधपुरके पास बहती कदंब नदीके पास के जिस स्थानसे महेन्द्र लौटे थे, पीछे वहाँ एक चैत्य (स्तूप) बनाया गया, जिसका नाम "निवर्त्तनचैत्य" पड़ा। महेन्द्र अपने साथियोंके साथ महामेघवनमें ठहरे। प्रातःकाल राजाने आकर कुशल-मंगल पूछा। महेन्द्रने कहा—

"हम बड़े आरामसे रहे। यह उद्यान यतियोंके अनुकूल है।"

राजाने उद्यानको देनेकी इच्छासे पूछा—"क्या संघ आराम (विहार) ग्रहण कर सकता है ?"

महेन्द्रने "हाँ" किया। देवानांप्रिय तिष्य राजाने महान् महेन्द्रके लिए वहाँ विहार बनवा दिया। यही लंकाका पहला **महाविहार** था, इसीके नामपर स्थविरवादी सम्प्रदाय "महाविहारवासी" नामसे प्रसिद्ध हुआ।

अशोकपुत्री भिक्षुणी संघमित्रा तथा दूसरी भिक्षुणियोंके लिए जो विहार बना, उसे "उपासिकाविहार" कहते थे। वहाँ बारह मकान बनवाये गये थे, जिनमें तीन मुख्य थे। इन तीनोंमेंसे एकमें महाबोधि लानेवाले जहाज का मस्तूल, दूसरेमें पतवार और तीसरेमें पाल स्मृति रूप में सुरक्षित रक्खा गया था। ये मकान सदा भिक्षुणियों के अधिकारमें रहे।

सिंहल-परम्पराके अनुसार बोधगयामें जिस पीपलके वृक्षके नीचे सिद्धार्थने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उसे पीछे अशोककी रानी तिष्यरक्षिताने नष्ट करवा दिया था[1], और इस प्रकार गयाके मूलबोधिवृक्षकी एकमात्र औरस सन्तान वही वृक्ष है, जिसे संघमित्राने ले जाकर अनुराधपुरमें लगाया था। यह ऐतिहासिक वृक्ष वहाँ आज भी मौजूद है।

महेन्द्र और संघमित्राके शेष जीवनके बारेमें सिंहल-इतिहासमें लिखा है[2]—"उन्होंने सम्बुद्धके सुन्दर धर्म, बुद्धवाक्य, तदनुसार आचरण और निर्वाण आदि फलोंकी प्राप्तिका लंकाद्वीपमें प्रकाश किया। लंकावासियोंका बहुत-बहुत हित करके लंका-दीपक, लंकाके लिए बुद्ध-सदृश स्थविर महामहेन्द्रने साठ वर्षकी अवस्थामें, उत्तियराजाके अठारहवें राज्य-वर्षमें चैत्य-पर्वतपर वर्षावास करते हुए, आश्विन मास शुक्लपक्षकी अष्टमीके दिन निर्वाण प्राप्त किया। इसीसे उस दिनका यह नाम पड़ा।

"इसे सुन शोकाकुल उत्तियराजाने जा, स्थविरकी वन्दना करके बहुत क्रन्दन किया।

---

[1]"धम्माशोक राजाके (शासनके) अठारहवें वर्षमें महामेघवनाराममें महाबोधि प्रतिष्ठित हुई। उसके (बाद) बारहवें वर्षमें राजाकी प्यारी रानी बुद्धभक्त असन्धिमित्राकी मृत्यु हो गई। उसके चौथे वर्षमें राजा धर्म्माशोकने दुराशया तिष्यरक्षिताको अपनी रानी बनाया। इसके (बाद) तीसरे वर्षमें उस अनर्थकारिणी रूपगर्विताने 'राजा महाबोधिको मुझसे भी अधिक प्यार करता है' सोच क्रोधित हो, जाकर मण्डुकण्टकसे महाबोधिको नष्ट कर दिया। इसके चौथे वर्षमें महाराज धर्म्माशोकने स्वर्गवास किया। यह (कुल) सैंतीस वर्ष हुए।"

[2]महावंस २०।३०-५३

(फिर) तुरन्त ही स्थविरकी देहको सुगन्धित तेलसे भरी सोनेकी दोनमें रखवाया। उस दोनको भली प्रकार बन्द कराकर, सुनहले विमानमें रक्खा, (फिर उसे दूसरे) अलंकृत विमानमें रक्खा। अनेक प्रकारके नाच-गानके साथ सजे हुए मार्ग द्वारा चारों ओरसे आये हुये महान् जन-समुदाय और बड़ी सेनाके साथ पूजा करते हुए नाना प्रकारसे अलंकृत नगरमें ला नगरके राजमार्गोंसे होते हुए महाविहारमें लेजा, वहाँ 'प्रश्नाम्रमालक' में एक सप्ताह रक्खा। विहार और चारों ओर तीन योजन तक (का प्रदेश) तोरण, ध्वजा, पुष्प तथा गन्धपूर्ण घटोंसे मण्डित किया गया था। राजा और देवताओंके प्रतापसे सम्पूर्ण लंका-द्वीप इसी तरह सज गया था।

"एक सप्ताह तक अनेक प्रकारसे पूजा करके, राजाने थेरोंके बन्धमालक (थेरानां बन्ध-मालके) में पूर्वकी ओर सुगन्धित चिता चुनवा, महास्तूप (के स्थान) की प्रदक्षिणा करते हुए उस मनोरम विमान (कूटागार)को वहाँ ले जा, चितापर रखवाकर अन्तिम सत्कार किया। फिर धातु (अस्थि)-संग्रह कराकर राजाने इस स्थानपर चैत्य (स्तूप) बनवाया। क्षत्रिय (=राजा) ने (उसमेंसे) आधी धातु लेकर चैत्यपर्वतपर तथा और विहारोंमें स्तूप बनवाये। जिस स्थानपर ऋषिकी देहका अन्तिम संस्कार किया गया था; उस स्थानका सम्मान करते हुए 'ऋषिभूमि-प्रांगण' (इसिभूमङ्गन) कहा जाने लगा। तभीसे वहाँ चारों ओर तीन-तीन योजन तकसे आर्यों (भिक्षुओं) का शरीर लाकर जलाया जाता है।

"धर्मके कार्य और लोगोंका हित-साधन करती महासिद्धा महामति संघमित्रा महाथेरी उनसठ वर्षकी अवस्थामें, उत्तियराजाके नौवें वर्षमें 'हत्थाल्हक' विहारमें रहती परिनिर्वाणको प्राप्त हुईं। राजाने स्थविरकी भाँति एक सप्ताह तक उनका भी उत्तम पूजा-सत्कार किया, और (सम्मानमें) स्थविरकी तरह ही सारी लंका अलंकृत की गई। सप्ताहकी समाप्तिपर विमानमें रक्खी थेरीकी देहका नगरसे बाहर स्तूपारामके पूर्व, चित्रशालाके समीप, महाबोधि-के सामने, थेरीके अपने बतलाए हुए स्थानपर, अग्निकृत्य किया गया। महामति उत्तियराजाने वहाँ (भी) स्तूप बनवाया।"

प्रायः अड़तालीस वर्ष लंकामें धर्म-प्रचार करनेके बाद महेन्द्रने ८० वर्षकी अवस्थामें और संघमित्राने (२०३ ई० पू० में) ७९ वर्षकी अवस्थामें शरीर छोड़ा।

§३. प्रगति और मतभेद

इसके २१ वर्ष बाद सिंहल देशपर द्रविड़ लोगोंका आक्रमण हुआ और ७६ वर्ष तक सिंहल-का उत्तरी भाग और अनुराधपुर तमिलोंके अधीन रहा। सिंहल-राजवंश लंकाका उत्तरी भाग छोड़कर दक्षिणकी ओर भागनेके लिये मजबूर हुआ। लेकिन बौद्धधर्म इतना जड़ जमा चुका था, कि उसकी अधिक क्षति नहीं हो पाई। इसी बीचमें लंकाका प्रतापी राजपुत्र दुट्ठगामणी अभय पैदा हुआ, जिसने १०१ ईसा पूर्वके आसपास द्रविड़ोंको भगाकर फिर सारी लंका और राजधानी अनुराधपुरको लौटा लिया। गामणी अभयने लंकाका सबसे बड़ा स्तूप 'रत्न-माल्यचैत्य' बनवाया। भारतमें इसके बराबरका चैत्य शायद उज्जैनका ही रहा हो। गामणी अभय सिंहलवालोंका धार्मिक और राजनीतिक दोनों प्रकारका वीर है।

१. अभयगिरि

राजा वट्टगामणी (ई० पू० २९–१७) का समय बौद्धधर्मके लिये बहुत महत्त्व रखता है। समय-समयपर होती देशकी राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथलके कारण बुद्धधर्म-

को एक और खतरा हो गया था। अभी तक बुद्धके उपदेश श्रुतिपरम्परासे चले आये थे, वे लेखबद्ध नहीं हुए थे। वट्टगामिणी (वलगमवाहु) के राज्यारोहणके बाद ही एक भयंकर अकाल पड़ा, भूखे और मौतके जबड़ेमें पड़े भिक्षुओंने बड़ी मुश्किलसे आवृत्ति करते हुए बुद्धके उपदेशोंको सुरक्षित रक्खा। अकालकी समाप्तिके बाद भिक्षुओंने एकत्रित होकर सोचा, यदि ऐसा उपद्रव फिर हुआ, तो भगवान्‌का उपदेश लुप्त हो जायगा। धर्ममें होते जब-तब मतभेदोंने भी उन्हें ऐसा सोचनेको मजबूर किया। अनुराधपुरके महाविहारमें भिक्षुओंका महा-संघ एकत्रित हुआ। उन्होंने पहले विनय, सूत्र, अभिधर्म और उनकी अट्ठकथाओं (टीकाओं) का पारायण किया, फिर एकान्त समझकर मातलेके पास अलुलेना (गुहा) में जाकर कण्ठस्थ चले आते सारे बुद्ध-वचनको लेखबद्ध किया। यही लेखबद्ध पाली त्रिपिटक आज हमारे सामने है।

राजा वट्टगामणीके समय ही महाविहार-निकायमें पहला मतभेद दिखाई पड़ा। राजाने अभयगिरि नामक एक विहार बनवाया था, जिसे उसने एक राजवंशिक भिक्षु तिष्यको प्रदान किया। तिष्यके आचरणसे असन्तुष्ट हो महाविहारसंघने उसे निकाल दिया। तिष्यके शिष्य महदेलिया तिष्यको यह बुरा लगा और वह पाँच सौ भिक्षुओंके साथ महाविहार छोड़ अभयगिरि चला गया। इसी समय भारतसे वज्जीपुत्त (वात्सीपुत्रीय) सम्प्रदायवाले धर्मरुचि आचार्यके शिष्य लंका पहुँचे, जिनकी बातोंको मानकर अभयगिरिवालोंने धर्मरुचि नामसे एक नया निकाय स्थापित किया। उन्होंने वैपुल्य पिटक[1]को स्वीकार किया। दो सौ वर्ष तक चलनेके बाद राजा व्यव-हारतिष्यने धर्मरुचि सम्प्रदायको दबा दिया, लेकिन पचास साल बाद फिर उसका प्रचार अभय-गिरिवाले करने लगे। इसी समय अभयगिरिसे एक और शाखा निकली, जिसने अपना नाम सागलीय रक्खा। तत्कालीन राजा गोठाभयने महाविहारका समर्थन करते हुए बाकी दोनों निकायोंको दबा दिया। वैपुल्यवादी भिक्षु चोल-देशमें जानेके लिए मजबूर हुये, किन्तु उन्होंने हार नहीं मानी। एक वैपुल्यवादी विद्वान् भिक्षु संघमित्र लंका पहुँचकर राजाके दो पुत्रोंका शिक्षक बन गया। छोटे राजकुमार महासेनको उसने बहुत प्रभावित किया। महासेन (३२५–५२ ई०) ने राजा होनेपर वैपुल्य (महायान) वादको स्वीकार किया। राजाकी पटरानीने षड्यन्त्र करके संघमित्रको मरवा डाला, किन्तु तब तक उसके मतमें पड़ा राजा महाविहारको बहुत नुक-सान पहुँचा चुका था। आगे धीरे-धीरे अभयगिरिनिकायका प्रभाव कम होता गया और अन्तमें भारतसे सिंहलमें जाकर आचार्य ज्योतिपालने वैपुल्यपिटकके दोषोंको दिखलाया और इस प्रकार सातवीं सदीके प्रथमपादमें, जब कि भारतवर्षमें हर्षवर्धनका शासन और महायान अपने उत्कर्षपर था, सिंहलमें उसका लोप हो गया। ५९८ ई० से उन दोनों विहारोंके भिक्षुओंने महाविहारकी अधीनता स्वीकार की।

२. वज्रयान

लेकिन नवीं शताब्दीमें एक और आफत सिंहलमें बौद्धधर्मपर आने लगी। यह भारतमें वज्रयान या तांत्रिक बौद्धधर्मके उत्कर्षका समय था, सरहपा, शबरपा, लुइपा, कण्हपा जैसे महासिद्धोंका चारों ओर अखंड प्रभाव छाया हुआ था। ८१९ ई०में इसी वज्रयान (वज्रपर्वत)

---

[1]महायानमें मान्य तथा तिब्बती और चीनी अनुवादोंमें सुरक्षित

निकायका एक भिक्षु लंका पहुँचा और उसने राजा मतबलसेनको अपना शिष्य बना लिया। अब रत्नकूट[1] आदि सूत्रोंका सम्मान बढ़ चला और उसके साथ-साथ मंत्रतंत्रका प्रचार भी बढ़ा। अनुराधपुरमें उत्खनन करते समय विजयाराम विहारके एक स्तूपावशेषमें तेरह ताम्रपट्ट मिले हैं, जिनमें आठवीं-नवीं शताब्दीके अक्षरोंमें मंत्र लिखे हुए हैं, इनमेंसे आठवें, नवें और तेरहवें अभिलेख क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

"किलि किलि धिरि धरि हुरु हुरु, वैरोचनगर्भसंचितगस्थरियकस गर्भमहाकारुणिक"।

"हुरुहुरु वैरोचनगर्भसंचितगस्तरियकसगर्भम्, महाकारुणिक हूँ"।

"ओम् तारे ओमतुमतारे तुरे स्वाहा"।

३. मध्य-काल

७८१ ई०के आसपास तमिल आक्रमणोंके मारे राजधानी अनुराधपुर परित्यक्त-सी हो गई। सभी बड़े-बड़े विहार, भिक्षुओंके निवास तथा स्थविरवादका गढ़ महाविहार, अनुराधपुर ही में थे। अनुराधपुरके पतनसे विहारोंको भी हानि पहुँची। पोलन्नरुव पहले भी कुछ समयके लिये राजधानी रहा था, किन्तु १०६५ ई०में विजयबाहुके राजा होनेपर देशमें जब शान्ति स्थापित हुई, तो उसने पोलन्नरुवको अपनी राजधानी बनाया। अनुराधपुर अब तक ध्वस्त हो गया था, भिक्षुसंघ नष्टप्राय हो चुका था। विजयबाहुने अराकान (बर्मा)के राजा अनिरुद्धसे प्रार्थना करके वहाँसे भिक्षु मँगवाये, जिन्होंने सिंहल तरुणोंको नियमपूर्वक भिक्षु बनाया।

बारहवीं सदीका उत्तरार्ध था। भारतमें गहड़वार-वंशका राज्य था, जिसके साथ भारतीय स्वतंत्रताका सूर्य अस्त होने जा रहा था। इसी समय ११६४ ई०में सिंहलके पराक्रमी राजा पराक्रमबाहुने शासन सँभाला। वह एक महान् विजेता था। उसकी नौसेनाने दक्षिणी भारत और कम्बुज (हिन्दचीन)तकपर अपनी विजय-ध्वजा फहराई। उसने राजधानी पोलन्नरुवमें कितने ही विहारों और संघारामोंको बनवाया। अभयगिरि और वैपुल्य (महायान) निकायको दबाकर उसने फिर महाविहारके प्रभावको स्थापित किया। अयोग्य व्यक्ति भिक्षु न हो सकें और भिक्षुओंकी शिक्षा-दीक्षा अच्छी तरह हो सके, इसके लिए उसने राजनियम बनाये।

आचार्य बुद्धघोषने पाँचवीं सदीके आरंभमें सिंहलमें पहुँचकर सिंहलकी पुरानी अट्ठकथाओंको देखके अपनी अट्ठकथायें लिखीं। तबसे महान् पराक्रमबाहुके समय (११६४) तक बहुतसे बौद्ध ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें पाली व्याकरण भी सम्मिलित हैं। पराक्रमबाहुके समय काश्यप स्थविरकी देखरेखमें अट्ठकथाओंपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी गयीं। इस कामको एक हजार भिक्षुओंने एक सालके भीतर १२०७में पूरा किया। यह वह काल था, जब नालंदा, उडंतपुरी, विक्रमशिला और जगत्तलाके महान् विद्यापीठ तुर्कों द्वारा जलाकर भस्मशात् किये जा चुके थे और उनके भिक्षु मारे जा या विदेशोंमें बिखर चुके थे। किन्तु, अभी दक्षिण-भारत बौद्धभिक्षुओंसे खाली नहीं हुआ था। पराक्रमबाहुके मरनेके बाद फिर लंकामें अशान्ति और अस्त-व्यस्तता आ गयी, जिससे भिक्षु-परंपरा लुप्त हो गई। १२६६ ई०में भिक्षुसंघकी पुनः स्थापनाके लिए "कलिकाल-साहित्यपंडित" राजा पराक्रमबाहुने चोलदेश (तमिलनाड) से भिक्षुओंको बुलवाकर फिरसे विहारों और संघारामोंकी स्थापना कराई।

---

[1] **तिब्बती और चीनी अनुवादोंमें प्राप्य महायान-मान्य सूत्र-संग्रह**

बर्मामें फिरसे भिक्षुसंघकी स्थापनाकी अवश्यकता थी । १४६४ ई०में राजा धर्मचेतिका पत्र लिये उसके मंत्री चित्रदूत और रामदूत ग्यारह भिक्षुओंके साथ लंका पहुँचे। बर्माके राजाने सिंहलके भिक्षुओंसे प्रार्थना की थी —

"भन्ते, मैं पवित्र दंष्ट्राधातुकी पूजाके लिये बहुत-सी चीजें भेज रहा हूँ और उन्हें पवित्र दंष्ट्राधातुपर चढ़ानेकी प्रार्थना करता हूँ । २२ भिक्षुओं और उनके शिष्यों तथा उनकी सेवाके लिए गये चित्रदूत और रामदूत दोनों मंत्रियोंको आशीर्वाद मिले। ....भन्ते, कृपा करके यत्न करें, कि २२ भिक्षुओं और उनके शिष्योंको महास्थविर महेन्द्र द्वारा स्थापित महाविहार-संघकी परंपरामें उपसंपदा प्राप्त हो, ...उन्हें हमारे भगवान्के सम्पर्कसे पूत कल्याणी नदीकी सीमामें उपसम्पदा मिले ।"

बर्माके राजाकी प्रार्थना स्वीकृत हुई और कल्याणी नदीकी सीमामें बीस भिक्षुओं और तैंतीस शिष्योंको नियमपूर्वक उपसम्पदा देकर बर्मा लौटा दिया गया। लौटते वक्त एक पोत भग्न हो गया, जिससे छ भिक्षु जीते न लौट सके ।

§४. बाहरी शत्रु

सोलहवीं सदीमें सिंहलमें पोर्तुगीज पहुँचे । १५५२ ई०में राजा भुवनैकबाहु सप्तमने पोर्तगीजोंके साथ घनिष्टता स्थापित की और पोर्तुगीज धीरे-धीरे देशकी स्वतंत्रताके अपहरणके साथ धर्म पर भी आक्रमण करने लगे। ईसाई धर्मका प्रचार बलपूर्वक करते हुए उन्होंने भुवनैकबाहुके मरनेके बाद उसके लड़के धर्मपालको गद्दीपर बैठाया और ईसाई बनाकर उसका नाम दोन जुवान रक्खा। इसी समय दरबारके कितने ही प्रमुख व्यक्ति भी ईसाई बनाये गये। बौद्ध-धर्मके बुरे दिन आरंभ हुए ।

राजकुमार राजसिंहने पोर्तुगीजोंके विरुद्ध तलवार उठाई, लेकिन वह स्वयं अत्यंत क्रूर था। उसने स्वयं अपने पिताको मार डाला था। जब पितृहत्याके पापसे मुक्त होनेके लिए भिक्षुओंको कहनेपर उन्होंने स्वीकार नहीं किया, तो वह बौद्धधर्मका घोर शत्रु बन गया। अब बौद्धधर्म पोर्तुगीजोंकी धर्मान्धता तथा राजसिंहकी क्रूरताके बीच पिसने लगा। लंकामें उस समय कई राजा थे और सभी आपसमें लड़ रहे थे। मन्दिरोंको लूटना-जलाना, पुस्तकोंको नष्ट करना और भिक्षुओंको मारना साधारण-सी बात हो गयी थी। कोई-कोई भिक्षु कुछ पुस्तकें लेकर जंगलमें भागकर बच पाये थे ।

राजसिंहके उत्तराधिकारी विमलसिंहसूरिने तीन पीढ़ियोंकी ध्वंसलीलाको रोककर पुनर्निर्माणके लिए कोशिश की, कुछ विहारोंकी मरम्मत कराई, अराकानसे भिक्षुओंको बुलवाकर सिंहल भिक्षुओंकी उपसंपदा कराई; किन्तु, पोर्तुगीजोंके अत्याचार और सिंहाली राजाओंके स्वेच्छाचारके मारे वह अधिक काम नहीं कर सका। भारतमें अकबरका राज्य समाप्त हो चुका था, जहाँगीर और शाहजहाँके शासन चल रहे थे। इसी समय १६२७ ई०में सिंहलराज राजसिंह द्वितीयने डचोंके साथ संबंध स्थापित किया और उनकी सहायतासे १६५६ ई०में पोर्तुगीज लंकासे मार भगाये गये। अब उनका स्थान डचोंने लिया ।

१७३४ ई०में राजा श्री विजयराजसिंह गद्दीपर बैठा। उस समय तक लंकामें भिक्षुसंघ नष्ट हो चुका था। राजाने डचोंके मुँहसे सुना, कि पेगू, अराकान और स्याममें बौद्धधर्म खूब फलफूल रहा है। राजाने अपने दूत स्याम भेजे, किन्तु वह जाकर्ता (बटेविया) तक ही पहुँच

सके थे, कि राजा मर गया और उसके स्थानपर १७४७ ई०में उसका साला कीर्तिश्रीराजसिंह गद्दीपर बैठा। यद्यपि वह जन्मसे शैवधर्मावलंबी था, किन्तु सिंहलके राष्ट्रीय धर्मको स्वीकारे बिना जनप्रिय नहीं हो सकता था, इसलिये श्रद्धालु बौद्ध बनकर उसने अपने पूर्वाधिकारीके कामको आगे बढ़ाया। इस समय शरणंकर श्रामणेर नामका एक मेधावी तरुण बौद्धधर्मके पुनरुज्जीवनका स्वप्न देख रहा था। उसने बौद्ध ग्रन्थोंके गंभीर अध्ययनके बाद यह आवश्यक समझा, कि भिक्षुसंघकी स्थापना की जाय। शरणंकरने राजाको इसके लिए तैयार किया। डचोंने यात्राके लिए जहाज दिये और १७५० ई०में राजाके दूत स्याम(थाई-ट्ठ)के लिए रवान हुए। स्यामके राजा धम्मिकने अपनी राजधानी अयोध्यामें उनका स्वागत किया, और स्यामके संघराजकी स्वीकृतिसे उपालि महास्थविरके साथ दस भिक्षुओंको सिंहल भेजा गया। १७५६ ई०की आषाढ़ पूर्णिमाको काण्डी नगर (श्रीवर्धनपुर)में स्यामके भिक्षुओंने शरणंकर और दूसरे लंकापुत्रोंको उपसंपदा दे भिक्षु बनाया। राजाने शरणंकरको लंकाके सारे भिक्षुओंके ऊपर संघराज नियुक्त किया। शरणंकरने अपनी योग्यता और लगनसे बौद्धधर्मके पुनरुज्जीवनके लिए बहुत काम किया और ८० वर्षकी आयुमें १७७८ ई०में शरीर छोड़ा।

यद्यपि बौद्धधर्मका फिर उत्थान होने लगा था, किन्तु लंकाकी राजनीतिक अवस्था बदलती और बिगड़ती जा रही थी। डचोंको हटाकर अंग्रेज लंकाके स्वामी हुए। सिंहलके राजाका राज्य बीचकी पहाड़ियों तक सीमित रह गया था। १८१५में अंतिम राजा विक्रमराजसिंहको देशसे निर्वासितकर अंग्रेजोंने सारी लंकाको अपने हाथमें ले लिया। अंग्रेजोंको राज सौंपनेमें प्रजाका भी हाथ था और संधि करते वक्त अंग्रेजोंने विश्वास दिलाते कहा था—"इन प्रान्तोंके निवासियों और सर्दारोंका धर्म—बुद्धका धर्म—अबाध घोषित किया जाता है, उसके पूजा-प्रकारों, पुरोहितों और पूजा-स्थानोंको कायम और सुरक्षित रक्खा जायेगा।"[1]

तटस्थताका ढोंग रचते हुए अंग्रेज शासकोंकी सहानुभूति तो ईसाई मिशनरियोंकी ओर थी। उन्नीसवीं सदीके पिछले पचास सालों तक ईसाइयोंके लिए रास्ता साफ था। नाना भाँतिके प्रलोभनोंसे लोगोंको ईसाई बनाया जा रहा था। शिक्षाका अधिकतर प्रबंध ईसाई मिशनरियोंके हाथमें था। ईसाई शिक्षणालयों और रविवारी-शालाओंके प्रचारसे ही सन्तुष्ट न हो ईसाई प्रचारक बौद्धधर्मपर अनुचित आक्षेप करनेमें भी आगे बढ़े हुए थे!

§५. नवचेतना

१८७० ई०में करीब-करीब वहाँ वही समय था, जब कि भारतमें स्वामी दयानन्दने कार्यक्षेत्रमें पग रक्खा था। इसी समय सिंहलमें एक तरुण श्रामणेर मिगेत्तुवत्ते गुणानंदने कमर बाँधी। गुणानंदने एक ईसाई स्कूलमें शिक्षा पाई थी। जबर्दस्ती बाइबल पढ़नेका उन्होंने खूब लाभ उठाया। वह एक अच्छे लेखक और सुवक्ता तथा उससे भी बढ़कर वादपटु थे। उन्होंने ईसाई सिद्धान्तोंके विरुद्ध व्याख्यान और ईसाई उपदेशकोंके साथ शास्त्रार्थ शुरू कर दिया। बौद्धोंमें उत्साह बढ़ चला। ईसाई मिशनरियोंने सार्वजनिक सभामें एक शास्त्रार्थ कराना स्वीकार किया। शास्त्रार्थके नियम तै हुए। कोलंबोसे १६ मीलपर अवस्थित 'पानादुरे' स्थानमें वह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ। उस समयके प्रमुख अंग्रेजी दैनिक "सीलोन-टाइम्स"ने रिपोर्ट लेनेके लिए एक विशेष

[1] सीलोनके गवर्नर ब्रौनरीग द्वारा हस्ताक्षरित २ मार्च १८१५ का संधिपत्र

प्रतिनिधि भेजा था। रोज-रोजके सभी भाषण अंग्रेजीमें प्रकाशित होते रहे। गुणानंदका पलरा भारी रहा। अपने-अपने भाषणोंको वक्ताओंने स्वयं संशोधित किया था, जिसे "सीलोन-टाइम्स" ने पुस्तक-रूपमें छाप दिया। इस शास्त्रार्थमें बौद्धधर्मके विरुद्ध कही जानेवाली सारी बातें ईसाइयोंकी ओरसे कही गयी थीं। गुणानंदने बड़ी योग्यताके साथ उनका उत्तर दिया और बौद्धधर्मके सिद्धान्तोंका बड़ी निपुणताके साथ प्रतिपादन किया था। गुणानंदके आक्षेपोंका उत्तर ईसाइयोंकी ओरसे नहीं हो सका था। इसी समय एक अमेरिकन लेखक डा० पीकल सीलोन आया हुआ था। वह इस शास्त्रार्थसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने उक्त पुस्तक-को अमेरिकामें ले जाकर छाप दिया। वह पुस्तक थियॉसोफिकल सोसाइटीके संस्थापकों कर्नल अल्काट और मदाम ब्लवेत्स्कीके हाथ लगी। भिक्षुओंसे पत्र-व्यवहार करके अंतमें १८८०में लंका आकर उन्होंने खुले आम बौद्धधर्म स्वीकार किया। उनके व्याख्यानोंने द्वीपके बौद्धोंमें और जागृति पैदा कर दी।

अब पासा पलट गया था। महास्थविर धर्माराम और महास्थविर सुमंगल जैसे विद्वान् भिक्षुओंने विद्यालंकार (पेलियगोडा) और विद्योदय (कोलंबो) जैसे विद्यापीठ स्थापित किये, जिनमें सैकड़ों भिक्षु अध्ययन-अध्यापन करने लगे। कर्नल अल्काटके व्याख्यानोंसे प्रभावित होकर एक सिंहल तरुणने बौद्धधर्मके प्रचारके लिए अपने जीवनका उत्सर्ग किया। यही तरुण अनागारिक धर्मपाल था, जिसने केवल लंकामें ही घूम-घूमकर धर्म-प्रचार नहीं किया, बल्कि शताब्दीके अंत होते-होते बुद्धकी जन्मभूमि भारतमें आकर बुद्धधर्मकी पताका फिरसे गाड़ी।

१९२१की जनगणनामें सिंहलोंकी पूरी जनसंख्याका ९ सैकड़ा ईसाई (जिनमें सात सैकड़ा रोमन कैथलिक) था। पिछली तीन दशाब्दियोंमें बहुतसे बड़े-बड़े परिवार दशों पीढ़ियों तक ईसाई रहनेके बाद बौद्धधर्ममें लौट आये। सिंहल लोगोंके लिए बौद्धधर्म केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि वह उनकी राष्ट्रीयताका भव्य-प्रतीक है। बौद्धधर्मने उन्हें भारतके साथ बड़े मधुर संबंधसे बाँधा है, साथ ही वह यह भी भली प्रकार जानते हैं, कि उनकी धमनियोंमें भी वही रक्त प्रवाहित हो रहा है, जो भारतीयोंकी धमनियोंमें है। उनकी भाषा उत्तरी भारतकी भाषाओंकी सगी बहन है, और संस्कृत शब्दोंके लेनेमें उसी तरह उदार है, जैसे गुजराती, हिन्दी, बँगला आदि। इसीलिए जब कोई लंकापुत्र भारतको भारतमाता कहता है, तो वह केवल शिष्टाचारके लिए नहीं कहता।

भारतकी तरह लंका भी अब स्वतंत्र है—हाँ, अंग्रेज अभी भी उसे अपने साम्राज्यका अंग बनाये रखना चाहते हैं, किन्तु लंकापुत्र उसे अधिक समय तक माननेके लिए तैयार नहीं हो सकते। आज स्वतंत्र सिंहल भी विद्यालयों, विश्वविद्यालयोंमें अपनी भाषाको स्थान दिलानेके लिए परिभाषाओंकी खोजमें हैं, जिसमें हम उनकी सहायता करते हुए अपनी भी सहायता कर सकते हैं। कला, संगीत, विज्ञानके लिए फिर लंकापुत्र भारतमाताकी ओर देख रहे हैं। आज हमें फिर विजय और महेन्द्रके स्थापित किये अपने संबंधको दृढ़ करना है।

अध्याय ३

बर्मा

बर्मा, वस्तुतः ब्रम्म शब्दका अपभ्रंश है। प्राचीनकालमें यह देश सुवर्णभूमि कहा जाता था—यवनोंका दिया नाम खूसे-खोराका भी अर्थ "सोनेकी भूमि" ही है। अलबेरुनीने जबज (जावा) को सोनेकी जमीन कहे जानेका कारण बतलाया है, कि उस देशकी थोड़ी-सी मिट्टी भी धोनेसे बहुत सोना मिलता है। लेकिन यहाँ शायद उसने भ्रमसे काम लिया है, क्योंकि सुमात्रा और पासके द्वीपोंका नाम सुवर्णभूमि नहीं, सुवर्णद्वीप था। हो सकता है, आरंभमें बर्मा और मलायाके साथ सुमात्राको भी स्वर्णभूमि कहा जाता हो।

§१. बौद्धधर्म-प्रचार

बुद्धके समयसे पहले भी सुवर्णभूमि (बर्मा, मलाया)के साथ भारतका व्यापारिक संबंध समुद्रके रास्ते था, इसका भान जातकोंके पढ़नेसे होता है। शायद उस समय हमारी कुछ वाणिज्य-बस्तियाँ भी समुद्र-तटोंपर रही हों, किन्तु भारतीय धर्मका प्रचार सुवर्णभूमिमें सबसे पहले अशोकके समयमें हुआ। महावंशके अनुसार पाटलिपुत्र-सम्मेलनने सोण और उत्तरको २५३ ई० पू०में सुवर्णभूमिमें धर्म-प्रचारके लिए भेजा[1]—

"उत्तर-स्थविर सहित सिद्ध सोण स्थविर सुवर्णभूमिको गये। उस समय एक क्रूर राक्षसी समुद्रसे निकलकर राजमहलमें पैदा होनेवाले बालकोंको खा जाती थी। उन्हीं दिनों राजमहलमें एक बच्चा पैदा हुआ। लोगोंने स्थविरोंको देखकर समझा कि यह राक्षसीके साथी हैं। वह हथियार बंद हो मारनेके लिये समीप आये। 'क्या है?' पूछकर स्थविरोंने कहा —

'हम शीलवन्त भिक्षु हैं, राक्षसीके साथी नहीं'। (उसी समय) दल-बल-सहित वह राक्षसी समुद्रसे बाहर निकली। उसे देखकर लोगोंने महाकोलाहल किया। स्थविरने (अपने योग-बलसे) दुगुने भयंकर राक्षस पैदा करके, राक्षसीको साथियों-सहित चारों ओरसे घेर लिया। राक्षसीने समझा—'यह (देश) इनको मिल गया है' इसलिये डर कर भाग गई। चारों ओरसे उस देशकी रक्षाका प्रबंध करके, स्थविरने उस समागममें ब्रह्मजाल-सुत्त[2]का उपदेश किया। बहुत सारे आदमियोंने शरण और शीलको ग्रहण किया। साठ हजार लोगोंके धर्मचक्षु खुल गये। साढ़े तीन हजार कुमारों और डेढ़ हजार कुमारियोंने प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समयसे राजघरानेमें जन्म लेनेवाले बालकोंका नाम 'सोणुत्तर' रखा जाने लगा।

---

[1]महावंस १२।४४-५४ [2]दी० नि० १।१

अशोकके समय धर्म-प्रचारक बाहर भेजे गये थे, इस परंपराकी पुष्टि साँचीमें मिले ई० पू० दूसरी सदीके अभिलेखोंसे भी हो गई है, यह हम अन्यत्र कह आये हैं।

बौद्धधर्मके साथ भारतीय संस्कृति भी सुवर्णभूमिमें गई होगी, किन्तु अभीतक ऐसी पुरातत्त्व-सामग्री नहीं मिली है, जिससे हम उसके रूपको निर्धारण कर सकें। हाँ, ईसाकी दूसरी-तीसरी सदी-में आन्ध्रदेशके धान्यकटक तथा श्रीपर्वत बौद्धोंके दो बड़े प्रसिद्ध स्थान थे, जिनमें धान्यकटकका महाचैत्य (अमरावतीका) स्तूप अपने सुन्दर पाषाणशिल्पके लिए आज भी प्रख्यात है। अमरावती[1] से स्तूपके अद्भुत् शिलापट्टोंके अधिक भाग लंदनके ब्रिटिश म्यूजियममें बहुत पहलेसे रखे हुये हैं। नागार्जुनीकोंडा[1] (श्रीपर्वत) का पता बहुत पीछे लगा और वहाँ ईसाकी दूसरी-तीसरी सदीके बहुतसे शिला-लेख मिले हैं। उनमेंसे एक इक्ष्वाकुवंशीय श्रीवीरपुरिसदत्त माढ़रिपुत (माठरीपुत्र श्रीवीरपुरुषदत्त)के चौदहवें वर्षका है, जिसमें एक विहार "तंबपन्न (थेरवाद)के भिक्षुओंके लिए है, जिन्होंने कि कश्मीर-गंधार-चीन-चिलात-तोसली-अवरंत-वंग-वनवासी-यवन-दमिल-पलूरा-तंबपंन्नि द्वीपको धर्ममें दीक्षित किया[2]" के लिए दिया गया है।

तंबपन्न-भिक्षुसंघसे वही ताम्रपर्णी भिक्षुसंघ अभिप्रेत है, जिसकी स्थापना भिक्षु महेन्द्रने की थी। भिक्षु महेन्द्रके भारतीय और सिंहल संघने नाना देशोंमें धर्म-प्रचार किया था, इसमें संदेह नहीं, जिनमें कश्मीर-गंधार-वनवास-अपरांतक-योन हमें पहले ही से मालूम हैं। चीनमें प्रचार पीछेसे हुआ। अभिलेखमें चिलातसे किरात अभिप्रेत है, जो संस्कृतके कितने ही ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है और जिसके बारेमें बाल्मीकि रामायणमें कहा गया है—

"आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः।
अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति स्मृताः॥"

तालमीने इन्हींको किर्ह्‌दे (Cirrhadae) कहा है और उनका निवास गंगा-समुद्र-संगमसे आगे बताया है। इनकी नाक चिपटी होती थी, इसका भी उसने उल्लेख किया है। सुवर्णभूमिके तत्कालीन निवासी आज ही की भाँति चिपटी नाकवाले होते थे—मंगोलीय जातियोंसे भिन्न मोन्-ख्मेर जातिके लोग भी चिपटनास होते थे और उनके वंशज मलय, तलैंग आदि आज भी वैसे ही हैं—प्यू भी तलैंगकी तरह मोन्-ख्मेर जातिके थे। किसी समय मोन्-ख्मेर जाति हिमालयसे आसाम होते बर्मा-इन्दोनेसिया और इन्दोचीन तक फैली हुई थी और आज भी है। श्रीपर्वतके उक्त अभिलेखमें वर्णित चिलात वस्तुतः यही सुवर्णभूमिके किरात हैं। उनमें बौद्धधर्मका प्रचार सोण और उत्तरने किया था, जो अपने उसी शुद्ध (थेरवादी) रूपमें ईसाकी तीसरी सदी तक रहा।

१. प्यू जातिमें बौद्धधर्म

दक्षिण-बर्मामें पाँचवीं-छठी सदीसे बौद्धधर्मके होनेके संबंधमें पुरातात्त्विक सामग्री मिलती है। वर्त्तमान प्रोमसे पाँच मील दक्षिण प्यू जातिकी पुरानी राजधानी श्रीक्षेत्रका ध्वंसावशेष ह्मावज़ामें वर्त्तमान है। ह्मावज़ाके समीपके गाँव मौङ-गनमें दो स्वर्णपत्र अभिलेख मिले हैं, जिनमें दक्षिणकी चौथी-पाँचवीं सदीकी कदंबलिपि और पाली-भाषामें निम्न बुद्धवचन उत्कीर्ण हैं—

---

[1]जिला-गुंटूर, आंध्र [2]Ep. Ind. XX, pp. 22-23

(पत्र १)—"ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ति।
चत्वारो इद्धिपादा चत्वारो सम्मप्पधाना...."
(पत्र २)—"ये धम्मा हेतुप्पभवा (ते)सं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी, महासमणोति (।)
इति पि सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो विज्जाचरणसंपन्नो सुगतो....।"

उक्त स्वर्णपत्रके अभिलेख तंबपन्नी (सिंहल) निकायके पाली त्रिपिटकके हैं, जिससे महेन्द्र द्वारा स्थापित सिंहल-संघ और सोण तथा उत्तर द्वारा स्थापित सुवर्णभूमिनिकायकी एकता प्रमाणित होती है, यही बात दक्षिणी भारतके श्रीपर्वत आदिके भिक्षुनिकायकी भी थी, इसमें संदेह नहीं।

१९१०-११में ह्मावज़ामें एक शिलालेखके कुछ खंड मिले, वे भी पालीमें थे। १९२६ई० में वहींपर तालपोथी जैसे बीस स्वर्णपत्रोंपर लिखी एक पोथी निकल आयी। पत्रोंके एक ही ओर अक्षर उल्लिखित हैं। उसके कुछ अंश हैं—

"सिद्धं (।) अविज्जापच्चया शङ्खारा शङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया शलायतनं....

"सिद्धं (।) चत्तारो सतिपट्ठाना चत्तारो समप्पधाना चत्तारो इद्धिपादा....

"कतमे हि भगवा चुद्दसेहि बुद्धञाणेहि समन्नागतो तथागतो....

"....मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा (।)
विरागो सेट्ठो धम्मानं दिपदानं चक्खुमाति (।)
"यो (व) विरो सव्वविदन्तो शुद्धो अप्पतिपुग्गलो (।)
अरहं सुगतो लोके तस्सहं परिचारको(।)....[1]

स्वेन्-चाङके समय (६२९-४५) और ईचिङ(६७१-९५)के समय भी बर्मामें हीनयानियोंका ही आधिक्य था। इससे डेढ़-दो सौ साल पहले धान्यकटक, श्रीपर्वत, काञ्चीपुर, कावेरीपट्टन, उरगपुर अर्थात् सारा आन्ध्र-पल्लव देश हीनयानी थेरवादका गढ़ था। आन्ध्र-पल्लवकी लिपिका ह्मावज़ामें पाया जाना यही बतलाता है, कि सुवर्णभूमि और दक्षिण-भारतके बौद्धधर्ममें बहुत समानता थी और दोनों पाली-त्रिपिटकके माननेवाले थे।

२. तलैङ् जातिमें प्रचार

दक्षिण-बर्मा तलैङ जातिका देश माना जाता है। आज यद्यपि रंगून, पेगू आदि तलैङ देशके नगरोंमें बर्मी-भाषा बोली जाती है, किन्तु अब भी वहाँके गाँवोंमें तलैङ (केरन) भाषा बोलनेवाले रहते हैं। तलैङ-भाषा बर्मीकी भांति तिब्बती नहीं मोन्-ख्मेर भाषासे संबंध रखती है, किन्तु दोनों जातियोंकी मुखाकृति मंगोलीय है। प्यूकी भाँति तलैङ भी सोण-उत्तर और महेन्द्रके थेरवादी बौद्धधर्म के माननेवाले थे। उनका देश पाँचवीं-छठी शताब्दीमें भी अपने बौद्धधर्मके लिए प्रख्यात था। थातोन् (सुधर्मावती) और पेगू (हंसावती) उनके ऐतिहासिक नगर बौद्धधर्मके गढ़ थे, जहाँ विद्या और कलाकौशलका बहुत प्रचार था। आरंभकालसे १०५७ ई०

---

[1] An. R. A. S. B., 1938-39, pp. 12-22

तक सुवर्ण-भूमिका सांस्कृतिक केन्द्र थातोन् था। पेगू (हंसावती) में और प्रायः सुवर्णभूमिके और भागोंमें भी बौद्धोंके अतिरिक्त ब्राह्मणधर्मी भी रहा करते थे। महमूद गजनवीके बनारस ध्वस्त करनेके प्रायः आधी शताब्दी बाद पेगूमें तिस्स (१०४३-५७) का राज्य था। कहते हैं, वह ब्राह्मणभक्त था, साथ ही बहुत ही बौद्धद्वेषी भी। उसने बुद्धकी मूर्त्तियोंको खाइयों और खड्डोंमें फेंकवा दिया था। नगरकी एक वणिक् कन्या भद्रादेवी बड़ी बुद्धानुरक्ता थी। तरुणी भद्रा एक दिन सरोवरमें स्नान करने गयी। वहाँ उसके पैरोंमें कोई धातुकी बुद्धमूर्त्ति लग गयी। भद्राने राजाके कोपकी बातको सुनकर भी मूर्त्तिको बाहर निकाला और—"मैं त्रिरत्नकी आज्ञाकारिणी हूँ, मृत्युकी मुझे परवाह नहीं। पहले मूर्त्तिको धोकर साफ कर लें, फिर इसे विहारमें स्थापित करेंगे।" यह कहते उसने दासीके साथ मूर्त्तिको साफ कर मंदिरमें स्थापित किया। राजा तिस्सको जब यह खबर मिली, तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ; किन्तु तरुणीकी विचारदृढ़ता, उसके सौदर्न्य और नवतारुण्यने राजाको मुग्ध कर लिया और उसे अपनी पटरानी बनाते हुए उसने उसके धर्मको भी स्वीकार किया।

तलैङ जाति, इसमें संदेह नहीं, एक सहस्राब्दीसे सुसंस्कृत और बुद्धपरायण जाति रही, लेकिन तलैङ और अम्मकी प्रतिद्वंदिता तथा राजनीतिक संघर्षोंने उसकी ऐतिहासिक सामग्रीको सुरक्षित नहीं रहने दिया, जिससे उस कालके इतिहासपर काफी रोशनी नहीं पड़ती। लेकिन, जैसा कि हम अभी देखेंगे, अम्म लोगोंको बुद्धके शुद्ध धर्ममें दीक्षित करने तथा विद्या-कला-समन्वित बनानेमें तलैङका भारी हाथ रहा।

§२—अम्म-जातिमें धर्म-प्रचार

अम्म या बर्मी जातिमें आज यद्यपि प्यू और तलैङ भी शामिल हैं, किन्तु ग्यारहवीं सदीमें अम्म लोग उत्तरी बर्मामें रहते थे। तुलनात्मक भाषाविज्ञानसे पता लगता है, कि बर्मी भी तिब्बती लोगोंके वैसे ही नजदीकके संबंधी हैं, जैसे कि हमारे साथ ईरानी लोग—दोनों ही भोट-अम्मवंशके हैं। ग्यारहवीं सदीसे चार सदी पहले मध्य-तिब्बतके एक सामंत स्रोङचन् गैम्बोने तिब्बती जातिके साथ तिब्बती राज्यका विस्तार किया। संभव है, उसी समय सीमांतपर रहनेवाली यह जाति और आगे ढकेल दी गयी और वह धीरे-धीरे उत्तरी बर्मामें छा गयी। ग्यारहवीं शताब्दीमें पगान् इस जातिकी राजधानी थी। जिस तरह इसी शताब्दीमें, तिब्बतमें बौद्धधर्मके सुधारके लिए भारतसे दीपंकरश्रीज्ञानके लिए बुलौवापर बुलौवा आ रहा था, क्योंकि वहाँका महायान वज्रयानसे मिश्रित हो घोर पतनकी ओर चला जा रहा था; उसी तरह बर्मामें भी उस समय तंत्रमंत्र-मिश्रित महायान और उसके पुरस्कर्ता आरी लोगोंकी प्रधानता थी।

१. शिन् अर्हन्

धर्म-सुधारके कामके लिये दीपंकरश्रीज्ञान १०४२ ई०में तिब्बत गये और १०५४ ई०में ७३ वर्षकी अवस्थामें वहीं उनका देहान्त हुआ। इसी समय उत्तरी बर्मा (अम्म) देशमें भी धर्मकी अवनति हुई थी, यहांका उत्थानकर्त्ता दीपंकरके देहान्तके आस ही पास तलैङ वंशज एक तरुण भिक्षु हुआ, जो इतिहासमें शिन् अर्हन्‌के नामसे प्रख्यात है। शिन् अर्हन त्रिपिटक और दूसरे शास्त्रोंमें निष्णात थे। उन्होंने पगान (अरिमर्दनपुर) के राजा अनुरुद्ध (अनवरहृत)

के धर्म-प्रेमकी बात सुनी थी, अम्म देशमें तथागतके धर्मकी दुर्दशाका भी उन्हें पता था। उनमें धर्म-प्रचारकी धुन थी और एक दिन वह थातोन् छोड़ पगान नगरके नातिदूर एक अरण्यमें निवास करने लगे। एक दिन लोग उन्हें राजा अनुरुद्धके पास ले गये। अनुरुद्धने उनसे पूछा——"भन्ते (स्वामी), आप कौन वंशके हैं? कहांसे आये हैं? किसके सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हैं?"

——"मेरा वंश भगवान बुद्धका वंश है....। मैं भगवान बुद्धके गंभीर, सूक्ष्म, पंडित-वेदनीय सिद्धान्तका अनुगमन करता हूँ।"

"तो भन्ते, मुझे भी भगवानके उपदेशित धर्मका थोड़ा उपदेश कीजिये।"

शिन्-अर्हन्‌ने राजा अनुरुद्धको बुद्धके शुद्ध धर्मका इतना सुंदर उपदेश दिया, कि वह श्रद्धा-विभोर हो बोल उठा——

"भन्ते, आपको छोड़ कोई हमारा शरण नहीं, मेरे स्वामी, आजसे हम अपना शरीर और जीवन आपको अर्पित करते हैं। भन्ते, मैं आपसे (पाये) सिद्धान्तको अपना करके ग्रहण करता हूँ।"

इस प्रकार राजाने वज्रयान-महायानको छोड़ स्थविरवादको स्वीकार किया।

राजा अनुरुद्धने धर्मके प्रचार और प्रसारके लिये कुछ करना चाहा, किन्तु धर्म-ग्रन्थोंके बिना अध्ययन नहीं हो सकता था और अध्ययनके बिना अन्तर्दृष्टि नहीं हो सकती थी। अशिन् अर्हन्‌से पूछनेपर उन्होंने कहा——

"थातोन् देशमें त्रिपिटककी तीस राशियाँ मौजूद हैं, और वहाँ बहुत-सी पूज्य धातुएँ भी हैं।"

२. राजा अनुरुद्ध

अनुरुद्धने अपने एक चतुर मंत्रीको भेंट-उपायन देकर थातोन्‌के राजा मनोहर (मनुहा) के पास धर्म-ग्रन्थों और धातुओंको मांगनेके लिये भेजा, किन्तु मनोहरका जवाब था——

"तुम्हारे जैसे मिथ्यादृष्टिके पास त्रिपिटक और धातुएँ नहीं भेजी जा सकतीं——केसरी सिंहराजकी चर्बी सुवर्णपात्रमें ही रक्खी जा सकती है, मिट्टीके पात्रमें नहीं (केसरसिंहराजस्स वसा सुवण्णपातियं येव न मत्तिभाजने)।"

अनुरुद्ध यह सुनकर बहुत क्रुद्ध हुआ और जल तथा स्थलसे एक बड़ी सेना लेकर थातोन् पर चढ़ दौड़ा। मनोहर अपनी राजधानी, परिवार और मंत्रियोंके साथ बंदी बना पगान लाया गया। लेकिन, अनुरुद्धका अभिप्राय मनोहर और उसके राज्यके हाथ आनेसे पूरा होनेवाला नहीं था। वह योग्य विद्वानोंको भी त्रिपिटक ग्रन्थोंके साथ अरिमद्दनपुर (पगान) ले आया। अनुरुद्धने मनोहर और उसके परिवारको कुछ दिनों तक अच्छी तरहसे रखकर फिर उन्हें श्वेज़िगोन-विहारके लिये दास बना दिया।

वह एक बड़ा ही आकर्षक दृश्य था, जबकि राजाके बत्तीस श्वेत हाथियोंके ऊपर तीसो त्रिपिटक तलैंड्से अम्म-देशमें लाये गये और उनके साथ बड़े सम्मान और सत्कारके साथ विद्याचरण-सम्पन्न भिक्षु भी आये।

एक फ्रेञ्च विद्वानने इस विजयके प्रभावके बारेमें लिखा है[1]—

"युद्धक्षेत्रमें विजयी बर्मी बौद्धिक तौरसे पराजित हो गये। इसी समयसे वह अद्‌भुत् वास्तु-विद्या और साहित्यका निर्माण होने लगा, जिन्होंने कि पगानको बौद्ध राजधानी बना दिया। उत्तरी और उत्तरपूर्वीय भारतके प्रायः तीन शताब्दियोंके पड़ते प्रभावोंने धीरे-धीरे बर्मी लोगोंको इस योग्य बना दिया" कि राजा अनुरुद्धके विजयसे प्राप्य तलैंङ-सभ्यताको अपना सकें। उसी समयसे बर्मी स्वरों और पत्थर तथा ईंटोंके अभिलेखोंके लिये विदेशी वर्णमालासे साधारण बर्मी वर्णमाला तैयार की गयी।...इस नई वर्णमालामें त्रिपिटक लेखबद्ध हुआ। बर्मी राजधानी (पगान)में धार्मिक शिक्षाके लिये संस्कृतको हटा पालीने स्थान लिया। तलैंङ भिक्षुओंके चरणोंमें बैठकर बर्मी जनता और राज-दरबारने हीनयानकी शिक्षा ली और जल्दी-जल्दी एकके बाद एक अतिभव्य विहार और मन्दिर भारतीय तथा तलैंङ शिल्पाचार्योंके तत्वावधानमें बनने लगे।"

बर्मासे तांत्रिक बौद्धधर्म और उसके पुरोहित आरी विदा हुये और एक नया ऐतिहासिक युग आरंभ हुआ।

शिन् अर्हंनके प्रभाव और वाग्मिता तथा राजा अनुरुद्धकी उत्साहपूर्ण सहायतासे बुद्धका सरल और शुद्ध धर्म दावाग्निकी तरह सारे अम्म-देशमें फैलने लगा। देशके कोने-कोनेसे सैकड़ों जन आ-आकर भिक्षु-दीक्षा लेने लगे। अब पगानकी प्रसिद्धि स्थविरवादके केन्द्रके तौरपर दूर-दूर तक फैल गई। दक्षिणी भारतके चोल राजाने सिंहलको संकटमें डाल रक्खा था। सिंहल-राज विजयबाहु (१०६५-११२०) ने चोल-राजाके विरुद्ध अनुरुद्धसे मदद माँगी, किन्तु मदद आनेसे पहिले ही उसने चोलोंको हरा दिया। चोलोंके आक्रमणसे सिंहलकी भारी क्षति हुई थी। बहुतसे बौद्ध धर्म-ग्रन्थ नष्ट हो गये थे। भिक्षु इतने कम हो गये थे, कि विनय-नियमके अनुसार पाँचका कोरम भी पूरा नहीं होता था। विजयबाहुने धार्मिक ग्रन्थों और भिक्षुओंको भेजकर सहायता करनेके लिये अनुरुद्धको लिखा। पगाननृपने धार्मिक ग्रन्थ और भिक्षु ही नहीं भेजे, बल्कि सिंहलराजके लिये एक श्वेत हाथी भी भेजा और बदलेमें भगवान्‌के दन्त धातुके लिये याचना की। सिंहलराजने उसकी इच्छाको पूरी किया। इसके पहिले बुद्धकी कुछ अस्थियाँ अनुरुद्धको थेर कित्तरासे मिली थीं। अनुरुद्धने इन पवित्र धातुओंके ऊपर स्वेज़िगोनका महास्तूप बनवाना शुरू किया, जिसकी समाप्ति उसके योग्य पुत्र केन्ज़ित्थाके हाथों हुई।

स्वेज़िगान महास्तूप एक ठोस विशाल स्तूप है। उसके भीतर रक्खी हुई पवित्र धातुओं (अस्थियों) के कारण वहाँ भक्तोंकी भीड़ लगी रहती है, जबकि उससे भी अच्छे बर्माके विहार सूने और ध्वंसोन्मुख दीखते हैं। स्तूपके चारों तरफ तैंतीस नाटों (देवताओं)के मन्दिर हैं, जो उक्त स्तूपकी पूजा कर रहे हैं। इन देवताओं और उनकी तड़क-भड़कके बारेमें पूछनेपर अनुरुद्धने कहा था—

"मनुष्य सद्धर्मके लिये नहीं आना चाहते! अच्छा तो उन्हें अपने पुराने देवताओंके लिये आने दो, वे इस तरह धीरे-धीरे सच्चे पथपर आ जायेंगे।"

अनुरुद्धने अपने चार धर्मामात्योंको भेजकर सिंहलसे त्रिपिटककी प्रतियाँ मँगाई। शिन् अर्हंनने थातोन्‌के त्रिपिटकोंसे तुलना करके एक अधिक शुद्ध संस्करण तैयार किया।

---

[1] M. Duroiselle. An. R. A. S. I. 1912-13, p. 91

शिन् अर्हन्‌के उद्योगसे दक्षिणी बर्माकी तलैंङ संस्कृतिने अम्म (उत्तरी बर्मा) देशको बहुत थोड़े समयमें संस्कृत और सभ्य बना दिया ।

पगान में अब भी एक विशाल बुद्ध-प्रतिमा खड़ी है, जिसकी दोनों ओर दो मूर्तियाँ हाथ जोड़े जमीनपर घुटने टेक रही हैं । इनमेंसे एक मुकुटधारी राजा केन्ज़ित्था है और दूसरा संघराज शिन् अर्हन् ।

अनुरुद्धके कुछ अभिलेख निम्न प्रकार हैं—"ये धम्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतोह्य वदत् । तेषां च यो निरोध एवंवादी श्री अनिरुद्धदेवः ।" "ओं देयधर्मोयं सच्चदानपति महार श्री अनिरुद्धदेवस्य ।"

§३. धर्मकी प्रगति

१. केन्ज़ित्था-काल

अनिरुद्धका तृतीय अधिकारी और पुत्र केन्ज़ित्था (१०८४-१११२) अपने पिताकी भाँति ही योग्य और भक्तिमान् पुरुष था । उसने बहुतसे मन्दिर और स्तूप बनवाये, जिनमें आनन्द-विहारकी ख्याति पगान और बर्माकी सीमासे बाहर बहुत दूर-दूर तक फैली । इसकी पहिली परिक्रमाकी दीवारोंमें अस्सी गवाक्ष हैं, जिनमें बुद्ध-जीवनके आरंभसे बुद्धत्व-प्राप्ति तककी घटनायें अंकित हैं । इन मूर्तियोंको जातकनिदानकथाके अनुसार चित्रित किया गया है । दीवारों और विहारकी ढलानोंपर कलईवाली मिट्टीकी रूपावलियाँ हैं । प्रत्येक रूपावलिपर तलैंङमें संक्षिप्त लेख हैं । दूसरे तलपर भी मिट्टीकी चमकीली रूपावलियाँ सजायी हुई हैं, जिनमें सारे साढ़े पाँच सौ जातक अंकित हैं । सारे मूर्ति-अंकनोंकी संख्या १४७२ है ।

पगानके अबेयदान और कुब्योक्कि विहारोंके भित्तिचित्र बड़े ही अद्भुत हैं । अबेयदानके अधिकांश चित्र हिन्दू, महायानी, हीनयानी जातक-देव-देवियों के हैं । वहाँ एक महायानी 'महाउम्मग' जातक चित्रित हुआ है । अव्वयवक्कि और अबेयदानके चित्रोंमें अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, तारा, मैत्रय और हयग्रीव आदिके चित्र हैं, जिनमें कुछ अश्लील भी हैं । ब्रह्मा, शिव, विष्णु, गणेश, यमुना आदिके चित्र बतलाते हैं, कि पगानमें ब्राह्मणधर्मी भी रहते थे ।

केन्ज़ित्थापर बुद्धकी मैत्री और करुणाकी शिक्षाका कितना प्रभाव पड़ा था, यह उसके निम्न अभिलेखसे मालूम होता है[1]—

"स्नेहपूर्ण करुणाके साथ . . . . राजा केन्ज़ित्था उन लोगोंके अश्रुओंको पोंछेगा, जो अपने हित-मित्रोंसे वियुक्त हो गये हैं । . . . उसके आदमी वैसोंके लिये वैसे ही होंगे, जैसे शिशुके लिये मातृस्तन । दुष्ट हृदयवालोंके मनको वह कोमल बना देगा । हाथकी हथेलीकी तरह समतल प्रज्ञासे राजा केन्ज़ित्था रत्नजटित स्वर्गके दरवाजेको खोल देगा ।"

उस समय बोधगयाका मन्दिर जीर्ण हो गया था । केन्ज़ित्था प्रथम बर्मी राजा था, जिसने बोधगयाके मन्दिरकी मरम्मत कराई—

"राजा केन्ज़ित्थाने नाना प्रकारके रत्नोंको एकत्रित कर बोध गयाके पवित्र विहारके निर्माण तथा सदा जलते रहनेवाले प्रदीपोंके दानके लिये भेजा । राजा केन्ज़ित्थाने उसे पहिलेसे भी अच्छा

[1]Ep. Birmanica III

बनवा दिया। (उस समय) राजा अशोककी बड़ी इमारत पुरानी होकर गिर रही थी।. . . ."

शिन् अर्हन्‌की मृत्युके समय १११५ ई०में स्थविरवाद बर्मामें फैल चुका था।

अगले राजा अलौङ् सित्थू (१११२-६७) ने अपने सामंत अराकानके राजा द्वारा बोध-गयाकी मरम्मतका काम पूरा कराया।

शिन् अर्हन्‌के बाद पंथगू संघराज हुए। अलौङ् सित्थूके मरनेके बाद उसके दोनों पुत्रों नरत्थू और मिन्-शिन्सामें झगड़ा हो गया। नरत्थूके कहनेपर पंथगूने मध्यस्थ बनना स्वीकार किया।

नरत्थूने कहा—"काहे देर लगाई जाये ? यदि मिन्-शिन्सा अपनी सेनाके साथ आक्रमण करेगा, तो देशकी अवस्था खराब होगी। मैं आपका सेवक तैयार हूँ। मेरे भाईको बुलाइये, वह एक तलवार एक घोड़ा लेकर चला आये और सिंहासनपर बैठ जाये।"

. . . (शपथ लेकर पंथगूने नरत्थूकी बातपर विश्वास किया।) मिन्-शिन्-साने स्थविरकी बातपर विश्वास किया और वह एक नावपर बैठकर चला आया। जब वह लप्पन् घाटपर पहुँचा, तो नरत्थू शपथके अनुसार नीचे पोतके पास गया और अपने भाईकी तलवारको कंधेपर रखकर उसने उसे सिंहासनपर बिठाया। किंतु, अभिषेकके बाद खानेमें जहर दे दिया और मिन्-शिन्-सा उसी रात मर गया। दूसरे दिन नरथूका अभिषेक किया गया। सब लोग आज्ञा स्वीकार करनेके लिये आये, किन्तु पंथगू नहीं आये और राजाके जानेपर उसे खरी-खरी सुनाने लगे—

"ओ दुष्ट राजा ! भ्रष्ट राजा ! संसारमें जो दुख सहना पड़ेगा उसका तुझे भय नहीं। आज तू राज कर रहा है, सोचता है कि तेरा शरीर बूढ़ा नहीं होगा, तू मरेगा नहीं ! तेरे जैसा महापापी राजा सारी दुनियामें नहीं है।"

राजाने कहा——"मैंने अपने भाईकी तलवार उठाई और उसे सिंहासनपर बैठाया।"

लेकिन आर्य स्वामीने जवाब दिया—"तेरे जैसा दुष्ट और गंदा आदमी सारे मानव-संसारमें नहीं है।"

यह कहते हुए स्थविर पंथगू देश छोड़ सिंहल चले गये और तब तक नहीं लौटे, जब तक नरथू जीता रहा (११७३)।

२. सिंहल-निकाय

संघराज पंथगू ११७३ ई० में सिंहलसे लौटे, उनका बहुत स्वागत हुआ। वह ६० वर्षके हो चुके थे और लौटनेके बाद अधिक दिनों तक नहीं जी सके। उनके बाद तलैंङ भिक्षु उत्तर-जीव संघराज हुये। सिंहल थेरवादका केन्द्र था, इसलिये वहाँके प्राचीन स्तूपों और विहारोंके दर्शनके लिये बहुतसे भिक्षु जाया करते थे। एक बार जानेवालोंमें उत्तरजीव तथा दूसरे भिक्षुओंके साथ चपटा ग्रामवासी एक बीस वर्षका श्रामणेर भी था। सभी भिक्षु सिंहलद्वीपमें पहुँचे। बातचीत होते समय सिंहलवालोंको मालूम हुआ, कि हम शिन् महेन्द्रके उत्तराधि-कारी हैं और उत्तरजीव सोण उत्तर स्थाविरोंकी परम्पराके हैं। उन्होंने श्रामणेर चपटाको भिक्षु बनाया।

चपटाका सिंहल निकायमें भिक्षु बनना एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी, यह बर्मामें सिंहलके महाविहार निकायकी स्थापनाका श्रीगणेश था। चपटाके भिक्षु बन जानेके बाद उत्तरजीव बर्मा लौट गये। शिन् अर्हन्‌ने सिंहलके त्रिपिटकको तुलना करके उसे थातोनके त्रिपिटकसे अधिक

प्रामाणिक बतलाया था, अब सिंहली उपसम्पदा (भिक्षु बनानेकी विधि) की श्रेष्ठता भी स्वीकार कर ली गई।

चपटा अपने गुरु उत्तरजीवके साथ बर्मा नहीं लौटे और पूरे दस साल तक सिंहलमें रहते त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओंको पढ़ते रहे। अब वह महास्थविर हो गये थे। स्वदेश लौटनेका विचार करते हुये चपटाने सोचा—"यदि मैं अकेले देश लौटूँ और उत्तरजीव महास्थविरके मरनेपर पुगामा (पगान) के भिक्षुओंके साथ विनयकर्म न करना चाहूँ, तो पञ्चवर्ग गण (पाँचके कोरमवाले संघ) के बिना कैसे विनयकर्म अलग कर सकूँगा? इसलिये अच्छा यही होगा, कि मैं त्रिपिटकके विद्वान् चार दूसरे भिक्षुओंके साथ देश लौटूँ।"....यह सोचकर चपटाने अपने साथ ताम्रलिप्ति (बंगाल) के सीवली महाथेर, कंबोजराजके पुत्र तामलिंद महाथेर, काञ्चीपुरके आनन्द महाथेर और लंकाके राहुल महाथेर[1] चार और भिक्षु ले लिये।

११८१-८२में चपटा अपने चारो साथियोंके साथ पगान लौटे। चपटाने सिंहल-निकायके होनेका अभिमान करके दूसरे भिक्षुओंके साथ विनयकर्म करनेसे इन्कार कर दिया। इस प्रकार ११८१-८२में बर्मामें सिंहल-संघ और अम्म-संघ नामके दो संघ बन गये। यदि चपटाको इस बातका अभिमान था, कि हम महान् महेन्द्र द्वारा स्थापित महाविहार-निकायके सदस्य हैं, तो दूसरोंको भी इसका कम अभिमान नहीं था, कि हम तृतीय संगीतिके समय भारतीय संघ द्वारा भेजे सोण और उतरकी परंपराके हैं। उन्होंने बहुत समझानेकी कोशिश की, कि सोण, उत्तर और महेन्द्र एक ही निकायके थे, इसलिये भेद-भाव नहीं करना चाहिये; किन्तु कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पाँचो महास्थविर अधिक विद्वान्, विनय-नियमोंके अधिक पालन करनेवाले थे, इसलिये तत्कालीन राजा नरपति सिथूकी भी उनपर बड़ी श्रद्धा थी। वह उनकी सब तरहसे सहायता करनेके तैयार था। उसने उपसंपदा करनेके लिये इरावदी (अचिरावती) नदीमें नावोंका बेड़ा बनवा दिया। अधिकाधिक श्रामणेर आकर भिक्षु बनने लगे और उनकी संख्या तथा प्रभाव भी बढ़ता गया।

चपटाके चार साथियोंमें राहुल सबसे अधिक पंडित थे। एक दिन राजा नरपति सिथू उनके सम्मानमें भोज दे रहा था, वहीं राहुल एक सुंदर कन्यापर मुग्ध हो गये। उन्होंने भिक्षुपन छोड़नेका निश्चय कर लिया। चपटा और दूसरे महास्थविरोंने समझाने-बुझानेका बहुत प्रयत्न किया, लेकिन उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। राहुल भिक्षुके कपड़ोंको छोड़कर मलयद्वीप (मलाया) चले गये।

सिंहल-संघको इससे बहुत बड़ा धक्का लगा। थोड़े समय बाद चपटा भी मर गये। सीवली, आनन्द और तामलिन्द पुखाम (पगान)। में धर्म-प्रचार करते रहे। यद्यपि उनमें भी मतभेद हुआ, किन्तु सिंहल-संघ बढ़ता ही गया—आनन्द और सीवलीके जीवनकाल ही में सिंहल-संघका प्रभाव सारे बर्मामें हो गया।

यह वह समय था, जबकि भारतवर्षमें तुर्कोंका राज्य कायम हो चुका था और कुतुबुद्दीनके सेनापति महम्मद बिन-बख्तियारने ११९३ ई०में बिहारपर आक्रमणकर पालवंशकी राजधानीपर अधिकार किया। वहांके प्रासाद और विहार उसके हाथमें आये। इसी समय नालंदा विहारमें भिक्षुओंका इतना अंधाधुंध कत्लेआम हुआ, कि कोई आदमी नहीं रह गया, जो

[1] Ep. Birm. III 2, p. 10

वहाँके पुस्तकालयोंकी पुस्तकोंको पढ़ सके। इसी समय बनारसके ऋषिपतन (सारनाथ) को मुसलमानोंने लूटकर आग लगा दी। उत्तरी और पूर्वी भारतमें भिक्षुओं और विहारोंका सर्वनाश हो चुका था, जिसके साथ ही वहाँ प्रचलित तांत्रिक महायान बौद्ध-धर्म भी सदाके लिये नष्ट हो रहा था।

नरपति सिथू राजा १२१० ई०में मरा। उसके उत्तराधिकारी हतिलो-मितेलने (१२१०-३४) बोधगयाके मन्दिरके नमूनेपर पगानमें एक मन्दिर बनवाया। उसके बाद उसका पुत्र क्यासवा (१२३४-५०) गद्दी पर बैठा। यद्यपि पगानका राजवंश अपने अंतके समीप जा रहा था, किन्तु वह बुझती आगकी जल उठी लौकी अवस्थामें था। क्यासवा स्वयं त्रिपिटकका विद्वान् था। कहते हैं उसने त्रिपिटक, उसकी अट्ठकथाओं और टीकाओंका नौ बार पारायण किया था। अपने अंतःपुरकी स्त्रियोंके लिये उसने 'परमत्थबिंदु' नामक पुस्तक लिखी थी। उसका सारा समय धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययनमें बीतता था। "सद्दबिंदु" नामकी एक व्याकरणकी पुस्तक भी उसने लिखी थी। उसकी कन्या भी विदुषी थी, जिसने "विभत्यत्थ" नामसे पाली-व्याकरणपर एक छोटी पुस्तक लिखी थी। क्यासवाका पौत्र नरथिहपते अथवा श्री त्रिभुवनादित्य परम-धम्मराज (१२५४-८७) इस वंशका अंतिम राजा बड़ा क्रूरकर्मा था, जिसके साथ दो सौ वर्ष-से चली आती पगानकी ज्योति बुझ गई—१२८७ ई०में कुब्ले खान्की सेनाने पगानपर अधिकार कर लिया।

३. दासता

पगान राजवंशके शासनकालमें देश बहुत धन-धान्य-सम्पन्न था। राजा और धनिक होड़ लगाकर दान देते थे। भूमि, भवन, उद्यान, कूप, सरोवर, बकरी, भैंस, घोड़े, हाथी जैसे पशु, चावल-धान, नौका, सोना-चाँदी, रत्न-लोहा, सीसा-ताँबा, परिधान, वस्त्र और पोशाक, हस्तलिखित ग्रन्थ, व्यजन, छत्र, ताम्बूल, सुपारी, ताम्बूलपेटिका, तेलप्रदीप, फूल, मृत्पात्र, भिक्षापात्र, उगालदान आदि धातुपात्र, घंटा, थाली, दीवट, श्रृङ्खला आदि और विशेषकर दास भी दानकी वस्तुयें थीं। पगानमें आज भी जिन सैकड़ों विहारों और आरामोंके ध्वंस दीख पड़ते हैं, उन्हें बनवाकर दाताओंने उनकी आरक्षा करनेके लिये हजारों दासोंको प्रदान किया था। शिलालेखोंमें दान दिये हुये सैकड़ों दास-दासियोंके नाम मिलते हैं। इन दासोंमें कितने ही चित्रकार, कारु, लोहकार, सोनार, राजगीर, धोबी, माली, गोपालक, महावत, नर्त्तक, गायक, संगीतकार, लेखक, पटकार और रसोइया आदि थे। इनमें बहुत-सी स्त्रियाँ भी थीं। कितने ही दास साक्षर थे। कभी-कभी सारे परिवारने भक्तिभावसे प्रेरित हो अपनेको विहारोंका दास बना दिया था। त्रिपिटक, त्रिरत्न, तथा बुद्धके लिये जैसे भूमिका दान दिया जाता था, वैसे ही दासोंको भी दिया जाता था। साधारण तौरसे दासोंका काम था—झाड़ना, बुहारना, दिया बारना तथा रसोई करना आदि। एक शिलालेखमें स्त्री-दासियोंको चावल, सुपारी, मांस और मूर्ति आदि बेचनेवाली लिखा है। एक और शिलालेखमें दान दिये हुये दासोंके कर्तव्यके बारेमें लिखा है—

"ये सारे दास इसलिये दिये गये हैं, कि वे आर्य भिक्षुओंके हाथ-पैर धोयें, उनके नहानेके लिये जल निकालें, भोजन पकायें, आँगन बहारें और कूड़ा-करकट फेंकें।"

बारहवीं सदीके बर्मी विहारोंकी इस अवस्थासे हम नालंदा तथा विक्रमशिलाके विहारोंकी

दशाका भी अनुमान कर सकते हैं। उन्नीसवीं सदीके प्रथम पाद तक भारतमें भी दास-दासियोंका क्रय-विक्रय होता था। जेम्स फ्रेजरने १८१५ ई०में पश्चिमी हिमालयमें भ्रमण करके एक पुस्तक 'हिमाल मौन्टेन' लिखी, जो १८२०में लंदनमें छपी। उसमें वह लिखता है—"वसहरकी स्त्रियाँ बहुत सुंदर होती हैं, इसलिये बाजारमें यहाँकी दासियोंकी बहुत माँग है। यहाँ जो आठ-दस, बीस-पचीसमें खरीदी जाती हैं, वह पहाड़से नीचे जाकर डेढ़-दो-सौ रुपयेमें बिक जाती हैं।"हाँ, साथ ही उसने यह भी लिखा है कि "हिन्दुस्तानके स्वामी बहुत क्रूर नहीं होते, बल्कि दास उनके साथ मजेमें रहते हैं, उनसे हिल-मिल जाते हैं।"

दाताओंकी भावनायें क्या होती थीं, इसके लिये एक रानीका अभिलेख देखिये[1]। "अनंत दुःखोंसे प्रताड़ित इस शरीरको मैं छोड़ देना चाहती हूँ। कैसे दुःख ? जन्म लेनेका दुःख, बुढ़ापे का दुःख, मृत्युका दुःख, अप्रियसंयोगका दुःख, प्रियवियोगका दुःख, अभिलषितके न मिलनेका दुःख। इसीलिये मैंने अपने प्रिय, बहुमूल्य सोने-चाँदीके कोषों तथा दूसरी निधियोंका दान किया और एक विहार बनवाया। अपने पास कुछ भी न रखकर मैंने अपने सारे खेतों, बागों और दासोंको सदा शुद्ध शील-समाधि-प्रज्ञाकी खोजमें रहनेवाले विहारवासी भिक्षुगण और उनके शिष्यों-के आरामके लिए दे दिया। हमारे कर्मका फल सबसे पहिले राजाको मिले, जो हम सबका शासक तथा जल-थलका स्वामी है। इस कर्मके फलसे वह दीर्घजीवी हो, अपने देशके सभी निवासियोंके साथ सुखकी वृद्धि करे। रानियाँ और राज-परिचारिकायें भी उसमें सहभागिनी हों—वह एक दूसरेके साथ ईर्ष्या-द्वेषका लेशमात्र भी न रखकर मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे देखें। सांसारिक समृद्धि चाहनेवाले उसे पायें। जो सुकर्म करना पसंद करें, वे उसे करें। अपने लिये मेरी यही आकांक्षा है, कि मैं कभी लोभी, असंतोषी, क्रोधी, भयातुर, अज्ञानी, मूढ़, अप्रिय, क्षुद्र, विश्वासहीन या कृतघ्न न होऊँ। बल्कि मैं अल्पेच्छता, सहज-सन्तुष्टि, मृदुस्वभावता, करुणा, बुद्धि, उदारता, विशालहृदयता, विश्वासपात्रता, ईमानदारी, विवेक आदि गुणोंके साथ संसारको पार करूँ और मैत्रेयनाथके सम्मुख हो निर्वाण प्राप्त करूँ।"

एक दूसरी पुत्र-वंचिता महिलाने अपने दानलेखमें लिखा है[2]—

"मेरे माता-पिता, मेरे पितामह-प्रपितामह सभी दायभागी-सम्पत्ति छोड़कर चले गये। अब मेरा स्नेह-भाजन मेरा प्रिय पुत्र भी अपनी दाय-सम्पति और अपनी माको छोड़कर चला गया। मैं अच्छी तरह जानती हूँ, कि अपने साथ न ले जाकर अपनी जिस दाय-संपत्तिको वे छोड़ गये, उसे मैं भी नहीं ले जा सकती। इसलिये मैं उसे दान दे रही हूँ, जिसमें कि वह मेरे माता-पिता, मेरे पुत्र और मेरे सभी संबंधियोंको निर्वाण प्राप्त करनेमें सहायता करे। मेरे इस दानका पुण्य मेरे पितामह राजा कलाच्वा, मेरी पितामही, मेरे पति-राजा, मेरे पुत्र परमभट्टारक राजा, मेरी राजवंशिक माता, मेरे पति राजासे हुये मेरे दोनों प्रिय पुत्रों, मेरे मामा, मेरी मामी मेरी ज्येष्ठ भगिनी, मेरे तीन भाइयों, मेरी दो छोटी बहिनों, मेरे सभी दासों और नौकरों, राजके सभी मंत्रियों, सभी राजपरिचारिकाओं और राजबंधुओंको प्राप्त हो। ऊपर स्वर्गसे लेकर नीचे नरक तक सारी अनंत लोकधातु और चारों दिशाओंके प्राणी इस (पुण्य)को प्राप्त करें। इस पुण्यकर्मको यथाशक्ति करके मैं भी अब अपने माता और सारे परिवारके मरनेके बाद

---

[1]A.S. Burma. List of inscriptions found in Burma, 311

[2]वही, No.384

अकेली बची हुई यही चाहती हूँ, कि यह पुण्यकर्म धर्मके पाँच हजार वर्षों तक बना रहे और जब मैं मरूँ और यहाँसे विदा होऊँ, तो देवता बन रात-दिन निरंतर भगवान्‌की दंतधातुकी पूजा किया करूँ। इस बीचमें, जब तक कि मैं अपने इच्छित वरको नहीं पा लेती, मैं सभी बोधिसत्त्वों द्वारा पूरा की जानेवाली दस पारमिताओंको पूरा करूँगी।"

साथ ही ऐसे उच्चाशय व्यक्ति भी रहे हैं, जो अलौंग सिथू (१११२-६७) के शब्दोंमें कहते थे[1]:—

"इस अपने दानसे जो वर मैं चाहता हूँ, वह श्रेष्ठवर यही है,
कि इससे सभीको लाभ हो;
इस बहुपुण्य द्वारा मैं न यहाँ, न परलोक ही में चाहता दिव्य वैभव,
ब्रह्माओं, सुरोंका; नहीं ही राजाका राज्य और प्रताप;
नहीं ही यह कि बुद्धका शिष्य बनूँ।
बल्कि मैं बन जाऊँ एक प्रशस्त सेतु, जिससे संसार-सरिताको सभी जन
पार करके पहुँच जायँ भाग्यशाली नगरीमें।
मैं स्वयं पार करूँ, डूबतोंको उबारते।
हाँ, मैं स्वयं, दान्त हो अदान्तोंको दान्त करूँ;
धैर्यवान हो अधीरोंको धैर्य दूँ;
स्वयं जगा, सोतोंको जगाऊँ; शीतल, जलतोंको शीतल करूँ;
मुक्त, बद्धोंको मुक्त करूँ; सद्धर्म द्वारा शांत विनीत मैं द्वेष शांत करूँ।
तीन अमरण स्थितियाँ—राग-द्वेष-मोह, जो सब अपनेमें मूलबद्ध हैं,
वे नष्ट हो जायें, जहाँ कहीं मैं जन्मूँ।...."

लेकिन रानी कावके दानपत्रको भी देखिये[2]—"जब तक मैं निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेती, तब तक मेरे किये इस महापुण्य-कर्मसे मैं एक समृद्धिशाली पुरुष होऊँ और दूसरे पुरुषोंसे अधिक राजसुख-संपन्न होऊँ। यदि देवांगना बनूँ तो मैं भास्वर वर्ण, प्रकाश और (सर्व-)विजयी सौन्दर्यसे युक्त ऐसी होऊँ, जैसी कोई दूसरी देवकन्या न हो, विशेषकर मैं दीर्घजीवी, रोगमुक्त, कमनीय-वर्णा, मधुरस्वरा, सुन्दरस्वरूपा होऊँ। मैं प्रत्येक देव और मनुष्यकी प्रिया और मान्य प्रेमिका होऊँ। सोना-चाँदी, रत्न-मूँगा-मोती आदि अजीव निधि तथा हाथी-घोड़ा आदि सजीव निधि सब मेरे पास बहुत-बहुत होयें। अपनी शक्ति और प्रताप, तड़क-भड़क तथा नौकर-चाकर, यश और गौरवसे (सर्व-)विजयी होऊँ। जहाँ-जहाँ मैं जन्मूँ, वहाँ-वहाँ दान, श्रद्धा, प्रज्ञा आदिसे पूर्ण होऊँ और दुःखका लेशमात्र भी न हो। जब मनुष्योंके आनंद और देवताओंके सुखको भोग चुकूँ, जब आर्य (मैत्रेय) विमुक्ति फल देनेको आयें, तो अन्तमें मैं शांत निर्वाणको पाऊँ।"

§४. पुनः शासन

१. धर्म छिन्न-भिन्न

चिङ्गिज खान् कोरियासे रूसके भीतर तक अपने राज्यको फैला चुका था। उसके पूर्वी राज्य (चीन)पर कुबले खानका शासन था, जिसने अपने हाथको बढ़ाते हुए १२८७ ई०में

[1]An. Rep. A. S. B. 1911, p. 181 [2]A. S. Burma. List of Ins. iv. 334

पगानको ले लिया। ग्रम्म ग्रौर तलैंङ्का ग्रापसी संबंध ग्रच्छा नहीं था। ग्रम्म-शक्तिको ध्वस्त होते देख तलैंङ विद्रोही बन गये ग्रौर उन्होंने ग्रपने यहाँसे ग्रम्म (बर्मी) शासनको उखाड़ फेंका। पगानको नतमस्तक करके मंगोलोंने पुराने राजवंशको स्थापित करना चाहा, लेकिन यह होनेवाली बात न थी। इसी समय उत्तरके घुमन्तू लड़ाके शान् दक्षिणकी ग्रोर बढ़े ग्रौर वह तूफानकी तरह सारे बर्मामें फैल गये। उनके सामने न बर्मी टिके, न तलैंङ। उनके लिये न धर्म कोई चीज थी, न संस्कृति। पहले उन्होंने मंगोलोंके सामंतके तौरपर शासन करते हुये पिन्निया (विजयपुर) में ग्रपनी राजधानी बनाई, फिर १३१२ ई०में ग्रावा (रतनपुर) में शासन शुरू किया। १२८७में ग्रपने एक नेता वरेरु (१२८७-९६) की ग्रधीनतामें दक्षिणी बर्मामें पेगूको ग्रपना दूसरा केन्द्र बनाया। इन बर्बर घुमन्तुग्रोंके प्रहारसे देशको काफी क्षति हुई, धर्म ग्रौर विद्याका बहुत ह्रास हुग्रा। लेकिन, इस सांस्कृतिक वायुमंडलमें ग्राकर वह बहुत दिनों तक ग्रछूते नहीं रह सकते थे। उनका एक राजा थीहथू एक पीढ़ी बीतते-बीतते बौद्धधर्ममें दीक्षित हुग्रा। यह उन तीन शान-भाइयोंमेंसे था, जो मंगोल-विजयके बाद उत्तरी बर्माके शासक हुये थे। शायद थीहथूके दोनों बड़े भाई भी बौद्ध थे। तेरहवीं सदीके ग्रन्तमें बौद्धधर्म तिब्बतके पहाड़ों ग्रौर ग्रागे तक फैल चुका था, कुबले खान स्वयं भी बौद्ध था, इसलिए घुमन्तू शानोंके सर्दार बौद्धधर्मसे ग्रपरिचित नहीं हो सकते थे। ग्रब उन्हें उच्च संस्कृति-संपन्न पगान-भूमिमें रहना था। न र थी ह प ते राजाकी कन्या मी-साव-ऊ ग्रपने भाई क्या-व-स्वा (१२८७-९८) की रानी थी, जिसके बाद थि ह थु (१३१२-२४) की रानी बनी। वह पगानके लुटे वैभवके बारेमें ग्रपने एक शिला-लेखमें खेद प्रकट करते हुये कहती है[1]—

"इस पगान भूमिका यह नाम इसीलिए पड़ा, कि यह भूमियोंमें सबसे सुन्दर ग्रौर प्रिय है। इसे ग्ररिमद्दन इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि यहाँके लोग शत्रुविजयी योद्धा हैं। इसका नाम भयोत्पादक भी है। यहाँके लोग दुःख ग्रौर भयसे मुक्त, सर्व-शिल्पचतुर एवं धनी हैं। धनसे पूर्ण इस देशमें उपयोगी चीजें भरी पड़ी हैं। सचमुच देवभूमिसे भी ग्रधिक यह भूमि कमनीय है। यह यशस्वी देश है। इसके निवासी ग्रपने ऐश्वर्य ग्रौर प्रतापके लिए प्रसिद्ध हैं। जिस विहारको मैंने बनवाया, वह राजधानीकी पूर्व दिशामें है।"

तलैंङने शानोंको संस्कृत ग्रौर सभ्य बनाया। ग्रब पगानवासी उन्हीं शानोंके हाथोंमें थे। बर्बर विजेता संस्कृति-सरोवरमें डुबकी लगाये बिना कब-तक बचे रहते, थीहथूने बौद्धधर्म—थेरवादी बौद्धधर्म—स्वीकार किया। उसने १३१२ ई० में पिन्याको ग्रपनी राजधानी बनाया। पिंन्यामें धीरे-धीरे कितने ही विहार बन गये ग्रौर हजारों भिक्षु रहने लगे। फिर पठन-पाठन ग्रारम्भ हुग्रा। शान सैनिकोंमें कितने ही उत्तरके तांत्रिक महायानके भी ग्रनुयायी थे, उन्होंने भिक्षुग्रोंपर प्रभाव डालना शुरू किया, जिससे संघका गौरव घटने लगा।

पिन्याके बाद राजधानी कुछ समय सगाईंमें रही, फिर १३६४ ई० में ग्रावा चली गयी।

उधर तलैंङ प्रदेशमें एक शान सर्दार बरेरु मंगोल-विजयके साथ ही ग्रपना सिक्का जमा चुका था। १३६३ तक मर्तवानमें रहकर १३६९के बाद उसने पेगूको राजधानी बनाया। जल्दी ही वह बौद्ध हो भिक्षुग्रों ग्रौर उनके पठन-पाठनमें दिलचस्पी लेने लगा। बरेरुने विद्वान् भिक्षुग्रोंकी सहायतासे मनुके ग्राधारपर पहिला विधान-संग्रह बनवाया। सिंहलमें तीर्थयात्रा

---

[1] Inscriptions of Pagon and Ava—1899, p. 134

और अध्ययनके लिये भिक्षुओंका आना-जाना इस समय भी होता था। राजविप्लवसे जो क्षति बौद्धधर्मको पहुँची थी, वह भी पूरी हो चली, किन्तु सम्प्रदाय-भेद उसे निर्बल कर रहा था। इसी समय प्रसिद्ध राजा धम्मचेति पैदा हुआ।

२. धम्मचेति-काल (१४७२-७९)

शिन्-शा-बू पेगूके राजाकी लड़की थी, जो आवा और फिर पगानमें रानी रह चुकी थी। अब उसे इस जीवनसे घृणा हो गयी थी। वह अन्तःपुरसे भाग निकलना चाहती थी। धम्मचेति और उसके साथी दूसरे भिक्षुओंने शिन्-शा-बू को पढ़ाया था। उनकी सहायतासे वह भाग निकलनेमें सफल हुई और अंतमें पेगूकी रानी बनी। काफी समय (१४५३-७२) शासन करनेके बाद वह अपने सहायक दोनों भिक्षुओंमेंसे एकको शासनका भार देकर मुक्त होना चाहती थी। वह दोनोंको समान दृष्टिसे देखती थी, इसलिये उसने इसका निर्णय भाग्य पर छोड़ दिया। एक दिन सबेरे जब दोनों भिक्षु राजभवनमें भिक्षाके लिये आये, तो उसने एक जैसे दो भिक्षापात्रोंमेंसे एकमें गृहस्थ-परिधान और पाँचों राजचिन्होंके छोटे-छोटे नमूने डालके उन्हें दोनों भिक्षुओंके सामने रख दिया। गृहस्थके परिधानवाला पात्र संयोगसे धम्मचेतिके हाथमें पड़ा। धम्मचेतिने भिक्षुपन छोड़ दिया और शिन्-सा-बू की कन्यासे व्याह करके राजशासन सँभाला। शिन्-सा-बू श्वेदगोन विहारमें जाकर एकान्त धर्मसेवामें लग गयी। रंगूनके श्वेदगान-चैत्यका आजकलका वैभव शिन्-साव-बू की देन है।

धर्मचेतिके रूपमें तलैंङ्का सितारा फिर चमका। धम्मचेतिने भिक्षुपन छोड़ दिया था, किन्तु धर्मके प्रति उसका पहले ही जैसा प्रेम था। धर्म-प्रचार और धर्म-सुधारकी उसमें धुन थी। उसने १४७२ ई० में वैसा ही मंदिर बनवानेके लिये अपने आदमी बोधगया भेजे।

पहिले ही बतला चुके हैं, कि कैसे वर्मामें सिंहल और अम्मसंघ पैदा हुए, और उनका मतभेद बढ़ा। इधर बीचकी राजविराजीसे भिक्षुओंमें और भी नियमोंकी शिथिलता आ गई थी। धम्मचेतिने भिक्षुसंघमें सुधार करनेके लिए मोग्गलान आदि बाईस ज्ञानवृद्ध भिक्षुओंको बुलाके कहा[1]—

"भन्ते! मोन् (तलैंङ)-देशके भिक्षुओंकी उपसंपदाविधि हमारी समझमें अब अवैध हो गई है। ऐसी अवैध उपसम्पदापर आधारित धर्म कैसे पाँच हजार वर्ष तक चल सकता है? भन्ते! सिंहलद्वीपमें धर्मकी स्थापनासे लेकर आज तक अत्यन्त शुद्ध भिक्षुओंका संघ वर्त्तमान है। वहाँके भिक्षु महाविहारके भिक्षुओंके उत्तराधिकारी हैं। महाविहारनिकाय शुद्ध और निर्दोष रहा है, इसलिये वहाँ कल्याणी नदीपर चारों ओर जलकी सीमा बना उन भिक्षुओंसे उपसंपदा ग्रहण करनी चाहिए।..यदि आप इस प्रकारकी उपसम्पदा प्राप्त करें और यहाँ आकर हमारे मोन्-देशके कुलपुत्रोंको उपसम्पदा दे संघ स्थापित करें,..तो धर्म शुद्ध हो जायगा और वह पाँच हजार वर्षों तक बना रहेगा।

"भन्ते, सिंहलद्वीप जानेसे आपको बहुत पुण्य और सुलाभ मिलेगा।"

६ जनवरी १४७६ ई० को २२ भिक्षु अपने बाईस शिष्यों-सहित चिनदूत और रामदूत दो अमात्योंके साथ दो जहाजोंपर सिंहलके लिये रवाना हुए—दोनों जहाजोंमें ग्यारह-ग्यारह भिक्षु

[1] Ep. Birm. III, pp. 320-21

महासीवली और मोग्गलानके नेतृत्वमें बैठे थे। दोनों पोतोंमेंसे चिनदूतका पोत २३ फरवरी १४७६ को लंका पहुँचा और उसने लंकाके राजा भुवनैकवाहुको स्वर्णपत्रपर लिखे धम्म-चेतिके पत्र तथा दूसरी भेंट की वस्तुएँ अर्पित कीं। रामदूतका पोत प्रतिकूल हवाके कारण बहक गया और कुछ काल बाद १४ जूनको सिंहल पहुँचा ।

कल्याणी नदीके बीच सिंहलके भिक्षुसंघने बर्माके भिक्षुओंको उपसम्पदा दी ।

वह देशकी ओर लौटे। २१ अगस्त १४७६ को एक पोत ग्यारह स्थविरों और उनके ग्यारह शिष्योंके साथ लौट आया। दूसरे पोतपर आफत आयी और तूफानमें ६ स्थविर और उनके चार शिष्य मर गये, बाकी तीन वर्ष बाद १२ नवंबर १४७९ को बर्मा लौटे ।

इन भिक्षुओंकी उपसम्पदा लंकाकी कल्याणी नदीके भीतर उसके जलको सीमा बनाकर हुई थी, इसलिये, इस उपसम्पदा-सीमाका नाम "कल्याणीसीमा" हुआ। राजा धम्मचेतिने सारे देशमें घोषित कर दिया--

"जो श्रद्धालु हैं और सिंहलमें उपसम्पदा प्राप्त किये भिक्षुओंके हाथसे उपसम्पदा प्राप्त करना चाहते हैं, वे कल्याणीसीमामें आवें और उपसम्पदा लें। जिनको विश्वास नहीं है और जो सिंहली उपसम्पदा लेना नहीं चाहते, वे जैसे हैं, वैसे ही रहें।"

धम्मचेति स्वयं सहायता कर रहा था और अप्रत्यक्षरूपेण भय भी था, फिर क्यों न भिक्षु इस नयी उपसंपदाको लेनेके लिये आते। कुछ ही समयमें १५६६६ भिक्षुओंने नयी उपसम्पदाको स्वीकार किया। मरम्मसंघ बड़ी तेजीसे सिंहलसंघमें परिणत हो गया। धम्मचेतिने सिंहल-संघको ही मान्यता दी। उसका यह कृत्य बर्माके बौद्ध-इतिहासके लिये एक बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। बर्मासे सोण-उत्तरकी पुरानी परंपरा थोड़े ही समयमें बिल्कुल नष्ट हो गयी। अब द्वीपमें सिर्फ सिंहल-निकायका बोलबाला था।

§५. आधुनिक काल

१२८७ में पगान-राजवंशके नाशके बाद बर्माकी एकता विच्छिन्न हो गयी। यद्यपि धम्म-चेतिने बौद्धसंघमें एकता लानेमें बड़ी सफलता प्राप्त की, किन्तु बारहवीं शताब्दीके भारतकी तरह चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदीका बर्मा कई राज्योंमें बँटा हुआ था। इसी समय १५२७ ई० में थोहन्-ब्वा (श्री हंसवा) राजा आवाके सिंहासनपर बैठा। वह बड़ा लोभी और क्रूर था। विहार, मन्दिर या निजी घर, खुले छिपे सभीके धनको लूटना उसका काम था। उसने विहारों और मठोंके धनोंको लूटने ही तक बस नहीं किया, बल्कि खुद उनमें और धार्मिक पुस्तकोंमें आग लगवायी। भिक्षुओंसे उसको और भी चिढ़ थी। वह समझता था, कि ये बिना परिवारके विहारोंमें एकत्रित घुटे सिरवाले लोग उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं, और आगे-पीछे किसीकी चिन्ता न होनेसे और भी खतरनाक हैं। आवाके पास तौङ्-ब-लू में उसने एक बड़ा मंडप बनवाया, और नाना पशुओंका मांस तैयार कराके पिन्या, आवा, मिन-सिङ्, सगाईके बहुतसे भिक्षुओंको भोजनके लिये निमंत्रित किया। जब भिक्षु मंडपके भीतर आ गये, तो उसने चारों ओरसे घेरकर उन्हें मरवा दिया। उस समय तीन हजार भिक्षु मारे गये। बर्माके इतिहासमें कभी बौद्धधर्मपर इतना अत्याचार नहीं हुआ था।

लेकिन, बर्मी जनताके लिये बौद्धधर्मने संस्कृति, सभ्यता, साहित्य सभी दिया था। यह सेवायें इतनी हल्की न थीं, कि बौद्धधर्म आसानीसे नष्ट कर दिया जाता। थोहन्-ब्वा के अपने एक बड़े

सहायक बर्मी-अधिकारी मिन्क्यियानोङ्को यह सह्य नहीं हुआ और १५४३ ई० में उसने उस क्रूर राजाको मौतके घाट उतारनेका कारण बताते हुए कहा—"वह त्रिरत्नका सम्मान नहीं करता, मानव-प्राणको कुछ नहीं समझता, दूसरे पुरुषोंकी स्त्रियोंसे बलात्कार करता है।"

मिन्क्यियानोङ्ने राजाको मारा, किन्तु उसने सिंहासनको लेनेसे इन्कार कर दिया। यही नहीं, वह संसारसे विरागी हो, मेक्कयाके पासके एक अरण्य-विहारमें चला गया।

भिक्षुसंघकी भारी क्षति हुई थी। राजाओंके पारस्परिक संघर्षने विहारके विद्या और शांतिके वातावरणको नष्ट कर दिया था—वस्तुतः विहार भी बहुत कम रह गये थे। उस समय तुंगू ही ऐसा राज्य था, जहाँ भिक्षुओंका सम्मान और विद्याका प्रचार था।

१. तुंगू-वंश

तुङ्गूका राजा मिन्क्यिन्यो (महाश्रीजेय्यसूर १४८६–१५३१) धर्मभीरु राजा था। उसने कई विहार बनवाये। बर्मा, नेपाल या दूसरे देशोंमें भी विहार या चैत्य बनानेकी होड़ लाभकी वस्तु नहीं सिद्ध हुई। धीरे-धीरे संख्या इतनी बढ़ गई, कि इनकी मरम्मत मुश्किल हो गई, फिर पुरानी इमारतें गिरने लगीं। पुरानी इमारतोंकी मरम्मत करनेसे नाम नहीं होगा, यह ख्याल नईके बनानेके लिये मजबूर करता था। किन्तु, कुछ समयमें गिरकर नई इमारत भी तो बनानेवालेके नामकी रक्षा नहीं कर सकती। मिन्क्यिन्योका क्या दोष था, यह तो परिपाटी थी। उसके पुत्र त-विन्-श्वे-हृति (१५३१-५०) के साथ हम शेरशाह और हुमायूँके समयमें पहुँचते हैं। उसने १५३९ में बिना युद्धके पेगूको ले लिया। फिर मर्तबान और प्रोम भी उसके हाथमें आ गये। तलैंङ देश अब वर्मी राजाके हाथमें था, किन्तु उसके शासनके अन्त होते-होते राज्य भी विशृङ्खलित हो गया था। उसके उत्तराधिकारी बयिन्नौङ (१५५१-८१) ने सारे बर्माको एकसूत्रमें बाँधनेमें सफलता पाई—यह अकबरका समय था। तलैंङ लोगोंके विद्रोहको शांत कर उसने पहले पेगूको लिया, फिर दक्षिणी और उत्तरी वर्मा ही नहीं, शान राज्योंको भी अपने अधीन किया। वह बौद्धधर्मका बहुत भक्त था। रंगूनके श्वेदगोन, प्रोमके श्वेशन्दा और पगानके श्वेजिगोन आदि विहारोंकी अनेक बार यात्रा की। अशोककी तरह उसने भी घोषित किया था, कि हमारे राज्यमें पशु-बलि न दी जाय। शान-इलाका अब भी संस्कृतिमें पिछड़ा हुआ कबीलाशाही प्रथाओंका शिकार था—"ओन्बौङ, मोमेयिक तथा दूसरे शान-इलाकोंमें साऊब्वा (सामन्त) के मरनेपर उनकी बर्बर प्रथाके अनुसार सामंतके दासों, सवारीके प्रिय हाथी-घोड़ोंको मारकर साथ कब्रमें दफनाया जाता था।" बयिन्नौङने इसे वर्जित कर दिया। उसने शान लोगोंमें धर्म और संस्कृतिके प्रचारके लिये कितने ही विहार और चैत्य बनवाये और शिक्षित भिक्षुओंके निवासका प्रबंध किया। उसने सारे बर्माको एक करके उसे एक धर्म और संस्कृतिमें लानेकी कोशिश की। १५६४ ई० के भूकंपमें श्वेद्गोन चैत्यको क्षति पहुँची थी। राजाने उसकी मरम्मत कराके अपने मुकुटके रत्नोंसे अलंकृत करवाया। उसका राज्य बर्मासे बाहर कम्बोज, अयोध्या (स्याम), सुखोदय (ऊपरी-स्याम) आदि तक फैला हुआ था। वहाँ उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अनुरुद्धको उपराज बनाकर भेजा था।

बयिन्नौङके बाद राजशक्तिमें निर्बलता आ गई। १५९९-१६०० ई० में अराकानियोंने पेगू नगरको लूटके ध्वस्त किया। बर्मनोंने तलैंङोंके साथ एका करनेमें सफलता नहीं पाई, उनकी

निर्वलताका यह एक बड़ा कारण था, किन्तु तो भी बौद्ध-धर्मने बर्माके सांस्कृतिक जीवनको ऊँचा उठाया था। इसका प्रमाण कप्तान अलेक्स हेमिल्टनके लेखसे मिलता है। हेमिल्टन १७०९ ई० में बर्मामें गया था। वह लिखता है—"पोतके ध्वस्त हो जानेपर नाविक डोंगियोंसे किनारेपर उतरे। वहाँ उनका बहुत अच्छा सत्कार किया गया। भिक्षुओंने उनके भोजन-वस्त्रका प्रबंध किया, एक विहारसे दूसरे विहार तकके लिये परिचयपत्र दिये और यात्राके लिये नावोंका प्रबंध किया। आहत या बीमारको भिक्षुओंने—जो पेगूवालोंके मुख्य चिकित्सक हैं—विहारमें रखकर तब तक उनकी चिकित्सा की, जब तक कि वे निरोग नहीं हो गये। फिर उन्होंने यात्राके लिये परिचयपत्र और आवश्यक प्रबंध कर दिये। भिक्षुओंने कभी किसीसे नहीं पूछा, कि तुम किस देवताको पूजते हो। उनके लिये जो मनुष्य है, वह दान-दयाका पात्र है।"

फ्रेंच यात्री मेल्शियो-ला-बौमने (१६ जनवरी) १७३० ई० में लिखा था—

"भिक्षुओंका जीवन अत्यन्त सुव्यवस्थित है। कोई भी आदमी भिक्षु बन सकता है, किन्तु पहले श्रामणेर बनके धर्म-पुस्तकों और उन दूसरी विद्याओंको सीखना पड़ता है, जिन्हें कि उन्हें आगे दूसरोंको सिखाना होगा। अपनी संस्थाके नियमानुसार भिक्षुओंको ब्रह्मचर्य, निर्धनता, संयम निरभिमानता तथा दूसरे मानसिक और शारीरिक संयमकी प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। देशमें उनका बहुत सम्मान है। लोग उनके भोजन-वस्त्र-रहने आदिका प्रबंध करते हैं। जब इच्छा हो, आदमी भिक्षुव्रत छोड़ सकता है।"

अठारहवीं सदीके आरंभसे बर्मामें राजनीतिक अराजकता बहुत बढ़ चली—तलैंङ और बर्मीका झगड़ा बहुत उग्र रूप धारण करने लगा। इस संघर्षमें कभी-कभी बड़ी क्रूरताका परिचय दिया गया। १७४०–४५ में तलैंङोने स्मिम्म हुता बुद्धकेतिके नेतृत्वमें पेगूमें अपना राज्य घोषित किया, प्रोम और तंगू भी ले लिया। फिर उत्तरी बर्मामें आवातक उनके हमले होने लगे। १७४७-५१ ई० में उन्होंने बिन्या-दलाको अपना राजा बनाया, जिसके नेतृत्वमें १७७१-५२ में आवा राजधानीको लूटा।

२. अंतिम बर्मी राजकाल

१७५७ में पलासीके युद्धके परिणामस्वरूप अंग्रेजोंकी जड़ भारतमें जम गई और १७६४ में बक्सरके युद्धके साथ बंगाल-बिहार-उड़ीसा उनके हाथमें चला गया। इस प्रकार जिस समय क्लाइव भारतमें अंग्रेजोंकी भाग्य-परीक्षा कर रहा था, उसी समय बर्मी जातिके भाग्यको सुधारनेके लिये एक साधारण परिवारके व्यक्ति अलौङपया (१७५२-६०) ने कमर कसी। राजवंशके पतनको रोका नहीं जा सकता था, क्योंकि वह स्वयं पतनका एक बड़ा कारण था। तलैंङोंने आवाको नतमस्तक किया, किन्तु अलौङपया सिर झुकाने और अधीनता स्वीकार करनेके लिये तैयार न हुआ। बर्मी इस वीरके झंडेके नीचे दौड़-दौड़कर आने लगे और उन्होंने उसे अपना राजा बनाया। अलौङपयाने तलैंङोंको उत्तरी बर्मासे निकाल बाहर किया, मनीपुरियोंके आक्रमणको रोका, शानोंके विद्रोहका दमन किया, फ्रांसीसियोंकी सहायतासे रंगूनको हाथमें कर लिया और अंतमें १७५६-५७ में (पलासीके साल) उसने तलैंङों-के अंतिम गढ़ पेगूको भी ले लिया। लेकिन तलैंङोंने भी पूरी तौरसे मुकाबिला किया। उनके भिक्षुओंने भी मदद की। विजयी अलौङपायाने उनके साथ भी दया नहीं दिखाई—"अलौङ-पयाने तीन हजारसे अधिक भिक्षुओंको हाथियोंके पैरोंके नीचे डलवा दिया। हाथियोंने उन्हें

कुचलकर मारा। उनके रेशम और मखमलके परिधानोंको अलौङ्पयाके सैनिकोंने पहिना, उनके सूती कपड़ोंका तकिया और थैली बनायी गयी और अंगोछोंसे पैर पोंछे गये। भिक्षुओंके वस्त्र भूमिपर बिखरे हुए थे और उनके भिक्षापात्र घरू बर्त्तन बना दिये गये थे। अब भी जो तलैङभिक्षु बच रहे थे, वे सित्तङ्ग नदीके पारके नगरों. . में भाग गये। बर्मी सैनिकोंने हाथ लगनेवाले सभी तलैङ स्त्री-पुरुषोंको बेंच डाला. .। बेटे अपनी माताओंको नहीं खोज पाते थे, न मातायें अपने बच्चोंको। सारे देशमें क्रंदन हो रहा था[1]।"

इस प्रकार अलौङ्पयाने बड़ी क्रूरता से अठारहवीं सदीके मध्यमें तलैङ लोगोंका दमन किया और सारे बर्माको एकताबद्ध किया।

यह एकता बहुत भारी कीमत देकर कायम की गयी। पिछले दो सौ वर्षोंमें बर्मी धीरे-धीरे इतने घुल-मिल गये, कि आज तलैङ नगरोंमें सर्वत्र बर्मी-भाषा ही बोली जाती है, और गावोंमें ही तलैङ बोलनेवाले रह गये हैं। ब्याह-शादीके कारण भी दोनों जातियाँ बहुत मिल गई हैं।

३. धार्मिक विवाद

धम्मचेतिने सिहल और अम्म-संघोंका झगड़ा मिटा दिया था, अब वहाँ सिर्फ एक संघ रह गया था। किन्तु मतभेद न हो, तो मनुष्य ही क्या? दूसरा विवाद न रह जानेपर १७०० ई० के आसपास बर्मामें भिक्षुओंके वस्त्र (चीवर) पहननेके ढंगपर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। भिक्षुओंके पहननेके तीन चीवर (वस्त्र) होते हैं—एक अन्तर्वासक, जो नीचे लुंगीकी तरह पहना जाता है; दूसरा साढ़े चार-पाँच हाथ लंबा कई टुकड़ोंसे सीकर बना एकहरा चीवर उत्तरासंग होता है, जिसे साधारण तौरसे चादरकी तरह दाहिना हाथ खाली रखकर पहना जाता है। उत्तरासंगकी तरहका एक और चीवर भी होता है, जिसे संघाटी कहा जाता है। संघाटी दोहरी होनेसे जाड़ोंमें ओढ़नेका भी काम देती है। आम तौरसे कामके लिये स्वतंत्र रखनेके वास्ते दाहिने हाथका चादरसे बाहर रखा जाना स्वाभाविक है, लेकिन उत्तरी भारतके जाड़ेमें दाहिने हाथको खुला नहीं रखा जा सकता, इसलिए जहाँ तक बुद्धके काल और देशका संबंध है, जाड़ा होनेपर संघाटीसे दोनों कंधोंको ढँका जाता था, गर्मी या किसी कार्यके अवसरपर दाहिने हाथको नंगा रखा जाता था; किसी सम्माननीय व्यक्तिके प्रति विशेष सम्मान दिखानेके लिये भी चीवरका एकांस (एक कंधेपर) करना शिष्टाचार समझा जाता था। त्रिपिटकमें ऐसे कई उद्धरण आते हैं, जिनमें उत्तरासंगके एकांस करनेकी बात आती है (एकंसं उत्तरासंग कत्वा)। उत्तरी भारतमें सर्दीने एकांस और उभयांस (दोनों कंधा ढँकना) का विवाद नहीं उठने दिया, किन्तु बर्मा और सिंहल जैसे देशोंमें सर्दीका डर नहीं था, इसलिये वहाँ यह झगड़ा उठा।

१७०० ई० के आसपास गुणाभिलंकार नामके एक प्रभावशाली स्थविरने एकांस चीवर पहनकर निकलनेका व्यवहार शुरू किया। चीवर पहिननेकी आम परिपाटी थी—संघाटीसे दोनों कंधों और अंगको ढाँककर बायें हाथसे लपेटते दाहिने हाथकी हथेलीमें संघाटीके कोरको पकड़ रखना। इस तरह चीवर-धारण गुप्त-कालकी सैकड़ों मूर्तियोंमें मिलता है, जब कि कुषाण-कालीन बुद्ध मूर्तियाँ एकांस होती हैं। बर्मामें दाहिना कंधा खुला रखनेवालोंको एकंसिक और दोनों कंधा ढँकनेवालोंको पारुपण (प्रारोपण) कहा जाता था।

[1] Sayadaw Athwa III, p. 148

गुणाभिलंकारकी चलाई परिपाटी आगे भी चलती रही। पगानके पास नीपगाममें मुनिन्द घोस (मुनीन्द्रघोष) नामके प्रभावशाली भिक्षु एकंसिक सम्प्रदायके थे। उनकी शिकायत राजाके पास पहुँची। राजाने बुलवाया। भिक्षुओंने उनके वेषपर आपत्ति की। मुनिन्द घोसने कहा—मैं उसी पथपर चलूँगा, जिसपर चलनेका आदेश मेरे गुरुने दिया है। तुम्हारा गुरु कौन है पूछे जानेपर मुनीन्द्रघोषने वहाँ स्थापित बुद्ध-प्रतिमाको प्रणाम करते हुए कहा—'ये हैं मेरे गुरु। जब तक मेरे शरीरमें प्राण है, इनका सेवक रहूँगा और जो कुछ इनसे सीखा है, उससे विचलित नहीं होऊँगा।"

राजा किसी भीषण दण्डके लिए तैयार नहीं था। उसने मुनीन्द्रको दूसरी जगह निर्वासित कर दिया। वहाँ सीमांत प्रदेशमें मुनीन्द्रका प्रभाव बढ़ने लगा। उन्होंने निर्वासन-कालमें "अभिधम्मत्थसंगह" नामक प्रसिद्ध दर्शन-ग्रन्थका बर्मी-भाषामें अनुवाद किया। उनके प्रचारकी शिकायत राजाके पास पहुँची। राजाने फिर उन्हें बुला मँगाया। मुनीन्द्रघोषको विश्वास हो गया कि वह मुझे मरवाना चाहता है। उन्होंने राजाके सामने जाकर अपने भिक्षुके वस्त्रोंको अलग रख दिया और गृहस्थ वेशमें होकर कहा—"तुमने मारनेके लिए मुझे बुलाया है लो, अपनी इच्छा पूरी करो। यदि तुम भिक्षुके वस्त्रोंमें भिक्षु रहते मुझे मरवाते, तो तुम्हें भारी पाप लगता; इसीलिए मैंने भिक्षुरूप छोड़ दिया और अपने चीवरको हटा दिया। अब तुम मारना चाहते हो, तो मारो।"

राजाको मारनेकी हिम्मत नहीं हुई। उसने मुनीन्द्रको जेलमें डाल दिया और युद्धके लिए स्यामकी ओर चला गया। इसी अभियानसे लौटते समय वह राहमें मर गया।

एकांसिक और पारुपणका झगड़ा चलता ही रहा और इसका अंत बोदाबपया (१७८२-१८१९ ई०)के समयमें पारुपणवालोंकी विजयके साथ हुआ। मूल त्रिपिटकमें एकंसिक पक्षका कोई विशेष समर्थन भी नहीं था, साथ ही पारुपणके लिए भी विनयके नियमोंपर कोई उतना जोर नहीं था। दोनों बातें ऋतु और सम्मान-प्रदर्शनके अवसरसे संबंध रखती थीं। बोदाबपयाने एकांसिक पक्षको प्रमाणहीन समझकर उसे राजाज्ञासे वर्जित कर दिया और बर्माके सभी भिक्षु पारुपणको स्वीकार करनेके लिए मजबूर हुए। लेकिन स्याम और अठारहवीं सदीमें स्याम द्वारा सिंहलमें रोपा वहाँका महाशक्तिशाली भिक्षुनिकाय—स्यामनिकाय—आज भी एकांसवादी है।

स्यामसे भिक्षुओंको बुलवाकर सिंहलराज कीर्त्तिश्रीराजसिंह (१७४८-७८)ने फिरसे भिक्षुसंघकी स्थापना कराई थी। राजा स्वयं मलावारी ब्राह्मणधर्मी वंशका था, इसलिए जात-पाँतके प्रति विशेष पक्षपाती होना स्वाभाविक था। उसने भिक्षुसंघकी स्थापना कराते समय नियम कर दिया, कि सिर्फ उच्च (गोवी) जातिके लोगोंको ही भिक्षु बनाया जाय, दूसरी जातिवालोंको नहीं। सिंहलके लोग जब सभी बौद्ध हैं और बुद्धकी शिक्षामें जात-पाँतका कोई भेद नहीं, तो वह भिक्षु बननेके अपने अधिकारको कैसे छोड़ सकते थे? दूसरी जातिवाले जब सिंहलमें भिक्षु बननेमें सफल नहीं हो सके, तो उनकी दृष्टि बर्मी संघकी ओर गई। इस तरह १८०० ई०में भिक्षु बननेकी इच्छासे कुछ सिंहाली तरुण अम्बगहपतिके नेतृत्वमें बर्मा पहुँचे। बर्मी संघराज ज्ञानाभिवंशने उनकी याचनाको उचित बतलाया और भिक्षुसंघने उन्हें उपसम्पदा दी। १८०२ ई०में ये भिक्षु सिंहल लौटे। बर्माकी राजधानी अमरपुरमें उपसम्पदा होनेसे सिंहलमें इस सम्प्रदायका नाम अमरपुर-निकाय पड़ा। स्यामनिकायके भिक्षु एकांसी थे, किन्तु अमरपुरनिकायवाले

बर्मी भिक्षुओंकी तरह उभयांसी। पीछे बर्मासे भिक्षु बनकर सिंहलमें एक और भी सम्प्रदाय स्थापित हुआ, जिसे रामञ्ञनिकाय कहते हैं, ये भी उभयांसी होते हैं।

बोदाबपयाके बाद बोग्यिदा (श्री त्रिभुवनादित्य प्रवरमंडित १८१९-३७) राजा हुआ। इसने राजधानी अमरपुरसे आवामें परिवर्तित की। इसीके राजकालमें १८३४ ई० में अंग्रेजोंने युद्ध-घोषणा की और दक्षिणी बर्मा ले लिया। बोग्यिदाको भी सिंहासनसे वंचित होना पड़ा। दो और राजाओंके बाद मिन्-दोन्-मिन् (१८५२-७७) गद्दीपर बैठा। मिन्-दोन्-मिन् अंतिम बर्मी राजा था, जिसके शासन-कालमें देश (उत्तरी बर्मा) में शान्ति रही, और कुछ प्रगति भी होने लगी। मिन्-दोन्-मिन् अपनी राजधानी मांडले ले गया। गृहस्थोंके साथ भिक्षुओंमें भी चुरुट-तम्बाकू पीने और दूसरे व्यसन शुरू हुए। उसने बहुत कोशिश की, लेकिन उसमें उतनी सफलता नहीं हुई। हाँ, मिन्-दोन्-मिन्का एक बड़ा काम है त्रिपिटकका नया संस्करण। राजाने १८६८-७१में तीन वर्षों तक विद्वान् भिक्षुओंके संघको एकत्रितकर अपने सभापतित्वमें त्रिपिटकके एक-एक ग्रन्थको पढ़ते हुए उसके शुद्ध-उच्चारणका निश्चय कराया। सारे त्रिपिटकके इस संस्करणको उसने संगमर्मरकी ७२९ पट्टियोंपर लिखवाया, जो आज भी मांडलेके पास कुथो-दाव् विहारके हातेमें स्थापित हैं।

४. परतंत्र और स्वतंत्र बर्मा

मिन्-दोन्-मिन्के मरनेके आठ ही साल बाद १८८५में मांडलेपर अंग्रेजोंने अधिकार कर लिया। अंतिम राजा थीवो (शिव) को पकड़कर भारतमें निर्वासित कर दिया गया। भारत पहले ही से अंग्रेजोंका दास हो चुका था। उसके सिपाहियोंने बर्माको भी अंग्रेजोंका दास बनानेमें बड़ा भाग लिया। बारहवीं सदीसे अविच्छिन्न चली आती बर्माके संघराजकी परंपरा और सांघिक अनुशासन अब छिन्न-भिन्न हो गया। अंग्रेजोंने वहाँकी भिन्न-भिन्न जातियोंमें वैमनस्य पैदा करनेकी पूरी चेष्टा की, लेकिन बौद्धधर्मने जातीय एकताको कायम रखनेमें बड़ी सहायता की। भिक्षुओंके विहारोंमें शिक्षाके सार्वजनिक प्रबंध होनेके कारण बर्मामें पुरुषों ही नहीं, स्त्रियोंमें भी साक्षरोंकी संख्या साठ-सत्तर फी सदीसे कम नहीं रही, जब कि हमारे यहाँ सौमेंसे एक आदमी मुश्किलसे नाम लिख सकता था। भिक्षुओंने पालीकी शिक्षा ही पर जोर नहीं दिया, बल्कि बर्मी साहित्यके निर्माणमें भी पूरा हिस्सा लिया। अब भी उनके रचित बहुतसे ग्रन्थ बर्मी-साहित्यकी अनमोल निधि हैं। बर्मी कलापर, बर्मी जीवनके प्रत्येक अंगपर बौद्धधर्मकी छाप है, इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं, यदि १९४८ ई०में स्वतंत्र होते ही वहाँ बौद्धधर्मको राजधर्म घोषित कर दिया गया। बर्माकी राजनीतिक-आर्थिक समस्यायें अभी भी हल नहीं हुई हैं—हमारे यहाँ भी नहीं हुई हैं;—किन्तु नवीन बर्माके निर्माणको रोका नहीं जा सकता। उस निर्माणमें भारतका सहयोग दोनोंकी भलाईके लिए आवश्यक है। १९४९के एसिया-सम्मेलनसे लौटे बर्माके प्रतिनिधिने उस दिन मुझसे कहा था—"सम्मेलन हो एसिया-वासियोंका और उसकी सारी कार्रवाई हो केवल अंग्रेजी और फ्रेंचमें? कैसा आश्चर्य है? क्या संस्कृतको एसिया अपना माध्यम नहीं बना सकता?" मैंने अप्रचलित भाषाके प्रचलित करने और संस्कृत भाषाकी कठिनाईको बतलाते हुए कहा—"वह काम हिन्दी कर सकती है। आखिर हिन्दीमें अस्सी-नब्बे प्रतिशत शुद्ध या बिगड़े रूपमें संस्कृतके शब्द हैं, जो पालीमें भी एक-से हैं। साथ ही हिन्दी बहुत दूर तक बोली भी जाती है।" हाँ, नवीन भारतपर इसका भार है, कि प्राचीन भारतकी

भाँति एसियाके नवजागरण और उसकी एकतामें सहायक बने, लेकिन इसके लिए क्या-क्या करना होगा, इसे हमारे महान् नेता भी नहीं समझ पा रहे हैं। वह इस एकताको हमारी भाषा नहीं, अंग्रेजी भाषाके द्वारा करना चाहते हैं। उन्हें ख्याल नहीं कि हमारे बनारस, कलकत्ता, दिल्लीके विश्वविद्यालयोंमें भी नालंदाकी तरह आजकी विद्याओंको पढ़नेके लिए एसियाके कोने-कोनेसे विद्यार्थी आयेंगे। एसिया—जिसका एक बहुत बड़ा भाग प्राचीन कालमें ही भारतसे घनिष्ठ संबंध स्थापित कर चुका था।

५. भारतीय अदूरदर्शिता

हम इस बातको समझ नहीं रहे हैं, कि कैसे अपने पुराने सांस्कृतिक संबंधों द्वारा भारतसे एसियाके देशोंको बहुत नजदीक ला सकते हैं। बोधगयाके ऐतिहासिक मंदिर (महाबोधि)को ले लीजिये। बर्माके धार्मिक इतिहासमें हम देख चुके हैं, कि वहाँके राजाओंने कई बार इसकी मरम्मत कराई। अंतिम समय अपनी स्वतंत्रता खोनेके थोड़े ही पहले बर्माके राजाकी ओरसे महाबोधिकी मरम्मतका उपक्रम हुआ था, जिसे अंग्रेजी राजने पूरा किया। पिछली शताब्दीके उत्तरार्धमें महाबोधि-मंदिर बोधगयाके संन्यासी महंथके हाथमें चला गया,—चला नहीं गया, बल्कि अंग्रेजोंने उसे जानबूझकर महंथके हाथमें सौंप दिया, जिसमें भारत एसियाके दूसरे स्वतंत्र देशोंसे सांस्कृतिक संबंध स्थापित कर सबल न होने पाये। पिछली शताब्दीमें अनागारिक धर्मपालने तरुणाईमें भारत आकर यहीं सारा जीवन बिता दिया। उनकी बस यही धुन थी, कि भारत अपने सर्वश्रेष्ठ पुत्र बुद्धकी अमरवाणी सुने और महाबोधि—जहाँ बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त किया—बौद्धोंके हाथमें हो। इसीलिए उन्होंने महाबोधि-सभा और "महाबोधि" नामक पत्रिका स्थापित की। आज बौद्धोंके साथ न्याय ही नहीं, बौद्ध-जगत्‌के साथ स्वतंत्र भारतका घनिष्ठ संबंध स्थापित करनेका अवसर आया है। इस समय बिहार-सरकार महाबोधि-मंदिरके प्रबंधके बारेमें एक कानून पास करने जा रही है, जिसके अनुसार मंदिरका प्रबंध एक ऐसी समितिके हाथमें होगा, जिसमें आधे (चार) सदस्य हिन्दू और आधे बौद्ध होंगे। अध्यक्ष गयाका जिला-मजिस्ट्रेट होगा, यदि वह हिन्दू हो, नहीं तो कोई दूसरा हिन्दू उस पदपर बैठाया जायेगा—अर्थात् समितिका बहुमत हर हालतमें हिन्दुओंके हाथमें रहना चाहिये। यदि आप बौद्धोंको हिन्दू मानते हैं, तो यह भेदभाव क्यों? यदि नहीं मानते तो दूसरेकी धार्मिक संस्थामें हस्तक्षेप करनेका आपको अधिकार क्या है? एक ही हिन्दू-धर्ममें होनेपर भी किसी वैष्णव मंदिरपर शैव बहुमतको अधिकार दिलानेका कहीं प्रयत्न नहीं किया जाता। यदि हिन्दू अवतारके नाते बुद्धके मंदिरमें अधिकार चाहते हैं, तो यह अवतारवाद खोखली चीज है; क्योंकि बुद्धके लिए किसी हिन्दूने कोई तीर्थ या मंदिर नहीं बनाया। और यदि आप अवतार मानकर वहाँ धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ाना चाहते हैं, तो इसमें आपत्ति कहाँ है?

अपने बहुमतको समितिमें रखकर आपने पहले ही अपने मनकी चोरी प्रकट कर दी। बौद्ध-जगत्‌के प्रति इतने ही तक आपका अविश्वास नहीं रहा, बल्कि आपने समितिमें सिर्फ भारतीय बौद्धोंके ही मनोनीत होनेकी बात कहकर भारतके बाहरके बौद्धोंको इस योग्य नहीं रक्खा, कि वह आपके लिए विशेष सद्भावना रख सकें। आपके इस नियमसे जापान, चीन ही नहीं, तिब्बत, बर्मा, सिंहल और नेपालके भी बौद्ध समितिके लिए मनोनीत नहीं किये जा सकते। यह बौद्ध-जगत्‌को समीप लानेका रास्ता नहीं है। महाबोधि-सभा आधी शताब्दीसे भारतमें

बौद्ध ज्योति जगानेका प्रयत्न कर रही है और उसने कलकत्ता, बोधगया, सारनाथ आदिमें अपने धार्मिक केन्द्र स्थापित किये हैं; किन्तु उसके भी कर्णधार आपकी समितिमें नहीं आ सकते, क्योंकि वे सिंहलके हैं। फिर भारतीय बौद्धोंके स्थानकी पूर्ति भी तो बिहार-सरकार ऐसे आदमियोंसे कर सकती है, जो उसकी दृष्टिमें बौद्ध हैं--चाहे वे बौद्धोंके अनात्मवाद या किसी दूसरे सर्वमान्य सिद्धान्तको न भी मानते हों।

इसमें संदेह नहीं कि इस कानूनके बनानेवालोंने बड़ी हीन-मनोवृत्तिका परिचय दिया है। एक वह समय था, जब लोग भूत, भविष्य सभी कालों और सभी देशोंके भिक्षुसंघके लिए दान दिया करते थे (आगत-अनागत-भिक्खुसंघस्स दिन्न)। वह कितनी उदार भावना थी! और आज आगत-अनागतकी जगह वर्तमान और चारों दिशाओंकी जगह उसे भारत तक सीमिति किया जा रहा है! आखिर हम करना क्या चाहते हैं? अगर चाहते हैं, कि बोधगया एसियाके अधिकांश देशोंका सांस्कृतिक केन्द्र बने, उनके साथ भारतका सजीव और घनिष्ठ संबंध स्थापित हो, तो उसका क्या यही रास्ता है? हम चाहते हैं बोधगयामें सिंहल संघाराम हो, बर्मी संघाराम हो, स्यामी संघाराम हो, चीनी, जापानी, कम्बोजी, कोरियी, मंगोली और तिब्बती संघाराम अपने-अपने देशकी वास्तुकलाकी विशेषताओंके साथ स्थापित हों; वहाँके विद्वान, कलाकार और चिन्तक तथागतके इस पुण्यस्थानमें आकर निवास करें; वे समझें कि भारत हमारा है और हम समझें कि वे हमारे हैं। यह स्वप्नकी बात नहीं है। हमारी इसी पुस्तकमें लिखी बातोंसे स्पष्ट हो जायेगा, कि लोग इस भूमि के साथ कितना अपनत्व रखते हैं। लेकिन बोधगया-मंदिरका कानून हमारी आशाओंपर पानी फेरने ही का काम कर सकता है। चाहता तो था बोधगया-मंदिरको चातुर्दिश-बौद्धसंघके हाथमें दे देना और शुभकामनाके प्रतीकके तौरपर एक हिन्दू सदस्य भारतके महामंत्री या बिहारके महामंत्रीका रखना, किन्तु हो रही है कुछ दूसरी ही बेबूझकी बात।

स्रोत-ग्रंथ

1. Law. B. C. Budhist Studies, Calcutta 1931
2. Ray. N. R. Theravada Budhism in Burma, Uni. Cal. 1946
3. "महावंस" प्रयाग १९४२ भदंत आनंद कौसल्यायन का अनुवाद
4. "दीपवंसो"
5. Adhikaram. E. W. Early History of Buddhism in Ceylon 1946

भाग २

सुवर्ण-द्वीप, जावा

(इन्दोनेसिया)

अध्याय १

आमुख

§ १. प्राचीन नाम

भारतीय व्यापारी ईसासे पहले भी इन्दोनेसियाके द्वीपोंसे परिचित थे, यद्यपि उनके विस्तृत विवरणके लिए उनकी लेखनी तैयार न थी। **मंजुश्रीमूलकल्प** (२।३२२) में इसके कई द्वीपोंका नाम उल्लिखित है—

"**कर्मरंगाख्यद्वीपेषु नाडिकेरसमुद्भवे** ।
द्वीपे **वारुषके** चैव नग्न-वलिसमुद्भवे ।।
यवद्वीपे वा सत्त्वेषु तदन्यद्वीपसमुद्भवाः ।
वाचा रकारबहुला तु वाचा अस्फुटतां गता ।।"

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवालने संस्कृत-साहित्यमें उल्लिखित द्वीप-नामोंको आधुनिक नामोंसे निम्न प्रकार मिलाया है[1]—

कर्मरंग—लिगर समीप	सुवर्णद्वीप—सुमात्रा
नग्नद्वीप—निकोबार (निक्कंबर)	मलयद्वीप—मलाया
वारुषक—वरुस (सुमात्रा)	कटाहद्वीप—केडा (कडार)
बलिद्वीप—बालिद्वीप	वारुणद्वीप—बोर्नियो
यवद्वीप—जावा	

§ २. भूगोल

सुवर्णभूमि दक्षिणी बर्मा और मलाया तकको कहा जाता था, किन्तु आज भाषा और जातिकी दृष्टिसे बर्मा और मलाया अलग-अलग हैं। मलय लोग सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, बाली आदि द्वीपोंके निवासियोंसे संबंध रखते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न भागोंका नाम प्राचीनकालमें सुवर्णभूमि, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप आदि था। आजकल हम उसे इन्दोनेसिया कहते हैं, किन्तु उसके साथ मलायाको भी मिला लेना होगा। मलायाके चरणोंमें सिंगापुर द्वीप है, जिसे सुमात्रासे अलग करनेवाला मलक्काका जलडमरूमध्य है। सुमात्रा और जावाको अलग करनेवाली सुन्दाकी पतलीसी खाड़ी है, जिससे लगे ही लगे बोर्नियो, सेलेबीज, बाली, लंबक, सुन्दाके छोटे-बड़े द्वीप न्यूगिनी तक चले गये हैं। जावासे पूरब बोर्नियो, जावासे भी कई गुना बड़ा द्वीप है। इन्दोनेसियामें सब मिलाकर छ हजार छोटे-बड़े द्वीप हैं और एक दूसरेके इतने नजदीक

---

[1] **डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल : "कटाहद्वीपकी समुद्र-यात्रा", विश्वभारती, वैशाख-आषाढ़ २००१ वि०**

हैं, कि पुराने समयके काष्ठपोतोंका भी भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें जाना कठिन न था। भारतीय पोतवाही एक द्वीपसे दूसरे द्वीपपर पाँव रखते आस्ट्रेलिया और फिलीपीन तक जा सकते थे, यदि वहाँ जानेके लिए कोई आकर्षण होता। यह भी स्मरण रखनेकी बात है, कि लंकासे एक ओर भारतीय नाविक सुवर्णद्वीप और यवद्वीप जाया करते थे, दूसरी ओर वहींसे वह मालद्वीप (महिलाद्वीप), लक्कद्वीप (लक्षद्वीप) और मदागास्कर पहुँचते थे।

मलायाको सुवर्णभूमि और सुमात्राको सुवर्णद्वीप नाम देना यही बतलाता है, कि उस समयके भारतीय इन्हें सुवर्णकी खान समझते थे। था भी वहाँका व्यापार ऐसा ही लाभका, और इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं कि काफी संख्यामें भारतीयोंने वहाँ पहुँचकर इन देशोंको दूसरा हिन्द या हिन्दके द्वीपसमूहका रूप दे दिया।

§३. लोग

इन्दोनेसियाके पुराने निवासी उसी वंशके थे, जिनकी सन्तान अब भी आस्ट्रेलिया और न्यूगिनीमें बच रही है; किन्तु अब वह लोगोंमें इतने घुल-मिल गये हैं, कि पहचानमें नहीं आते। उनके अतिरिक्त एक दूसरे वंशके लोग भी आये, जिनका संबंध चम्पा (हिन्दीचीन)के चाम लोगोंसे था। तीसरी जाति जो इन्दोनेसिया जातिके निर्माणमें सहभागी हुई, वह थी मोन्-ख्मेर। मोन् बर्माके तलैङ (केरन) लोग हैं, और ख्मेर कंबुज लोगोंका ही दूसरा नाम है। थाई पुराने गंधार (पूर्वी) और आजके युन्नन के निवासी थे, जो तेरहवीं सदीके बादसे दक्खिनकी ओर बढ़े और मलाया तक पहुँच गये। इनके बाद कितने ही परिमाणमें रक्त और संस्कृतिमें और भी अधिक भाग दक्षिण तथा उत्तरके भारतीयोंका रहा है। आज इन्दोनेसिया या मलय् जातिके मुख्यतः चार विभाग हैं—

१. मलयू—जो मलाया प्रायद्वीप तथा सुमात्रा और बोर्नियोके तट-भागोंपर बसते हैं;

२. जावी—जो जावा, मदुरा (मथुरा), बाली तथा लंबक और सुमात्राके कितने ही भागोंमें रहते हैं;

३. सेलेबीज द्वीपके गूगी और

४. फिलीपाइन द्वीपके निवासी तगला

यह भी माननेके कारण हैं, कि इन्दोनेसियामें पहलेसे बसनेवाली बहुतसी जातियोंका उद्गम स्थान भारत था। इन बातोंका पता उनकी भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे लगता है। मलय-जावा उसी भाषा-वंशसे संबंध रखती है, जिससे छोटानागपुरके मुंडा, आसामके खासी, हिमाचलके नेवार और कनौर, हिन्दीचीनके मोन्-ख्मेर आदिकी भाषायें संबंधित हैं।

§४. समुद्र-यात्रा

जैसे कि पहले बतलाया गया, भारतसे इन द्वीपोंमें पहुँचनेके बहुत छोटे-छोटे समुद्र-मार्ग है, इसलिये वहाँ भारतीयोंका पहुँचना पहले भी मुश्किल न था। जातकोंमें इस तरहकी कई कथायें आती हैं, जिनसे मालूम होता है, कि भारतसे इन द्वीपोंका यातायात बहुत अधिक था। विदेह (मिथिला)का राजा लड़ाईमें मारा जाता है, रानी चम्पा (भागलपुर) भाग जाती है। बड़ा होनेपर लड़का माँसे कहता है—"अपने कोशका आधा मुझे दे दे, मैं सुवर्णभूमि जाऊँगा और खूब धन कमाऊँगा तथा फिर बाप-दादाके धनको लौटा लूँगा। दूसरी जगह बनारसके पासके

एक बढ़ई गाँवकी कथा आई है। सुवर्णभूमिका आकर्षण उन्हें इतना हुआ कि उनके हजार परिवारोंने जंगल काटकर बड़े-बड़े पोत बनाये और अपने परिवार-सहित उनमें बैठ गंगाके रास्ते समुद्र होते उस द्वीपमें चले गये, जहाँ विचित्र तरहके फल-फूलवाले वृक्ष, जंगलमें धान, गन्ना, केला, आम, कटहल और दूसरे फल पैदा होते हैं।

वृहत्कथा, जातकों और जैनकथानकोंमें समुद्र-यात्राके बहुतसे वर्णन हैं। हरिभद्रसूरि (आठवीं सदी)ने अपने कथाग्रन्थ **समराइच्चकहा** (समरादित्यकथा)में समुद्र-यात्राका एक सजीव चित्र खींचा है[1]—

"जम्बूद्वीपके भारत नामक वर्षमें एक **सुसम्म** नामक नगर था। उसमें वैश्रवण नामका एक सार्थवाह रहता था, जो सब स्थानोंका प्रधान नगरसेठ था और दीन-अनाथ-कृपण जनोंपर कृपा करनेवाला था। उसकी श्रीदेवी नामक स्त्रीके धन नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह धनश्री नामक स्त्रीसे हुआ। उसी नगरमें समृद्धिदत्त नामक दूसरा सार्थवाह-पुत्र था, जिसने देशान्तरके व्यापारसे बहुत धन कमाया था। उसे वह दीन-दुखियोंको बाँटा करता था। उसके विभवको देखकर धनका मन उदास हुआ। उसके सेवक नन्दकने इसका कारण पूछा, तो उसने सब हाल कहा। नन्दकने कहा—तुम्हारे पास भी तो पुण्यसे प्राप्त बहुत धन है, तुम तो इससे भी विशेष प्रभावशाली हो। इसपर धनने कहा—पुरखोंके कमाये हुए धनसे क्या? कहा है कि लोकमें उसीकी सच्ची बड़ाई है, जो अपनी भुजाओंसे पैदा किये हुए धनको दीन-अनाथोंमें बाँटता है। मैंने अपने-आप तो कुछ कमाया नहीं। तू पितासे पूछ, जिससे मैं दिसावरको जाऊँ और पुरखाओंके कर्म—व्यापारसे धन उत्पन्न करूँ। नन्दकने बड़े सेठजीसे आज्ञा ले ली। धन बहुत खुश हुआ और उसने तैयारी करके घोषणा करा दी—'धन नामका सार्थवाह-पुत्र यहाँसे ताम्रलिप्ति नगरीको जायगा, जो उसके साथ चलना चाहे, चले; जिसे जो पाथेय या सामान चाहिये, वह उसे मिलेगा।'

"इस प्रकार जब वे जानेको तैयार हुए, तब उसकी स्त्री धनश्री भी साथ चलनेका आग्रह करने लगी। धनने उसको भी ले लिया। उसी समय उसकी माता भी आयी और पुत्रको समझाने लगी—हे पुत्र, परदेश बड़ा कठिन होता है। वहाँ वियोग तो मानी हुई बात है। मिलन कठिनाईसे ही होता है। धनोपार्जनमें भी कम क्लेश नहीं उठाना पड़ता। मनमें विषाद का न होना ही धन कमानेका मूल है। यद्यपि तुममें सब गुण हैं, फिर भी परदेशमें क्षमा आदि गुणोंको विशेष रखना और बराबर अपना कुशल-समाचार देते रहना।' धन माँकी बात सिर-माँथे रख यात्राके लिए निकला।

"दो महीने बाद वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँके राजासे मिला, जिसने उनका सम्मान किया। तब उसने अपना माल बेंचा, पर जैसा चाहता था, वैसा लाभ न हुआ। वह सोचने लगा, कि बिना जोखिम उठाये लक्ष्मीसे मेरी भेंट नहीं होगी, मैं निश्चय समुद्र पार करूँगा। इस विचारको उसने अपने सेवक और स्त्रीसे कहा। उन्होंने उसकी रुचिका समर्थन किया। तब धनने परदेशको जानेवाला माल (परतीरगामी भांड) खरीदा और जहाज ढूंढ़ने लगा।

"इस बीच धनश्रीने (जो मनमें पतिकी ओरसे मैल रखती थी) सेवकसे कहा—चलो, दूसरी जगह चलें। तुम्हें समुद्र पार जानेसे क्या? नन्दक स्वामिभक्त था। उसने पीछे रहना

[1] **"कटाहद्वीपकी समुद्र-यात्रा"**, वही, पृ० १२१–२३

स्वीकार नहीं किया। जहाज ठीक हो गया और उसपर माल लाद दिया गया। शुभ दिन विचारकर धन भी वेलातटपर आया। पहले दीनों और अनाथोंको उसने धन बाँटा, फिर जलनिधिकी पूजा की और जहाज (यानपात्र) का भी पूजन करके परिजनके साथ उसपर चढ़ा। लंगर[1] उठा लिये गये और पाल खोलकर उन्हें हवासे भर दिया गया। कछवे और करिमकरोंसे भरे हुए सागरमें जहाज चलने लगा। शंखोंसे भरा हुआ समुद्र पातालकी तरह गहरा था। लहरोंके ऊपर उछलते हुए जल-हस्ती ऐसे जान पड़ते थे, मानों सागरमें घुमड़ते हुए मेघरूपी हाथियोंके प्रतिस्पर्द्धी गजेन्द्र हों। कहीं जल, हीरे, नीलम और मरकतके रंगोंमें रँगा हुआ जान पड़ता था। कहीं हवा पानीके छींटोंको उड़ाती हुई किनारेके ताल-वनोंमें सरसर बह रही थी और कहीं विद्रुम-लताओंसे समुद्र सुहावना लग रहा था।

"इस प्रकार कई दिन बीतनेपर धनश्रीने अपने पतिको पहले तैयार किया हुआ विषाक्त भोजन खिला दिया। धनके शरीरमें महाव्याधि फूट निकली। उसका पेट फूल आया। भुजायें सूख गयीं। मुँह फूल गया। जाँघोंमें गाँठें पड़ गयीं। हाथ-पैर फूट निकले। खाना-पीना कुछ अच्छा न लगता था। धन दुःखी होकर सोचने लगा: माताने चलते समय कहा था कि मनमें विषाद न आने देना। अब दूसरा किनारा भी पास आ गया है। मैं इस नन्दकको अपने माल का स्वामी बना देता हूँ, न जाने कल क्या हो जाय? यह सोचकर उसने नंदक से कहा—'तुम इस रिक्थ के अधिष्ठाता बनो, तुम ही अब नायक हो। तट आने पर जैसा उचित हो उपाय करना। यदि मेरा रोग दूर हो जाय, तो सुन्दर है, अन्यथा धनश्रीको बंधु-बांधवोंके समीप पहुँचा देना।' यह सुनकर नन्दक बहुत दुःखी हुआ, किन्तु धनके समझानेसे उसकी आज्ञा माननेके लिए तैयार हो गया।

"इतनेमें महाकटाह नामके द्वीपमें सब पहुँच गये। नन्दक भेंटका सामान लेकर वहाँके राजाके दर्शनको गया। राजाने भी उसका सम्मान किया और ठहरनेका स्थान दिया। उसने अपना सामान उतारा और वैद्योंको बुलाकर चिकित्सा प्रारंभ कराई। किन्तु लाभ न हुआ। तब उसने अपना भांड बेंच डाला, और बदलेमें वहाँसे मिलनेवाला प्रतिभांड ले लिया। वह राजासे भेंट करने गया और सम्मानित होकर अपने देशके लिए रवाना हुआ।

"कई पड़ाव बीतनेपर धनश्रीने सोचा, मेरा पति बच गया, अब क्या करूं? एक पहर रात शेष रहनेपर निवृत्त होनेके लिए बैठे हुए सार्थवाह-पुत्रको उसने पातालके समान गंभीर समुद्र-में धक्का दे दिया, और 'हा आर्यपुत्र!' कहकर रोने लगी। नन्दकको जब हाल मालूम हुआ, तो उसने दुःखी होकर वोहितको रुकवाया। अच्छी तरह ढूँढ़नेके बाद फिर लंगर उठा लिये गये और जहाज स्वदेशाभिमुख चल पड़ा। इधर जैसे ही सेठ समुद्रमें गिरा, उसके हाथ पहले भग्न हुए वोहितका एक फलक लग गया और वह उसकी सहायतासे समुद्रमें तैरने लगा। नम-कीन पानीके सेवनसे उसका रोग भी चला गया और वह किनारे आ लगा। समुद्रके इस पार आकर उसने पुनर्जन्म समझा।"

× × ×

सुवर्णद्वीप जानेके बहुतसे तीर्थ या पत्तन (बंदरगाह) थे। उत्तरी भारत, बिहार और बंगालसे सबसे नजदीकका तीर्थ ताम्रलिप्ति[2] था; जहाँसे सुवर्णद्वीपके लिए पोत बराबर जाया करते

---

[1] "उक्खित्ता नंगरा," समरा०, पृ० २०२ [2] तमलुक, जिला मेदिनीपुर

थे। उनमेंसे कुछ बर्माके तटसे होकर आगे बढ़ते थे और कुछ सीधे भी। एक दूसरा तीर्थ पलूरा[1] था। आधुनिक मछलीपट्टमके आस-पास भी तीन तीर्थ थे। ताम्रलिप्तिसे सिंहलकी भी यात्रा हुआ करती थी। पाटलिपुत्र देशाभ्यन्तरिक पुटभेदन (तीर्थ) था, जहाँसे सिंहल, सुवर्णद्वीप आदिको पोत जाया करते थे। यहींसे एक पोतमें बैठकर अशोककन्या भिक्षुणी संघ-मित्रा सिंहल गयी थी। ई-चिङ्ने लिखा है, कि ताम्रलिप्तिसे श्रीविजय (पलेम्बंग, सुमात्रा) जाते समय पोतके मार्गमें नीकोबार, केदा और मलयूके तीर्थ (बंदरगाह) पड़ते थे। ईसाकी चौथी शताब्दीमें ऐसी ही एक यात्रामें रक्तमृत्तिका-निवासी नाविक बुद्धगुप्तने मलायाके वेल्जली जिलेमें अपना एक शिलालेख छोड़ा था।

समुद्र-यात्रा उस समय कितनी कठिन थी, इसके कहनेकी अवश्यकता नहीं; किन्तु साहसी भारतीय नाविक उसकी कोई परवाह नहीं करते थे। ईसाके आरंभकी पाँचवीं सदीमें जावा जाते समय अपनी यात्राका वर्णन चीनी पर्यटक फा-शि-यान्ने निम्न प्रकार किया है—
"फा-शि-याननें एक व्यापारी पोतपर यात्रा की। पोतपर दो सौसे अधिक नौकारोही थे। संकटके कारण बड़े जहाजके डूबने या क्षतिग्रस्त होनेके समय काम आनेके लिए साथमें एक दूसरी नौका भी बँधी हुई थी। वायु अनुकूल थी। वह तीन दिन सिंहलसे पूरबकी ओर चलते गये, फिर तूफानसे भेंट हुई। पोतमें छेद हो गया और पानी भरने लगा। व्यापारियोंने छोटे पोतपर जाना चाहा, किन्तु उसके आरोहियोंने बहुत अधिक हो जानेके डरसे रस्सेको काट दिया। व्यापारी बहुत घबड़ा गये। उन्हें मौत सिरपर मँड़राती मालूम हुई। पोतको पानीसे भर जाने-का डर मालूम होने लगा। लोगोंने भारी-भारी मालको पानीमें फेंक दिया।

"इसी प्रकार तूफान रात-दिन चलता रहा। तेरह दिन बाद जहाज एक द्वीपके किनारे लगा। पानी भरनेकी जगह मालूम हो गई, जिसे बंद कर दिया गया और यात्रा फिर आरंभ हुई। इस समुद्रमें जहाँ-तहाँ बहुतसे डाकू हैं, जिनसे भेंट होनेका मतलब मौत था। चारों ओर अनंत समुद्र फैला हुआ था। वहाँ पूरब-पश्चिमका कोई ज्ञान नहीं, केवल सूरज, चाँद और तारोंके सहारे आगे बढ़ा जा सकता था। यदि बादल छा जाता, आसमानमें अँधेरा हो जाता, तो हवा अनजान पथपर पोतको बहा ले जाती। अँधेरी रातमें बड़ी-बड़ी लहरें एक दूसरेसे टकराती चमकीली ज्वाला जैसी निकालती थीं। विशाल कछुए या समुद्रके दूसरे भीमाकार जंतु दिखाई पड़ते थे। व्यापारियोंका होश ठिकाने नहीं था। वह नहीं जानते थे, कहाँ जा रहे हैं। समुद्र गहरा-अतल था। लंगर गिराकर ठहरनेका कहीं स्थान न था। जब आसमान साफ हो गया, तो वे पूरब-पश्चिम जान सकते थे। अब जहाज ठीक दिशाकी ओर चलने लगा। यदि वहां कोई छिपी चट्टान रास्तेमें आ जाती, तो बचनेकी आशा नहीं थी। इस तरह ६० दिन चलनेके बाद लोग यवद्वीप नामक देशमें पहुँचे।"

[1] गोपालपुर (जिला गंजाम) के पास

अध्याय २

मलयद्वीप

§१. भूप्रदेश

मलय प्रायद्वीप बर्मासे दक्षिणकी तरफ सीधे लटका सँकरा-सा भूभाग है। यद्यपि यह और उत्तरसे आरंभ होता है, किन्तु बर्माके बाद बीचमें स्याम (थाईराष्ट्र) का भूभाग आ जानेसे वह आजकल के क्रा के स्थल-डमरूमध्यसे शुरू होता है। किसी समय सारा मलयद्वीप थाई लोगोंके हाथमें था। क्रा स्थल-डमरूमध्य बहुत सँकरा है। पनामाकी भाँति यहाँ नहर निकाल-कर बंगाल और स्यामकी खाड़ियोंको मिलाया जा सकता है। जापानियोंने एक वार सिंगापुरके नौसैनिक अड्डेको बेकार करनेके लिये इस योजनापर विचार भी किया था। भारतीय भी इसके महत्त्वको पुराने जमानेमें समझते थे और दूरके चक्करसे बचनेके लिये क्रा-स्थलडमरूमध्यपर उनके सार्थ चलते थे। यहाँ जगह-जगह उनके उपनिवेश बस गये थे।

परंपराके अनुसार पाटलिपुत्रके राजवंशका कोई राजकुमार ईसापूर्व तीसरी शताब्दीमें जहाज द्वारा मलय या सुवर्णभूमिमें आया था। मलय लोग उसका नाम मरोङ् बतलाते हैं। वहाँके पुराने निवासी गिरगासियोंने उससे मुकाबिला किया, किन्तु उन्हें हार खानी पड़ी। मरोङ्ने अपनी बस्तीका नाम लंकाशुक-लिङदोङ् रक्खा। उसने गिरगासियोंको अपनी भाषा सिखलानेके लिये कई पाठशालायें खोलीं, मन्दिर बनवाये। मरोङकी सिखलाई भाषा और गिरगासियोंकी भाषा मिलकर आगे चलके मलय भाषा हुई। मरोङके बाद **महापोधिसत** (महाबोधिसत्त्व) फिर श्री महावंश आदि राजा हुये।

इन जनश्रुतियोंके अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक बातें भी मालूम हैं। सुवर्णभूमिमें अशोक-कालीन बौद्ध-धर्म प्रचारक सोण और उत्तरकी बात हम पहले बतला चुके हैं। चीनी इतिहास-पुस्तकोंमें लिखा है—

"इस देशके लोगोंका कहना है, कि हमारे राज्यको स्थापित हुये चार सौ वर्षसे अधिक दिन हुये (अर्थात् १०० ई०)। समय पाकर वह कमजोर हो गया। राजाके संबंधियोंमें एक व्यक्ति बड़ा प्रतापी था। लोगोंका ख्याल उसकी ओर गया। राजाने उसे जेलमें बंद कर दिया... फिर उसे देशसे बाहर निकाल दिया। राजकुमार भारत चला गया और वहाँके राजाकी ज्येष्ठ कन्यासे ब्याह किया। एकाएक जब राजा मर गया, तो बड़े अधिकारियोंने राजकुमारको भारतसे बुलाकर उसे राजा बनाया। बीस साल राज्य करनेके बाद वह मर गया, और उसकी जगह उसका लड़का भगदत्त गद्दीपर बैठा। ५१५ ई०में उसने पत्र देकर अपने दूत आदित्यको चीन-सम्राट्के पास भेजा।"

मलयके पुराने स्थानोंमें कामलंका या कर्मरंग (कमरंगाफल), कलशपुर (दक्षिणी बर्मा तथा

उत्तरी मलायाके बीचका स्थान), कला (केद्दा) और पहाङ्ग हैं। प्राचीनकालके कितने ही चिह्न मलय द्वीपमें मिलते हैं। गुनोङ्ग जिराई (केद्दाशिखर) की जड़में अवस्थित सुंगइवतूकी जमींदारीमें एक हिन्दू-मन्दिरका अवशेष और पत्थरकी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। केद्दाके नजदीक ही चौथी-पाँचवीं सदीमें ईंटके बने एक बौद्ध मन्दिरका अवशेष मिला है, जिसमें एक संस्कृतका शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। वेल्जेली जिलेके उत्तरी भागमें बौद्ध मन्दिरोंके कितने ही पाषाण-स्तम्भ मिले हैं, जिनमें खुदे अक्षरोंसे वे चौथी-पाँचवीं सदीके मालूम होते हैं। शेलिनसिङ (पेराक)से गरुड़ारूढ़ विष्णुकी मूर्तिके साथ एक सोनेका आभूषण मिला है। एक पुराने वृक्षके गिर जाने पर वहाँसे पाँचवीं शताब्दीके अक्षरोंमें श्री विष्णु बर्मा नामाङ्कित चिकने पत्थरकी राजमुद्रा मिली है।

२. तक्कोला

तकुआ-पा ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें मलय-भूमि का एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। बंदोनकी खाड़ीके किनारे पूर्वी तटपर चइया, नखोन, श्री धम्मरत, बीयङ-स्राके स्थान हैं, जिनमें पुराने उपनिवेशिकोंने अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। यहाँ बहुतसे संस्कृतके शिलालेख भी मिले हैं, विशेषकर लिगोर और तकुआ-पा-में तथा चइयाके एक स्तम्भके ऊपर, जिनका समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी (अर्थात् गुप्तकाल) के पीछेका नहीं हो सकता। मलायाके भिन्न-भिन्न भागोंमें चौथी-पाँचवीं शताब्दीकी भारतीय लिपिमें संस्कृत-भाषाके बहुतसे अभिलेख मिले हैं, जिनमेंसे कुछ स्पष्ट बौद्धधर्मसे संबंधित हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मलय प्रायद्वीपके उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी अंचलमें चौथी-पाँचवीं शताब्दीसे पहिले भारतीयोंकी बस्तियाँ थीं। ये भारतीय उत्तर-भारतके भी थे और दक्षिण-भारतके भी। इन्हीं अभिलेखोंमें एक है रक्तमृत्तिका-निवासी महानाविक बुद्धगुप्त ("महानाविकबुद्धगुप्तस्य रक्तमृत्तिकावास् [तव्यस्य]") का। रंगमाटी नामका एक गाँव मुर्शिदाबादसे बारह मील दक्खिन वंगदेशमें अब भी मौजूद है।

तक्कोल बंदरका एक महत्त्व यह भी था, कि यहाँसे संकीर्ण स्थल-डमरूमध्यको पारकर व्यापारी जल्दी बंगालकी खाड़ीके तटसे स्यामकी तरफकी वंदोन खाड़ीपर पहुँच सकते थे और वहाँसे जल्दी स्याम, कंबोज, अनाम आदिकी पुरानी भारतीय बस्तियोंमें पहुँचा जा सकता था।

जो व्यापारी मालके उतारने-पतारनेकी कठिनाईसे बचनेके लिये समुद्र-पथको ही पसंद करते थे, वह मलक्काकी खाड़ी और सिंगापुरकी परिक्रमा करते हुये कंबुज देशमें पहुँचते थे—तेरहवीं शताब्दीसे पहले आधुनिक स्याम (थाईराष्ट्र) कंबुज देशके अन्तर्गत था।

मलय प्रायद्वीपके इन भारतीय उपनिवेशोंके बारेमें वहाँके पुरातत्त्व-विभागके विवरणमें लिखा है: "उपनिवेशिक बस्तियोंकी संख्या बहुत अधिक थी और वह चेफान, चइया, बंदोन-उपत्यका, नीखोन श्रीधम्मरत (लिगोर), याला (पतनीके पास) और सेलेनसिंग (पहान) जैसे दूर-दूरके स्थानोंमें फैली हुई थीं। पूर्व अंचलकी इन बस्तियोंकी भाँति वे पश्चिममें भी मलक्का, वेलेसली जिला, तकुआ-पा और लीनया एवं तेनासिरिम नदियोंकी उपत्यकाओंमें भी फैली हुई थीं।

"उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान नखोनश्रीधम्मरत (लिगोर) था। यह मुख्यतः बौद्ध-उपनिवेश था। शायद यहाँवालोंने ही नखोन श्री धम्मरतके महाचैत्य तथा उसके चारों ओरके पचास विहारोंको बनवाया था। इससे थोड़ा उत्तर चइयाका उपनिवेश था, जिसमें पहिले

ब्राह्मण और पीछे बौद्ध-धर्मकी प्रधानता हो गई थी। इन दोनों उपनिवेशोंकी प्रधान जीवन-वृत्ति कृषि थी। सेलेनसिन, पंगा, पुकेत और तकुआ-पाकी समृद्धि राँगे और सोनेकी खानोंपर निर्भर थी।

"यह मानना युक्तियुक्त मालूम होता है, कि बंदोन्-खाड़ीकी पार्श्वभूमि सुदूर-पूर्वकी संस्कृतिका उद्गम थी। भारतीय प्रभावसे उत्प्रेरित हो वह संस्कृति तकुआ-पासे स्थल-पथ द्वारा आगे फैली। स्थानीय परंपरा भी बतलाती है, कि इस स्थल-पथ द्वारा पश्चिमसे प्रथम भारतीय उपनिवेशिक आगे बढ़े थे।

"तकुआ-पाके पास पश्चिमी समुद्र-तटपर भारतीय मुखमुद्राके आदमी अधिक मिलते हैं। नखोन श्रीधम्मरत और पतलुनमें अब भी भारतीय वंशज ब्राह्मणोंकी बस्तियाँ हैं, जो अपने वंशवृक्षको स्थलमार्ग द्वारा भारतसे मलयद्वीप आये पूर्वजोंसे जोड़ते हैं।"

§ ३. इस्लामका प्रवेश

परंपरा मरोङ, महापोदिसत, श्रीमहावंश आदि राजाओंकी क्षीण स्मृतिको प्रतिध्वनित करती है, किन्तु उससे न कालका निश्चय किया जा सकता है, न वंशपरंपराका। कहते हैं, श्रीमहावंशने एक मलय स्त्रीसे ब्याह किया था, जिससे प्रीतदुर्याका जन्म हुआ था। प्रीतदुर्याकी क्रूरतासे लोग तंग आ गये। अंतमें सशस्त्र विद्रोह हुआ, और प्रीतदुर्या स्याम भाग गया। उसकी जगह उसकी रानी गद्दीपर बैठी। रानीको कोई लड़का न था, किन्तु उसके पतिका स्याममें एक पुत्र प्राओङ्-महा-पोदिसत पैदा हुआ था। रानीने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। प्राओङका शासन अच्छा था, किन्तु मलय-सामंत उसे अवैध संतान मानते थे, इसलिये उसे राजाके अनुरूप सम्मान देनेके लिये तैयार न थे। १४७४ ई०में शेख अब्दुल्ला नामक एक अरब मुस्लिम प्रचारक येमनसे राजधानी लंकाशुकमें आ बसा। अपने धर्मभाइयोंके बर्तावसे हिन्दू-धर्मके प्रति पोदिसत् (बोधिसत्त्व)की धारणा अच्छी नहीं थी। शेख अब्दुल्लाने उसे इस्लामके भ्रातृभाव और प्रेमका उपदेश दिया। पोदिसत्ने बाप-दादोंका धर्म छोड़ सुल्तान मुलजुफुल शाहका नाम धारण किया और इस प्रकार मलयद्वीपमें इस्लामके लिये रास्ता खुल गया। उसकी संतान अब कट्टर मुस्लिम सुल्तान होने लगी। उसका पुत्र महम्मद शाह १४७८-१५१६ तक शासक रहा। इसीने राजधानीका नाम बदलकर केदा-दारुल्-अमन रक्खा। मुजफ्फर शाह (१५४३-१६२१) अकबरका समकालीन था। इसीके समय पोर्तुगीज, डच और अंग्रेज व्यापारी वहाँ पहुँचे। अंग्रेज कप्तान जेम्स लंकास्टरने पिनांङको देखकर उसे बहुत पसंद किया। केदा इस समय राजधानी ही नहीं, बल्कि एक समृद्ध व्यापारी केन्द्र था। १६६९ ई०में सुल्तान रिजालुद्दीनशाहने डचोंको कोठी खोलनेकी अनुमति दी। सुल्तान जिनोलिद्दीन (१७३६-६६)ने केदासे हटाकर अलोर-स्तारमें अपनी राजधानी बनाई।

एक ओर केदापर यूरोपियनोंकी गृध्रदृष्टि थी और दूसरी ओर वह स्यामके अधीन था। केदा-सुल्तान और स्यामके झगड़ोंमें अंग्रेजोंने कभी एक पक्ष और कभी दूसरे पक्षकी मदद करनी शुरू की। अब्दुल्ला मकरमशाह (१७६६-१८०५) अंग्रेजोंके जालमें फँस गया। उसने १७८५ ई०में भारतके तत्कालीन अंग्रेज-गवर्नर-जनरल सर जान मैक्फर्सनको निम्नपत्र लिखकर केदाकी स्वतंत्रताको दे डाला—

"बिस्मिल्लाहिर्रहिमानेर्रहीम (अत्यंत कृपालु और दयालु अल्लाके नामसे)। यह पत्र

यावच्चन्द्रदिवाकर स्थायी रहनेवाली शुद्ध मित्रताके साथ सभी जातियोंके खुदाके हुकुमके अनुसार केदा-देशपर शासन करनेवाले पादुका श्री सुल्तान अब्दुल्ला मकरमशाहकी ओरसे हमारे मित्र ईसामसीहके भक्तोंमें श्रेष्ठ, जल-स्थलकी युद्ध-कला तथा पृथ्वीपर ज्ञात प्रत्येक विज्ञानके ज्ञाता और प्रतिभामें प्रसिद्ध बंगालके गवर्नर-जेनरल तथा राजाको लिखा जा रहा है। कप्तान फ्रांसिस लाइट देवराजने यहाँ आकर हमें सूचित किया कि हमारे मित्र (गवर्नर-जेनरल) पुलाव-पिनाङ चाहते हैं। हमने तुरंत अपने वकील तथा मित्र कप्तान फ्रांसिस लाइट देवराजको अधिकार दे दिया, कि वह व्यापार-स्थान, युद्धपोत-मरम्मत-स्थान तथा विश्राम-अन्न-जलके स्थानके तौरपर पुलाव-पिनाङके ऊपर माननीय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनीका झंडा गाड़ दें।

"साथ ही हमने उक्त कप्तान लाइटको अपनी सारी इच्छा प्रकट कर दी, कि जितना जल्दी हो उतना जल्दी आकर पुलाव-पिनाङ पर अधिकार करके वहाँ रहें, और हमारे मित्रने उसे स्वीकार किया। इस (पिनाङ) द्वीपमें जो आवश्यक वस्तुयें नहीं हैं, उन्हें हम अपने केदा-देशसे प्रदान करेंगे। ता० २६ मास शौवाल ११६६ हिजरी।"

इस प्रकार पिनाङको देकर केदा-सुल्तानने स्यामके विरुद्ध अंग्रेजोंकी मदद लेनी चाही, लेकिन जब अगले साल (१७८६) स्यामी सेनाने केदाके उत्तरी सीमांतपर आक्रमण किया, तो अंग्रेज मददके लिये नहीं आये। केदा अंग्रेजों और स्यामकी अधीनताके बीच लटकता रहा। किन्तु, जैसे-जैसे स्यामकी शक्ति क्षीण होती गई, वैसे-वैसे अंग्रेज हाथ बढ़ाते गये और अंतमें उसे उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यका अंग बनाकर छोड़ा।

§ ४. मलक्का

१४९८के आसपास एक पोर्तुगीज लेखक बरोशने मलयद्वीपके बारेमें लिखा था—मलक्का, सुमात्राके तटके कुछ भाग और जावाके कितने ही बंदरगाहोंपर ही मुसलमानोंका अधिकार है, बाकी जगहोंमें हिन्दुओंका राज्य है।

पन्द्रहवीं सदीके आरंभमें मलक्काने प्रमुख व्यापारिक बंदरगाहका स्थान लिया। पोर्तुगीज अल्बूकर्कने मलक्काके बारेमें लिखा था—

"जावामें राजा भटार तुङ्पेल राज्य करता था और पलेम्बङ (श्रीविजय)में परमेश्वर (परिमिसुरा)। दोनोंमें प्रायः युद्ध होता रहता था, फिर दोनोंमें सुलह हुई। परमेश्वरने जावाके राजाकी कन्या परमेश्वरी (परमिसुरी) से ब्याह किया और अपने ससुरको कर देना स्वीकार किया। लेकिन, जल्दी ही उसने अपनी बात छोड़ दी और जावा-राजाको कर या सम्मान देना बंद कर दिया। जावा-राजाने पलेम्बङ पर आक्रमण किया। परमेश्वर हारकर अपने स्त्री-बच्चों तथा कुछ अनुयायियोंके साथ सिंगापुर भाग गया। उस समय सिंगापुर स्यामके अधीन एक बड़ा समृद्ध नगर था। नगरके गवर्नरने पलेम्बङ के शरणार्थियोंके साथ बड़ा अच्छा बर्ताव किया, किन्तु परमेश्वरने अपने आश्रयदाताको मारकर नगरपर अधिकार कर लिया। यह खबर पा पलेम्बङ से उसके तीन हजार भूतपूर्व प्रजाजन भी सिंगापुर चले आये। परमेश्वरने उनका स्वागत किया और बेड़ा तैयारकर सिंगापुर-खाड़ीसे जानेवाले पोतोंको लूटते हुये वहाँ रहने लगा। तब सिंगापुरके भूतपूर्व गवर्नरके संबंधीने परमेश्वरपर आक्रमण किया। परमेश्वरने हार खाई और वह अपने आदमियोंके साथ भागकर मुवर नदीके मुहानेपर जा बसा। उस समय उस स्थानपर बीस-तीस मछुओंके घर थे। मछुओंने परमेश्वरको अपने यहाँ आकर बसनेके

लिये निमंत्रित किया था। भूमि बहुत उर्वर थी, जो जीवनकी सभी अवश्यकतायें पूरी कर सकती थी। परमेश्वरको वह जगह पसंद आई और वह अपने परिवारको वहाँ ले गया। समुद्री डाकू मीठे जलके लिये वहाँ आने लगे। परमेश्वरने प्रोत्साहन दिया, और वे अपने लूटके मालको बेंचनेके लिये वहाँ लाने लगे। इस प्रकार यह स्थान व्यापार-केन्द्र बन गया और दो वर्षोंमें ही निवासियोंकी संख्या दो हजार हो गई। परमेश्वरने बस्तीका नाम मलक्का रक्खा। क्रमशः पसे (सुमात्रा) और बंगालके भी व्यापारी व्यापारके लिये वहाँ आने लगे और बड़ी शीघ्रतासे मलक्काका महत्त्व बढ़ने लगा। परमेश्वर मलक्का बसानेके सात साल बाद मर गया। उसके बाद उसका पुत्र सिकन्दरशाह बच रहा। वह पहिले हिन्दू था। उसने पड़ोसी राजाकी लड़कीसे शादी की। अपनी स्त्रीकी इच्छा या ससुरकी प्रेरणासे थोड़े समय बाद उसने भी इस्लाम स्वीकार किया।"

इस प्रकार मलक्का-संस्थापक प्रतापी श्रीविजयका वंशधर था और नगरकी स्थापनाके बाद ही वहाँ इस्लामकी भी स्थापना हो गई। सिकन्दरशाहके अधीन मलक्काकी उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी होने लगी। उसने सिंगापुर जानेवाले जहाजोंको वहाँ न जाकर मलक्का आनेके लिये बाध्य किया। स्यामने सिंगापुरके विनाशकी संभावना देख लड़नेकी तैयारी की, लेकिन सिकन्दर शाहने स्यामकी अधीनता स्वीकारकर सिंगापुरकी आयके बराबर कर देना मान लिया। स्यामने सिंगापुरसे पुलन्सेम्बिलन तकके सारे द्वीपोंको सिकन्दरशाहके हवाले कर दिया। सिकन्दरके बाद उसके दो उत्तराधिकारी हिन्दू थे, फिर उसके मुसलमान पुत्र मुजफ्फरशाहने राज्य संभाला। इसने मलयद्वीपमें पहाङ और पूर्वी सुमात्रामें कम्पर तथा इन्द्रगिरिको जीता। स्यामियोंने उसे दबानेके लिये सेना भेजी, किन्तु मुजफ्फरने स्थल एवं जल दोनोंमें स्यामी सेनाको हरा दिया। चीनियों और पोर्तुगीजोंने उसे मलक्काके शासकोंमें सबसे पहले सुल्तान पदवीधारी माना। उसके उत्तराधिकारी मंसूरने मलक्काकी शक्तिको और बढ़ाया एवं राज्यका विस्तार मध्य-सुमात्रा तथा मलयके भीतर तक किया। उसके उत्तराधिकारी सुल्तान महमूदने १४८९में स्यामकी नौवाहिनीको पूर्णतया पराजित किया।

अब मलक्काके पतन और यूरोपीय शक्तियोंके उत्कर्षका समय आया। १५०९में एक पुर्तगाली पोत मलक्का पहुँचा। सुल्तानके मंत्री बेन्दहर(भंडारी)ने बीस पोर्तगीजोंको जेलमें डाल दिया। पोर्तगीज जहाज चले गये, फिर सुल्तानने नाराज होके बन्दहरको मार डाला, राज्यमें अशांति छा गई। इसी समय जुलाई १५११में पुर्तगीज सेनापति अल्बूकर्क दंड देनेके लिये एक बड़ी नौवाहिनीके साथ आया। अंतमें सुल्तानने अल्बूकर्ककी सारी माँगोंको स्वीकार किया और उसे मलक्कामें किला बनानेकी स्वीकृति दे दी। लेकिन अल्बूकर्कने भीतरी अवस्था जानके उतनेसे संतुष्ट न हो मलक्कापर आक्रमण किया। अगस्तमें नगरने आत्मसमर्पण कर दिया। सुल्तान भाग गया।

मलक्काकी समृद्धिके बारेमें बारबोसाने सोलहवीं शताब्दीके आरंभमें लिखा था—

"यहाँ बहुतसे मुसलमान व्यापारी तथा हिन्दू विशेषकर चोल-मंडल(कारूमंडल) निवासी चेट्टी रहते हैं। जो सभी बड़े धनी हैं। उनके पास बहुतसे बड़े-बड़े जहाज हैं, जिन्हें वे जंगी कहते हैं। वह भिन्न-भिन्न स्थानोंमें हर तरहके मालका व्यापार करते हैं। यहाँ दूसरे देशोंसे भी बहुतसे मुसलमान और हिन्दू व्यापारी—जिनमें कुछ दो मस्तूलवाले जहाजोंपर चीन तथा दूसरे देशोंसे—नाना प्रकारका माल लेकर आते हैं।...वहाँ कितने ही जहाज जावासे भी आते हैं,

जिनमें चार मस्तूल होते हैं। यहाँसे बहुतसे जहाज मलक्काके द्वीपोंमें जाते हैं।....वह सब तरहका माल ले तनासरिम (तेनासिरिम), पेगू, बंगाल, पलीकट, चोलमंडल, मलाबार, खंबात और अदनको भी जाते हैं। इसलिये मलक्का नगर अत्यन्त धनी बन्दरगाह है और उसके पास बहुत बहुमूल्य पण्य हैं। उसके पास बहुसंख्यक पोत तथा यातायातके विशाल साधन हैं, जिसकी ख्याति सारी दुनियामें है। उसके पास इतने परिमाणमें सोना है, कि महान् व्यापारी अपनी संपत्तिका परिमाण और दूसरे नहीं केवल सोनेकी बहरमें करते हैं—एक बहर चार ववींतलके बराबर है। यहाँ ऐसे ऐसे व्यापारी हैं, जो मूल्यवान् पण्योंसे लदे जहाजोंको खरीदकर सिर्फ अपने मालसे भर सकते हैं। मलक्काके राजाके पास भारी कोश है और करसे उसको भारी आमदनी होती है।"

मलक्काकी जन-संख्या उस समय एक लाखसे अधिक थी। नगर समुद्र-तटपर दूर तक फैला हुआ था। मलक्का व्यापार-केन्द्र ही नहीं था, बल्कि वह इस्लामिक प्रचारका भी केन्द्र था। आगे हम बतायेंगे कि किस प्रकार उत्तर-पश्चिम सुमात्रा मुसलमान व्यापारियों एवं इस्लाम-प्रचार दोनोंका केन्द्र बना। मलक्का भी श्रीवृद्धिके साथ इस्लामिक प्रचारका केन्द्र बन गया। आरंभमें चाहे इस्लाम-प्रचारमें सौम्य तरीके ही अख्तियार किये गये हों, किन्तु राजशक्तिके हाथमें आ जानेपर "शुभस्य शीघ्रम्" कहकर खूब बल-प्रयोग किया गया। सुल्तान मुजफ्फरशाहने पहङ, कम्पर और इन्द्रगिरिके राजाओंको बलपूर्वक मुसलमान बनाया और अपनी तीन लड़कियोंका उनसे ब्याह कर दिया।

ईरान और गुजरातके कितने ही व्यापारी मलक्कामें आ बसे थे, जिनका इस्लाम-प्रचारमें भारी हाथ था। जीन-दे-बारोसने लिखा है—

"व्यापारके लिये मलक्कामें आकर बस गये ईरानी और गुजराती मुसलमानोंकी प्रेरणासे लोग मुहम्मदके धर्ममें चले गये। इस्लाम भिन्न-भिन्न जातियोंमें बड़ी जल्दी फैला। उसका प्रचार सिर्फ मलक्काके पास पड़ोसमें ही नहीं, बल्कि सुमात्रा, जावा और पासके दूसरे द्वीपोंमें भी हुआ है।"

मलक्काके व्यापारिक महत्त्व एवं धनबलने सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में इस्लामके फैलनेमें भारी सहायता की।

मलक्का-संस्थापक परमेश्वर श्रीविजयके शैलेन्द्र वंशका था, जिसके बौद्ध-धर्म प्रेमकी प्रतीक बरोबुदुरकी अद्भुत इमारत आज भी जावामें मौजूद है। मलयद्वीपके सारे सुल्तान अपनेको उसी परमेश्वरका वंशज मानते हैं। १५३७ में अभी भी भारतीय प्रभाव वहाँ था और लोग अरबी नहीं, भारतीय लिपिका प्रयोग करते थे।

अध्याय ३

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)

सुमात्रा बोर्नियोके बाद इन्दोनेसियाका सबसे बड़ा द्वीप है। यह दोनों सिरोंपर पतला और बीचमें मोटा है। भूमध्यरेखा इसके बीचसे जाती इसे दो सम भागोंमें विभक्त करती है। द्वीपकी लंबाई १०६० मील, चौड़ाई २४८ मील और क्षेत्रफल १,६७,४८० वर्गमील है। यह द्वीप पहाड़ी है, किन्तु हरियालीसे लदा हुआ है। जावासे चार गुना बड़ा होनेपर भी इसकी जन-संख्या केवल ६२,१९,००४ अर्थात् जावाका पंचमांश है।

§१. श्रीविजय

लंका और दक्षिणी भारतसे बंगालकी खाड़ी पार करनेवाले जहाजोंके मार्गमें पड़नेसे सामुद्रिक व्यापारमें सुमात्राका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। सुमात्रामें सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो पलेम्बङके नामसे कंपर नदीके तटपर आज भी मौजूद है। यह नगर चौथी शताब्दीसे पहिले ही स्थापित हो चुका था। सातवीं शताब्दीमें इसकी शक्ति और भी बढ़ी, जब कि इसने दक्षिणमें हरी नदीके तटपर अवस्थित मलयू (आधुनिक यंबी) पर अधिकार कर लिया और साथ ही पासके बंकाद्वीपको भी ले लिया। ६८४ ई०में बौद्ध राजा श्री जयनाग श्रीविजयका शासक था। ६८६ ई० में उसने जावा-विजयके लिये सेना भेजी। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्तकालमें सुमात्रा बौद्ध-धर्मका केन्द्र बन चुका था[1]।

§२. श्रीविजयमें बौद्धधर्म

श्रीविजय हिन्द-द्वीपसमूहमें संस्कृति और विद्याका केन्द्र था। चीनी यात्री ई-चिङ ६८८-९५ में सात साल यहाँ रहकर पढ़ता रहा। उसके लिखे अनुसार चीनसे भारत जानेवाले भिक्षु श्रीविजयमें ठहरकर संस्कृत पढ़ा करते थे। इसी श्रीविजयने पीछे जावाकी विजय की और अपने शैलेन्द्र-वंश[1]की अद्भुत कृतियों—बरोबुदुर आदि—का निर्माण किया, यह हम जावाके वर्णनमें लिखेंगे। श्रीविजय महायान बौद्ध-धर्मका गढ़ था और ग्यारहवीं सदी तक अपनी विद्याके लिये प्रसिद्ध था। सुवर्णद्वीपीय धर्मकीर्तिके पांडित्यकी कीर्ति सुनकर तिब्बतमें बौद्ध-धर्मका प्रचार करनेवाले विक्रमशिलाके आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८१-१०५४ ई०) बारह वर्ष उनके पास पढ़ते रहे। उस समय उत्तरी भारतमें वज्रयान (घोर तांत्रिक) बौद्ध-धर्मका प्रचार था। बौद्ध-धर्म, जान पड़ता है, प्रत्येक देशमें अपने विनाशसे पहिले इसी रूपको धारण करता रहा। वह मृत्युसे वहीं बच पाया, जहाँ वज्रयानका स्थान अधिक बुद्धिवादी बौद्ध-धर्मने

---

[1]शैलेन्द्र-वंशके बारेमें देखो जावा ४.§४.

स्वीकार किया, जैसा कि कंबुज, स्याम और बर्मामें हुआ। शकाब्द १२६९ (१३४७ ई०) के एक शिलालेखमें राजा आदित्य वर्माकी प्रेरणासे आचार्य धर्मशेखरने अमोघपाश (अवलोकितेश्वर) की मूर्ति स्थापित की थी, इसके लेखमें उदयवर्माकी तांत्रिक सिद्धिका भी वर्णन है। लेख इस प्रकार है—

"सद्धर्मश्च सुबर्द्धनात्ममहिमा सौभाग्यवान् शीलवान् (।)
शास्त्रज्ञा सुविशुद्धयोगलहरी शोभा प्रवृद्धासते।
सौन्दर्यं गिरिकन्दरान्वितगजे सन्दोहवाणी प्र(भा।)
मायावैरितमिस्रधिक्कृतमहानादित्यवर्म्मोदयः।।
तदनुगुणसमृद्धिः शस्त्रशास्त्रप्रवृद्धिः जिनसमयगुणाब्धिः कार्यसंरम्भबुद्धिः।
तनुमदनविशुद्धिः सत्यतासर्व्वसिद्धिः धनकनकसमाप्तिः देवतूहन् प्रपातिः।।
प्रतिष्ठेयं सुगातानां आचार्यन्धर्म्मशेखरः। नाम्ना गगनगञ्जस्य मञ्जुश्रीरिव सौहृदि।।
प्रतिष्ठेयं हितत्वाय सर्वसत्त्वसुखाश्रयः। देवैरमोघपाशेशः श्रीमदादित्यवर्म्मणः।।
मूलद्वां शरणे पतंगचरणे नंदांतशाके शुभे। भास्वत्कर्क्कटके दिनैरपि पुर्णेन्दु योगायते।।
तारैरुत्तरसिद्धियोग घटिका कारुण्यमूर्त्तस्वरात्।
जीर्णैरुद्धरिता समाहित लसत् सम्बोधमार्ग्गार्थिभिः।।
स्वस्ति समस्तभुवनाधारहाटकः भावाश्रमगृहविशारदः,
अपारमहायानयोगविज्ञानविनोदः। अपि च धराधिप
प्रतिराजविकटसंकटकिरीटकोटिसंघनीतकमणिद्वय-
नाटककारणः। श्रीमत्श्रीउदयादित्यवर्म्मा प्रतापक्रम-
राजेन्द्रमौलिमणिवर्म्मदेवमहाराजाधिराजः सविज्ञेयां आज्ञां करोति।
विहंगमातंगविलासशोभिते कांतारसौगंधिसुरद्रुमाकुले।
सुरांगनालेखितकांचनालये। मातंगिनीशसुरदीर्घिकागते।।
अनुभवधिविशेषोन्मादसन्दोहहाहा अखिलदितिसुतानां देवविद्याधरेशः।
अधि मधुकरगीतैर्नर्त्यभोगासितीनां अचलति चलतिर्तस तस्य शोभामातंमिशः
हाहाहूहूगणेन संभ्रम लसत् लोकार्थ भूम्यां गतः सौन्दर्यं शशिपूर्णवत् कुशल भे हृत्शोभतालंकृते।
नाम्ना उदयवर्मगुप्त सकल क्षोणीपतिनायकः स त्यक्त्वा जिनरूपसंभ्रमगतो मातंगिनीशून्यः।।
रक्षन्नः क्षयता वसुन्धरमिदं मातंगिनी पात्रय भक्षेत् संत्रियवैरिमार्गचरिता सर्वस्वसंहारकृत।
सच्छेत् क्षांतिवलाविलासिदमने संभ्रान्तकुलस्सदा
पातिः पत्यदलालने प्रकटितक्रूरैः पलाशायती।।
वज्रप्राकारमध्यस्ता प्रतिमायां जिनालयः। श्रीमान् अमोघपाशेशः हरिः उदयसुन्दरः।।
सुरतरुदितपाणि सत्यसंगीतवाणी। रिपुनृपजितकीर्तिः पुष्पधन्वास्त्रमूर्त्तिः।।
मलयपुरहितार्थः सर्वकार्यसमर्थः। गुणरसिल विभातिः देवतूहन्नपातिः।।
उदयपर्वतशोभितरूपतिः उद्यद् भूतिः नरेश्वरनायकः।
उदयवैरिवलोन्नत मृध्यते उदय सुन्दरकीर्ति महीतले।"

इस महाभ्रष्ट संस्कृत-शिलालेखमें राजा उदयवर्माको बौद्ध सिद्धान्तोंमें निष्णात ही नहीं, बल्कि सारी सिद्धियोंका स्वामी बतलाया गया है। किन्तु उदयवर्माके मंत्रशास्त्र-निष्णात होनेसे पहले ही सुमात्रापर इस्लामका आक्रमण हो चुका था। मारकोपोलो १२९२में इस द्वीपमें

आया था। वह इसे लघुजावा लिखता है। उस समय यहाँ आठ राज्य थे, जिनमेंसे छ अर्थात् पेरलक (उत्तर-पूर्व), लमूरी, अचे (उत्तर-पश्चिम), पसे तथा समुद्रमें वह स्वयं गया था। उसने लिखा है—

"इस राज्यमें इतने अधिक मुसलमान व्यापारी आते रहते हैं, कि उन्होंने यहाँके निवासियोंको मुहम्मदके धर्मका अनुयायी बना लिया है।"

मारकोपोलोके समय केवल पेरलक इस्लामी राज्य था, किन्तु कुछ समय बाद समुद्रमें एक दूसरा इस्लामी राज्य तैयार हो गया। इसी छोटेसे समुद्र राज्यने सारे द्वीपको सुमात्रा नाम दिया। १३४५-४६ ई० में अरब पर्यटक इब्न-बतूताका समुद्रके शासक सुल्तान मलिक जाहिर ने स्वागत किया था। बतूताने राज्यका नाम समुतर लिखा है, जिसे यूरोपियनों ने सुमात्रा बना दिया। बतूताके कथनानुसार सुल्तानको अपने पड़ोसी काफिर (हिन्दू) राजाओंसे लड़ते रहना पड़ता था। व्यापारमें मलायाके केदाका स्थान अब पसे (सुमात्रा) ने ले लिया था और वही तबतक भारी व्यापारिक बन्दरगाह रहा, जबतक कि मलक्काकी स्थापना नहीं हो गई। पसे, समुद्र, पेरलक जैसे प्रधान बन्दरगाहोंके धनाढ्य ईरानी तथा गुजराती मुसलमान व्यापारियोंने ही सुमात्रामें इस्लामका प्रचार किया।

अध्याय ४

जावा

§१. भौगोलिक

यद्यपि इन्दोनेसियाके द्वीपसमूहोंमें बोर्नियो और सुमात्रा जावासे कई गुने बड़े हैं, किन्तु इतिहासमें जावाका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। सुमात्राकी भाँति जावा भी लंबा और पतला द्वीप है। इसकी लंबाई ६२२ मील और चौड़ाई ५५से १२१ मील तक है। मदुरा तथा नजदीक-के दूसरे छोटे द्वीपोंको मिलाकर इसका क्षेत्रफल ५१००० वर्ग मील है। उत्तरमें जावा समुद्रकी उथली जलराशि इसे बोर्नियोसे अलग करती है। इसके दक्षिणमें अतिगंभीर भारत महासागर दक्षिणी ध्रुव तक चला गया है, जिसमें ध्रुव-प्रदेशको छोड़कर कोई स्थल-खंड नहीं मिलता। जावाके पूरबमें बालीका छोटा द्वीप है, फिर लगातार लंबक, संबावा, फ़्लोर और तिमोरके द्वीप चले गये हैं। जावा और सुमात्राके बीचमें सुंदाकी खाड़ी कहीं-कहीं केवल चौदह मील चौड़ी है। जावाके उत्तर-पूरबमें मदुराका छोटा द्वीप है, जिसके बीचकी खाड़ी कहीं-कहीं एक मीलसे भी कम चौड़ी है।

सुमात्राकी तरह जावा भी पहाड़ों, जिसमें भी अधिकतर ज्वालामुखी पहाड़ोंका देश है। इसके पर्वतोंकी ऊँचाई चार हजारसे बारह हजार फीट तक है। यहाँकी नदियाँ छोटी-छोटी हैं। इनमें सोलो तथा ब्रंतस दो ही में कुछ दूरतक नौ-संचालन किया जा सकता है। नौकोपयोगी न होनेपर भी जावाकी यह पहाड़ी नदियाँ सिंचाईके लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। जावाकी भूमि कृषिके लिये समस्त विश्वमें विख्यात है। उसके बंदोङ्, सुराकर्ता, मदियून, केदरी, मलङ, बंदवस, और पगार जैसे मैदानी भाग अन्नकी खान हैं। जावाकी वानस्पतिक संपत्तिकी विश्वमें तुलना नहीं की जा सकती। यहाँ बहुत अच्छी जातिका सागौन होता है। ६० प्रतिशत भूमिमें खेती होती है, जिसमें मुख्य उपज है धान, गन्ना, सिन्कोना (कुनैन), चाय, काफी, तंबाकू आदि। खनिज सम्पत्तिमें जावा पिछड़ा हुआ है, लेकिन उसकी कमी पेट्रोल पूरा करता है।

§२. भरतीय उपनिवेश

१. विषय-प्रवेश

जावा भारतके प्राचीन उपनिवेशोंमें है। इसके निवासियोंकी जातिके बारेमें हम पहले बता चुके हैं और यह भी कि मलय-जाति प्रागैतिहासिक कालमें भारतसे आई मालूम होती है, किन्तु यह बात उल्टी भी हो सकती है। सबसे प्राचीन मानव (जावा-मानव) की खोपड़ी यहीं मिली थी। वह आजसे पाँच लाख वर्ष पहिले पृथ्वीपर रहता और पत्थरके हथियारोंको इस्तेमाल करता था। ऐतिहासिक कालके आरंभसे

ही जावापर भारतीयताकी घनिष्ठ छाप पड़ी दीख पड़ती है, यह उसके नाम ही से मालूम होता है—यव (जौ) हिन्दी-ईरानी भाषाका शब्द है। जावाके कथानकोंमें भारतीयोंके यहाँ आनेके बारेमें कई बातें लिखी हुई हैं। चीनी इतिहास-लेखक फेइ-सिन (१४३२ ई०) के समयतक राज्यकी स्थापना हुये १३७६ वर्ष हो चुके थे—"(जावाके दूत) जब १४३२ ई० में भेंट लेकर आये, तो उन्होंने एक पत्र भी अर्पित किया, जिसमें लिखा था कि उनका राज्य १३७६ वर्ष पहिले स्थापित हुआ था, अर्थात् हान-वंशके सम्राट स्वेनके पिवेन-खाङ-युगके प्रथम वर्ष (६५ ई० पू०) में।" यहाँ संवत्सरकी गणनामें कुछ गड़बड़ी मालूम होती है, यह काल ५६ ई० भी हो सकता है। यही समय है, जबकि जावाका प्रथम राजा अजि-शका भारतसे यहाँ पहुँचा। संभव है अजि-शकासे पहले भी भारतीय जावा आते रहे हों और अजि-शकाने उन्हें संगठित कर एक बड़ी राजशक्तिका रूप दिया हो।

चीनी इतिहास द्वारा दूसरी शताब्दीके जावा पर अधिक प्रकाश पड़ता है। १३२ ई० में जावाका राजा तिया-वपि-येन (देववर्मा) ने चीनी दर्बारमें अपना दूत भेजा था। यद्यपि तीसरी शताब्दीमें फिर चीनियोंने जावा राज्यका वर्णन किया है, किन्तु पाँचवीं शताब्दीमें ही हम ठोस ऐतिहासिक भूमिपर पहुँचते हैं। ४१४-१५ में भारतसे सिंहल होकर लौटते समय फा-शि-यान पाँच महीने यवद्वीपमें ठहरा था। उस समय जावामें ब्राह्मण नहीं, बौद्धधर्मकी प्रधानता थी। सबसे पहिले फा-शि-यानके समयके आसपास ही गुणवर्माको हम जावामें बौद्ध धर्म का प्रचार करते पाते हैं। गुणवर्मा कश्मीर (या कपिशा) के राजा संघानंदका पुत्र और हरिभद्रका पौत्र था। उसने राज्य लेना छोड़ भिक्षु-व्रत धारण किया था। गुणवर्मा तीस वर्षका था, जब राजा निःसंतान मर गया। गुणवर्माको राज्य संभालनेके लिये कहा गया, परन्तु उसने लेनेसे इन्कार कर दिया। सिंहलकी ख्याति उसे वहाँ ले गयी, जहाँसे वह जावा पहुँचा। राजमाताके बौद्ध बननेपर जावाका राजा भी बौद्ध बना। इसी समय राज्यपर आक्रमण हुआ। राय पूछने-पर गुणवर्माने कहा—'चोरको दंड देना हरएकका कर्त्तव्य है'। चीनी लेखक द्वारा लिखित गुणवर्माकी जीवनी बताती है, कि राजाने संसार त्यागना चाहा, मंत्रियोंके बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने इस शर्तपर राजा रहना स्वीकार किया, कि राज्यमें कहीं प्राणी न मारे जायँ। जावासे गुणवर्माकी कीर्ति चीन पहुँची। ४२४ में चीनी भिक्षुओंने सम्राट्‌को उसे निमंत्रित करनेके लिये कहा। गुणवर्मा भारतीय व्यापारी नंदीके जहाजमें चढ़कर ४३१ ई० में नान-किङ पहुँचा, पर कुछ ही महीनों बाद ६५ वर्षकी अवस्थामें उसका देहान्त हो गया। गुणवर्माकी कथासे पता चलता है, कि फा-शि-यानके जानेके बादसे ही वहाँ बौद्धधर्मका प्रचार होने लगा।

२. पल्लव और जावा

यद्यपि जातकोंके देखनेसे पता लगता है, कि बुद्धकालसे पूर्व सुवर्णभूमिसे भारतीय व्यापारी सुवर्णद्वीप और यवद्वीपको जाया करते थे, किन्तु जान पड़ता है, वह वहाँ उपनिवेशिकके तौरपर नहीं, बल्कि व्यापारीके तौरपर थोड़ी संख्यामें जाया करते थे। जावापर हम दक्षिण-भारतकी भारी छाप पाते हैं। जावाके आरंभिक अभिलेख उसी लिपिमें मिलते हैं, जिसका प्रयोग पल्लव राजा अपने पाँचवीं-छठीं सदीके ताम्रपत्रोंमें करते थे—यह बात जावा ही नहीं, फूनान और चंपापर भी लागू है। पल्लवोंके पूर्व और शातवाहनोंके बाद धान्यकटकमें इक्ष्वाकु-वंशकी प्रधानता थी। धान्यकटक (धरणीकोट) और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में प्राप्त शिलालेखोंसे पता

लगता है, कि ईसाकी तृतीय शताब्दीमें सिंहल, चीन और किरात (चिलात, मलय) तक बौद्धधर्मका प्रचार था। कृष्णा नदीपर अवस्थित धान्यकटक एक अच्छा पुटभेदन नगर था, इसका प्रमाण वहांका विशाल महाचैत्य है, जो अपने वास्तुशिल्प और मूर्तिशिल्पमें अद्वितीय समझा जाता है। तृतीय शताब्दीमें निर्मित श्रीपर्वतका महाचैत्य भी उससे कम महत्त्व नहीं रखता। धान्यकटकका चैत्य एक बहुत बड़ा बौद्ध केन्द्र था, जिसके नामपर ही बौद्धोंके पुराने अठारह निकायों (सम्प्रदायों) मेंसे एकका नाम चैत्यवादी पड़ा था। इसका निर्माण शातवाहन-कालमें हुआ। इसकी कला शातवाहनकला है, जिसका आगेका विकास ईक्ष्वाकुओंद्वारा निर्मित श्रीपर्वतके महाचैत्यकी कलामें हुआ। ईक्ष्वाकुओंके उत्तराधिकारी काञ्चीके पल्लवोंने इस कलाको और भी आगे विकसित किया। पल्लवलिपिके साथ जावा और हिन्दीचीन-लिपिकी एकरूपता मानी जाती है। पल्लवोंकी और बातोंसे तुलना करनेपर पता लगता है, कि जावा आदिके साथ बहुत अधिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक संबंध स्थापित करनेका श्रेय इसी पल्लव काल और पल्लव भूमिको है। यह भी उल्लेखनीय बात है, कि पल्लव-राजाने भी फोनानियोंकी भांति नागराजकुमारीसे ब्याह करके राज्यलक्ष्मी प्राप्त की थी—पल्लवोंके पहले काञ्चीवाला प्रदेश नागोंके हाथमें था। नागीसे ब्याह करके राज्य प्राप्त करनेकी यही बात हमें हिन्दीचीनकी परंपरामें भी मिलती है। पल्लवोंके पूर्ववर्त्ती राजा इक्ष्वाकु या शतवाहन वर्माकी उपाधि धारण नहीं करते थे, किन्तु पल्लवोंमें इसका प्रचार पहले शिवस्कंध वर्मा (तृतीय शताब्दी) से ही शुरू हो जाता है और तबसे अंतिम पल्लव राजा अपराजित वर्म्मा (८७५-८३ ई०) तक चला जाता है। वर्म्मा उपाधिकी प्रधानता सबसे पहले हमें पल्लववंशमें ही देखनेको मिलती है। उत्तरी भारतमें बहुत पीछे गुप्तोंके उत्तराधिकारी मौखरी इस उपाधिका प्रचार करते हैं, किन्तु वह अधिक चिरस्थायी नहीं होती। जावा और हिन्दीचीनमें राजाओंके लिये वर्म्माकी उपाधि सर्वत्र देखनेमें आती है।

जावा और हिन्दीचीनमें शैवधर्मकी प्रधानता देखनेमें आती है, वहां वैष्णवधर्मकी प्रधानता कभी नहीं होने पायी। दक्षिणमें शातवाहन-कालसे ही शैव मतका अधिक प्रचार देखा जाता है। पल्लव-वंशका प्रथम प्रतापी राजा शिवस्कंध अपने नाम हीसे शैव प्रकट होता है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं, कि पल्लव दूसरे धर्मोंकी उपेक्षा करते थे। पल्लव राजाओंमें एक नहीं तीन बुद्धवर्म्मा मिलते हैं। हर्षवर्धन समकालीन प्रथम महेन्द्र वर्म्मा (६००–३०) को शैव-संत अप्परने जैनसे शैव बनाया था। अधिकतर शैव-संत पल्लव कालमें हुये थे। पीछे पल्लव वैष्णवसंतोंके प्रभावमें भी आये, किन्तु जिस समय इन्दोनेसिया और हिन्दी-चीनसे सांस्कृतिक दानादान आरंभ हुआ था, उस समय काञ्चीमें शैव सम्प्रदायका जोर था।

जावाकी परम्परा ('अजि-सका ग्रंथ) में कलिंग और गुजरातसे भी भारतीयोंके जावा पहुंचनेकी बात लिखी है, जिसका अर्थ यही हो सकता है, कि भारतीय उपनिवेशिकोंमें कलिंग और गुजरात (लाट) के लोग भी थे, किन्तु उनमें सबसे अधिक प्रभावशाली अंश था पल्लव देशियोंका।

पल्लवोंकी राजधानी काञ्चीका नाम सबसे पहले पतंजलि (१५० ई० पू०) ने अपने **महा-भाष्य** (४: २) में लिया है। जान पड़ता है उस समय भी काञ्चीमें पठन-पाठनका सम्मान था, किन्तु काञ्चीको विद्याका केन्द्र बनानेका श्रेय पल्लवोंको है। पल्लव राजाओंके चौथी शताब्दीके

आरंभ तकके लेख प्राकृतमें मिलते हैं, फिर उनके ताम्रपत्र और पीछे शिलालेख भी बड़ी सुन्दर संस्कृतिमें पाये जाते हैं। तमिलकी शैव-वैष्णव कविताके विकासका अवसर भी इन्हींके समय मिलता है। ईसाकी चौथी शताब्दीके मध्यमें जब उत्तरके गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्तने काञ्चीके पल्लव राजा विष्णुगोपको नतशिर किया था, उस समय तक उत्तरमें संस्कृतकी विजय दुंदुभी बज चुकी थी। इसी समयसे दक्षिणमें भी संस्कृतिका बल बढ़ा, शिलालेखों और ताम्रलेखोंमें प्राकृतका स्थान संस्कृतिने लिया, और प्राकृत सदाके लिये स्थानच्युत कर दी गयी। हाँ, पीछे वह भी समय आया, जब कि तमिलने भी संस्कृतसे अपने लिये बड़ा भाग छीन लिया, लेकिन वह काफी पीछेकी बात है।

संस्कृतकी प्रधानता स्थापित होनेके समयसे ही पल्लवोंकी राजधानी काञ्ची उसका केन्द्र बनी। काञ्चीने आसानीसे भारतकी सात पावन पुरियोंमें अपना नाम नहीं लिखाया। कवियोंमें दण्डी और भारवी काञ्चीके रत्न थे। कादंब-राजवंशके स्थापक मयूर शर्मा यहीं वेद पढ़नेके लिये आये थे, जब कि किसी पल्लव राजपुरुषसे अपमानित होकर चाणक्यकी तरह वंश-विच्छेद करनेकी नहीं, बल्कि अपने ही एक नये राज-वंशको स्थापित करनेकी सफल प्रतिज्ञा की थी। कालिदासके समकालीन महानैयायिक दिङ्नागका जन्म काञ्चीमें ही हुआ था और अद्भुत बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्तिका जन्म और आरंभिक शिक्षा-स्थान भी काञ्ची-प्रदेश ही था। हम कह सकते हैं, कि ईसाकी चौथीसे आठवीं शताब्दी तक संस्कृत-शिक्षाका इतना बड़ा केन्द्र शायद ही कोई दूसरा नगर था। जब हम जावा, चंपा और कंबोज (कंबुज) की सुन्दर प्रशस्तियोंको पढ़ते हैं, जब वहाँके शिवमंदिरों उनके गुरुओं तथा अपार धनराशिका वर्णन देखते हैं, तो उनमें हमें काञ्ची और पल्लव राजाओंकी धार्मिक श्रद्धाका प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है। विद्वानोंका यह भी मत है, कि पल्लवोंके पहिले दक्षिण-भारतमें मंदिरोंके निर्माणका प्रचार नहीं था—कमसे कम ईंट और पाषाणके देवालयोंका तो नहीं ही था, यदि मंदिर रहे होंगे तो लकड़ीके, जिनका अवशेष अब मिलना कठिन है। जावा (और हिन्दीचीनके) देवालयों और शिखरोंपर पल्लव-वास्तुकलाकी पूरी छाप है। यही पल्लव-वास्तुकला चोलोंके समयसे होते द्राविड़-वास्तुकलाके रूपमें विद्यमान हुई।

जावा, चंपा आदिमें संस्कृतके ही अभिलेखोंका मिलना यह भी बतलाया है, कि काञ्चीके सांस्कृतिक दूत इन देशोंमें उस समय पहुँचे, जब कि पल्लवदेश प्राकृत छोड़ संस्कृतका गढ़ बन चुका था। इन देशोंके प्राचीनतम अभिलेखोंकी लिपि चौथी-पाँचवीं शताब्दीकी पल्लव-लिपि[1] से मिलती है, यह भी उसी ओर संकेत है।

---

[1] पल्लवराज शिवस्कन्ध (३०० ई०) मयिडवोलु ताम्रपत्र—

विठं [।] काँचीपुरतो युवमहाराजो भारद्वायसगोत्तो पल्लवानं शिवखन्द वम्मो धंञकडेव पतं आनपयति [।] अम्हेहि दानि अम्ह वेजयिके य[धं]मायु-बलवधनिके बम्हनानं अयिवेससगोत्तस पुक्कोट्टजस अगीवेससगोत्तस गोणंदिजस अन्धापति(थी)य गामो [विरी] रमम्हेहि उदकादि सम्पदतो (त्तो) एतस गामस विरीपरस सवबम्हदेय-प [रिह] रो वितराम [।] अलोन(ख)दिकं अरठ-सं(वि)नायिकं अपरम्पराबलिव(दं) अभडपवेससं अकूर चोलकविनासिखटसम्वासं [।] एतेहि अनेंहि च सवबम्हदेय सवपरिहारेहि परिहरितो [ ] परिहरथ परिहरापेथ च [।] जो अम्हसासनं अतिच्छितून पीलावध क रेज्जा[वात] कारापेज्जा

§ ३. आरंभिक काल

१. तारुमा-राज्य

अजि-शकाको शकोंके साथ जोड़कर यह सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है, कि गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यके गुजरात-विजयके बाद कुछ शक द्वीपांतरमें भाग गये। उन्हीं शकोंका मुखिया अजि-शका था। किंवदन्ती एवं परम्पराओंसे हटकर ठोस पुरातत्त्व-सामग्रीपर उतरनेंपर सबसे पुराने अभिलेख पश्चिमी जावामें मिलते हैं। वहां (ची-अरुतोन और जंबूमें) निम्न लेख मिले हैं :—

(१) "विक्कान्तस्यावनिपतेः श्रीमतः पूर्ण्णवर्म्मणः
तारूमनगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम् ।।" (चि-अरूतोन)

(२) "श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो यो पुरा (ता)रुमाया(म्.)
नाम्ना श्रीपूर्ण्णवर्म्मा प्रचुररिपुशराभेद्यविख्यातवर्म्मा।
तस्येदम्पादविम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम्,
भक्तानां यन्नृपाणाम्भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूनाम् ।।" (जम्बू)

(३) "..जयविशालस्य तारुमे(न्द्र)स्य ह(स्त)नः (।)
..(ऐरा)वताभस्य विभातीदम्पदद्वयम् (।)"—(केबोन्-कोपी)

(४) "पुरा राजाधिराजेन गुरुणा पीनवाहुना
खाता ख्यातां पुरीं प्राप्य चन्द्रभागार्णवं ययौ।
प्रवर्द्धमानद्वाविंशद्वत्सरश्रीगुणौजसा,
नरेन्द्रध्वजभूतेन श्रीमता पूर्ण्णवर्म्मणा।।
प्रारभ्य फाल्गुने मासि खाता कृष्णाष्टमीतिथौ
चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां दिनैस्सिद्धैक विङशकैं(ः।)
आयता षट्सहस्रेण धनुषां सशतेन च
द्वाविङशेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका।।
पितामहस्य राजर्षेब्बिदार्य शिविरावनिम्
ब्राह्मणैर्ग्गोसहस्रेण प्रयाति कृतदक्षिणः।।" (तेगू)

वा तस अम्हो सारीरं सासनं करेजामो [।] संवछरं दसमं १० गिम्हा पखो छठो ६ दिवसं पंचमि ५ [।] आनति सयत्ती दत्ता पट्टिका [।।] Ep. Ind. Vol. IV, Pp. 86-8.

चारुदेवी (३२० ई०) का ताम्रपत्र (ब्रिटिश म्यूजियम)

सिद्धं ।। सिरिविजयखन्दवम-महाराजस्स सम्वच्छर ` `[।] युवमहाराजस्स भारदायस्स पल्लवानं सिरिविजयबुद्धवम्मस्स देवी [बु]द्धिकुरजानवी (जननी) चारुदेवी क[डके] वीय ...(वीयापतं) राजतलाकहेट् [ठे] पाणिय (पनियकूप) पादपासे आतुकस्स कसित (कसितव्वं) छेत्तं दालूरे कूळिमहातरकदेवकुल [स्स] भगवन्नरायणस्स अम्हं आयुबलवद्धानियं कातूण भूमीनिवत्तणा चत्तारि ४ अम्हेहिं सम्पदत्ता [।] तं नातूण गामेयिका आयुत्ता सव्वपरिहारेहि परिहरथ परिहरापे [थ] ` `आनत्ति रोह [गि] नगु [त्त]त्ति।

पूर्णवर्माकी राजधानी तारुमा जावाके पश्चिमी भागमें आधुनिक जाकर्ता (बताविया) प्रदेशमें थी। चट्टानपर खुदे पूर्णवर्माके उक्त चारों लेख जावामें मिले प्राचीनतम लेख हैं और ईसाकी पाँचवीं सदीके मध्यके समझे जाते हैं, अर्थात् उसी समयके जब कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका पुत्र कुमारगुप्त उत्तरी भारतमें और पल्लववंशी वीरकुर्च या स्कंधवर्मा काञ्चीमें शासन कर रहे थे। लेखोंकी भाषा शुद्ध सुपुष्ट संस्कृत है और कुछमें तो कवित्वकी भी झलक आती है। पहले तीनों लेख एक पदचिह्नके साथ खुदे हैं और वे पद तारुमनगरेन्द्र पूर्णवर्माके हैं, यह वहाँ स्पष्ट लिखा है। दूसरे अभिलेखसे यह भी पता लगता है, कि लिखनेके समय नरपति पूर्णवर्मा जीवित नहीं थे। तीसरा अभिलेख राजाके हाथीके पदचिह्नके साथ खुदा हुआ है। चौथा बतलाता है कि पूर्णवर्माके पूर्वज राजाधिराजने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्रतक पहुँचाया था। राजा पूर्णवर्माने अपने शासनके बीसवें वर्षमें गोमती नामकी दूसरी नहर खुदवायी, जो ६१२० धनुष लंबी थी और जिसे उसने इक्कीस दिनोंमें खुदवाया था। आगेके जावाके सारे शिलालेखोंमें जावा-संवत् या शक्-संवत् लिखा जाता है, किन्तु इस शिलालेखमें राजाका अपना संवत्सर दिया हुआ है। पुराने पल्लवोंके भी अभिलेखोंमें राजाका अभिषेक-संवत्सर रहता था। परमेश्वरवर्मा प्रथमके प्रतिद्वंदी चालुक्य राजा विक्रमादित्यके एक ताम्रलेखमें शकाब्द ५९६ वैशाख पूर्णिमा (२५ अप्रैल ६७४ ई०) दिया हुआ है।

२. कलिंग-राज्य

सातवीं शताब्दीमें मध्य-जावाकी समृद्धि बढ़ी, किंतु अब भी तारुमाका राज्य मौजूद था। अब मध्य-जावामें कलिंग राज्य स्थापित हो गया था। इसी राज्यके समय देओङ्के मंदिर बनाये गये। कलिंगके पूर्वमें जंगलराज्य था, जहाँ सबसे पुराना संवत्सरांकित अभिलेख मिला है। यह अभिलेख ६५४ शकाब्द (७३२ ई०) का है और पल्लव-लिपिमें लिखा हुआ है। भाषा और लिपि दोनोंमें यह कंबोजके राजा भववर्माके हन्-चे वाले शिलालेखसे मिलता है। इसमें लिखा गया है, कि वहाँ कुंजरकुञ्जके पवित्र तीर्थके मंदिरकी अनुकृतिपर एक शैव देवालयका पुनर्निर्माण किया गया था। कुञ्जरकुञ्ज दक्षिण-भारतमें अगस्त्याश्रमके तौरपर विख्यात स्थान था। देओङ् और जंगलके देवालय समकालीन थे। उस समय पिता-पुत्र सन्नह और संजय कलिंगके राजा थे। संजयने जावाके बाहर भी दिग्विजय की थी। पूर्वी जावामें अवस्थित दिनया-नम्रातके ६८२ शकाब्द (७६० ई०) के शिलालेखमें अगस्त्य ऋषिकी काले पाषाणकी मूर्त्ति स्थापित करनेकी बात कही गयी है—

"स्वस्ति शकवर्षातीत (६८२)

आसीत् नरपतिः धीमान् देवसिंहः प्रतापवान्। येन गुप्तः परीभाति पूतिकेश्वरपाविता॥

लिम्बः अयितनयः तस्य गजयानः इति स्मृतः। ररक्ष स्वर्गगे ताते सुतान् पुरुषान् मह॥

लिम्वस्य दुहिता जज्ञे प्रदपुत्रस्य भूपतेः। उत्तेजना इति महिषी जननी यस्य धीमतः॥

आननः कलशजे भगवति अगस्त्ये भक्तः द्विजातिहितकृद् गजयानना(मा)।

मौलैः सनायकगणैः समकारयत् तद् रम्यम् महर्षिभवनं बलहाजिरिभ्यः॥

पूर्वैः कृता तु सुरदारुमयी समीक्ष्य कीर्त्तिप्रियः तलगतप्रतिमां मनस्वी।

आज्ञाप्य शिल्पिनमरं स च दीर्घदर्शी कृष्णाद्भुतोपलमयीं नृपतिः चकार ॥
राज्ञागस्तः शकाब्दे नयनवसुरसे मार्गशीर्षे च मासे
आर्द्रस्थे शुक्रवारे प्रतिपद्दिवसे पक्षसन्धौ ध्रुवे. . .।
ऋत्विग्भिः वेदविद्भिः यतिवरसहितैः स्थापकाद्यैः सभौमैः ।
कर्मज्ञैः कुम्भलग्ने सुदृढ़मतिमता स्थापितः कुम्भयोनिः ॥
क्षेत्रं गावः सुपुष्पाः महिषगणयुताः दासदासीपुरोगाः
दत्ता राज्ञा महर्षिप्रवरचरुहविस्स्नानसम्बर्धनादि ।
व्यापारार्थं द्विजानां भवनमपि गृहमुत्तरं चाद्भुतं च ॥
विश्रम्भायातिथीनां यवयविकशम्याच्छादनैः सुप्रयुक्तम् ॥
ये बान्धवाः नृपसुताः च समन्त्रिमुख्याः दत्ते नृपस्य यदि ते प्रतिकूलचित्ताः ।
नास्तिक्यदोषकुटिलाः नरके पतेयुः न अमुत्र च नेह च गतिं लभन्ते ॥
वंश्याः नृपस्य रुचिताः यदि दत्तिवृद्धौ आस्तिक्यशुद्धमतयः. . .पूजाः ।
दानाद्यपुण्ययजनाद्धययनादिशीलाः रक्षन्तु राज्यं (मखिलं) नृपतिः यथैवम् ॥"

मध्य-जावामें समुद्रतलसे साढ़े छ हजार फुटकी ऊँचाईपर अवस्थित दिओङका मैदान वस्तुतः एक ज्वालामुखीका मुख-विवर है। इसकी लंबाई ८००० और चौड़ाई २५०० फुट है। यह जावाके उन प्रदेशोंमें है, जहाँ तापमान हिमविन्दुसे नीचे जाता रहता है। मैदानके चारों ओर पहाड़ हैं। किसी समय यहाँ मैदानके स्थानपर सरोवर रहा होगा, आज भी यह सरोवर बन जाता, यदि पानीके निकासके लिये नहर न बनायी गयी होती। आठवीं शताब्दीके हिन्दुओंने यहाँ पानीका निकास बनाया था, जिसके पाषाण अब भी मिलते हैं। पर्वतके ऊपर पहुँचनेके लिये पत्थरकी सीढ़ियाँ थीं। देओङके मंदिर पाण्डवोंके मंदिरके नामसे विख्यात हैं। वह जावाके सबसे पुराने मंदिरोंमें हैं। मूर्त्तियाँ शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंकी हैं। एक यूरोपीय लेखकने[1] देओङके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए लिखा है—

"मैंने यहाँ आजतक देखी हरेक वस्तुसे बिल्कुल ही विलक्षण एक शांत मैदान देखा। भीमका मन्दिर बायीं ओर खड़ा था और अर्जुनके मंदिर-समूह दाहिनी ओर। पहाड़ और आकाशकी पृष्ठ-भूमिमें उनके गहरे मटमैले रंगका हरी पृथ्वी और नीले आकाशके रंगके साथ अद्भुत मेल था। एक क्षणके लिये आकाशकी स्वच्छताके कारण वे इतने समीप मालूम पड़ते थे, मानों मैं उन्हें छू सकता था, किन्तु दूसरे ही क्षण वह बहुत दूर होते, इतनी दूर कि वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता था।. .किसी समय प्रभु, स्नोयो, बिस्मो, नोगोसरी और जिमतके पाँच पहाड़ोंसे घिरा यह मैदान उबलते लावाका सरोवर था।. .मैदानके चारों ओर और पहाड़ोंकी ढलान यहाँ तक कि प्रभुकी चोटी तक पर पुराने ध्वंसावशेष हैं। लोक-प्रचलित कथानकके अनुसार एक जगहके गड़े पाषाण-स्तम्भोंमें अर्जुन अपने हाथियोंको बाँधता था। उसकी गायें पंगोननपर चरकर रातके वक्त पगर कंदनकी गुहामें विश्राम करती थीं। कहीं राखकी तह पड़ी हुई मिलती है, जो आग लगनेका परिचय देती है, और जिसमें कभी-कभी सोनेकी अंगूठी, कंकण तथा दूसरे आभूषण मिल जाते हैं। प्राचीन कालकी पुष्करिणियाँ, दीवारें, सीढ़ियाँ, घरोंकी नीवें इन मंदिरोंके चारों ओर मिलती हैं।. ."

---

[1]J. E. Scheltema: "Monumental Java, pp. 47-48

§४. शैलेन्द्र-काल

श्रीविजयके बारेमें सुमात्राका वर्णनके समय कुछ लिखा जा चुका है। मध्य-सुमात्राका यह नगर आठवीं शताब्दीके अंतमें तत्कालीन सभ्य जगतमें सुविख्यात था। श्रीविजयके शैलेन्द्र राज-वंशके बारेमें चीनियों एवं अरबोंने बहुत लिखा है। नालंदाकी खुदाईमें एक ताम्रपत्र मिला था, जिसमें श्रीविजयके शैलेन्द्र राजाका वर्णन था, किन्तु यह पता लगानेमें बहुत समय लगा, कि श्रीविजय सुमात्राके पलेम्बङ्कका पुराना नाम है। शैलेन्द्रोंके इतिहासकी कितनी ही बातें भिन्न-भिन्न अभिलेखोंसे मालूम हुई हैं। मलायाद्वीपके लिगोर स्थानमें ७७५ ई० का एक अभिलेख मिला है, इसमें श्रीविजयेन्द्र राजाके ईटके तीन बौद्ध-मंदिरोंके निर्माणकी बात है। राजस्थविर (राजगुरु) जयन्तको तीन स्तूप बनानेके लिये राजाने आज्ञा दी थी। जयन्तके मरनेके बाद उसके शिष्य-उत्तराधिकारी अधिमुखने पुराने तीन चैत्योंके पास ईटके दो स्तूप बनवाये।

१. शैलेन्द्र-वैभव

जावाके कलसन् स्थानका अभिलेख निम्नप्रकार है—

"नमो भगवत्यै आर्य्यतारायै ॥

या तारयत्यमितदुःखभवाब्धिमग्नं लोकं विलोक्य विधिवत् त्रिविधैरुपायैः।
सा वः सुरेन्द्रनरलोकविभूतिसारं तारा दिशत्वभिमतं जगदेकतारा ॥
आवर्ज्य महाराजं पणं पणंकरणं...।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवनं हि कारितं श्रीमत् ॥
गुर्वाज्ञया कृतज्ञैस्तारादेवी कृतापि तद्भवनम्।
विनयमहायानविदां भवनं चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥
पङ्कुरतवानतीरिषनामभिरादेशशस्तिभी राज्ञः।
ताराभवनं कारितमिदमपि चाप्यार्य्यभिक्षूणां ॥
राज्ये प्रवर्द्धमाने राज्ञः शैलेन्द्रवंशतिलकस्य (।)
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवनं कृतं कृतिभिः
शकनृपकालातीतै वर्षशतैः सप्तभिर्म्महाराजः।
अकरोद्गुरुपूजार्थं ताराभवनं पणंकरणः ॥
ग्रामः कालसनामा दत्तः संघाय साक्षिणः कृत्वा।
पङ्कुरतवानतीरिषदेशाध्यक्षान्महापुरुषान् ॥
भूदक्षिणेयमतुला दत्ता संघाय राजसिंहेन।
शैलेन्द्रवर्मभूपैरनुपरिपाल्यार्यसन्तत्या ॥
सुन्नपंकुरादिभिः सत्तवानकादिभिः।
सुन्नप्तीरिषादिभिः पतिभिश्च साधुभिः ॥
अपिच ॥
सर्वानेवागामिनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते राजसिंहः।
सामान्योयन्धर्म्मसेतुर्नराणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ॥

अनेन पुण्येन विहारजेन प्रतीत्य जातार्थविभागविज्ञाः ।
भवन्तु सर्वे विभयोपपन्ना जना जिनानामनुशासनस्थाः ॥
करिलयानपणं करणं श्रीमानभियाचते भाविनृपान् ।
भूयो भूयो विधिवद्विहारपरिपालनार्थमिति ॥"

इस अभिलेखमें शैलेन्द्र राजगुरुके तारा-मंदिर निर्माणकी बात लिखी है। शैलेन्द्र राजा पणंकरणने शकाब्द ७०० (७७८ ई०) में तारा-मंदिर बनवाया और कालसगाँवके साथ उसे भिक्षुसंघको दे दिया ।

शैलेन्द्र राजाओंकी बौद्धधर्ममें अनन्यभक्ति देखकर पालवंशीय राजा स्मरण आते हैं। शैलेन्द्र महायानी तथा तान्त्रिक बौद्धधर्मके अनुयायी थे। उस समय मगध और नालंदा तंत्रयानके केन्द्र थे। सातवीं सदीके आरंभ ही में नालंदा-विहार दिगंतविख्यात हो गया था। शैलेन्द्रोंका नालंदाके प्रति कितना सम्मान था, यह उनके एक ताम्रपत्रसे मालूम होता है। यह ताम्रपत्र नालंदाकी खुदाईमें १९२१ में मिला था, जिसमें सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्री बालपुत्रदेव द्वारा बनवाये गये नालंदाके एक विहारके लिये राजादेवपालसे कहकर राजगृह-विषय (जिले) के नंदिबनक, मणिवाटक, नटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया-विषय (जिले) के पालामक गावोंके दानका वर्णन है। ताम्रपत्रके कुछ अंश निम्न प्रकार हैं —

"विदितमस्तु भवतां यथोपरिलिखितस्वसम्बद्धाविच्छिन्नबलोपेतं नन्दिवनकग्राम । मणिवाटकग्राम । नटिकाग्राम । हस्तिग्राम । पालामकग्रामाः. . मातापित्रोरात्मन(श्च) पुण्ययशोभिवृद्धये ॥ सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबालपुत्रदेवेन दूतकमुखेन वयं विज्ञापिताः यथा मया श्री नालंदायां विहारः कारितस्तत्र भगवतो बुद्धभट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादिसकलधर्म्मनेत्रीस्थानस्यार्थे तांत्रिकबोधिसत्त्वगणस्याष्टमहापुरुष-पुद्गलस्य चतुर्द्दिशार्य्यभिक्षुसंघस्य (व)लिचरुस त्रिचीवरपिण्डपातशयनासनग्लानप्रत्ययभैषज्याद्यर्थं धर्मरत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य च खन्डस्फुटितसमाधानार्थं शासनीकृत्य प्रतिपादितः । . .

"आसीदशेषनरपालविलोलमौलिमालामणिद्युतिविबोधितपादपद्म ।
शैलेन्द्रवंशतिलको यवभूमिपालः श्रीवीरवैरिमथनानुगताभिधानः[1] ॥
हार्म्यस्थलेषु कुमुदेषु मृणालिनीषु शङ्खेन्दुकुन्दतुहिनेषु पदन्दधाना ॥
निःशेष दिङ्मुखनिरन्तरलब्धगीतिः मूर्त्तेव यस्य भुवनानि जगाम कीर्त्तिः ।
भ्रूभङ्गे भवति नृपस्य यस्य कोपाग्निर्भिन्नाः सह हृदयैर्द्विषां श्रियोपि ।
वक्राणामिह हि परोपघातदक्षाः जायन्ते जगति भृशङ्गतिप्रकाराः ।
तस्याभवन्नयपराक्रमशीलशाली राजेन्द्रमौलिशतदुर्ल्ललिताङ्घ्रियुग्मः ।
सूनुर्युधिष्ठिरपराशरभीमसेनकर्ण्णार्ज्जुनार्ज्जितयशाः समराग्रवीरः ।
उद्धतमम्बरतलाद्युधि सञ्चरन्त्या यत्सेनयावनिरजः पटलं पदोत्थम् ।
कर्ण्णानिलेन करिणां शनकैर्वितीर्ण्णै गंण्डस्थलीमदजलैः शमयांबभूव ।

---

[1]पल्लवराज महेंद्रवर्मा प्रथम (६००-३० ई०) के "मत्तविलास प्रहसन" से मिलाइये—
"पल्लवकुलकुलधरणिमंडलकुलपर्वतस्य सर्वनयविजितसमस्तसामन्तमंडलस्य आखंडलसम पराक्रमश्रियः श्रीमहिमानुरूपदानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्रीसिंहविष्णुवर्म्मणः पुत्रः शत्रुषड्वर्ग विग्रहपरः परहितपरतन्त्रतया महाभूतसधर्मा महाराजश्री महेन्द्रविक्रमवर्मा ।"

अकृष्णपक्षमेवेदमभूद्भुवनमण्डलं । कुलन्दैत्याधिपस्येव यद्यशोभिरनारतम् ॥
पौलोमीव सुराधिपस्य विदिता सङ्कल्पयोनेरिव
[प्रीति]: शैलसुतेव मन्मथरिपोर्ल्लक्ष्मीर्मुरारेरिव ।
राज्ञः सोमकुलान्वयस्य महतः श्रीधर्म्मसेतोः सुता
तस्याभूदवनीभूजोऽग्रमहिषी तारेव ताराह्वया ॥
मायायामिव कामदेवविजयी शुद्धोदनस्यात्मजः
स्कन्दोनन्दितदेववृन्दहृदयः शम्भोरुमायामिव ।
तस्यां तस्य नरेन्द्रवृन्दविनमत्पदारविन्दासनः
सर्वोर्व्वीपतिगर्वखर्व्वणचणः श्रीबालपुत्रोऽभवत् ।
नालन्दागुणवृन्दलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोदने-
र्बुध्वा शैलसरित्तरंगतरलां लक्ष्मीमिमां शोभनाम् ।
यस्तेनोन्नतसौधधामधवलः सङ्घार्थमित्रश्रिया
नानासद्गुणभिक्षुसंघवसतिस्तस्यां विहारः कृतः ॥
भक्त्या तत्र समस्तशत्रुवनितावैधव्यदीक्षागुरुं
कृत्वाशासनमाहितादरतया सम्प्रार्थ्य दूतैरसौ ।
ग्रामान् पञ्च विपञ्चितोपरि यथोद्देशानिमानात्मनः
पित्रो(र्ल्लो)कहितोदयाय च ददौ श्रीदेवपालं नृपं ॥
यावत्सिन्धोः प्रबन्धः पृथुलहरजटाक्षोभिताङ्गा च गङ्गा
गुर्व्वी धत्ते फणीन्द्रः प्रतिदिनमचलो हेलया यावदुर्व्वी ।
यावच्चास्तोदयाद्री रवितुरगखुरोद्घृष्टचूडामणी स्तस्,
तावत्सत्कीर्तिरेषा प्रभवतु जगतां सत्क्रियां रोपयंती ॥"

इन कतिपय अभिलेखोंसे पता लगता है, कि ७७५ ई० में लिगोर (नगर, श्रीधर्मराज) में शैलेंद्रोंका अधिकार था। कलसन्का अभिलेख बतलाता है कि ७७८ ई० में जावापर भी शैलेंद्र-वंशका शासन स्थापित हो चुका था। ७७४, ७८४ ई० में चंपापर शैलेंद्रोंने आक्रमण किया था, ७९९ ई० में वहाँके भद्रेश्वर देवालयके लूटनेकी भी बात आती है; लेकिन ८०२ ई० में कंबोजमें नया राजवंश स्थापित करते हुए जयवर्म्मा द्वितीय (८०२-६९) कंबोजको जावा (शैलेन्द्र) के शासनसे मुक्त हुआ बतलाता है। हो सकता है कंबोजके मुक्त होनेपर भी चम्पापर अब भी शैलेन्द्रोंका आधिपत्य रहा हो। नालन्दा-ताम्रपत्र देवपालके उन्तालीसवें वर्ष (८४१ ई०) का है, उस समय मलयद्वीप, जावा और सुमात्रा प्रतापी शैलेन्द्रोंके हाथमें थे।

९२५ ई० में शैलेन्द्र जावा छोड़नेके लिये मजबूर होते हैं। दसवीं सदीके आरंभमें जावामें सिन्दोक राजा शक्तिशाली होता है। कम्बोज भी अब स्वतंत्र और बलवान् है। आठवीं शताब्दीके अंतमें पल्लवोंका ध्वंस करके दक्षिण-भारतमें चोल-राजवंश अपनी शक्ति बढ़ाता है। परान्तक प्रथम ९०७ ई० में अपनी विजययात्रा आरंभ करता है और महान् राजराज (९८५-१०१४ ई०) सारे दक्षिणको अपने अधीन कर लेता है। उसका पुत्र राजेन्द्रचोल (१०१४–४४) तो बंगाल तक अपनी राज्यसीमा बढ़ाता है। चोलोंका सामुद्रिक बल भी स्थलके समान ही विशाल था। उस समय लंका (सिंहलद्वीप) उनकी दयापर निर्भर करता था। बंगालकी खाड़ीको वह चोल-सरोवर बनाना चाहते थे और उनकी नौवाहिनी

वर्मा, मलाया और सुमात्रा तक धावा बोलती थी। ये थीं मजबूरियाँ, जिनके कारण शैलेन्द्रोंको जावा छोड़ना पड़ा। शैलेन्द्रों और चोलोंकी आपसमें लड़ाई भी होती रही और कभी-कभी मैत्री भी। चोल राजराजने नागपट्टनमें शैलेन्द्रराज मारविजयोत्तुंगवर्माके बनवाये चूड़ामणिविहारके लिये १००५ ई० में **अनयमंगल** नामक ग्राम प्रदान किया था, जिसे उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोलने भी पुनः स्वीकृत किया। बालपुत्रवर्माकी भाँति ही उसके उत्तराधिकारी मार-विजयोत्तुंगवर्माको भी भारतमें बौद्धविहार बनवानेकी उत्कट इच्छा थी।

तेरहवीं शताब्दीके मध्य तक शैलेन्द्र वंश मलय और सुमात्रापर प्रभुता रखता था। अंतिम शैलेन्द्र-राजा चन्द्रभानुको फिरसे दिग्विजयकी लालसा हुई थी और उसने १२३६ एवं १२५६ ई० में दो बार सिंहलपर आक्रमण किया था। सिंहल-इतिहास "चुल्लवंस" सुमात्रा और जावामें भेद न कर—और जावापर अब भी शैलेन्द्रोंका अधिकार-सा समझते—इस आक्रमणके बारेमें लिखता है[1]:—

"राजा पराक्रमबाहु द्वितीयके ग्यारहवें वर्षमें जावक राजा चन्द्रभानु बौद्धयात्राके बहाने सेना ले कक्खला (नदी) पर उतरा। जावक सैनिकोंने विषाक्त वाणका प्रयोग करते हुये धोखेसे नदीके सारे घाटोंपर अधिकार कर लिया और अपने प्रतिद्वंद्वियोंको हराकर सारे सिंहलको लूटा। किन्तु, उपराज वीरबाहुने कई लड़ाइयोंमें उन्हें हराकर देश छोड़नेके लिये मजबूर किया। कुछ वर्षों बाद चन्द्रभानु फिर महातीर्थ (मातर) में उतरा। इस समय उसकी सेनामें बहुतसे पाण्ड्य, चोल तथा दूसरे तमिल सैनिक भी थे। आरंभमें कुछ सफलता हुई, किन्तु अन्तमें विजय-बाहु और वीरबाहुके नेतृत्वमें सिंहल-सेनाने उसे पूर्णतया पराजित किया। राजा चन्द्रभानु अपने परिवार एवं निधिको विजेताओंके हाथमें छोड़ किसी तरह जान लेकर भागा।" १२६४ ई० में जटावर्मा वीरपाण्ड्य (मदुराके राजा) ने भी जावक सेनाके हरानेकी बातका उल्लेख किया है। पांड्य राजाने कडारम्के राजाकी पराजय एवं मृत्युका उल्लेख किया है, जान पड़ता है, चित्र-भानुके सिंहलपर अभियानके लिये वीर पाण्ड्यकी सेनाने सहायता की थी, किन्तु पीछे दोनोंमें झगड़ा हो गया। अपने इस अभिलेखमें पांड्यराजाने गर्वके साथ कहा है—"मैंने चोलदेश, सिंहल और चावक (जावा) के मुकुट एवं मुकुटबद्ध सिरको ले लिया।"

मलयद्वीप पर चित्रभानुका शासन था, यह उसके च(ज) इयाके शिलालेखसे मालूम होता है।

१२६४ ई० के बाद शैलेन्द्रवंशका शीघ्रतासे पतन होने लगा। जावाके राजा कृतनगरने मलयप्रायद्वीपमें पाहङ्को जीता और १२७५ ई० में सुमात्राके भीतर मलयू (जम्बी) पर अधि-कार कर लिया; किन्तु कृतनगरकी सफलता चिरस्थायी नहीं रही। श्रीविजय अब भी छोटे रूप-में बना रहा, मलयू अब उसकी प्रतिद्वंद्वी शक्ति थी। उधर (थाई) स्यामके रूपमें एक नई शक्ति स्थापित हुई और १२९२ ई० के पहले ही स्यामके राजा राम खमेङ्ने लिगोरपर अधिकार कर लिया। मंगोलोंकी प्रभुताके समय श्रीविजयने उनकी अधीनता स्वीकार करके अपना अस्तित्व बनाये रखनेकी कोशिश की। जावा समीपमें था, इसलिये दूर बैठा चीन श्रीविजयकी कहाँतक रक्षा करता? श्रीविजयके अवसानके बारेमें १३९७ ई० की स्थिति बताते हुए मिङ-वंशके इतिहासने लिखा है—"इस समय जावाने श्रीविजयको पूरी तरहसे जीत लिया और उसका

---

[1]चुल्लवंश, अध्याय ८८

नाम बदलकर कूकङ रख दिया। श्रीविजयके नष्ट होनेपर सारे देशमें अराजकता छा गयी। जावावाले नियंत्रण नहीं कर सके, इसलिए स्थानीय चीनियोंने तैयार हो अपनेमेंसे एकको अपना मुखिया चुना।....." शैलेन्द्रवंश पीछे भी केदाके हिंदू राजाके रूपमें रहा, और १४७४ई० में मुसलमान बनके अबतक वहाँके सुल्तानके रूपमें मौजूद है।

× × × ×

शैलेन्द्र राजवंश इंदोनेसियाका गुप्तवंश था। एक समय सारी इंदोनेसिया ही नहीं, बल्कि हिन्दीचीनपर भी उसका प्रभुत्व था। वह अपने समयकी सबसे बड़ी सामुद्रिक शक्ति रहा। आठवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे दसवीं सदीके मध्यतक उसके उत्कर्षका मध्याह्न था। चीनी एवं अरब लेखक शैलेन्द्रोंके प्रतापका खूब बखान करते हैं। अरब सौदागर सुलेमान (८५१ ई०) ज़ाबक (जावा) राज्यके बारेमें लिखता है—

"कला-बार (क्रा) ज़ाबक (जावा) राज्यका एक भाग है। ज़ाबक-राज्य भारतसे दक्षिण है। कला-बार एवं ज़ाबक दोनोंका एक ही राजा है।"

इब्न रोस्ताने ९०३ ई० के आसपास लिखा था—

"ज़ाबकका महान् शासक महाराजा (शाहंशाह) कहलाता है। वह भारतके राजाओंमें सबसे बड़ा इसीलिये नहीं माना जाता, कि वह द्वीपोंका निवासी है। उसके जैसा धनी एवं शक्तिशाली कोई दूसरा राजा नहीं है, और न किसीकी उतनी बड़ी आमदनी है।"

सुलेमान (८५१ ई०) के वर्णनपर अपनी ओरसे भी जोड़ते हुये अबू-ज़ैद हसनने ९१६ ई० में लिखा था—"ज़ाबक (जावा) और चीनके भीतर समुद्रसे एक महीनेका रास्ता है, जो हवा अनुकूल हो तो और भी कम हो सकता है। इस नगर (जावा) के राजाकी उपाधि महाराज है। राज्यका क्षेत्रफल ९०० फर्सकके करीब है। राजा और भी बहुतसे द्वीपोंका स्वामी है, जो हजार या अधिक फर्सक लंबे हैं। जिन देशोंपर वह शासन करता है, उनमेंसे एक द्वीपका नाम श्रीबुज़ (श्रीविजय) है, इसका क्षेत्रफल ४०० फर्सकके करीब है। ८०० फर्सक क्षेत्रफलका रामीद्वीप भी उसके अधीन है। अरब और चीनके पथके आधे-आधमें अवस्थित कला (क्रा) का समुद्रतट-वर्त्ती देश भी इसी महाराजाके अधीन है। कलाका क्षेत्रफल ८० फर्सकके करीब है। कला (क्रा) नगर अलो, कपूर, चंदन, हाथीदाँत, राँगा, मसाला और दूसरी नाना भाँतिकी वस्तुओंके व्यापारका भारी केन्द्र है। इस बंदरगाह और उम्मा (अरब) के बीच बराबर सामुद्रिक यातायात होता रहता है। महाराजा इन सारे द्वीपोंका स्वामी है। जिस द्वीपमें वह रहता है, वह एक छोरसे दूसरे छोर तक बहुत घना बसा हुआ है।"

अल्-बेरूनी (१०३० ई०) ने लिखा है—

"इस समुद्रमें भारतकी अपेक्षा चीनसे अधिक समीप कितने ही द्वीप हैं, जिन्हें हिन्दू लोग सुवर्णद्वीप कहते हैं। जावाज (जावा) के द्वीप इसीलिये सुवर्णभूमि कहे जाते हैं, कि उस देशकी थोड़ी-सी मिट्टी धोनेपर बहुत-सा सोना निकलता है।"

शैलेन्द्रवंशकी मूलराजधानी कहाँ थी, या उसका मूलस्थान कहाँ था, इसके बारेमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। मूलस्थान श्रीविजयके पलेम्बङ (सुमात्रा) में होनेकी बड़ी संभावना है, किन्तु शैलेंद्रोंके बनाये भव्य देवालय और बरोबुदूर जैसा अद्भुत स्तूप सुमात्रा नहीं जावामें है। सुमात्राकी अपेक्षा तो उनकी इमारतोंके अवशेष मलयमें अधिक हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि ये मूलतः जावाके थे, प्रधानता प्राप्त करनेसे पहले विवाहके द्वारा उनका संबंध श्रीविजयसे

हो गया था। एक और प्रश्न उठता है—सातवीं सदीतक सुवर्णद्वीप और सुवर्णभूमिमें सब जगह हीनयान फैला हुआ था, जैसा कि चीनी यात्रियोंने लिखा है। फिर आठवीं सदीमें शैलेन्द्रोंके साथ ही महायान वहाँ कैसे छा गया? उस समय उत्तरी भारतमें महायानकी प्रधानता थी। क्या महायान और उत्तर-भारतकी लिपिके साथ शैलेन्द्रवंश भी उत्तर-भारतसे वहाँ गया? कलिंग और मलयद्वीपको भी शैलेन्द्रोंके मूलस्थान होनेकी संभावना बतलायी जाती है। हम जानते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी तक उत्तरी बर्मामें महायानकी प्रधानता थी, किन्तु दक्षिणी बर्मा उस समय हीनयानका अनुयायी था। हीनयानका सातवीं शताब्दी तक जो सारे सुवर्ण-द्वीपमें विस्तार था, उसीका यह अवशेष रह गया था, जिसने फिर सारे बर्माको हीनयानी (स्थ-विरवादी) बनाया। महायानी शैलेन्द्र महायानी उत्तरी बर्मासे आये, इसकी संभावना कम है। शैलेन्द्रवंशका विचित्र प्रादुर्भाव है, वह न जाने कहाँसे एकाएक सुवर्णभूमिमें आकर छा गया।

२. शैलेन्द्र-वास्तुकला

(१) **चंडी कलसन्**—शैलेन्द्रोंकी सबसे अद्भुत कृति बरोबुदूरका महाचैत्य है, किन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। उनका सबसे पुराना वास्तुकला-संबंधी अभिलेख परंबनं-उपत्यकामें चण्डीकलसन् (कलसन-मंदिर) है, जिसका ७७८ ई० का शिलालेख बतलाता है, कि उसे एक शैलेन्द्रराजाने ताराके लिये बनवाया। इस शिलालेखको हम अन्यत्र उद्धृत कर चुके हैं। अभिलेखमें कलसगाँवके दानकी बात है, इसीलिये मंदिरका नाम चण्डीकलसन् (चंडीका मंदिर) पड़ा। शताब्दियोंकी उपेक्षा ही नहीं, धर्मान्धताके कारण भी मंदिरका बहुत कम भाग बच रहा है; किन्तु जो कुछ बचा है, उससे इसे वृहत्तर भारतीय वास्तुकलाका एक श्रेष्ठ नमूना कहा जा सकता है। मंदिर एक चौकोर चबूतरेपर खड़ा है, जो बाहरकी ओर बारह फीट तक निकला हुआ है। मंदिरका मुख्य भाग भी वर्गाकार है। प्रधान द्वारके ऊपर विशाल कीर्ति-मुख बना है, जिसके मुखसे पाँच कमल लटकते हैं। द्वारपर बहुत-सी सुन्दर मूर्त्तियाँ अंकित हैं। द्वारके ऊपर सबसे नजदीक पुष्पधारिणी एक देवीकी मूर्त्ति है। द्वारकी दोनों तरफकी दीवारोंके ऊपरी भागपर सुन्दर रूपावली है। छत जहाँसे आरंभ होती है, वहाँ पाँतीसे बुद्ध-मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं।

मंदिरके भीतरका भाग साढ़े ग्यारह वर्गफीट है। पीछेकी दीवारमें आसनपीठ हैं, जिनमें कभी तीन मूर्त्तियाँ बैठायी हुई थीं; किन्तु अब उनका पता नहीं है। पिछली दीवारमें एक सिंहासन अब भी मौजूद है, जिसपर कभी मंदिरकी प्रधाना तारादेवी आसीन थीं। मंदिरपर पहिले पलास्तर था।

(२) **चण्डीसरी**—चण्डी-कलसन्से आध मीलपर चण्डी-सरी (या चंडीबेन्दा) का मंदिर है। यह उन्नीस गज लंबी, ग्यारह गज चौड़ी एक चतुष्कोण इमारत थी। मंदिर बहुत ध्वस्त हो चुका है। बचे-बचाये अवशेषको लोग सदियोंसे मकान बनानेके लिये लेते रहे। यह दोतल्ला इमारत है। इसे चारों तरफ सुन्दर मूर्त्तियोंसे अलंकृत किया गया था। दोनों तल्लोंपर तीन तीन सिंहासन हैं, जिनपर कभी बौद्ध-मूर्त्तियाँ रक्खी थीं। मूर्त्तियाँ जो अब भी बच रही हैं, वह बहुत सुंदर हैं।

(३) **चंडी-सेवू**—चण्डी-सरीके बाद चण्डी-लंबं एवं चण्डी-सेवूके मंदिर भी शैलेन्द्र वास्तु और मूर्त्ति-कलाके सुंदर नमूने हैं। यहाँ ७८२ ई० का अभिलेख मिला था, जिससे ये मंदिर

शैलेन्द्रोंके आरंभिक कालके बनाये हुये मालूम होते हैं। चण्डी-सेवू बरोबुदूरके बाद सबसे बड़ी बौद्ध इमारत है। दो सौ गज लंबे एवं १८० गज चौड़े आँगनके चारों तरफ १६८ मंदिरोंकी दोहरी पक्तियाँ हैं। मुख्य-मंदिर आँगनके बीचम दो पंक्तिमें बने दूसरे ७२ मंदिरोंसे घिरा था, अर्थात् मुख्य-मंदिरके चारों तरफ २४० और मंदिर बने हुए थे। वहाँ पाँच और मंदिरोंके चिन्ह मिलते हैं। इस प्रकार सब मिलकर चण्डी-सेवूमें २५० मंदिर थे। इन मंदिरोंका बहुत ही थोड़ा-सा भाग बच रहा है। एक मंदिरके ऊपर लिखा हुआ है :—

"महाप्रत्तय सन् रङ् गुङ् तिङ्"—अर्थात् रङ् गुङ् तिङ्का दान। इस तरहके लेख दूसरे मंदिरोंपर भी मिले हैं, जिनसे पता चलता है, कि उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंने बनवाया था। मुख्य-मंदिर ४० वर्गगजके एक ऊँचे चबूतरेपर खड़ा है। इसकी चारों दिशाओंमें चार दरवाजे हैं। और बातोंमें यह चण्डी-कलसनूके समान है। मंदिरकी दीवारोंको फूल, प्राणि एवं दूसरी वस्तुओंसे अलंकृत किया गया है। एक शताब्दी पहले एक दर्शकने चण्डी-सेवूके बारेमें लिखा था कि इसकी कला बड़ी ही सुरुचिपूर्ण, कोमल और परिमार्जित है। दर्शकने जो चीजें उस समय देखी थीं, उनमेंसे अधिकांश यहाँसे लुप्त हो चुकी हैं; किन्तु जो कुछ अवशिष्ट है, उससे उसकी बात प्रमाणित होती है। मंदिरके भीतर पीतलकी एक विशाल अंगुली मिली थी, जिससे जान पड़ता है, कि मुख्य-मूर्त्ति इसी धातुकी थी। सेवू-मंदिरकी कला-कृतियोंकी लूटके बारेमें लिखते हुए एक विद्वान्ने लिखा है[1]:—

"(डच) अफसरोंने लूटने, बेगार द्वारा वस्तुओंके हटानेमें जरा भी आनाकानी नहीं की...। जो भी अच्छी वस्तु अलग करके हटाई जा सकती थी, लुप्त हो चुकी है। अधिकारारूढ़ व्यक्तियोंने अपने अधिकारका उपयोग हर चीजपर हाथ साफ करनेमें किया है। गैरसरकारी व्यक्तियोंने तो आज्ञा या बिना आज्ञाके सिर्फ शिला चुननेका काम किया। आसपासके चीनी मिलोंके स्वामियोंने पुरानी कलाके नमूनोंका बहुत सुन्दर संग्रह किया है। उन्होंने जो कुछ उड़ाया, उसके बारेमें सन्तोष तो है, कि वह देशमें रह गया। लुप्त वस्तुओंमें सिंहसे लड़ते कितने ही हाथी थे, जो कि दस फीट ऊँची, आठ फीट चौड़ी चौदह सीढ़ियोंके किनारे लगे हुए थे। अभी १८४१ तक वे अपनी जगह मौजूद थे, लेकिन अब उनका कहीं पता नहीं है—न लड़ते जानवरों ही का न सीढ़ियों ही का! हर जगह यही कहानी है : मूर्त्तियाँ और अलंकार चुरा लिये गये, खजाना ढूँढ़नेवालोंने बाकीको तोड़-फोड़ डाला। पत्थरोंकी सबसे बड़ी आवश्यकता समझी गई नये मकानोंके बनानेमें उनका उपयोग। कौन इन निकम्मे गिरते-पड़ते, लूटे-खसूटे-जाते मंदिरोंकी चीजोंकी रक्षाकी परवाह करता है? चण्डी-सेवूके पत्थरोंको ओपक नदीपर बाँध बनानेके लिए इस्तेमाल किया गया। यदि जनमतने मजबूर न किया होता, तो इन मंदिरोंकी भी वही दशा हुई रहती, जो चण्डी-सिंगोकी हुई। चण्डी-सिंगो इस इलाकेके बहुत सुन्दर मंदिरोंमें था। सुन्दर मूर्त्तियोंसे अलंकृत उसकी दीवारोंको देख क्रमण्ड १८४५ ई०में आश्चर्यचकित हो गया था। १८८६ तक भी उसके टूटे-फूटे अलंकरण निचले भागके साथ मौजूद थे, किन्तु अब भूमिपर उसका कोई निशान नहीं है।...."

डच-सरकारके शासनकालमें इन अद्भुत् कलानिधियोंके साथ क्या बर्ताव हुआ, इसके बारेमें और अधिक लिखनेकी अवश्यकता नहीं। डच साम्राज्यवादी तो अब गये

---

[1] J. F. Scheltema : Manumental Java, p. 220

देखें, स्वतंत्र इन्दोनेसिया क्या करती है।

चण्डी मेनूदुत् शैलेन्द्र-कालका दूसरा सुन्दर बौद्ध-मंदिर है। यह ३० गज लंबे, २६ गज चौड़े और २२ फीट ऊँचे चबूतरेपर खड़ा है। बीचमें मुख्य-मंदिर १५ वर्गगजमें अवस्थित है। दीवारोंपर कई सुन्दर मूर्त्ति-पंक्तियाँ हैं, मध्यपंक्तिके उत्तर-पूर्व पद्मासना अष्टभुजा देवीकी मूर्त्ति है; देवीके दोनों तरफ सुअलंकृत प्रभामण्डलित दो मानुष-मूर्त्तियाँ हैं, जिनके एक हाथमें कमल और दूसरेमें चमर है—देवीके दाहिनेवाले हाथोंमें शंख, वज्र, बिम्ब तथा माला है और बायेंवालोंमें परशु, अंकुश, पुस्तक और एक कोई गोल-सी चीज है। इस पंक्तिके सामनेकी तरफ पद्मसरसे तीन पद्मासन उठते दिखलाये गये हैं, जिनमें बीचवाला बाकी दोसे कुछ ऊँचा है। बीचके पद्मपर दो नागोंके सहारे मुख्य-मूर्त्ति संभवतः देवी बैठी है, जिसके चारों हाथोंमें से दो ध्यानमुद्रामें गोदमें पड़े हैं, बाकी दोमें से एकमें माला और दूसरेमें पुस्तक है। दोनों पार्श्ववर्त्ती आसनोंपर दो और मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें से एकके हाथमें फूल और दूसरेके हाथमें कमलासनपर निहित रत्न है।

पिछली दीवारकी बीचवाली रूपावलीके मध्यमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वरकी सुन्दर मूर्त्ति है।

मेनूदुत्-मंदिरमें बहुत-सी सुन्दर बुद्ध और बोधिसत्वकी मूर्त्तियाँ हैं। बुद्धकी मूर्त्तियोंमें दोनों पैर आसनसे नीचे लटके हुए हैं; बोधिसत्व ललितासन, अर्थात् उनका एक पैर नीचे लटकाये अर्द्धपद्मासन हैं। यहाँ एक दस फीट ऊँची बुद्धकी प्रतिमा एक पत्थरसे बनी हुई है। उसके पादपीठमें एक चक्रके दोनों तरफ दो मृग हैं, यही धर्मचक्र-प्रवर्त्तन (सारनाथ)को सूचित नहीं करते, बल्कि दोनों हाथ भी उसी मुद्रामें हैं। बुद्धकी मूर्त्तियाँ सीधे-सादे चीवरमें बगैर किसी सजावटके हैं, किन्तु अवलोकितेश्वर और मंजुश्रीकी मूर्त्तियाँ अच्छे वस्त्राभूषणसे अलंकृत हैं। ये तीनों ही मूर्त्तियाँ वृहत्तर भारतकी मूर्त्तिकलाके सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं—विशेषकर बुद्धकी इतनी सुन्दर मूर्त्ति तो गुप्त-काल ही में मिलती है।

मेनूदुत्-मंदिरके चारों ओर १२० गज लंबा, ५५ गज चौड़ा विशाल आँगन है, जो किसी समय दूसरे कितने ही देवालयोंसे भरा था।

चण्डी-मेनूदुत्से १२५७ गजके अन्तरपर चण्डी-पवानका मंदिर है। यदि इन दोनों मंदिरोंको मिलानेवाली रेखाको सीधे १९१३ गज और आगे बढ़ाया जाये, तो बरोबुदूरका महाचैत्य आ जाता है। जान पड़ता है, इन तीनों मंदिरोंको किसी एक योजनाके अनुसार बनाया गया था। कहावत है, कि पहले मेनूदुत्से पवान होती बरोबुदूरको एक पत्थरबिछी सड़क जाती थी। बरोबुदूरमें ध्यानी बुद्धों और बुद्धके पूर्वजन्मकी कथाओंका अंकन है, तो मेनूदुत्में उनके वर्तमान जीवनको चित्रित किया गया है।

पवान-मंदिर छोटी किन्तु अत्यन्त सुन्दर इमारत है। इसे भी पहले रूपावलियोंसे अलंकृत किया गया था, किन्तु उनका बहुत-सा भाग लुप्त हो चुका है। इसके बारेमें एक लेखकने लिखा है—"यह सुन्दर सन्तुलित आकृतिकी इमारत इस बातकी सत्यताको सिद्ध करती है, कि एक बहुत छोटी इमारतमें भी महान् वास्तुशिल्पी अपनी कलाकी विशालताको दिखला सकता है। हमारी यही कामना है कि मेनूदुत् और बरोबुदूरके बीच यह इमारत द्रविड़-शैलीमें जावी विचारोंको मूर्त्तिमान करते बहुत शताब्दियों तक बनी रहे।"[1]

पवान-मंदिरकी मूर्त्तियाँ बरोबुदूरकी शैलीमें बनी हैं।

---

[1] वही, पृ० २३०

§५. बरोबुदूर

(१) परिचय

एक अंग्रेज यात्रीने बरोबुदूरके बारेमें लिखा है[1] :—

"हम कोनेसे घूमे और रास्ता एक पहाड़के ऊपरकी ओर चला। इसी पहाड़पर बरोबुदूर बना है।....यहाँ वास्तविकताने एक भव्य स्वप्नका रूप लिया है। गोधूलिके मद्धिम पड़ते प्रकाशमें श्यामल पाषाणका यह बहुकोणक पिरामिड स्फटिक सदृश निर्मल सुवर्णके आवरणके बीचसे चमकता जान पड़ता, किसी अद्भुत रहस्यका एक शक्तिशाली मानसचित्र है। धूमिल शिखर, उभरती दीवारों और उभरी कार्निशोंपर खड़े शृङ्गोंका जंगल आकाशकी ओर झाँक रहा था। यह सब अस्त होते सूर्यकी स्वर्णमयी प्रभासे स्नात हो असीम विशाल दृश्य और अनन्त दूरीको प्रकट कर रहा था। इस सबल मूर्त्तिराशिके भीतर प्रतिबिम्बित आकाश की चकाचौंध और ठोस पत्थरमें अंकित विजयी कल्पना कितनी सुन्दर रीतिसे प्रकट की गई थी। दुनियाके किसी भी भागमें कलाको अपना रूप प्रकट करनेके लिए इतना सुन्दर स्थान, इतना अच्छा प्राकृतिक दृश्य नहीं मिला। एक अद्भुत मौलिक योजनाका इतनी कोमलतासे इस मोहक मंदिरके रूपमें निर्माण, जावी बौद्धधर्मका आनेवाली सन्तानोंके लिए यह उपहार, कितना अनमोल है और सहृदय जनोंके लिए कितने आध्यात्मिक आनन्दका स्रोत है।"

बरोबुदूरके बनानका निश्चित काल मालूम नहीं है। इतने विशाल निर्माणके बारेमें कहीं कोई अभिलेख नहीं मिला, और न किसी दूसरे अभिलेखमें उसका वर्णन आया है। मूर्त्तियोंके स्थान निर्देशके लिए कारीगरोंको सूचित करनेके जो संकेत लिखे गये थे, उन्हींके आधारपर डा० कर्नने बरोबुदूरके निर्माणका काल ८५० ई० निश्चित किया है। डा० क्रोमने और ऊहापोह करनेके बाद यह समय ७५०-८५० निश्चित किया। इस प्रकार बरोबुदूरके निर्माणका भी वही काल है, जो कि जावाके चन्दीकलसन्, चन्दीसेवू, चन्दीमेन्दुत् और चन्दीपवानके मंदिरों, तथा राष्ट्रकूटों द्वारा निर्मित हमारे कैलाश (एलोरा)का। बरोबुदूर साँची स्तूपोंकी भाँति किन्तु उससे कुछ अधिक ऊँची पहाड़ीके ऊपर अवस्थित है। वहाँसे चारों ओर केदूके हरे-भरे मैदानसे होते दूरकी पर्वतमाला दिखलाई पड़ती है। स्थान चुननेमें निर्माताओंने अपनी अद्भुत सूझका परिचय दिया है। पहाड़ीका चुना जाना सिर्फ दूरके सुन्दर दृश्योंके दर्शनलाभके लिएही उपयोगी नहीं हुआ, बल्कि उसने इस विशाल इमारतकी आधारशिलाका काम दिया। यह महान् स्तूप वस्तुतः उसी भीतरी छिपी शिलाका बाहरी कंचुक है। स्तूप चारों ओर एकके ऊपर एक सीढ़ीनुमा नव चक्करोंसे मिलकर बना है, जिनमें प्रत्येक ऊपरका चक्कर अपनेसे नीचेवालेसे थोड़ा भीतरकी ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपरी चक्करके ऊपर घंटाकार चैत्य है। नौ चक्करोंमें सबसे नीचेके छ सरल रेखाके कोणोंवाले हैं, किन्तु ऊपरी तीन वृत्ताकार हैं। छ सरल कोणवाले चक्करोंमें नीचेके चार दोनों ओर निकले हुए हैं, किन्तु ऊपरवाले दो केवल एक ओर। सबसे नीचेके चक्करकी लम्बाई १३१ गज और सबसे ऊपरकी ३० गज है। नीचेके पाँच चक्कर भीतरकी ओरसे एक बाड़से इस तरह घिरे हैं, कि एक चक्कर और उससे ऊँचेवाले चक्करके बीचमें गलियारा बन गया है। ऊपरके तीनों चक्कर स्तूपोंसे घिरे हैं।

---

[1] वही, पृ० २३-३२

इन स्तूपोंमें छिद्रित छतके नीचे बुद्धकी एक-एक मूर्त्ति बनी हुई है। नवें चक्करसे वृत्ताकार सीढ़ियाँ ऊपरी स्तूपपर पहुँचाती हैं।

बरोबदूरकी यह विशाल इमारत स्तूप है या प्रासाद, अथवा स्तूप-प्रासाद दोनों या कोई चौथी चीज; इसपर विद्वानोंने बहुत वाद-विवाद किया है। उनको यह समझमें नहीं आता कि स्तूप होनेपर वह सारी इमारतकी तुलनामें नगण्य-सी दिखलाई पड़ेगी। किन्तु बीचमें वहाँ स्तूप मौजूद है और उसके किनारेके तीन चक्कर भी स्तूपोंसे अलंकृत हैं, इसलिए इसका स्तूप या चैत्य होना स्पष्ट है। अशोक और शुङ्गकालीन साँचीके चैत्योंसे अमरावती तथा धान्यकटकके चत्यों तक हम स्तूपोंका पहला विकास देखते हैं। इस पिछले समयमें अभी मूर्त्तियोंकी प्रधानता नहीं हुई थी, बुद्ध-मूर्त्तियोंका आरंभ भर हुआ था और बोधिसत्वोंका तो अभी जन्म भी नहीं हुआ था। तीसरीसे आठवीं शताब्दीके बीचके पाँच सौ वर्षोंमें पहले महायान और पीछे तंत्रयानके रूपमें बौद्धधर्ममें भारी क्रान्ति हुई। हीनयान और महायानके सूत्रोंकी तुलनासे मालूम होता है, हीनयान और वज्रयानकी विचारधाराओं, पूजा-प्रक्रियाओं एवं देवावलियोंमें से भारी अन्तर दिखाई देता है। इन पाँच शताब्दियोंमें सीधे-सादे स्तूपोंकी अपेक्षा प्रतिमा-प्रासादोंकी ओर अधिक आकर्षण था। बरोबुदूरमें आदिम चैत्यों और पीछेके प्रतिमा-प्रासादोंका अद्भुत सम्मिश्रण है।

सबसे निचले चक्करकी दीवार इस भारी इमारतके सँभालनेमें असमर्थ समझी गई, इसलिए उसे मजबूत करनेके लिए १२० गज लंबा, सात गज मोटा और चार गज ऊँचा एक बाँध बाँधा गया। जान पड़ता है, यह प्रथम चक्करके बन जानेके बाद किया गया, इसीलिए प्रथम चक्करकी रूपावलियोंका आधा भाग इसने ढाँक दिया है और साथ ही सारे चैत्य-प्रासादके निम्न भागको कुछ असन्तुलित-सा बना दिया। चक्करोंकी दीवारोंमें रूपावलियोंके अतिरिक्त बीच-बीचमें मूर्त्ति-गवाक्ष हैं, हरेक मूर्त्ति-गवाक्षमें ध्यानी बुद्धकी एक प्रतिमा बैठी है। सारे चैत्य-प्रासादमें ऐसी ४३२ मूर्त्तियाँ हैं। ध्यानी बुद्धोंको गवाक्षोंमें रखते वक्त यह ध्यान रक्खा गया है, कि अक्षोभकी मूर्त्तियाँ पूरबवाले गवाक्षोंमें हों, रत्नसंभवकी दक्षिणमें, अमिताभकी पश्चिममें और अमोघसिद्धिकी उत्तरवाले गवाक्षोंमें। पाँचवें चक्करके गवाक्षोंमें सभी जगह वैरोचन बुद्धकी मूर्त्तियाँ हैं।

गलियारे बहुत कुछ एक-से हैं, किन्तु उनमें भीतरी बहुतसे अवान्तर भेद हैं। चक्करकी दीवारोंमें लंबी रूपावलियाँ हैं। इनके ऊपर माला आदिसे अलंकृत किनारियाँ हैं। भिन्न-भिन्न गलियारोंमें एक रूपावलीका दूसरीसे अलग करनेके अलग-अलग ढंग हैं, किन्तु सुन्दर मूर्त्ति-शिल्पका परिचय सभीमें दिया गया है। पहले गलियारेमें दोहरी रूपावलियाँ हैं, ऊपरके गलियारोंमें वह एकहरी हैं। गलियारे अधिकतर साढ़े छ फीट चौड़े हैं—पहला कुछ कम है। वह एक दूसरेसे साढ़े बारहसे आठ फीट तक ऊँचे हैं। गलियारेकी दोनों बगलोंमें, बीचमें सीढ़ीके ऊपर मेहराबदार द्वार बने हुए हैं। मेहराबके बीचमें एक कालमकर (कीर्ति)-मुख है, जिससे फूल लटक रहे हैं। द्वारके ऊपर मूर्त्ति-गवाक्षोंकी तरह मन्दिर-शिखर खड़े हैं। दरवाजोंको बड़ी सुन्दरताके साथ सजाया ही नहीं गया है, बल्कि उन्हें इस तरह रक्खा गया है, कि उनमें से किसी एकसे सभी दरवाजों और नीचेसे ऊपर तककी सीढ़ियोंका बड़ा सुन्दर दृश्य सामने आता है। वर्षा-जलके निकलनेके लिए प्रत्येक चक्करमें बीस प्रणालिकायें लगी हुई हैं, जिनमें सबसे निचली मकरमुखी है।

ऊपरके तीनों चक्कर दूसरोंकी अपेक्षा बहुत ही सीधे-सादे हैं। उनमें न कोई अलंकार है, न सजावट। इन तीनों चक्करोंके व्यास क्रमशः ५७, ४२ और ३० गज हैं और वे ३२, २४ और १६ स्तूपोंसे घिरे हैं। सारे स्तूप एक-सी सीधी-सादी बनावटके हैं—गोल चौतरेपर गोल-छल्लोंकी ऊपर-नीचे पाँतियाँ हैं, जिनके ऊपर घंटाकार चैत्य है, जिसके ऊपर छोटे-छोटे नुकीले शृंग निकले हुए हैं। स्तूपोंमें समान दूरीपर विषम चतुष्कोणवाले और सबसे ऊपरके स्तूपोंमें वर्गाकार छिद्र हैं। इन स्तूपोंमें एक-एक बुद्ध-मूर्त्ति स्थापित है, जिसे छिद्रोंसे देखा जा सकता है। किनारेवाले स्तूपोंकी भाँति बीचका स्तूप भी दोहरे विकसित कमलपर अवस्थित है, किन्तु इस स्तूपमें छिद्र नहीं हैं, उनकी जगह इसके चारों ओर लटकती मालायें तथा सजावटकी दूसरी मेखलायें हैं। स्तूपकी ऊपरी वर्गाकार वेदीके ऊपर अष्टकोण शृंग शिखरका काम देता है। शृङ्ग छोड़कर इस स्तूपकी ऊँचाई २३ फीटके करीब है, ऊपरी शृंगका बहुत ही थोड़ा भाग बच रहा था, जिसे मरम्मत करते वक्त वहाँ रख दिया गया। हो सकता है, इसके ऊपर छत्र रहा हो।

केन्द्रीय स्तूप चारों ओरसे बन्द है, किन्तु इसके भीतर एक गोल कोठरी है, जिसके ऊपर एक छोटा-सा निधान था। इस कोठरीको न जाने कब लूटा जा चुका था, इसलिए यह नहीं मालूम हो सकता, कि वहाँ कौन-सी धातु रक्खी गयी थी।

(२) अंकित दृश्य—

बरोबुदूरके गलियारोंमें सब मिलाकर १५०० रूपावलियाँ चित्रित हैं। इन रूपावलियोंमें कहीं साधारण जनताके दैनिक जीवनके चित्र हैं—युद्ध और हत्या, भिन्न-भिन्न प्राणियोंके वध और बन्धनके दृश्य हैं। कितनी ही रूपावलियोंमें नरककी भीषणता और स्वर्गका आनन्द अंकित किया गया है। कुछ दृश्योंके नीचे छोटे-छोटे लेख हैं। आचार्य सेल्वेन् लेवीने सिद्ध किया है, कि यहाँकी नीचेवाली रूपावलियाँ 'कर्मविभंग'के अनुसार अंकित की गयी हैं—'कर्म-विभंग' सुवर्णभूमिमें ही प्रसिद्ध नहीं था, बल्कि तिब्बतमें भी इस ग्रन्थका अनुवाद उसी समय हो चुका था, जब कि बरोबुदूर बनाया जा रहा था। प्रथम गलियारेकी ऊपरी पंक्तिमें ललित-विस्तरके अनुसार बुद्ध-जीवन अंकित किया गया है। प्रथम गलियारेकी निचली पंक्ति तथा दूसरे गलियारेके बायींवाली पंक्तिमें जातकोंके दृश्य अंकित हैं। इनकी कुल संख्या १३५ है। इनमें कुछ 'जातकमाला', "अवदानशतक", "दिव्यावदान" आदिसे लिये गये हैं। अभी कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिल पाया है, जिसमें इन सभी दृश्योंका पूर्ण समावेश हो। दूसरे गलियारेकी दीवारपर 'गंड-व्यूह'में वर्णित ६४ गुरु करनेवाले सुधनकुमारके जीवन-चित्र अंकित हैं। तीसरे गलियारेमें अधिकतर मैत्रेयके चरित अंकित हैं और चौथेमें शायद समंतभद्रके।

बरोबुदूरकी कला और उसमें चित्रित भावोंकी प्रशंसाके लिए शब्द पर्याप्त नहीं हो सकते। सारे चैत्य-प्रासादको देखनेके लिए अच्छा ढंग यही है, कि पहले नीचेवाले चक्करपर पहुँचकर उसके दोनों पार्श्वकी रूपावलियोंको देखा जाय; फिर सीढ़ीसे दूसरे चक्करपर पहुँचकर उसकी परिक्रमा की जाय। इसी तरह, तीसरे, चौथे और पाँचवेंको भी देखा जाय। गलियारोंमें खड़ा होकर एक तरफ गलियारेकी दीवारके चित्र मिलेंगे और दूसरी तरफ नीचेके चक्करके मुँडेरेकी दीवारपर भीतरकी ओर अंकित दृश्य। यदि गलियारेमें खड़ा आदमी ऊपर नजर उठाकर भीतरकी ओर देखें, तो उसे ऊपरके गलियारोंके मूर्त्ति-गवाक्षोंमें बैठे बुद्ध दिखलाई पड़ेंगे।

पहिले चारों चक्करोंमें चतुष्कोण आधार हर तरफ दो-दो जगह आगेको निकला हुआ है, इसीलिए इन पहिले तीन गलियारोंमें घूमते वक्त आदमीको छत्तीस कोने पार करने पड़ेंगे, किन्तु पाँचवेंमें सिर्फ बीस कोने हैं, क्योंकि उसके हरेक भुजमें केवल एक ही एक उभार है। इन कोनोंपर सुन्दर गवाक्षाकार मंदिर बने हैं, जिनमें एक-एक ध्यानी बुद्धकी मूर्त्ति है। पाँचवें गलियारेसे सीढ़ी होकर जब हम छठे गलियारेमें पहुँचते हैं, तब वहाँ न वे कोने हैं, न रूपावलियाँ। उनकी जगह वृत्ताकार पथ हैं, जिसके किनारे छिद्रसहित घंटाकार स्तूप हैं। अन्य तीन सीढ़ियों-को पार करके शिखर-स्तूपके किनारे पहुँचते हैं।

§६. मध्यकाल

(१) कालिंग (मतराम) राजवंश

शैलेन्द्रोंने साहित्य और दूसरे क्षेत्रमें जावाको क्या-क्या चीजें दीं, इसके बारेमें कुछ कहना मुश्किल है; क्योंकि वह बरोबुदूरकी भाँति ठोस पाषाणसे नहीं बनी थी, कि धर्मान्धतासे सदियों युद्ध करके भी बची रहतीं। हाँ, शैलेन्द्रोंकी इन अवशिष्ट कृतियोंसे हम जान सकते हैं, कि और क्षेत्रोंमें उनकी देन कम महत्वकी नहीं रही होगी। पूर्णवर्माका वंश पाँचवीं-छठीं शताब्दीमें जाकर्त्ता (बताविया)के पास पश्चिमी जावापर शासन कर रहा था। आगे आठवीं शताब्दीके आरंभमें मध्य-जावामें कलिंग-राजवंशका अस्तित्व मिलता है, जिसकी राजधानी मतराम थी—यह आगेके इसी नामके मुसलमानी राज्यसे भिन्न थी। इस राज्यके संस्थापक सन्नाह (मृत्यु ७३२ ई०) तथा उसके उत्तराधिकारी संजयके बारेमें हम कह चुके हैं। संजयने सारे जावा और बालीको जीता, सुमात्रा, कंबोज तथा दूरके देशोंपर आक्रमण किया था। उसके बाद जावापर शैलेन्द्रों-का अधिकार हो गया। शैलेन्द्रोंके शासन-कालमें संजयका वंश संभवतः अधीन राज्यके तौरपर पूर्वी जावामें शासन करता रहा। धर्मोदय महाशंभु—जिसने ८९८-९१० ई० तक अवश्य शासन किया था—ने फिर मध्य और पूर्व जावाको अपने हाथमें कर लिया था। यद्यपि अब क्रमशः पूर्वी जावाका भाग्यसूर्य ऊपर उठ रहा था, तो भी आठवीं एवं नवीं शताब्दियोंमें मध्य-जावा वैभवशून्य नहीं हुआ था। शायद शैलेन्द्रोंकी प्रतिद्वंद्विता ही के कारण मध्य-जावाके स्थान-पर पूर्वी जावाको प्रधानता मिली। धर्मोदयके बाद दक्षोत्तम वज्रबाहु प्रतिपक्षक्षय (९१५ ई०) और फिर तुलोदोङ और वावा सिंहासनपर बैठे। वावा ९२७ ई०में शासन कर रहा था। यही इस वंशका अन्तिम राजा था।

सिन्दोक्-वंश—९२७ और ९२९ ई०के बीच किसी समय सिन्दोकने एक नये राजवंशकी स्थापना की। अब जावाका राजनीतिक केन्द्र पूरबमें चला गया और मध्य-जावा तभीसे इतना उपेक्षित हुआ, कि वहाँकी बस्तियों और नगरोंका स्थान जंगलोंने ले लिया। ऐसा क्यों हुआ, इसकी कई व्याख्यायें की जाती हैं। कोई कहते हैं, कि किसी प्राकृतिक उपद्रवसे मध्य-जावा छोड़ना पड़ा, कोई इसका कारण ज्योतिषीकी भविष्यद्वाणी बतलाते हैं। किन्हीं-किन्हींका कहना है, कि मध्य-जावामें शैलेन्द्रोंसे सहानुभूति रखनेवाले अधिक थे, इसलिए राज्यकेन्द्रको दूसरी जगह हटाना पड़ा। जो भी हो, मध्य-जावा परित्यक्त हो गया, इसमें संदेह नहीं। सिन्दोक (९२९)के राज्य सँभालनेके बाद कोई शिलालेख वहाँ नहीं मिला। ज्वालामुखीका उपद्रव, महामारी या शैलेन्द्रोंका बार-बार प्रहार, कोई भी इसका कारण हो सकता है। सिन्दोक बहुत

प्रतापी राजा था। कुछ इतिहासकारोंका विचार है, कि उसने बाबाकी लड़कीसे ब्याह करके राज्याधिकार प्राप्त किया। दूसरे विद्वानोंका मत है, कि सिन्दोक दक्षका नाती था। सिन्दोक ने राज्यभार लेनेपर "श्री ईशानविक्रमधर्मोत्तुंगदेव"की उपाधि धारण की। तीन अभिलेखोंमें उसे "विक्रमोत्तुंगदेव", "विक्रमोत्साह" और "विजयधर्मोत्तुंग"के नामसे पुकारा गया है। शक संवत् ८५७ या ८५५ (ई० ९३५ या ९३३) में इसका नाम "रक-रयान" श्री महामंत्री-पू-सिन्दोक-सङ् श्री शानोत्तुंगदेवविजय कहा गया है, जिसमें राजाकी उपाधि नहीं है, यद्यपि उसके साथ "रक-र्यान श्री परमेश्वरी श्रीवर्द्धनीदेवी"में परमेश्वरी अर्थात् रानीकी उपाधि मौजूद है। सिन्दोकने ९२९ ई०से ९४७ ई० तक अवश्य शासन किया था। उसके शासन-कालके बीसके करीब अभिलेख मिले हैं। अभिलेखोंसे यह भी पता लगता है, कि सिन्दोकका शैव-सम्प्रदायपर विशेष अनुग्रह था।

सिन्दोकके बाद उसकी कन्या श्री ईशानत्तुंगविजयाने शासनका भार लिया। उसकी उपाधियोंमें एक है "सुगतपक्षसहा", जिससे जान पड़ता है, कि वह बौद्धधर्म-पक्षपातिनी थी। विजयाके बाद उसका पुत्र श्री मुकुट वंशवर्द्धन गद्दीपर बैठा। इसीकी लड़की महेन्द्रदत्ता या गुणप्रिय धर्मपत्नी थी, जिसका ब्याह उदयनसे हुआ था। इन्हीं दोनोंकी सन्तान वीरएरलंग था। बालीके एक अभिलेखमें भी गुणप्रिय धर्मपत्नी और उसके पति धर्मोदायनवर्मदेवका उल्लेख है। जान पड़ता है, ये दोनों पति-पत्नी पूर्वी जावाके राजा धर्मवंशकी ओरसे बालीपर शासन करते थे। एरलंगका ससुर राजा धर्मवंश दसवीं सदीके अन्त और ग्यारहवींके आरंभमें जावापर शासन कर रहा था।

अब तक जावामें संस्कृतका राज्य था। पुस्तकें भी अधिकतर संस्कृतमें लिखी जाती थीं, किन्तु अब जावाकी अपनी भाषाने साहित्य-क्षेत्रमें पैर रक्खा। अगली डेढ़ शताब्दियोंमें प्राचीन जावी (कवि) भाषाने कितनी प्रगति की, यह निम्न तालिकासे स्पष्ट हो जायेगा—

पुस्तक	लेखक	काल (ई०)
१. रामायण	म्पू योगीश्वर	१०१६
२. भोमकाव्य	,, ब्रदः	१०१९
३. सुमनसान्तक	,, मोनगुन	१०२०
४. स्मरदहन	,, धर्मज	१०२१
५. अर्जुनविवाह	,, कान्व	१०२२
६. अर्जुनविजय	,, तन्तुलर	१०३१
७. कृष्णायन	,, त्रिगुन	१०४१
८. लुब्धक	,, तनकुङ्	१०५०
९. घटोत्कचाश्रय	,, पनुलुः	१०६१
१०. पार्थयज्ञ	,, विद्यात्मक	१०७५
११. भारतयुद्ध	. . .	१०७९
१२. उसनबलि	निरर्थ	११४१

धर्मवंशके पहले ही शायद रामायण और अमरमाला कविभाषामें लिखे जा चुके थे। वाल्मीकिसे कितनी बातोंमें स्वतंत्र यह रामायण बहुत उच्चकोटिका काव्य समझा जाता है। धर्मवंशके समय महाभारतका अनुवाद हुआ। आदि पर्व, विराट, भीष्म, धर्मवंशकी संरक्षकतामें

अनुवादित हुए, और उसके कुछ समय बाद आश्रम, मुशल, प्रस्थानिक और स्वर्गारोहण पर्वोंका भी अनुवाद हुआ। विराटपर्वका अनुवाद ९९६ ई०में किया गया, जिसके दस ही साल बाद धर्मवंश और उसका राज्य समाप्त हो गया। अर्जुनविवाहको एरलाङ्ग (१०१९-४२ ई०)के राजकवि कन्हूने रचा था। धर्मवंशके दामाद एरलाङ्गकी एक प्रशस्ति कलकत्ता-संग्रहालयमें अवस्थित है, जिसके कथनानुसार १००६ ई०में एक भयंकर प्रलय आई थी—"जिसमें हर्ष और आनन्दके समुद्रमें मग्न समृद्ध राजधानी भस्मावशेष रह गई और १००७में महान् राजाका अवसान हुआ।" यह प्रलय दैवी थी या मानवी, इसका प्रशस्तिमें उल्लेख नहीं है, किन्तु राजाके दामाद एरलाङ्गका भागकर एक मठमें छिपना, फिर काफी समय तक भिन्न-भिन्न शत्रुओंके साथ लड़कर सफलता प्राप्त करना, यह बतलाता है, कि यह प्रलय किसी शत्रुराजाका आक्रमण था। संभवतः यह आक्रमणकारी मलय प्रायद्वीपसे आया था। कोई आश्चर्य नहीं, यदि इस आक्रमणमें शैलेन्द्रोंका हाथ रहा हो। धर्मवंशके शासनमें जावाको मजबूत होने देना शैलेन्द्रोंके स्वार्थके विरुद्ध था।

प्रतापी एरलाङ्—धर्मवंश और उसका राज्य इस प्रलयमें ध्वस्त हो गया। उसका दामाद एरलाङ्ग सोलह वर्षका तरुण कुछ थोड़ेसे विश्वासपात्र अनुचरोंके साथ छिपा फिरता रहा। शत्रुसे बचनेके लिए उसने एक छोटे-से मठमें शरण ली, जहाँ उसे वल्कल चीर और साधुओं-के लिए रूखे-सूखे भोजनपर गुजारा करना पड़ा। तीन वर्ष बीत गये, अब एरलाङ्ग १९ वर्षका था, जब कि १०१० ई०में प्रजाके प्रमुख और प्रसिद्ध ब्राह्मणोंने उससे राज्यभार लेनेकी प्रार्थना की। एक प्रशस्तिका कुछ भाग निम्न प्रकार है:—

"॥ स्वस्ति ॥
त्रिभिरपि गुणैरूपेतो नृणां विधाने स्थितौ तथा प्रलये।
अगुण इति यः प्रसिद्धस्तस्मै धात्रे नमस्सततम् ॥
अगणित-विक्रम-गुरुणा प्रणम्यमानस्सुराधिपेन सदा।
अपि यस्त्रिविक्रम इति प्रथितो लोके नमस्तस्मै ॥
यस्थाणुरप्यतित्वरं यथेप्सितार्थप्रदो गुणैर्जगताम्।
कल्पद्रुममतनुमधःकरोति तस्मै शिवाय नमः ॥
कीर्त्या खण्डितया धिया करुणया यस्त्रीपरत्वन्दधच्
चापाकर्षणतश्च यः प्रणिहितन्तीव्रङ्कलङ्कङ्करे।
यश्चासच्चरिते पराङ्मुखतया शूरो रणे भीरुतां
स्वैर्दोषान्भजते गुणैस्स जयतादेर्लङ्गनामा नृपः ॥
आसीन्निर्ज्जितभूरिभूधरगणो भूपाल-चूडामणिः
प्रख्यातो भुवनत्रयेऽपि महता शौर्य्येण सिंहोपमः।
येनोर्वी सुचिरंधृतामितफला लक्ष्मीन्दधौ गत्वरीम्
स श्रीकीर्त्तिबलान्वितो यवपतिश्श्रीशानतुङ्गाह्वयः ॥
तस्यात्मजाऽकलुषमानसवासरम्या
हंसी यथा सुगतपक्षसहाभवद् या।
सा राजहंसमुदमेव विवर्द्धयन्ती
श्रीशानतुङ्गविजयेति रराज राज्ञी ॥

मन्दाकिनीमिव तदात्मसमां समृद्ध्या
क्षीरार्णवः प्रथितशुद्धिगुणान्तरात्मा ।
ताञ्चाकरोत् प्रणयिनीन्नयनाभिनन्दी
श्रीलोकपालनृपतिर्नरनाथ नागः ।।

तस्मात्प्रादुरभूत्प्रभाववि(श)दो भूभूषणोद्भूतये,
भूतानाम्भवभावनोद्यतधिया क्ष्माम्भावयन्भूतिभिः ।
शौरिश्चाप्रतिमप्रभाभिरभयो भास्वानिवाभ्युद्यतः
शत्रूणामिभकुम्भ-दलने पुत्रः प्रभुर्भूभुजाम् ।।

श्रीमकुटवङ्शवर्द्धन इति प्रतीतो नृणामनुपमेन्द्रः ।
श्रीशानवंशतपनस्तताप शुभ्रम्प्रतापेन ।।

तस्याधिपस्य दुहिताऽतिमनोज्ञरूपा
मूर्त्तेव भाव-गुणतो यवराजलक्ष्मीः ।
द्वीपान्तरेपि सुभगेन बभूव . पित्रा
नाम्ना कृता खलु गुणप्रियधर्म्मपत्नी ।।

आसीदसावपि विशिष्टविशुद्धजन्मा
राजान्वयादुदयनः प्रथितात्प्रजातः ।
तां श्रीमतींविधिवदेव महेन्द्रदत्तां—
व्यक्ताह्वयो नृपसुतामुपयच्छते स्म ।।

श्रेष्ठः प्रजासु सकलासु कलाभिरामो
रामो यथा दशरथात्स्वगुणैर्गरीयान्
सम्भावितोन्नतगतिर्महसा मुनीन्द्रै—
रेर्लङ्गदेव इति दिव्यसुतस्ततोऽभूत् ।।

श्रीधर्मवंश इति पूर्वयवाधिपेन
सम्बन्धिना गुणगणश्रवणोत्सुकेन ।
आहूय सादरमसौ स्वसुताविवाहं,
द्राक् सर्वथा प्रथितकीर्त्तिरभून्महात्मा ।।

अथ भस्मसादभवदाशु तत्पुरं,
पुरुहूतराष्ट्रमिव चोद्यतं चिरं (?) ।
तलिना लेन खलु किङ्करैर्विशा
स नरोत्तमैरुपहितो वनान्यगात् ।।

शाकेन्द्रेथ(वि)लोचनाग्निवदने याते महावत्सरे
माघे मासि सितत्रयोदशतिथौ वारे शशिन्युत्सुकैः ।
आगत्य प्रणतैर्जनैर्द्विजवरैस्साश्वासमभ्यर्थितः—
श्रीलोकेश्वरमीरलङ्गनृपतिः पाहीत्युदन्तां क्षितिम् ।।

साम्राज्यदीक्षितमिमन्नृपतिन्निशम्य
शक्त्या जितारिनिकरं निवहो रिपूणाम् ।

अद्यापि तद्भुजभुजङ्गतलस्य विभ्यद्
अभ्यस्यतीव (चप)लत्वमभूतपूर्व्वम् ॥
भूयांसो यवभूभुजो बुभुजिरे पृथ्वीं विपक्षार्थिनः,
सामर्थ्यान्नृपजन्मनोनुबुभुजुंस्तद्वा (?) नरेन्द्रासने ।
तिक्तं श्रीजललङ्गदेवनृपतिर्वंश्योधि(नाथा)ग्रणीः—
भो अङ्गे स भुनक्ति केवलमरिन्द्वन्द्वम्भ्रमन्भूतले ॥
भूभृन्मस्तक(स)क्तपादयुगलस्सिंहासने संस्थितो
मंत्रालोचनतत्परैरहरहस्सम्भाषितो मन्त्रिभिः ।
भास्वद्भिर्ललनान्वितो निविशते वीरैः परीतो भृशं
ज्योतिस्तस्य पराजये विजयवञ्चित्रभीयते सन्ततम् ॥
पुत्रान्मामतिवत्सलोपि सहसा त्यक्त्वा मदीयः पति—
स्स्वर्गस्त्रीगमनो-‿‿‿-आज्ञाविधेयस्तव ।
ख्यातस्त्वम्भुवने दयालुहृदयस्तेन्या प्रवृत्तिः कथम्,
हा राजन् क्व कृपेत्यरेर्वनितया--‿या लप्यते ॥
कश्चिन्मुमुक्षु‿‿-‿‿‿--
—वाप्तये धनमलानि महानरातिः ।
कश्चित्त्रिविष्टयसुखान्नृवरस्य मन्त्रान्
सम्प्राप्य शिष्य इव तेन कृतस्स आसीत् ॥
तुङ्गा-भुवनत्रयस्य मह—‿—‿-
किं बन्धा न चिकीर्षयाक्ष‿‿-किं तद्युतस्ते रसः ।
किं क्रीड़ारसलिप्सया रभसया यस्यो(द्ध)तिः कीर्तिता
कीर्त्तिः शुद्धकरी‿-दाषवलमान्याते‿-र्हनिशम् ॥
इन्द्रामरेषु‿‿वाक्चरितेषु धृष्टो
वश्येषु (भा)गक्वदसौ धनदोर्थि सार्थैः ।
संह्य हन्तु‿रराडिति लोकपाला—
नेको बहून् प्र‿-म्भियतेस्म धात्रा ॥
आसीन्नृ-‿‿‿-प्रल-‿—
भीष्मप्रभाव इति तस्य सुतो महात्मा ।
—‿-‿‿‿-‿‿-ज वर्ष
—‿-‿‿‿-‿‿-लोकात् ॥
अन्यश्च कश्चिदघमापनुदाभिधानस्
साक्षाद्दशानन इवाघ्यधमाङ्गतन्तिः ।
—‿-‿‿स्य-‿‿नगेन्द्रे
—‿-‿‿‿-‿‿-न्यवधीत्तमाशु ॥
ततश्च तदनन्तरन्नृपसुतञ्जीगीषुर्भूयस्
तदालयमशेषमेव सहसाघ्यधाक्षीन्नृपः

पुनः पुनरथाग्निभूवदने शकाब्दे गते
वरो नरपतिस्तदीय नगराण्यदन्दह्यत ॥
अभवदपि भुवि स्त्री राक्षसीवोग्रवीर्य्या—
व्यपगतभयमस्यास्सङ्कटाङ्गामयासीत् ।
जलनिधिशररन्ध्रे शाकसम्बत्सरेस्मिन्
नृपतिरभिनदेतल्लक्षणं ख्यातकीर्त्तिः ॥
ज्वलन इव नगेन्द्रो लेलिहानोदहत्तान्
दिशमधिकमनार्य्यां दक्षिणान्दक्षिणत्वात् ।
धनमतिबहुलुण्ठं तञ्च दत्त्वात्मभृत्ये
द्विजपतिमुनिमध्येकीर्तिमेवाहरत्सः ॥
मानित्वादथ शैलभूतलवने शाकेन्द्रवर्षे गते
भाद्रे मासि सितत्रयोदशतिथौ वारे बुधे पावने ।
उद्युक्तैर्बलिभिर्बलैरगणितैर्गत्वा दिशम्पाश्चिमां
राजानं विजयाह्वयं समजयद्राजा जगत्पूजितः ॥
अथ मुनिशररन्ध्रे शाकवर्षेष्टमाख्ये
सुरगुरुसितपक्षे कार्त्तिके मासि तस्मिन् ।
निजबलनिगृहीतो वैष्णुगुप्तैरुपायैस्
सपदि विजयनामा पार्थिवो द्यामगच्छत् ॥
मुखशरविवराख्ये शाकराजस्य वर्षे
हतशशिगुरुवारे कार्त्तिके पञ्चदश्यां
रिपुसिरसि महात्मा श्री यवद्वीपराजो
जयति निहितपादो रत्नसिंहासनस्थः ॥
पूर्व्वादि दिग्विजयिनं हतसर्व्वशत्रुं
एकातपत्रमवनेर्जललङ्गदेवम् ।
नान्यन्निरीक्षितुमलं सुभुजोपपीडं—
गाढं परिष्वजति सम्प्रति राजलक्ष्मीः ॥
निर्जित्याथ रिपून्यपराक्रमधनान्छौर्य्यैरुपायैरपि
शक्या खण्डितया खलुव्रतितया वा देवताराधनैर् ।
अन्तुञ्जातमहानृपस्स कुरुते पुण्याश्रमं श्रीमतः
पार्श्वे पूगवतो गिरेर्नरपति : श्रीनीरलङ्गाह्वयः ॥
शृण्वन्तो राजकीयाश्रमसममिमन्नन्दनोद्यानदेश्यं—
तंगच्छन्तस्समन्ततन्तेप्यहमहमिकया विस्मया (त्) लोलनेत्राः ।
मालादिप्रीतिकारास्स्तुतिमुखरमुखा मुख्यमेतन्नृपाणाम्
मानीनां मन्यमाना मनुमिव महसा माननीयम्ब्रुवन्ति ॥
साधूनाम्पथि पातु पौरसमितिर्धर्म्या गतिर्मन्त्रिणां-
भूयाद् भूतहितैषिणो मुनिजना इत्यनृपे प्रार्थना ।

यस्मिञ्जीवति राज्ञि रक्षति भुवन्धर्मेण सिद्ध्यन्ति ते
तस्माच्छ्रीजलल‍ङ्गदेवनृपतिर्दीर्घं सजीव्यादिति ।।"

इस विस्तृत अभिलेखसे पता लगता है, कि एरलाङ्गका सम्बन्ध राजा सिन्दोकके वंशसे था। १०२८ ई० तक वह इतना सबल हो गया था, कि अब उसने अपने खोये राज्यको फिरसे प्राप्त करनके लिये खुले मैदानमें आनेकी हिम्मत की। उसने अगले चार वर्षोंमें बहुतसे छोटे-छोटे राजोंको अपने अधीन करनेमें सफलता पाई। १०२९में उसने वूरतनमें राजा भीष्मप्रभाव को हराया, फिर राजा अधमापनुदके साथ दो वर्षों तक उसकी लड़ाई छिड़ी रही। एरलाङ्गने पूर्ण विजय प्राप्त करके उसकी राजधानीको जला दिया। १०३२ ई०में दक्षिणी जावामें एक प्रबल रानीको हराया, फिर जावापर प्रलय ढोनेवाले राजा वुरवरीके साथ अंतिम फैसलेका समय आया। १०३२ ई०में उसके साथ युद्ध शुरू हुआ। वुरवरीके राजाने एरलाङ्गके हाथों राज्य और प्राण दोनों खोये।

अब केवल भेङ्केरका राजा बाकी रह गया था। यह छोटा-सा राज्य आधुनिक मदियून जिलेमें था। वहाँके राजा विजयके साथ पहली झड़प १०३० ही में हो गई थी, किन्तु अंतिम संघर्ष १०३५के भाद्र मासमें आरम्भ हुआ, जबकि एरलाङ्गने भारी सेनाके साथ विजयको हराया। एरलाङ्गने विष्णुगुप्त (कौटिल्य) के राजनीति शास्त्रके पाठका प्रयोग किया और दो महीने बाद विजयको उसकी अपनी सेनाने बंदी बनाकर मार डाला। अब सम्पूर्ण जावा एरलाङ्गके चरणोंमें था। उसकी राजमुद्रा गरुड़मुखकी थी अर्थात् लोगोंको यह समझाना था, कि एरलाङ्ग विष्णुका अवतार है।

एक अभिलेखसे यह भी पता लगता है, कि एरलाङ्गने परद्वीप और परमंडल छत्रोंपर विजय प्राप्त की। शैलेन्द्रराजाकी प्रेरणासे चाहे वुरवरी नरेशने जावामें प्रलय मचाई हो, किन्तु शैलेन्द्रोंसे एरलाङ्गका संघर्ष नहीं हुआ। शैलेन्द्र अब भी (ग्यारहवीं सदीके पूर्वार्द्धमें) सुमात्रा और मलयद्वीपके शासक थे। सम्पूर्ण जावाके एकच्छत्र शासक होनेके बाद शैलेन्द्रोंके साथ एरलाङ्ग की मैत्री भी हो गई। जावामें अब सब जगह शांति और सुव्यवस्था थी, फिर वाणिज्य-व्यवसाय चमकना ही चाहिए। उस समय कलिंग, सिंहल, द्रविड़, कर्नाटक, आर्य (उत्तरी भारत), रेमेन (रामण्यदेश, वर्मा), चंपा, और ख्मेर (कम्बुज) तकके वणिक्पोत और व्यापारी जावाके बंदरगाहोंमें भरे रहते थे।

एरलाङ्गको देशको कृषि आदिके विकास द्वारा समृद्ध करनेका भी ख्याल था, और नदियोंके कोपसे बचानेके लिये उसके प्रयत्नका एक उदाहरण है ब्रन्तस् नदीके किनारेका बाँध। नदी वरंगिन्-सप्त (आधुनिक वृंगिन-पितु) में कूल तोड़कर बह निकली, एरलाङ्गने उसे रोकनेके लिये एक बड़ा बाँध बनवाया। उन्नीसवीं सदीमें, जब इस नदीके किनार सिंचाईकी नहर बनाई गई, तो एरलाङ्गके बाँधसे बहुत लाभ हुआ। आधुनिक सुराबयाके स्थानपर, जहाँ ब्रन्तस् नदी समुद्रमें गिरती है, उस समय भी हुजुङ्-गलू नामक एक बड़ा व्यापारिक नगर था। आधुनिक तुबन्के पास या उसीके स्थानपर कंवङ-कुती नामक एक और समृद्ध बंदरगाह था।

एरलाङ्गके समय राजाके बाद सबसे उच्च अधिकारी एक स्त्री थी, जिसका नाम था "रक्-यँन् महामंत्रि-दह्निो श्री संग्रामविजय धर्मप्रसादोत्तुङ्ग देवी"। वह रानी नहीं थी, क्योंकि उस समय रानीके लिए "श्री परमेश्वरी" उपाधि लगाई जाती थी। संभवतः वह एरलाङ्गकी लड़की थी, जो १०३७ ई० तक इस पदपर रही।

एरलाङ्गके संकटपूर्ण भगोड़े जीवनके समय पुचङ्ग्न (आधुनिक पेनङ्गुङ्ग्न) के जिस स्थानने शरण दी थी, एरलाङ्ग उसे नहीं भूला। उसने १०४१ ई० में वहाँपर एक मठ बनवाया, जिसे शायद अपनी पुत्री भिक्षुणीके लिये बनवाया था। परंपरा यह भी बतलाती है, कि बुढ़ापेमें एरलाङ्ग भी संसार-त्यागी बन गया। उस वक्त उसका नाम ऋषि उपन्टयू पड़ा। साधु बननेपर भी एरलाङ्गने राज्य-कार्य छोड़ा नहीं। १०४२ में किसी समय उसका देहान्त हुआ। एरलाङ्गको 'भटार गुरु' (भट्टारकगुरु) भी कहा गया है। बेलाइन् (तीर्थ) में एक सुंदर विष्णु की प्रतिमा मिली है, इस मूर्तिका मुख एरलाङ्गकी मुखाकृतिके अनुसार बनाया गया था। प्रतापी राजाओंको शिव या विष्णुकी प्रतिमाके रूपमें बनाकर पूजना उस समय बहुतसे देशोंमें प्रचलित था।

एरलाङ्ग वीर था, राजनीतिज्ञ था, प्रजा-सुख-साधन-परायण था; धर्म-प्रेमी था और साथ ही उसका साहित्यानुराग भी कम नहीं था। यव-भाषाका सबसे पुराना स्वतंत्र काव्य "अर्जुन-विवाह" इसीके दरबारी कवि कण्वने लिखा। एरलाङ्गके युद्धोंसे ही प्रभावित होकर, जान पड़ता है, कविने अर्जुन-विवाहको अपने काव्यका विषय बनाया। और "भौमकाव्य," "सुमनसान्तक", "स्मरदहन", "अर्जुनविवाह", "अर्जुनविजय," "कृष्णायन"के प्रसिद्ध जावी काव्य एरलाङ्गके शासन-कालमें बने थे। एरलाङ्गका राज्यकाल जावी साहित्यका भी स्वर्णयुग है। पं० द्वारका प्रसाद मिश्रको शायद अपना 'कृष्णायन' लिखते समय यह विचार न आया होगा, कि उनसे ९०० वर्ष पूर्व, डेढ़ हजार कोस दूर उनके ही काव्यके नामका एक दूसरा भी काव्य लिखा गया था।

(२) कदिरी-राज्य (१०४२–१२२२)—

एरलाङ्ग अपने पुत्रोंके विवादको शान्त करनेके विचारसे राज्यको दो भागोंमें बाँटनेके लिये मजबूर हुआ, जिसके कारण जावामें दो राजवंश कायम हुये। बँटवारेका काम भराड पंडितको दिया गया, जिसने दोनों राज्योंकी सीमा निश्चित की। इनमेंसे एकका नाम पञ्जलू था, जो थोड़े समय बाद कदिरीके नामसे प्रसिद्ध हुआ। कदिरी, जिसका दूसरा नाम दाहा भी था, बराबर इस वंशकी राजधानी रही। आजकल उसे 'केदिरी' कहते हैं। जंगलका राज्य बहुत दिनों तक नहीं चल सका और वह कदिरीके अधीन हो गया। संभवतः वह एक सामंतके रूपमें पीछे तक रहा, क्योंकि बारहवीं शताब्दीके अंतमें तुमपेल (मलङ्) के करीब नया राज्य स्थापित करके वहाँके राजाने अपनेको जंगल-राजवंशी होनेका दावा किया था।

कदिरीके प्रथम राजाका नाम श्री जयवर्ष दिग्जय था। उसने शास्त्रप्रभु और जयप्रभु की उपाधियाँ धारण की थीं। किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका कहना है, कि जयवर्ष ही वर्षजय है, जिसका दरबारी कवि त्रिगुण 'कृष्णायन' का कर्त्ता था। इसी कृष्णायनके आधारपर पनतरन्के मन्दिरमें कृष्णचरित्र रूपावलियोंके रूपमें अंकित किया गया। मोनगुण कविने भी अपने काव्य 'सुमन-सान्तक' के अंतिम पदमें वर्षजयका उल्लेख किया है, किन्तु वहाँ राजाकी उपाधि नहीं दी हुई है।

११३० ई० में कामेश्वर प्रथम कदिरीमें राज्य कर रहा था। उसका राज्यकाल १११५से ११३० तक था। कामेश्वरकी वीरुत् बहुत लंबी-चौड़ी थी—

"श्री महाराज रके श्रीकन् श्रीकामेश्वरं सकलभुवनतुष्टिकारण सर्व्वानिवार्यवीर्य्य-पराक्रम दिग्जयोतुङ्गदेव।" धर्मय कविने अपने काव्य 'स्मरदहन' में राजा कामेश्वरका उल्लेख

किया है, जो संभवतः यही कामेश्वर था। कविने कामेश्वरको कामदेव कहा है और उसकी राजधानी दहन (कदिरी) को जगत्-अद्भुत-नगरी बताया है। राजवंशका संबंध श्री ईशान-धर्म्म अर्थात् सिन्दोक-ईशानके साथ जोड़ा गया है। राजा कामेश्वर और उसकी रानी किरण-को लेकर पञ्जी नामके जावी भाषाके कथानक लिखे गये हैं—"पञ्जीजयलेङ्कर" में तरुण पञ्जीके कदिरी राजकुमारी चन्द्रकिरणपर प्रेम-मुग्ध होनेका वर्णन है।

कामेश्वरका पुत्र जयभय (११३५ ई०) भी बड़ा साहित्यानुरागी था। इसीके समय (११५७ ई०) कवि शेदाने 'भारतयुद्ध' महाकाव्य लिखा, जिसमें उसने जयभयकी बहुत प्रशंसा की है। इस कविने उसे विष्णुका अवतार ही नहीं बतलाया, बल्कि ११३५ और ११३६ के दो अभिलेखोंमें भी उसे—"श्री महाराज श्री धर्मेश्वर मधुसूदनावतारानिन्दित सुहृतसिंह-पराक्रम दिग्विजयोत्तुङ्गदेव"की उपाधि दी है। इसकी राजमुद्रापर नरसिंह लिखा रहता था। जान पड़ता है, इस वंशमें वैष्णवताका अधिक सम्मान था। शेदा 'भारतयुद्ध' को समाप्त नहीं कर पाया, फिर उसे 'पनुलू'ने समाप्त किया। पनुलूके लिखे दो और काव्य हैं—"हरिवंश" और "घटोत्कचाश्रय"।

कदिरी-वंशका अंतिम राजा कृतजय था, जो १२०० ई०में मौजूद था। इस राजाके बारेमें कहा जाता है, कि उसने ब्राह्मणों और धर्माचार्योंको अपने सम्मुख सिर झुकानेकी आज्ञा दी। उनके इन्कार करनेपर दैवी चमत्कार दिखलानेकी माँग की। उन्होंने राजाको सिर झुकानेकी जगह राज छोड़ देना अच्छा समझा। तुमपेल्के राजा 'अङरोक-राजस'ने धर्माचार्योंका पक्ष ले अपनेको स्वतंत्र घोषित किया। कृतजयके साथ लड़ाई (१२२२ ई०) हुई और उसने हारकर एक मठमें शरण ली। कृतजयकी पराजयके साथ कदिरी राजवंशका अवसान हुआ।

(३) सिंह-सारि-राजवंश (१२२२—९२ ई०)

अङरोकने इस नये राजवंशकी स्थापना की। गन्तेरमें कृतजयको हराकर अङरोकने तुम-पेल (सिंह-सारि) राज्यकी स्थापना की। राजसने एरलाङ्गकी तरह सारे यवद्वीपको एकच्छत्र राज्यमें परिणत किया। पहिले राजका नाम तुमपेल् था, किन्तु आगे अपनी राजधानी सिंह-सारिके नामसे उसे सिंह-सारि राज्य कहा जाने लगा। राजसने पराजित राजा जयकृतकी रानी देदेससे ब्याह किया था, जिससे उसके और लड़के भी हुये थे। रानीके पहिले राजाके पुत्र अनूषपतिने राजाको दूसरे सहोदरोंके साथ अधिक पक्षपात करते देखा। उसने १२२७ ई० के आसपास उसे मरवा दिया। राजसको शिव और बुद्धकी मूर्तियोंके रूपमें पूजा जाने लगा। राजसकी उन दोनों मूर्तियोंका अब पता नहीं है, किन्तु सिंह-सारिकी अत्यन्त सुंदर और प्रसिद्ध प्रज्ञापारमिता देवीकी मूर्तिके रूपमें रानी देदेस अब भी लीडेन (हालैंड) के संग्रहालयमें मौजूद है।

अनूषपति (अनूषनाथ) राजसके बाद गद्दीपर बैठा और १२४८ ई०में अपने वैपितृक भाई तोजयके हाथों मारा गया। तोजय भी कुछ ही महीने राज्य कर पाया, पीछे उसकी भी वही गति हुई, जो उसने अनूषपतिकी की थी।

और १२४८ ई०में तोजयके स्थानपर श्री जयविष्णुवर्द्धन गद्दीपर बैठा। राजाके चचेरे भाई महीशचंपकने उसकी बड़ी सहायता की थी, जिसके लिये उसे भी महाराजा बननेका सौभाग्य

प्राप्त हुआ। विष्णुवर्द्धन १२६८ ई० में मरा—सिंह-सारि-वंशका यही एक राजा था, जो अपनी मौत मरा। बलेरीमें उसे शिव और जजघूमें बुद्धके रूपमें पूजा जाने लगा।

विष्णुवर्द्धनने मृत्यु (१२५४ ई०) से पहिले अपने पुत्र कृतनगरको सहकारी राजा बना दिया था। १२६८ ई०के बाद उसने अकेले राज्य करना शुरू किया। पिताके जीवित रहते समय (१२६६ ई०) के अभिलेखमें उसे "श्री लोकविजय प्रशस्तजगदीश्वरानिन्दित पराक्रमानिवार्य्यवीर्य्यालंघनीय" लिखा गया ह, किन्तु १२६९ ई० के अभिलेखमें "श्री सकल जगत्-नाथेशनरसिंहमूर्त्यनिन्दित पराक्रम अशेषराजन्यचूड़ामणि....पित चरणारविन्द शोक सन्तपितसुजनहृदयाम्बुजाविरोधनस्वभाव"। कृतनगरका शासन-काल जावाके इतिहासमें भारी महत्व रखता है। १२८४ ई० में उसने बालीद्वीपको जीता और वहांके राजाको बंदी बनाकर कृतनगरके सामने लाया। पहङ्ग (मलाया), मलयू (सुमात्रा), गुरुन्न (गोरोङ्ग, पूर्वी-बोर्निओ), बकुलपुर (दक्षिण-पश्चिमी बोर्नियो) सुन्डा और मधुरा (मदुरा) तक उसका राज्य फैला हुआ था। १२७५ ई०के करीब कृतनगरकी नौवाहिनीने सुमात्रापर अभियान किया और वहां सिंह-सारि-राजवंशकी ध्वजा फहराई। जम्बी (प्राचीन मलयू) में सुङ्गई-लनूसत्के समीप पदङ्ग-रोमें एक मूर्त्ति-सिंहासनपर उत्कीर्ण लेख मिला है, जिसमें कृतनगरको हरिबर्द्धन और जयबर्द्धनीका पुत्र श्री ज्ञानशिववज्र कहा गया है। कृतनगरकी बौद्ध और शैव तंत्रमार्गपर बड़ी आस्था थी। बौद्ध तंत्रयानका दूसरा नाम वज्रयान भी है। वज्रयानी बौद्ध देशों—नेपाल, तिब्बत और मंगोलिया—में वज्र-अंतवाले नाम आज भी बहुत मिलते हैं। कृतनगरके तांत्रिक नाममें वज्र उसकी वज्रयान-भक्तिको प्रदर्शित करता है।

कृतनगर तंत्रका बहुत भारी साधक माना गया है। शायद उसे दूसरे इन्द्रबोधि (चौरासी सिद्धोंमें एक तथा उड़ीसाके राजा) बननेकी लालसा थी, वह पंचमकारका अनन्य भक्त था, किन्तु केवल विलासके लिये नहीं, बल्कि श्रद्धावश होकर, और अंतमें इसीने उसका सर्वनाश किया।

१२८६ ई०में उसने ३० परिचारकोंके साथ अमोघपाश (अवलोकितेश्वर) की एक सुंदर मूर्त्तिको अपने चार अधिकारियों द्वारा जावासे सुवर्णभूमि (सुमात्रा) भेजा और धर्माश्रयमें उसकी स्थापना करवाई। मलयूके सारे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा उसके राजा श्रीमत् त्रिभुवनराज मौलि वर्म्मदेव इस मूर्त्तिकी पूजा करते थे। धर्माश्रय सुमात्राके मध्यमें है। यह लेख बतलाता है कि कृतनगर अपने दिग्विजयमें कहाँ तक सफल हुआ। अभिलेख एक भिक्षु-वेशी मूर्त्तिके सिंहासनपर खुदा हुआ है—कृतनगर अपने जीवनमें ही वज्रयानका सिद्ध बनकर पुजने लगा था। अभिलेखकी तिथि—शकाब्द १२११, आश्विन शुक्ल पञ्चमी वार बुध अर्थात् २१ सितंबर १२८९ है। श्रीविजय (सुमात्रा) आठवीं शताब्दीसे ही वज्रयानके लिये प्रसिद्ध हो चुका था, ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम पादमें तो दीपङ्कर श्रीज्ञानतक वहाँ विद्याध्ययनके लिये पहुँचे थे। धर्माश्रयमें अमोघपाशकी मूर्त्ति उस समय स्थापित हो रही थी, जबकि वज्रयानके केन्द्रों, नालंदा और विक्रमशिलाके विहारोंको तुर्कों द्वारा ध्वस्त हुये ९० वर्षसे अधिक हो चुके थे और भारतमें बौद्ध धर्म प्रायः नामशेष हो चुका था। हाँ, यही वह समय था, जबकि मंगोलोंमें बौद्ध धर्मका प्रचार बढ़ रहा था और चिंगीजका पौत्र कुबलेखान दिग्विजयकी धुनमें मस्त रहते हुये भी बौद्ध धर्मराज बनना चाहता था। उक्त लेख इस प्रकार है:—

"आदौ नमामि सर्वज्ञं ज्ञानकायन्तथागतं ।
सर्व्वस्कन्धातिगुह्यस्थं सदसत्पक्षवर्जितं ॥
अन्वतस्सर्वसिद्धि वा वन्देहङ्गौरवात्सदा ।
शककालमिदं वक्ष्ये राजकीर्ति प्रकाशनं ॥
योपुरा पण्डितश्श्रेष्ठ आर्य्यो भराडभिज्ञतः ।
ज्ञानसिद्धि समागम्याभिज्ञालाभो मुनीश्वरः ॥
महायोगीश्वरो वीरः सत्त्वेषु करुणात्मकः ।
सिद्धाचार्यो महावीरो रागादिक्लेशवर्ज्जितः ॥
रत्नाकर-प्रमाणान्तु द्वैधीकृत्य यवावनीं ।
क्षितिभेदनसामर्थ्यकुम्भवज्रोदकेन वै ॥
परस्परविरोधेन नृपयोर्युद्धकाङ्क्षिणोः ।
अथास्माज्जाङ्गलेत्येषा पंजलुविषया स्मृता ॥
दिनं यस्मात् रंरक्षेमां जयश्री विष्णुवर्द्धनः ।
श्री जयवर्द्धनीभार्य्यो जगन्नाथोत्तमः प्रभुः ॥
आजन्म परिशुद्धाङ्गः कृपालुः धर्मतत्परः ।
पार्थिवानन्दनं कृत्वा शुद्धकीर्त्तिपराक्रमात् ॥
एकीकृत्य पुनर्भूमीं प्रीत्यर्थं जगतां सदा ।
धर्म्मसंरक्षणार्थं वा पित्रादिस्थापनाय च ॥
यथैव क्षितिराजेन्द्रश्श्रीहरिवर्द्धनात्मजः ।
श्री जयवर्द्धनीपुत्रः चतुर्द्वीपेश्वरो मुनिः ॥
अशेषतत्त्वसम्पूर्णो धर्मशास्त्रविदांवरः ।
जीर्णोद्धारक्रियोद्युक्तो धर्मशासनदेशकः ॥
श्रीज्ञानशिववज्राख्य(:श्रीत्रि) रत्नविभूषणः ।
प्रज्ञारश्मिविशुद्धाङ्गस्सम्बोधिज्ञानपारगः ॥
सुभक्त्या तं प्रतिष्ठाप्य स्वयम्पूर्व्वम्प्रतिष्ठितं ।
श्मशाने वूररानाम्नि महाक्षोभ्यानुरुपतः ॥
भवचक्रे शकेन्द्राब्दे मासे चासुजिसंज्ञके ।
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे च वारे पकबुसंज्ञके ॥
सिन्तनाम्नि च पर्व्वे च करणे विष्टिसंस्कृते ।
अनुराधेपि नक्षत्रे मित्रे महेन्द्रमण्डले ॥
सौभाग्ययोगसम्बन्धे सौम्ये चैष मुहूर्त्तके ।
हिताय सर्वसत्त्वानां प्रागेव नृपतेस्सदा ॥
सपुत्रपौत्रदारस्य क्षित्येकीभावकारणात् ॥
अथास्य दासभूतोहं नादज्ञो नामकीर्त्तितः ।
विद्याहीनोपि सम्मूढो धर्म्मक्रिया स्वतत्परः ॥
धर्म्माध्यक्षत्वमासाद्य कृपयैवास्य तत्त्वतः ।
शककालं समुद्धृत्य वज्रज्ञानाज्ञयापदः ॥"

कृतनगरका चंपाके राजवंशके साथ वैवाहिक संबंध था। चंपाराज जयसिंहवर्म्मा चतुर्थ-की रानी तपसी यवद्वीपकी राजकुमारी थी।

सारे चीनका शासक मंगोल-सम्राट कुबलेखान (मृत्यु १२९४ ई०) सुदूर जापान तक हाथ फैलाना चाहता था। उसने अनाम और चंपाके राजाओंकी भाँति कृतनगरको भी स्वयं दरबारमें आनेके लिये हुक्म दिया (१२८१ ई०)। कृतनगर बहाना करता रहा, किन्तु चीनसे दूतपर दूत आने लगे। १२८९ ई० में कृतनगरने सीधे इन्कार करते हुए नाक काटकर मंगोल राजदूतको लौटा दिया। इस वक्त कुबलेका दक्षिणी मंचूरियामें वहाँके राजा नायनके साथ जीने-मरनेका संघर्ष चल रहा था, किन्तु तो भी कुबले इस अपमानको सह नहीं सका। उसने जावापर अभियान करनेके लिये एक बड़ी सेना तैयार की, लेकिन उसकी अवश्यकता नहीं पड़ी। कृतनगरका शत्रु उसी कदिरीका प्रान्ताधिपति जयकत्वङ्ग हो गया। वैमनस्य बढ़ानेमें राज-मंत्री आरागनीका भी हाथ था। कृतनगरकी सेना राजकुमार विजय (नरार्य संग्रामविजय) और जयकत्वङ्गके पुत्र अर्द्धरागके नेतृत्वमें लड़ने गई। पहली भिड़ंतमें राजसेना सफल हुई, किन्तु इसी बीच कदिरीसे एक दूसरी सेना छिपकर दक्षिणके रास्ते बिना लड़े-भिड़े सिंह-सारि पहुँच गई। राजा और मंत्री उस वक्त भैरवीचक्र रचाते मद्यपानमें रत थे। कदिरी सेनाने राज-भवनपर अधिकारकर १२९२ ई० के जेठमें मंत्री और राजा दोनोंको तलवारके घाट उतारा।" "नगरकृतागम" नामक इतिहास ग्रंथमें लिखा है, कि "राजा षड्विध राजनीति-विशारद, सभी विद्या-कलाओंमें निष्णात, बौद्ध शास्त्रोंका पंडित और अत्यन्त धर्मपरायण था।"—धर्मपरा-यणसे बौद्ध तंत्रधर्ममें परायण अभिप्रेत है। इसी राजाने "राजपतिगुण्डल" नामक मंत्रतंत्रकी पुस्तक लिखी थी, जिसमें पीछेसे और बातें भी जोड़ी गईं। उसमें लिखा है, कि मंडल (भैरवीचक्र) के सदस्योंको राजपुरुषोंके जुल्मका कोई भय नहीं करना चाहिये। राजा बौद्ध शास्त्रों और विशेष कर तर्क और व्याकरणशास्त्रका भारी पंडित था, सुभूतितंत्रका भारी ज्ञाता था। वह योग और समाधिका अभ्यास किया करता था। उसने अपनी मुखाकृतिके साथ अक्षोभ्य (ध्यानी बुद्ध) की मूर्त्ति १२८९ ई० में वूरारेमें स्थापित की थी, जो पीछे मजपहितमें ले जायी गयी। आजकल यह मूर्त्ति सुराबायामें है और उसके बहुत-से दिव्य चमत्कार भी प्रसिद्ध हैं। चन्दी-जगो (मंदिर) के अमोघपाशकी पीतलमूर्त्तिपर लिखा है—

"महाराजाधिराज श्री कृतनगर विक्रमज्ञानवज्रोत्तुङ्गदेव।"

'नगरकृतागम' के अनुसार कृतनगरकी दाह-क्रिया शिव-बुद्ध देवालयमें हुई थी, जहाँपर शिव-बुद्धके रूपमें उसकी एक सुन्दर मूर्त्ति स्थापित की गयी। वहीं यह भी कहा गया है, कि उसकी हड्डियाँ सागलमें दफनाई गईं और वहाँ लोचन तथा वैरोचनके रूपमें उसकी तथा उसकी रानीकी मूर्त्ति स्थापित की गई। सिंह-सारिमें भैरवके रूपमें भी उसकी प्रतिमा थी, जो आजकल लीडेन (हालैंड) में चली गई है।

§७. मजपहित-राजवंश (१२९२–१४७८ ई०)

(१) राज्य-स्थापना—

जयकत्वङ्गने कृतनगरको मारकर फिर कदिरीकी प्रभुता स्थापित की। उसने कृतनगरको तो बड़ी आसानीसे ध्वस्त कर दिया, किन्तु मंगोल जावाके किये अपमान

को सहन नहीं कर सकते थे। कृतनगरने जिन दोनों सेनापतियोंको कदिरी सेनासे लड़नेके लिये भेजा था, उनमेंसे एक—विजय—ने दो वर्ष बाद इस घटनाका वर्णन लिख छोड़ा है। कदिरी सेना केदुङ्ग्लुकमें पराजित हुई और मैदानमें अपने बहुत-से मृत सैनिकोंको छोड़कर भाग गई।

विजयने उसे दो बार और हराया। विजय यह समझकर निश्चित हो गया, कि कदिरी सेना पूर्णतया परास्त हो गयी है। इसी समय एक नई कदिरी सेना हजिरूमें प्रकट हुई और विजयका साथी अर्द्धराज विश्वासघात कर उसे छोड़के अपने पिताकी ओर चला गया। शायद तब तक कृतनगरकी मृत्यु और सिंह-सारिके हाथसे निकलनेकी खबर मिल चुकी थी। विजयकी सेना बहुत बुरी तरहसे हारी, किन्तु वह स्वयं ६०० आदमियोंके साथ ब्रन्तस् नदी पारकर उत्तरकी ओर चला गया। शत्रु पीछाकर रहा था। कई बार शत्रुसे लड़ते-बँचते अंतमें अपने बारह साथियोंके साथ वह कुदडू गाँवमें पहुँचा। गाँवके मुखियाने उसे शरण दी और उसकी सहायतासे वह रेमबङ् जा खाड़ी पारकर मधुरा (मदुरा) द्वीपमें पहुँच गया। दो वर्ष बाद राज्य लौटा पानेपर विजयने उक्त मुखियाके लिये एक दानपत्र लिखा, जिसमें यह सारी घटनायें अंकित की गयीं। कृतनगरका कृपापात्र वीरराज उस समय मदुराका शासक था। विजय उससे सहायता पानेकी आशा रखता था। उसे यह नहीं मालूम था, कि वीरराजकी जयकत्वाङ्से बातचीत चल रही है। वीरराजने बाहरसे बहुत सम्मान प्रदर्शित किया। विजयने कृतज्ञता प्रकट करते हुए हर्षोद्रेकमें कहा—"मेरे पिता वीरराज ! मैं सचमुच तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। यदि मैं कभी कृतकार्य हुआ, तो जावाका दो भाग करूँगा, जिसमें एक भाग तुम्हारा होगा और एक मेरा।" वीरराज प्रलोभनमें आ गया और वह विजयका समर्थक बन गया। दोनोंने भविष्यकी योजना बनाई। निश्चय हुआ, कि विजय जाकर जयकत्वङ्के हाथमें आत्मसमर्पण करे। जब पर्याप्त विश्वास उत्पन्न कर ले, तब त्रिक्के पासकी परती भूमिका एक टुकड़ा माँग ले। फिर वहाँ मदुराके लोगोंकी एक बस्ती बस जाये। कदिरीकी सैनिक शक्तिका पूरा भेद लग जानेपर विजय भी आकर उसी बस्तीमें रहने लगे और वहाँ सिंह-सारिके अपने विश्वासपात्र आदमियों तथा कदिरीके असंतुष्ट लोगोंको एकत्रित कर युद्धकी तैयारी करे। योजना अच्छी तरह कार्यरूपमें परिणत की गयी। परती भूमिपर नई बस्ती बसायी जाने लगी। एक नव्यनिवासीने पासके बेल (मज) वृक्षके फलको चक्खा और उसे कड़वा (पहित) पाकर फेंक दिया। इसीपर बस्तीका नाम मजपहित हुआ, जिसे संस्कृतमें विल्व-तिक्त, तिक्त-विल्व, श्रीफल-तिक्त तिक्त-श्रीफल, तिक्त-मालूर आदि कहा गया है।

(२) मंगोल-आक्रमण (१२९२)—

सारी तैयारी हो जानेपर विजयने वीरराजके पास सहायताके लिये संदेश भेजा, किन्तु वीरराज एक खुर्राट आदमी था। उसे कुबले खानका पक्ष अधिक सबल दिखाई पड़ा। उसने कुबले खानको कृतनगरकी दोनों कन्यायें देनेका वचन दिया और खानने उसे सैनिक सहायता देनी स्वीकार की।

"१२९२ ई० के दूसरे महीनेमें खान (सम्राट्) ने फूकियान्के प्रान्तपतिको आज्ञा दी, कि चे-पी-यि-को-मू-सू और कौ-सिङ्के नेतृत्वमें जावा-विजयके लिये एक सेना भेजनके लिये बीस हज़ार सैनिक..एकत्रित करे, (और वहाँ)..एक सालकी रसद और पचास हजार चाँदीकी सिल्लीके साथ एक हजार जहाज भेजे। जिस वक्त तीनों सेनापति अंतिम दर्शनके लिये गये, तो

खानने उनसे कहा—'जावा पहुँचनेपर तुम उस देशकी सेना और आदमियोंके सामने साफ-साफ घोषित कर देना, कि सम्राटकी सरकारके साथ दोनों ओरके दूतों द्वारा अच्छा संबंध था, किन्तु हालमें सम्राट्के दूत मेङ्-चीकी नाक काट ली गयी, हम उसीका दंड देने आये हैं।'. .जावा पहुँचनेपर अपनी पहुँचनेकी खबर भी मेरे पास भेजना। उस देशपर अधिकार होनेके बाद दूसरे छोटे-छोटे राज्य स्वयं अधीनता स्वीकार करेंगे। तुम्हें उनकी अधीनताकी स्वीकृति प्रदान करनेके लिये केवल दूत भेजने पड़ेंगे। वह देश जैसे ही अधीनता स्वीकार कर ले, तुम्हारा कार्य समाप्त हो जायगा।"

१२९२ ई० के बारहवें महीनेमें मंगोल-सेनाने नौप्रस्थान किया और वह पूर्वी जावाके उत्तरी तटके तूबान बंदरगाहपर जा उतरी। इस वक्त तक विजय जयकत्वङ्के अनुयायी नहीं प्रतिद्वंद्वीके रूपमें मजपहितमें जम चुका था। अभी उसे जयकत्वङ्की शक्तिको नष्ट करनेका कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। मंगोल-सेनाके आते ही उसने अपने प्रधान मंत्री और १४ अधिकारियोंको भेजकर मंगोल-सेनाके सामने अधीनता स्वीकार की। जयकत्वङ देश-रक्षाकी तैयारी करने लगा। उसने अपने प्रधान मंत्री ही-नीङ्-कुवाङ्को सुराबाया नदीका मुँह रोक रखनेके लिये भेजा और स्वयं मजपहितपर आक्रमण करनेके लिये आगे बढ़ा। तीसरे महीनेकी प्रथम तिथिको कुबलेकी सेना सुराबायाके मुँहपर पहुँची। पहिली भिड़न्तने बता दिया, कि जावी सेना मंगोलोंके सामने टिक नहीं सकती। प्रधान मंत्री अपने जहाजको छोड़कर रातोंरात भाग गया। सौसे अधिक जहाज चीनी-सेनाके हाथ लगे। मंगोल सेना विजयकी सहायताके लिये मजपहित गई। मजपहितको बचा लिया गया, लेकिन कदिरी सेनाकी शक्ति अब भी बनी हुई थी।

१९ तारीखको मंगोल-सेना राजधानी दाहामें पहुँची। राजा कत्वाङ एक लाख सेनाके साथ लड़नेके लिये तैयार था। ६ बजे प्रातःसे २ बजे तक लड़ाई हुई। इन आठ घंटोंमें जावी सेनाके छक्के छूट गये और वह तितर-बितर हो गई। पाँच हजार सैनिक युद्ध-क्षेत्रमें मारे गये और उससे भी अधिक भागते हुए नदीमें डूबकर मरे। सायंकालको राजा कत्वाङने दुर्गसे बाहर निकलकर आत्मसमर्पण किया। उसकी स्त्री, बच्चे और अफसर विजेताओंके हाथमें पड़े।

मंगोल-सेनापति कउसिङ् जयकत्वाङके पुत्रका पीछा करते पहाड़में घुसा। इसी समय विजयने सम्राटके लिये भेंट जमा करने और नया समर्पणपत्र तैयार करनेके लिये अपने घर जानेकी आज्ञा माँगी। दोनों मंगोल-सेनापतियोंने स्वीकार करके विजयके साथ दो सौ सैनिक कर दिये। कउसिङ्को जैसे ही मालूम हुआ, उसने संदेह प्रकट किया, जो अंतमें ठीक निकला। विजय कत्वाङसे मुक्त हो चुका था और अब वह मंगोल-मित्रोंसे मुक्त होना चाहता था। रास्तेमें उसने साथ जानेवाले मंगोल-सैनिकोंको मार डाला। मंगोल-सेनापति बदला लेना चाहते थे, किन्तु अब वे बहुत निर्बल हो चुके थे और साथ ही मंगोल-सम्राट्की आज्ञा जावाको दंड देनेकी थी, जो काम हो चुका था, इसलिये अब उन्होंने चीन लौट जाना ही पसंद किया। प्रस्थान करनेके पूर्व उन्होंने जयकत्वाङ और उसके पुत्रको मार डाला।

(३) कृतराज द्वारा पुनः वंश-स्थापना—

इस प्रकार चीनी आक्रमणका अंत हुआ। कुबलेकी सेना आयी तो थी कृतनगरको दंड देने, किन्तु उसने उसके शत्रु जयत्वाङको मारकर कृतनगरके राजवंशको फिरसे स्थापित

कर दिया। इस अभियानका फल हुआ विजयका जावाका निष्कंटक स्वामी बनाना।

अब कृतराजस-जयवर्द्धन्के नामसे विजय जावाके सिंहासनपर बैठा, किन्तु उसने सिंहसारिको नहीं, मजपहितको अपनी राजधानी बनाया। विजय अपने १२५४ ई० के सिंहसारिवाले अभिलेखमें अपनेको "नरसिंहनगर धर्म्मविशेष" की संतान और "नरसिंहमूर्त्ति" का पौत्र लिखता है। उसने राजा कृतनगरकी चार लड़कियोंको ब्याहा था। जावामें स्त्रियाँ उतनी अधिकारहीन नहीं थीं, शासनके काममें भी वह हाथ बँटाती थीं। कृतराजसके मरनेके बाद (१३०९ ई०) उसकी सबसे छोटी लड़की तथा कृतनगरकी दौहित्री "राजपत्नी" ने राजगद्दी सँभाली। कृतराजने जावामें फिरसे शांति और व्यवस्था स्थापित की। यह भारतमें अलाउद्दीन खिलजीका समय था, जिसके शासनमें भारतके बचे-खुचे हिन्दू-राज्योंका भी संहार हो रहा था। कृतराज अपने पूर्वज राजाओंकी भाँति बुद्ध और शिव दोनोंका भक्त था। उसने शैव और बौद्ध दोनों प्रकारके दो स्मारक मंदिर बनवाये, जिनमें बौद्ध मंदिर मजपहितमें राजप्रासादके भीतर था और शैव मंदिर सिम्पिङ (वर्त्तमान चंदी-सुम्बेरू, यतिब्लितरके दक्षिणमें) में। सिमपिङका शिवालय अब नहीं रहा, लेकिन हरिहरके रूपमें राजाकी सुन्दर मूर्त्ति आज भी जाकर्ताके संग्रहालयमें मौजूद है। मजकरताके दक्षिण-पश्चिममें अवस्थित रीम्बीके मंदिरमें मौजूद पार्वतीकी मूर्त्ति वस्तुतः उसकी सबसे बड़ी रानी त्रिभुवनाका है।

कृतराजके बाद उसका पुत्र जयनगर गद्दीपर बैठा। जयनगरकी दो सौतेली बहनोंको कहुरीपन-राजकुमारी और दाहा-राजकुमारीकी पदवी मिली।

जयनगरका शासन बहुत विद्रोह और अशांतिपूर्ण रहा। एक बार तो राजाको भी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा। उस वक्त उसके साथ सिर्फ उसके १५ शरीर-रक्षक और मंत्री गजमद रह गया था। गजमद बड़ा ही चतुर पुरुष था। जल्दी-जल्दी ऊपर उठते हुए वह अन्तमें १३३१ ई० में प्रधान मंत्री बन गया।

इस वक्तकी राजमुद्रामें "श्रीसुंदरपांडचदेवाधीश्वर राजाभिषेक विक्रमोत्तुङ्गदेव" लिखा रहता था। मोहरके ऊपर मीनद्वय (दो मछलियों)का चिह्न है। पांडचदेवके साथ दो मछलियोंका लाञ्छन बतलाता है, कि जावा और मदुराके पांडचोंके बीच कोई घनिष्ट संबंध था—पांडचोंका राजलांछनमें भी दो मछलियाँ थीं।

(४) बौद्ध भिक्षुणीका राजशासन (१३२८-५० ई०)—

जावा-दरबारमें उस वक्त "धर्मपुत्र" नामके उच्चश्रेणीके दरबारी थे, तञ्च धर्मपुत्र राजवैद्य भी था, जिसकी स्त्रीके साथ राजाने बलात्कार किया। तञ्चने फोड़ा चीरते वक्त राजाको मार दिया। गजमदने उसका भी काम तमाम कर दिया। १३२८ में जयनगरके मरनेपर उसकी कोई सन्तान न थी, सबसे नजदीककी उत्तराधिकारिणी कृतनगरकी पुत्री तथा कृतराजसकी विधवा "राजपत्नी" थी। राजपत्नी बौद्ध भिक्षुणी हो गई थी, इसलिये उसकी ज्येष्ठ कन्या "त्रिभुवनोत्तुङ्ग देवी जयविष्णुवर्द्धनी" ने माताका स्थानापन्न हो राज-काज सँभाला। अपने शासन-कालमें उसे "मजपहितकी रानी" और उसके पुत्र भावी राजाको "जीवनराजकुमार" कहा जाता था। जयविष्णुवर्द्धनीका व्यक्तिगत नाम गीत-आर्या था। गीत-आर्याने चक्रधर या चक्रेश्वर नामक क्षत्रियसे व्याह किया था, जिसे "कृतवर्द्धन" उपनाम तथा सिंहसारि-राजाकी उपाधि मिली थी।

१३७१ ई० में सदेङ् और केताने विद्रोह किया, जिसे राज-सेनाने दबा दिया। इसी साल दाहाका-प्रदेशपति गजमद (गजः-मद) प्रधान मंत्री (मजपहित-पति) बना। अबसे मजपहितके शासनमें गजमदका भारी हाथ हुआ।

गजमदने कई द्वीपोंको जीता, जिनमें पहङ् (मलय प्रायद्वीप) और तङ्-जुङ्पुर (बोर्नियो) भी सम्मिलित थे। मलायापर फिर जावाका शासन था। १३३८ ई० में बालीपर भी अधिकार हो चुका था, जहाँ स्थानापन्ना रानी "राजपत्नी" ने एक बौद्ध विहार बनवाया था।

रानी "राजपत्नी" १३५० ई० में मरीं। कदिरीमें भयालङ्गो (विशेषपुर) में प्रज्ञापारमिताके रूपमें उसकी मूर्त्ति स्थापित की गयी। अब स्थानापन्ना रानी त्रिभुवनोत्तुङ्गदेवीका पुत्र राजा हयङ् वुरुख नानीकी जगह १६ वर्षकी उम्रमें राजगद्दीपर बैठा, जिसे अभिषेकके वक्त राजसनगर नाम दिया गया। उसके "भटारप्रभु" (भट्टारक प्रभु) "रदेन्-तेतेय", "सीवयिपेत", "म्पू-जनेश्वर" आदि कई और नाम थे। उसने १३७०, १३७७, १३७९ और १३८० ई० में चीन-सम्राटके पास भेंट भेजी थी।

(५) राजसनगर (१३५०-९८ ई०)—

१३५७ ई० में सुन्दा राजकुमारीसे राजसनगरका ब्याह ठीक हुआ। राजाने सुन्दाधिपतिको सूचित किया, कि वह अपनी कन्या लेकर मजपहितके पास बूबत्में आवे। मजपहित-नृपतिने सुन्दाके राजाको अधीन सामंतकी तरह मानकर ब्याह करना चाहा, किन्तु सुन्दावाले इसके लिये तैयार न थे। मजपहितकी सेनाने कन्यापक्षके दलको घेर लिया, किन्तु सुन्दावालोंने अपमानित होनेकी जगह मरना पसंद किया और लड़कर एक-एक करके प्राण दे दिया। उसी संघर्षमें दुलहिन भी मरी। इसके बाद राजाने बेङ्-केरकी राजकन्या परमेश्वरी (सुषुम्नादेवी) से ब्याह किया।

इसी राजाके राज्यकालमें १३६५ ई० में "नगरकृतागम" नामक पुस्तक लिखी गई थी, जिसमें राज्यके कई विभागोंका नाम दिया गया है—

(क) मलयू (सुमात्रा)—जम्बी, पलेम् वङ्, करितङ् (इन्द्रगिरिसे दक्षिण), तेबा, धर्माश्रय, कंदिस (कंदी), कावस, मनङ्कबवा, रेकाङ्, सीयक्, कम्पर, पने, काम्पे, हारू, मन्दाहिलिङ्, तमिहङ्, पर्लक, वरत्, लवस्, समुद्र (सुमात्राके उत्तरी भागमें मलिकसालेह द्वारा १२८६ ई० के करीब स्थापित इस्लामिक-राज्य), लमूरी, बतूरी, लामयुङ् और बरुस।

(ख) तन्जुङ नगर (बोर्नियो)—कयुहस्, कतिङ्गान्, सामपित्त्, कुतलिङ्गा, कुतवरंगिनि, कुतसंबस, लपइ, कदङ् दङन, लंदक, समेदङ्, तिरेम्, सेदु, (सरावकमें सदोङ्), बुरुनेङ्, कल्का-सरिबस्, सलुदुङ्, सोलुत्, पशिर, बरितू, सवकू, तबलुङ्, तङ् जुङ कुते (कुतेइ), मलनो, तङ्-जुङ्पुरी (राजनाधी)।

(ग) पहङ् (मलया)—हुजुङमेदिनी (जोहोर), लङ्काशुका (केडा), शयि, कलेन्तेन, त्रिङ्नो, नो, नशोर, पका, मूवर, दुङुन्, तुमसिक् (सिङ्गापुर), सङ्हयाङ्-हुजुङ्, केलङ्, केदा, जेरे, कन्जय और निरान्।

(घ) पूर्वी द्वीप—बाली, गुरून्, तलिवङ् दोङ्-पो-मीम (सुम्ब-वा), सङ् याङ्-अपि, सेराङ्, हुताङकदली, गुरुन् (गोरोङ), लम्बोक्-मीरा, शाक-शकबान् तयन्, लुवुक, उडमक-त्रय, मकसर,

बतुन, बङतु-ग-वीं, कुनिर, गलियाहो, सलय, सुम्बा, सोलोद्, मुअर, वन्दन्, अम्बवन्, मलो-को (मोलक्कस्), वानिन् (न्यूगिनीसे उत्तर-पश्चिम), सेरन् (न्यूगिनीसे दक्षिण) और तिमुर्

इस सूचीको देखनसे पता लगता है, कि फीलीपीनको छोड़कर इस क्षेत्रके सारे द्वीप मजपहित राज्यमें शामिल थे, अर्थात् सेलीबीज छोड़ मलय प्रायद्वीपके साथ सारी इन्दोनेसिया। लेखक मजपहित-दरबारका आदमी था, इसलिये हो सकता है, यहाँ कुछ अतिशयोक्तिसे काम लिया गया हो; लेकिन इस सूचीपर अधिक संदेह करनेकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि बाली, पश्चिमी बोर्नियोमें जावाके अधिकारके समर्थक अभिलेख भी मिले हैं। १३६५ ई० में इस ग्रन्थके लिखते समय जावाका राज्य-विस्तार और वैभव चरम उत्कर्षको पहुँचा था। उस समय मजपहित राज्यका अयोध्यापुर (स्याम), धर्मनगरी (लिगोर), मर्तवान, राजपुर, सिंहनगरी, चंपा (दक्षिणी अनाम), यवन (उत्तरी अनाम) और कम्बोज (कम्बोदिया) के साथ मित्रतापूर्ण संबंध था।

जम्बू द्वीप (उत्तरी भारत), कम्बोज, चीन, यवन, चंपा, कर्नाटक, गौड़ आदिके व्यापारी, विद्वान् पण्डित और प्रसिद्ध भिक्षु जावामें आते रहते थे। उत्तरी भारतके प्रति जावाकी विशेष श्रद्धा थी। ग्रन्थमें लिखा गया है कि जम्बूद्वीप और जावा दो सबसे सुंदर देश हैं। काञ्चीके भिक्षु बुद्धादित्य और दक्षिणके ब्राह्मण मुतली (मुदली) सहृदयने जावाके राजाकी प्रशंसामें कविताएँ लिखी थीं।

राजसनगरके राज्यकालके इस वैभवमें प्रधान मंत्री गजमदको कम श्रेय नहीं था। १३६४ ई० में गजमदकी मृत्यु हुई, किन्तु उसके स्थानपर किसीको नियुक्त न कर उस स्थानपर "भटारसप्तप्रभु" सहित परिषद् स्थापित की गयी, जिसमें निम्न सात भट्टारक थे—

राजा, उसके पिता, माता, चाचा, चाची, दो बहनें तथा दो और व्यक्ति दोनों बहिनोंके दोनों पति थे। गजमदको "कुटारमानव" नामक ग्रन्थका लेखक भी बतलाया जाता है।

१३७१ ई० में गजएङ्गोन् प्रधान मंत्री बना, जो राजसनगरके बाकी बारह वर्षों तथा उसके उत्तराधिकारीके समय भी प्रधान मंत्रित्व करते १३९८ ई० में मरा।

अब मजपहितके राजसिंहासनपर 'विक्रमवर्द्धन ह्याङविशेष' आसीन हुआ। विशेषका पुत्र 'ह्याङ्वेकस-इङ्-सुख' युवराज्ञीका लड़का और राजसनगरका नाती होनेके कारण युवराज और बड़े उच्चपदका अधिकारी था। युवराज नये प्रधान मंत्री गजमङ्गुरिके नियुक्त होनेके दूसरे वर्ष १३९९ ई० में मर गया। राजा विशेषको इसका बहुत धक्का लगा और १४०० ई० में उसने वैराग्य ले लिया—"महाराज विक्रमवर्द्धन भगवान बन गये,"—भगवानसे मतलब यहाँ भिक्षु या संन्यासी है; लेकिन भगवान बननेपर भी उसने राजकाजको हाथसे नहीं छोड़ा।

§ ८. अंतिम हिंदू राजा

विक्रमवर्द्धनकी मृत्यु १४३६ ई० के आसपास हुई, जिसके बाद उसकी लड़की सुहिता राजगद्दीपर बैठी। विक्रमवर्द्धन (विशेष)के राज्यसे ही जावामें विद्रोह और गृह-कलह बढ़ चली। उसके प्रतिद्वंद्वियोंमें एक वीरभूमि पूर्वी जावा पर स्वतंत्र शासन कर रहा था। १४०१ में विक्रमवर्द्धन और वीरभूमिके बीच लड़ाई हुई, किन्तु उस समय निर्णय नहीं हो सका। अन्तमें १४०६में

कई सामंतोंकी सहायता मिलनेपर राजकीय सेनाने वीरभूमिके राजाको हराया और उसका सिर काटकर मजपहित भेजा। यद्यपि वीरभूमिके मरनेके बाद जावामें एकता स्थापित हो गई, किन्तु अब राज्यमें इतनी शक्ति नहीं थी, कि बाहरवाले देशोंपर अपना अधिकार स्थापित रख सके। चीनी-स्रोतसे पता लगता है, कि १४०५ में बोर्नियोके राजाने चीन-सम्राटको सूचित किया, कि अब वह जावाके अधीन नहीं है। इसके बाद बोर्नियोका राजा चीन-दरबारमें भेंट भेजता रहा और कभी-कभी स्वयं भी अपने परिवारके साथ भक्ति-प्रदर्शनके लिये चीन-दरबारमें गया। श्रीविजय (सुमात्रामें) पहले जावाके अधीन माना जाता था, किन्तु १४०५ और उसके बाद जावासे बिना पूछे चीन और श्रीविजयमें दूत और भेंटका आदान-प्रदान होने लगा। तेरहवीं शताब्दीके आरंभसे ही समुद्र (सुमात्रा) में इस्लामकी शक्ति बढ़ने लगी थी और कुछ ही समय बाद उसने प्रमुख इस्लामी राज्यका रूप धारण कर लिया। १४०५ में समुद्रने चीन-सम्राटके पास भेंट भेजी और उसे "समुद्र-राजा" की उपाधि मिली।

मलय प्रायद्वीपमें भी पहङ्, केलङ्तन अब चीन-दरबारमें भेंट भेजने लगे थे। इस समय मलायाका सबसे शक्तिशाली शासक मलक्काका सुल्तान था। उसने स्यामसे रक्षा पानेके लिये चीनसे सहायता माँगी, और १४०५ में चीनने उसकी सहायता की। आगे अब सुल्तानने और हाथ-पैर बढ़ाना चाहा और जावाके अधीन माने जानेवाले पलेम्बङ्ग (सुमात्रा) पर अधिकार कर लिया। मल्लक्कासे बचनेके लिये राजा विक्रमवर्द्धनको चीनके प्रति अधिक भक्ति प्रदर्शन करनेकी अवश्यकता पड़ी और १४१५ ई० के बाद उसने इसका और भी क्रियात्मक प्रमाण देना आरंभ किया। १४१५, १४१८, १४३२ ई० में जावाने चीन-दरबारमें भेंट भेजी। यह वह समय था, जब कि चीनमें मंगोलवंशका शासन (१३६८ ई० में) उठ जानेपर भी सारा इन्दोनेसिया, हिन्दी-चीन, स्याम और बर्मा ही नहीं, कालीकट और सिंहल तक चीन-दरबारमें भेंट भेज उसके अनुग्रहकी याचना करते थे।

विक्रमवर्द्धनकी पुत्री सुहिताका शासन १४४७ ई० में समाप्त हुआ। उसके कोई सन्तान नहीं थी, इसीलिये गद्दीपर उसका छोटा भाई 'ब्रे-तुमपल' श्रीविजयके नामसे चार साल राज्य करके १४५१ ई० में मरा। फिर जो राजा मजपहितके सिंहासनपर बैठे, वह थे—राजसवर्द्धन (१४५२ ई०), भ्राह्यङ-पूर्वविशेष (१४५६-६६ ई०), ब्रेपण्डन्-सलस सिंहविक्रमवर्द्धन (१४६६-६८ ई०)।

१४७३ ई० के एक ताम्रलेखमें सिंहविक्रमवर्द्धनको यवभूमिका एकमात्र राजा कहा गया है। १४७८ ई० में मजपहित राज्यको जीतकर मुसलमानोंने जावासे हिन्दू राज्यका सदाके लिये उच्छेद कर दिया।

यद्यपि पीछेकी परंपरा यही कहती है, किन्तु वह पूर्णतया सत्य नहीं है। १४८६ ई० के कई अभिलेख मिले हैं, जिसमें एक हिन्दू राजाका नाम उल्लिखित है। हो सकता है, १४७८ (या १४८१) में मजपहित राज्य नष्ट हो गया हो। किन्तु उसके नष्ट करनेका श्रेय मुसलमानोंको नहीं, एक दूसरे हिन्दू राजाको है। अथवा मुसलमानोंके १४७८ ई० में मजपहित-विजयके बाद भी एक दूसरा हिन्दू राजवंश शासन करने लगा था। १४८६ ई० के शिलालेख सुराबया और बजसरीके पास मिले हैं। "भट्टारप्रभु गिरीन्द्रवर्द्धन रणविजय" ने यह अभिलेख खुदवाये थे। रणविजय मजपहितके विरुद्ध लड़ा था, इसका भी वहाँ उल्लेख है। यह सिद्ध है, कि दाहाका राजा रणविजय मजपहितको हटाकर स्वयं जावाका राजा बना। एक

अभिलेखमें उसे विल्वतिक्त, दहा, जंगल और कदिरीका राजा कहा गया है। उक्त अभिलेखोंमें कहा गया है, कि चतुर्वेदपारंगत ब्रह्मराज गंगाधरने रणविजयके पिताका द्वादश वार्षिक श्राद्ध कराया था। राम और ऋषि भरद्वाजकी मूर्त्तियोंकी स्थापना तथा राम, विष्णु, यम और दुर्गाकी पूजासे भी निश्चित है, कि १४८६ ई० में जावामें अभी शुद्ध हिन्दू राजवंश शासन कर रहा था और प्रजा हिन्दू थी।

§ ६. इस्लामकी विजय

सुमात्रा और मलायाके बारेमें लिखते हुए हम बता चुके हैं, कि कैसे एक जावी सर्दारने अपने शत्रुओंसे भागकर मछुओंके अकिंचन गाँवमें पहुँच सामुद्रिक डकैती, व्यापार और दूसरे साधनोंसे मलक्काकी समृद्धिको बढ़ाया। उसके लड़के मुहम्मद इसकन्दरशाहने १४१४ ई०में जब बापका स्थान लिया, उस समय सुमात्राके उत्तरी तटपर इस्लाम फैला हुआ था, किन्तु अभी भीतरी भागोंमें उसका प्रवेश नहीं था। समुद्र-तटके इन व्यापारी नगरोंमें दुनियाके कोने-कोनेसे पण्य और धन एकत्रित हो रहा था। मुस्लिम धनकुवेरोंके ऐश्वर्यको देखकर तटवर्त्ती छोटे-छोटे सामन्त और सर्दार सिहाते थे। दासताका उस समय अकंटक राज्य था। सबसे मूल्यवान् तथा सुन्दर दासियाँ इन मुस्लिम धनकुवेरोंके पास थीं। उनके पास धन भी था, सुन्दरियाँ भी थीं, फिर छोटे-छोटे सामन्त उनकी ओर आकृष्ट हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इस प्रकार मलय और सुमात्रा द्वीपके तटोंपर फैला इस्लाम विवाह द्वारा भीतर घुसता गया। सुमात्रा और मलायाके बाद जावाके तटपर भी इस्लामका प्रभाव बढ़ने लगा। जावामें सबसे पुरानी मुस्लिम क़ब्र मैमूनकी कन्याकी है, जिसका समय १०८२ या ११०२ ई० है। मलिक इब्राहिमकी क़ब्रपर १४१९का अभिलेख है। नूरुद्दीन इब्राहिम बिन-मौलाना इसराइल एक ईरानी व्यापारी थे, जो चेरीबोनमें आकर बस गये। सुनन गुनो यतीके नामसे प्रसिद्ध यह जावाका प्रथम मुस्लिम धर्मोपदेशक भारी सन्त माना जाता है। जती नाम ही से मालूम होता है, कि उसने हिन्दू साधुओंका-सा बाना बना रक्खा था, यद्यपि सबसे पहले वह एक बड़ा व्यापारी था। मौलाना गुनो जतीके दो पुत्रोंमें मौलाना हसनुद्दीन एक अच्छा योद्धा था। इस वक़्त तक पोर्तुगीज भी इन्दोनेसियामें आ पहुँचे थे।

डच और अंग्रेज तो पूरबमें केवल व्यापारके लिए आये थे, किन्तु पोर्तुगीजोंका लक्ष्य इनसे कुछ ऊँचा था। वे मध्यकालके उन ईसाई योद्धाओंमें से थे, जो अपने पवित्र तीर्थोंको मुसलमानोंके हाथोंमें देखना नहीं चाहते थे। मुस्लिम-जगतसे उनका धर्म-युद्ध छिड़ा हुआ था। पहले वह ईरान और फिलस्तीनमें लड़ते रहे। वे आगेसे उनसे लड़ते थे, फिर पीछेसे आकर अरब व्यापारिक प्रभुताके मूलको उखाड़कर इस्लामको मिटा देना चाहते थे। १४९८में वास्को द-गामा कालीकट पहुँचा था, तब तक जावाके हिन्दू मजपहित राज्यको समाप्त हुए बीस वर्ष बीत चुके थे। द-गामाके संरक्षक पोर्तुगालके राजाकी आज्ञा थी, कि भारत एवं मेसोपोतामियाके बीच अरबोंके यातायातको बन्द कर दिया जाय। बड़े संघर्षके बाद वह भारत-महासागरके पश्चिमार्धपर अधिकार करनेमें सफल हुआ। बाकी कार्यको नाविक योद्धा अलफान्सो अल्बूकर्कने पूरा किया। अल्बूकर्कने अपने अधिकारारूढ़ रहनेके समय (१५०९-१५१५)के छ वर्षोंमें सुदूर-पूर्वका रास्ता अपने देशवासियोंके लिए खोल दिया। अल्बूकर्क जिस समय भारत पहुँचा, उसी समय एक पोर्तुगीज जहाज भी मलक्काके सुलतानसे पीड़ित और अपमानित होकर लौटा था;

अल्बूकर्कने कैसे उसका बदला लिया, यह हम पहिले बता चुके हैं। अल्बूकर्कने पहले गोवापर अधिकार किया। अब उसे भारतमें पैर रखनेका स्थान मिल गया था। १५११ ई०में वह सुलतान मलक्काको अपमानका बदला चुकाने चला, जिसके साथ इन्दोनेसियामें इस्लाम और ईसाई धर्मका युद्ध शुरू हो गया। अब तक इस्लामकी जड़ हिन्दू इन्दोनेसियामें गहरी नहीं जमी थी। पोर्तुगीज मैदानमें उतरे, पर अन्तमें विजय इस्लामकी हुई, ईसाइयत सफल न हो सकी। हाँ, अल्बूकर्क अवश्य मलक्का-सुलतानको नतमस्तक करनेमें सफल हुआ।

मलिक इब्राहिम अल्बूकर्कके पहुँचनेसे पहिलेही चेरबोनमें पहुँच चुका था। वास्को द-गामा के बाद जावाकी तरफ गये पोर्तुगीजोंने लिखा है, कि यद्यपि जावाके तटवर्ती नगर बहुत करके मुसलमानोंके हाथमें है, किन्तु अब भी वे हिन्दू राजाके शासनको मानते हैं। कस्तनहेदाने इसी समय लिखा था—"जावाका राजा काफिर (हिन्दू) है। वह समुद्र-तटसे भीतरकी ओर रहता है। वह बहुत भारी राजा है। उसके पास बहुत भूमि और प्रजा है। किनारोंपर मुसलमान अमीर हैं, किन्तु (सभी हिन्दू) राजाके अधीन हैं। वे कभी-कभी राजासे विद्रोह करते हैं, पर फिर अधीन बना लिये जाते हैं।" मलक्काका पोर्तुगीज शासक रे द-ब्रितोने जनवरी १५१४में राजा मैनुअलके पास लिखा था—"जावा एक बड़ा महाद्वीप है। यहाँ दो काफिर राजा हैं—एक सुन्दाका राजा और दूसरा जावाका। समुद्र-तट मुसलमानोंके अधीन हैं, वे बड़े बलशाली हैं। बड़े अमीर और व्यापारी अपनेको इन स्थानोंका सुल्तान कहते हैं। वे बड़े धनी हैं। उनके पास बहुत जहाज़ हैं। वे सदा मलक्काके साथ व्यापार करते हैं। उनमें से कुछ हमारे दोस्त हैं और कुछ भारी शत्रु।"

इतालियन नाविक पीगाफेत्ताका जहाज़ १५२२के जनवरी-फरवरीमें तिमूर द्वीपके तटपर ठहरा था। उसने अपनी यात्रा-पुस्तकमें लिखा है—"जावामें सबसे बड़े नगर हैं: मजपहित, सुन्दा, दाहा, देमक, गजमद, मेतरामन्, जपरा, सिदयू, तुबान्, ग्रेसिक, सुराबया और बाली।" मजपहितका राजा "राजापती ऊनुस" इन सारे द्वीपोंका सबसे बड़ा शासक था।

मजपहितके पतनमें किस तरह गिरीन्द्रवर्द्धन रणविजयका हाथ था, यह हम कह आये हैं। रणविजयके इस काममें मुसलमानोंने सहायता की थी, किन्तु अन्तमें रणविजयका भी खात्मा हुआ और इस्लामने जावापर अपनी ध्वजा गाड़ दी। जब पोर्तुगीज जावा पहुँचे और हिन्दू राजाओंको पोर्तुगीजों तथा मुसलमानोंकी शत्रुताका पता लगा, तो उन्होंने पोर्तुगीजोंसे मदद लेनी चाही, किन्तु वे कालको अधिक भुलावा नहीं दे सके। शत्रु उनके घरमें थे। ऊँच-नीच, जाति-पाँतिके कारण उनकी शक्ति—सामाजिक एकता—छिन्न-भिन्न हो गयी थी। बकरेकी माँ कब तक खैर मनाती? किनारेके नव-मुस्लिम सर्दारोंने १५२२से १५२६के बीच सुन्दाके हिन्दू राज्यको भी खतम कर दिया। सुन्दा और मजपहितका पतन जावामें भारतीय संस्कृतिके लिए घातक प्रहार था। डेढ़ हजार वर्षसे फूलती-फलती भारतीय संस्कृति अब दम तोड़नेके लिए मजबूर हुई। मौतका वारंट निकल चुकनेपर भी वह वहाँसे तुरन्त नहीं मिटी। पुरातत्त्वके अवशेषोंसे पता लगा है, कि शत्रुओंसे उत्पीड़ित हो हिन्दुओंने विलिश, लवू और मेरबाबूके दुर्गम पहाड़ोंमें शरण ली; किन्तु अब घर-घर विभीषण हो चुके थे, लंका कब तक खड़ी रहती! पूरबमें स्मेरोय (सुमेरु)के पर्वतोंने कुछ दिन शरण दी और सोलहवीं सदीके मध्यमें एक पोर्तुगीज लेखकके अनुसार मुसलमान आक्रमणकारी पशूरुहानपर घेरा डालके खाली हाथ लौटे थे। अकबरके अन्तिम समय १६०० ई०में पलम्बङनमें अब भी एक

स्वतंत्र हिन्दू राज्य बचा हुआ था। जावामें जब शरण-स्थान नहीं रह गया, तो बचे-खुचे हिन्दू बालीमें भाग गये। जावाके विजयके बाद इस्लाम मदुरामें पहुँचा। वहाँके राजा और सर्दारोंने प्रसन्नताके साथ इस्लाम स्वीकार किया। इस्लाम स्वीकार करनेके बाद मंदिरों और मूर्त्तियोंकी खैर कैसे रह सकती थी! फलतः मदुरामें उन्होंने मंदिरोंका निशान तक नहीं रहने दिया, तो भी हिन्दू शक्तिका अन्तिम विनाश १७६७में पलासी-युद्धके दस साल बाद हुआ, जब कि पलेम्बगन्को ईस्ट इण्डिया कम्पनीने खरीद लिया।

तेङ्गनके पर्वती इलाक़ेके लोगोंने और पीछे तक इस्लामको नहीं स्वीकार किया था।

मौलाना मलिक इब्राहीम या गुनाजती जावाके प्रथम वली माने गये हैं। मजपहितके सभी सामन्तोंको मुसलमान बनानेका श्रेय इसी मौलानाको दिया जाता है। मौलानाका वासस्थान ग्रेसिक (चेरीबोन) इस्लामिक प्रचारका केन्द्र बन गया। मजपहितके छोटे-छोटे मुसलमान सामन्त देमकके सामन्त रदेनपताके नेतृत्वमें एकताबद्ध हो गये। परंपरा इसी रदेनपताको इस्लामका सबसे बड़ा जहादी बतलाती है। रदेनपताके उत्तराधिकारी पंगेरन्त्र-ङनाने जेहादका झंडा पहले ही की तरह आगे बढ़ाया। पसूरुवनके घेरेके वक़्त उसके नौकरने उसे मार डाला और जैसा कि पहिले कहा, सेनाको खाली हाथ लौटना पड़ा।

त्रङनाके मरनेके बाद जो अराजकता फैली, उसमें उसका राज्य, चेरीबोन, जयकर्ता और बन्तम् पश्चिममें, ग्रेसिक और कदिरी पूरबमें तथा देमक और पाजङ जावाके केन्द्रीय भाग-में—अलग-अलग रियासतोंमें बँट गये। पाजङमें जीपङ और उसका सर्दार तिङ्किर शामिल हो गया। तिङ्किर मजपहित-वंशका राजकुमार था, ग्रेसिकके इस्लामिक धर्माचार्यने उसे सुल्तान घोषित किया। राजा-महाराजाकी जगह जावामें यह पहली बार सुल्तान शब्दका प्रयोग हुआ था। सुल्तान तिङ्किरने अपने एक विश्वस्त नौकरको मतराम्के इलाक़ेका शासक बनाया। उसका नाम कियाही-अगेन-पमनहन था। पमनहनने उसके राज्यकी उन्नतिके लिए प्रयत्न किया। पमनहनका पुत्र सुतविजय सुल्तानका दामाद था। विजय सुल्तानको ज़हर देते हुए पकड़ा गया, उसे क्षमा दी गयी; किन्तु पीछे फिर विद्रोहकर उसने ससुरसे राज्य छीन लिया और मताराममें एक नये राजवंशकी स्थापना की, जिसने उसके उत्तराधिकारी अगेङ् (१६१३-१६४६ ई०)के समय सारे जावाका आधिपत्य किया; जावा ही नहीं, मदुरा और पश्चिमी बोर्नियो (सुकदन)पर भी उसका अधिकार था।

§ १०. परतंत्र जावा

आगे डच ईस्ट इण्डिया कम्पनीने अपने प्रभावको बढ़ाया। मुसलमानोंकी एकता उस समय बड़े कामकी सिद्ध हुई। अगेङ्को मक्कासे सुल्तानकी उपाधि (१६३० ई०) मिलनेसे पहले सुसूहूननकी पदवी मिली थी।

सर्वप्रथम पोर्तुगीज जावामें पहुँचे थे और उन्होंने जावामें जहाँ-तहाँ कोठियाँ भी खोल दी थीं, किन्तु अब डच भी वहाँ पहुँचने लगे और उन्होंने १६०० ई०में अम्बोयना द्वीपके लोगोंसे सन्धि करके वहाँ दुर्ग बनानेका अधिकार प्राप्त किया।

अकबरके मरनेके थोड़े ही दिनों बाद इन्दोनेसियामें डच पहुँच ही नहीं गये, बल्कि बताविया जाकरता (?) में उन्होंने अपने लिए एक क़िला भी बना लिया था। १६२८-२९ ई०में अगेङ्ने जाकरता पर असफल आक्रमण किया। पहिले सुल्तानके बाद उसका पुत्र मंकूरत प्रथम गद्दीपर

बैठा और डच कम्पनीसे मित्रताकी सन्धि की—ऐसी मित्रता जिससे बढ़कर शत्रुता कोई हो नहीं सकती थी। जाकरताके डचोंने अब चेरिबोन और बन्तम्को एक दूसरेसे लड़ाना शुरू किया। सुसूहुनन पगर डचोंकी कठपुतली बुवानो प्रथमके नामसे मतरामका प्रथम सुल्तान माना गया और धीरे-धीरे डचोंने राज्यको इतना हाथमें कर लिया कि पकोबुवानो द्वितीयने १७४९में अपना राज्य कम्पनीके हाथ लिख दिया। बुवानोके भाईने गोरिल्ला युद्ध शुरू कर दिया। मतारम राज्य सुराकर्ता और जोग्जाकर्ताके दो टुकड़ोंमें बँट चुका था, जिनमें पकोबुवानो तृतीयका चचा मंकू-बूमी जोग्जाकर्तामें रहने लगा, और पंगेरन-अधिपति मंकूनेगरा सुराकर्तामें। मतराम टुकड़े-टुकड़े होकर अत्यन्त निर्बल हो चुका था। १८१५-३० तक डचोंके अत्याचारसे तंग आकर जावावालोंने विद्रोह कर दिया, जिसे डचोंने अमानुषिक अत्याचारके साथ दबा दिया। १८८८, १९०२, और १९१०में भी विद्रोह होते रहे और हर बार डच उसी तरह अपने खूनी हाथोंसे उनको दबाते रहे। जिस समय नेपोलियनने हालैण्डको भी अपने हाथमें कर लिया था और अंग्रेजोंसे उसकी प्रतिद्वंद्विता छिड़ी हुई थी, उसी वक़्त अंग्रेजोंने भारतसे सेना भेजी। एक सौ जहाज़ोंके बेड़े और बारह हजार सिपाहियोंके साथ लार्ड मिंटो मलक्कासे चला। ३ अगस्त, १८११ ई०को वह बताविया (जाकरता) के सामने पहुँचा और छ सप्ताहमें लड़ाई समाप्त हो गयी, जब कि १८ सितम्बरको डचोंने आत्म-समर्पण कर दिया। तिमोर, मकासर और पलेम्बङके साथ जावा ब्रिटिश प्रदेश बन गया, किन्तु नेपोलियनके पतनके बाद फिर इन्दोनेसियाको ९ अगस्त, १८१६को डचोंके हाथमें दे दिया; पर अंग्रेजोंने सिंगापुरको नहीं देना चाहा। १८२४ ई०में डचों और अंग्रेजोंकी दूसरी सन्धि हुई, जिसका प्रभाव वहाँ हाल तक भी चला जा रहा था।

§ ११. नवीन जावा

इन्दोनेसिया डचोंके क्रूर शासनके नीचे कराहती कई बार मुक्तिका प्रयत्न कर चुकी है। यद्यपि हर प्रयत्नके बाद हालैण्डका पञ्जा और कड़ा होता गया, लेकिन स्वतंत्रता-प्रेमियोंका साहस उससे टूटा नहीं।

अंग्रेजोंकी देखा-देखी डचोंने भी इन्दोनेसियामें पुराने कांग्रेसियों-जैसे नरम टाइपके नेताओं-को प्रोत्साहन देनेकी नीति स्वीकार की, किन्तु आन्दोलन आगे बढ़नेपर वे उन्हें कभी अपने हाथमें नहीं रख सके। "शरेकत-इस्लाम"ने सर सैयद अहमदके मुस्लिम-लीगके पथपर चलकर विश्व-इस्लामवादका झंडा उठाया। उसकी स्थापनासे कुछ वर्ष पहिले १९०८ ई०में रादेनसुतोमोने "बूदीउतमो" (उत्तम प्रयत्न) सभा स्थापित की। दोनों संगठनोंने पहिले अराजनीतिक होने की घोषणा की थी। आज भी यह दोनों संस्थायें इन्दोनेसियामें हैं। प्रथम विश्व-युद्धके बाद जावामें सोशलिस्ट-क्लब क़ायम हुई, जो पीछे इन्दोनेसिया कमूनिस्त पार्टीके रूपमें परिणत हो गई। १९२६में पश्चिमी जावामें विद्रोह उठ खड़ा हुआ। डचोंने कमूनिस्त पार्टीके १३० मेम्बरों और दूसरे राष्ट्रवादियोंको न्यूगिनीमें ले जाकर बन्द कर दिया और कितनोंको गोलियोंसे भूना, इसकी गिनती नहीं। उसके बादके राष्ट्रीय नेताओंमें सुकर्णो बड़े प्रभावशाली वक्ता हैं और आजकल वही वहाँके प्रजातंत्रके राष्ट्रपति हैं।

जापानियोंके अधिकारके समय इन्दोनेसियाके नेताओंने उनका विरोध किया और डचोंने उस समय बहुत मीठी-मीठी बातें कीं; लेकिन जापानकी हारके बाद ही अमेरिकन गोला-बारूद और डालरके बलपर डचोंने फिर इन्दोनेसियाको जीतकर पुरानी अवस्थामें रखनेका प्रयत्न

किया, किन्तु उसमें वे कैसे सफल हो सकते थे ? जावाके सात करोड़ नर-नारी पहिले ही की तरह चुपचाप हालैंडकी दासता कैसे स्वीकार कर लेते ?

यद्यपि इस्लामने अपनी सर्वत्र व्यवहृत नीतिकी तरह इन्दोनेसियाकी पुरानी संस्कृति-का नाम भी नहीं रहने देना चाहा, किन्तु भारतसे आकर जावाकी भूमिपर विकसित संस्कृति-की नींव इतनी गहरी थी, कि उसका मूलोच्छेद करना आसान नहीं था। कोई समय था, जब भारतसे सुदूर सागरके बीचमें अवस्थित इस द्वीपकी सन्तानें पाठ किया करती थीं—

"ओम्। गंगा सिन्धु सरस्वती सुयमुना, गोदावरी नर्मदा।
कावेरी सरयू महेन्द्रतनया, चर्मण्वती वेणुका।
भद्रा वेत्रवती महासुरनदी, ख्याता च या गंडकी,
पुण्याः पूर्णजलाः समुद्रसहिता कुर्वन्तु मेमंगलम्"

यहाँ सारे भारतका चित्रपट अंकित है। बाली-निवासियोंके सामने अब भी यह चित्र अक्षुण्ण है। किन्तु मुसलमान होनेपर भी जावावालोंपर उनकी पुरानी संस्कृतिकी छाप बिल्कुल मिटी नहीं। एक लेखकने, उनके बारेमें लिखा है :—[1]

"यद्यपि जावी मुस्लिम अपने बाहरी कर्म-धर्ममें पक्के मुसल्मान हैं, किन्तु वह अपने प्रत्येक कामसे इस बातको साबित करते हैं, कि वैयक्तिक या जातीय मनोवृत्ति उनकी प्राग्-इस्लामिक विचारधारामें निहित है। 'अतयुदा' और 'रामायन'के नायक और पात्र तथा प्राग्-इस्लामिक कालके सन्त अब भी उन्हें प्रिय हैं। उनकी कहानियों एवं पँवारोंके 'राजा पिरंगोन्' और 'किताब-अम्बियामें'के खुदाके पैगम्बरके पूर्वगामी, साथी और सहायक माने जाते हैं।"

भारत उस दिन इन्दोनेसीय प्रजातंत्रपर डचोंके घातक-प्रहारको सुनकर तिलमिला उठा और उसने इस अत्याचारको मौन रहकर सहना स्वीकार नहीं किया। उसकी गोहारपर सारे एशियाने दिल्लीमें एकत्र होकर अपना विरोध प्रकट किया। उस दिन इन्दोनेसियाको भी मालूम हुआ, कि भारत उसके पुराने सम्बन्धको भूला नहीं है। इन्दोनेसीय स्वतंत्रता प्रेमियोंकी अंतमें जीत हुई। आज उनका देश डचोंसे मुक्त है। भारतकी गुलामीकी चार शताब्दियों बाद इन्दोनेसिया परतंत्र हुई, जिसमें दो सौ वर्ष तक तो वह हिन्दू रही। हिन्दू शब्दमें वहाँ बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही सम्मिलित समझिये। वस्तुतः आजके नेपालकी तरह वहाँ भी हिन्दू-धर्मको उस समय शिवमार्ग और बुद्धमार्ग कहा जाता था। हमने यह भी देखा कि हमारे यहाँके हरिहरवादकी तरह वहाँ भी समन्वके लिये शिव-बुद्धवाद भी चला था। आजके युगमें धर्मको वैयक्तिक माना जाता है। संस्कृति जातिकी सबसे महान एवं प्रिय निधि है। इस सिद्धान्तके अनुसार इन्दोनेसियामें भी धर्म वैयक्तिक वस्तु हो गया और संस्कृति—जो अब भी वहाँके साहित्य, संगीत, कला, नाट्यके रूपमें भारतसे अभिन्नता रखती है—का मान बढ़ेगा और दोनों देश एक दूसरेसे और समीप आयेंगे; यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ फिर हिंदू-धर्म स्थापित हो जायेगा।

[1] J. F. Scheltoma : Monumental Java, p. 124

अध्याय ५

बालीद्वीप

§१ भौगोलिक रूप

बाली २०९५ वर्गमीलका छोटा-सा द्वीप जावासे पूरबमें है। इसकी अधिकतम लंबाई ९३ मील और चौड़ाई ५० मील है। जनसंख्या १० लाखके करीब है। बाली भारतीय संस्कृतिके लिए बहुत महत्त्व रखता है—जैसे जावामें बुद्धमार्ग और शिवमार्गकी विभाजक रेखा नहीं दिखाई देती थी, उसी तरह बालीमें भी विभाजक रेखा खींचना मुश्किल है। वस्तुतः संस्कृति एक होनेपर धर्म व्यक्तिगत विश्वासमात्र रह जाता है। जावामें किस तरह सोलहवीं सदीके आरंभसे भारतीय धर्म शीघ्रतासे लुप्त हुआ, इसे हम बतला चुके हैं, किन्तु बालीमें वह अब भी अक्षुण्ण बना हुआ है। इसके लिए बालीवालोंको बहुत संघर्ष करना पड़ा। जावा और बालीके बीचमें केवल डेढ़ मीलकी खाड़ी है। इस्लामके जहादियोंने सदियों तक बालीपर धावा बोला, किन्तु इस दुर्गने भारतीय संस्कृति और अपनी जातीय अर्जित निधिको हाथसे जाने नहीं दिया। बालीके लोग जावावालोंकी अपेक्षा अधिक ऊँचे और शरीरसे मजबूत होते हैं। उनकी पार्वतीय भूमि भी आत्मरक्षामें बड़ी सहायक हुई। बालीने अपने साथ-साथ आसपासके कुछ दूसरे द्वीपोंको भी सुरक्षित रक्खा।

बालीके पहाड़ोंकी सबसे ऊँची चोटी गुनुङ्-अनुङ् १०४९९ फीट है, तबनन और बतुरके शिखर क्रमशः ७५००, ७३५० फीट ऊँचे हैं। उसके ऊँचे पहाड़ोंपर कहीं-कहीं हिमालयके जंगलोंसे भी सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। द्वीप छोटा होनेसे उसकी नदियाँ भी छोटी-छोटी हैं, इसलिए वह नौचालनके योग्य नहीं हैं, किन्तु सिंचाईके लिए बड़ी उपयोगी हैं। पहाड़ों पर बहुत-सी झीलें हैं। चारों ओर समुद्रसे घिरा और भूमध्य-रेखासे १३ डिग्री ही दक्षिण होनेके कारण वहाँ वर्षा खूब होती है। सारा देश एक सुन्दर उद्यान-सा दिखाई पड़ता है। भूमि बहुत उर्वर है और चावल, मक्का, मटर, कपास, काफी, तम्बाकू, गन्ना और गर्म देशोंके फल वहाँ बहुत पैदा होते हैं।

§२. ऐतिहासिक रूप

बालीका उल्लेख सबसे पहिले चीनके लियाङ्-वंश (५०२-५६ ई०) के इतिहासमें मिलता है। वहाँ लिखा है—"राजाका वंश-नाम कौडिन्य है, अबसे पहले उसका चीनके साथ कभी संबंध नहीं स्थापित हुआ था। उसके पूर्वजों और उनके कालके बारेमें पूछनेपर वह सिर्फ इतना ही बता सका, कि शुद्धोदनकी पत्नी मेरे ही देशकी कन्या थी। राजा बेलबूटेवला रेशमी वस्त्र शरीरमें लपेटता है। अपने सिरपर चीनी शिरस्त्राणकी आकृतिका एक बित्ता ऊँचा नाना भाँतिके

बहुमूल्य रत्नोंसे जटित स्वर्ण-मुकुट धारण करता है। स्वर्ण-जटित तलवार लिये वह एक सुवर्ण सिंहासनपर बैठता है। उसके पैर चाँदीके पादपीठपर रहते हैं। उसकी परिचारिकायें सुवर्ण-फूल और सब तरहके रत्नोंको पहिनती हैं। उनमें से कुछ श्वेत चवँर या मोर्छल धारण करती हैं। जब राजा बाहर निकलता है, तो उसके रथको एक हाथी खींचता है। रथ नाना प्रकारके सुगंधित काष्ठका बना होता है। रथके ऊपर पंखोंका चौरस चँदवा होता है, जिसकी दोनों तरफ जरीके पर्दे लटके रहते हैं, शंख और नगाड़े बजाते लोग उसके आगे-पीछे चलते हैं।"

इससे जान पड़ता है कि उस समय बालीद्वीप बहुत समृद्ध और संस्कृत तथा लोग बौद्धधर्म-को मानते थे। बालीके राजाने ५१८ ई०में अपना दूत चीन-दर्बारमें भेजा था। ईचिङ (सातवीं सदीका उत्तरार्द्ध)के लिखनेसे मालूम होता है, कि बौद्धधर्मके "मूलसर्वास्तिवादनिकाय" का वहाँ प्रचार था।

नये अनुसन्धानोंसे यह भी पता लगा है, कि बालीने जावा द्वारा नहीं, बल्कि भारतसे सीधे धर्म एवं संस्कृतिको प्राप्त किया था। बालीमें सबसे पुराना ताम्रपत्र ८९६ ई० (बबेतिन)का मिला है और ९१५ ई० (बबहन)के एक अभिलेखमें सर्वप्रथम जिस बालीके राजाका उल्लेख है, उसका नाम उग्रसेन था। यह अभिलेख पुरानी बाली भाषामें है, जो कि जावाकी भाषा (कवि)से भिन्न है। एरलाङके शासनसे पहले बालीका जावाके साथ उतना घनिष्ठ संबंध स्थापित नहीं हुआ था।

उग्रसेन (९१५-९३३ ई०)के बाद राजा तबनेन्द्र वर्म्मदेव (९५५ ई०) और चन्द्राभय-सिंह वर्म्मदेव (९६२ ई०)का पता मिलता है। ९७५ ई०में राजा जनसाधुवर्म्मदेव वहाँ शासन कर रहा था और ९८३ ई०में रानी श्री विजयमहादेवी सिंहासनपर थी। दसवीं शताब्दीमें श्री केसरीवर्म्माको आसपासके सभी द्वीपोंका अधिराज कहा गया है।

जावाके राजा धर्मवंशने बालीको जीता और उसकी ओरसे उदयन तथा महेन्द्रदत्ता उसपर शासन करते रहे। इस प्रकार १०२२ ई० के बाद अवश्य बालीके ऊपर जावाकी छाप पड़ती है। १२२२ ई०में कदिरी-राज्यका पतन हुआ। इस समयकी उथल-पुथलमें बाली स्वतंत्र हो गया। १२५० ई०में वहाँ परमेश्वर श्री आदिलाञ्छन राज्य कर रहा था। कृतनगरने बालीपर सेना भेजकर १२८४ ई०में वहाँके राजाको बन्दी बनाकर मँगवाया। कृतनगरके बाद आधी शताब्दी तक बाली फिर स्वतंत्र रहा। फिर मजपहित-वंशने कुछ संघर्षके बाद बालीपर अधिकार कर लिया, तबसे वह इस वंशके अधीन रह, जावाकी संस्कृतिसे अधिक प्रभावित हुआ।

जब मजपहित राजा इस्लामके सामने न टिक सके और अपनी प्राचीन परंपरापर दृढ़ जावी हिन्दुओंने बचावका दूसरा उपाय नहीं देखा, तो वे भागकर बालीमें चले गये। बाली इस प्रकार हिन्दू शरणार्थियोंका कैम्प बन गया और जावाकी प्राचीन संस्कृतिने अब बालीकी भूमिमें जाकर फूलना-फलना शुरू किया। बालीका आगेका इतिहास उसी इतिहासका अगला भाग है, जिसे कि मजपहितके पतनके बाद हमने छोड़ा था। जावाके शरणार्थी वहाँ काफी संख्यामें गये थे। आज वहाँके लोग अपनेको वोङ-मजपहित (मजपहितजन) कहकर अभिमान करते हैं। कुछ थोड़ेसे लोग दुर्गम पहाड़ोंमें बिखरे पुराने कबीले बाली-अगा (बाली-निवासी) कहे जाते हैं।

मजपहित-वंशका एक राजकुमार जाकर बालीका अधिराज बन गया। उसने गेलगेलको अपनी राजधानी बनायी और देव-अगुङ् केतुत्की उपाधि धारण की। उसके वंशने सत्रहवीं

शताब्दीके अन्त तक शासन किया। करङ्सेमके लोगोंने इसी समय राजधानीको जला दिया, जिसके बाद राजधानी क्लुङ्कुङमें गयी। १६वीं शताब्दीके तृतीय पाद अर्थात् अकबरके आरंभिक शासन-कालमें बतुरेङोङ् गेलगेलमें शासन कर रहा था। उसके राज्यमें सम्पूर्ण बालीके अतिरिक्त, सम्बवा और बलम्वंगनका भी कितना ही भाग था। उसके मरनेके बाद बालीकी शक्ति निर्बल हो गयी। वह दूसरे प्रदेशोंको अपने हाथमें नहीं रख सका। बलेम्बङ्गनको लेकर मतरामके सुल्तानके साथ बालीका झगड़ा हुआ। सुल्तानने १६३९ ई०में बालीपर असफल चढ़ाई की। बलेम्बङ्गन अठारहवीं सदीके अन्त तक बालीके हाथमें रहा, जब कि उसे डचोंने ले लिया।

डचोंके हाथमें सारा जावा, सुमात्रा और दूसरे द्वीप थे। उन्होंने बालीको भी अपने अधीन करना चाहा, लेकिन यह काम उतना आसान नहीं था। बहुत पीछे १८३९ ई०में बालीवालोंने अन्तमें डच-आधिपत्य स्वीकार किया, किन्तु वहाँके राजाओंकी स्वतंत्रवृत्तिको खतम करनेके लिए डचोंको बहुतसे अभियान भेजने पड़े। मजपहित-वंशके अन्तिम उत्तराधिकारी क्लुङकुङ्के देव (राजा) अगुङने और अधिक बर्दाश्त न कर १९०८ ई० में डच जुएको उतार फेंकनेकी कोशिश की, किन्तु बीसवीं सदीके आरंभमें डचोंकी आधुनिक अस्त्रशस्त्रसे सुसज्जित सेनाका वह कैसे मुकाबला कर सकता था? विजय हरेकके हाथमें नहीं जाती, किन्तु वीर बननेकी क्षमता हरेकमें है। डच सेनाने राज-प्रासादको घेर लिया था। सफलताकी कोई आशा नहीं थी। अपने और अपने परिवारके प्राण बचानेके लिए उसे बिना शर्त आत्मसमर्पण करनेको कहा गया, लेकिन क्षत्रिय वीरने इसे अपने शानके खिलाफ समझा और अपने स्त्री-बच्चों तथा सामन्तोंके साथ उसने हाथमें तलवार लेकर डच सेनाके ऊपर धावा बोल दिया। देव अगुङ एक क्षत्रियकी मौत मरा। उसके जीवित बचे अनुयायियोंको डचोंने ले जाकर लंबक द्वीपमें नजरबन्द कर दिया। १९११ ई०में क्लुङकुङ् राज्यको डच राज्यमें मिला लिया गया। इस प्रकार भारतके परतंत्र होनेसे सात सौ वर्ष बाद तक अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करते हुए छोटे-से बालीने भवितव्यताके सामने सिर झुकाया, यह उसके लिए कम गौरवकी बात नहीं है।

§३. सौ वर्ष पहिलेका बाली

सौ वर्ष पहिले रैफलने बालीके लोगोंके बारेमें लिखते हुए कहा था[1]:—

"यद्यपि बालीवाले मूलतः उसी वंशके हैं, जिसके कि जावानिवासी, किन्तु वे अपने रीति-रिवाज और संस्कृतिके तलमें ही बहुतसे उल्लेखनीय भेद नहीं रखते, बल्कि उनकी शारीरिक बनावट और रूप-रेखामें भी अन्तर है। वह एशियाइयोंके मध्यम आकारसे अधिक ऊँचे होते हैं और जावा एवं मलयके निवासियोंसे शारीरिक बल तथा आकार-प्रकार दोनोंमें भेद रखते हैं। यद्यपि वह हिन्दुओंके ही धर्मको मानते हैं, लेकिन वह हिन्दुओंकी तरह अत्यन्त भीरु और सरकार तथा अधिकारियोंके पूरी तौरसे वशंवद नहीं हैं। यद्यपि वह अपने सर्दारोंके स्वेच्छाचारी शासन....के नीचे रहते हैं, तो भी अभी वन्य-अवस्थाका आरंभिक साहस और स्वेच्छानुरूप कष्टसहिष्णुता उनमें पाई जाती है। उनमें कष्टोंके प्रति साधारणतया उपेक्षा होती है। वह हँसमुख और सन्तुष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनमें कर्मण्यता और शक्ति भी अधिक

---

[1]Sir Thomas Stamford Raffles: The History of Java, Vol II. p. CXXXVIII

मात्रामें पाई जाती है। यह सब गुण मिलकर उनके चेहरेको जावियोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और प्रकृत्या सुन्दर बना देते हैं। उनमें अपने पड़ोसियोंकी अपेक्षा अधिक उत्साह, स्वतंत्रताकी भावना और मर्दानगी पाई जाती है। वे बड़े कर्मठ और उद्योगपरायण होते हैं। उनमें वह आलसीपन और मुर्दनी नहीं पाई जाती, जो कि जावानिवासियोंमें देखी जाती है। अपरिचित आदमीको उनके बर्तावमें अक्खड़पन, अशिष्टतापूर्ण रूखापन मालूम होगा, किन्तु और अधिक परिचय होनेपर वह भाव निकल जायेगा तथा उनकी खुली स्पष्टवादिताके प्रति आदमीका विश्वास और सम्मान बढ़ जायेगा। उनकी स्त्रियाँ पुरुषोंके साथ पूरी समानता रखती हैं और वह भी व्यवहारमें खुले दिल और खुले दिमागकी होती हैं। वह अपने पुरुषोंके और सुन्दर साथ पूर्णतया बराबर स्थान रखती हैं। पारिवारिक बातोंमें उनका व्यवहार प्रिय, सम्मानपूर्ण और सुन्दर होता है।....

"माता-पिताका बर्ताव बच्चोंके साथ बड़ा नरम और सहृदयतापूर्ण होता है। बच्चे भी उसी तरह खुलकर अनुवर्त्तन और आज्ञाकारिता दिखलाते हैं।....अपने भीतर वह आपसमें समान....हैं। एशियावालोंकी घोर दास-मनोवृत्तिका उनके भीतर इसके अतिरिक्त कोई पता नहीं लगता, कि वह अनिवार्य शासक शक्तिके लिए आवश्यक आज्ञाकारिता प्रदर्शित करते हैं।....किसी यूरोपीय या देशीय व्यक्तिको, जिसने जावावालोंके नरम और बाकायदा व्यवहार अथवा मलायावालोंकी साधारण नम्रताको देखा है, बाली-निवासियोंके प्रदर्शन-रहित रूखे और असभ्य बर्तावको देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा।....वह उठती हुई जाति है, न स्वेच्छाचारिताके कारण वह पतनकी ओर गयी है और न आलस्य और विलासिताकी आदतमें पड़ी है। सभ्यताकी प्रगति और सुशासनकी क्षमता अपने पड़ोसियोंकी अपेक्षा उसमें अधिक है।....

"शराबी, मतवालापन, स्वैरिता और वैवाहिक विश्वासघात जैसे दोष उनमें बिल्कुल नहीं पाये जाते। उनका सबसे बड़ा शौक है खेल और मुर्गा लड़ाना। पड़ोसी राज्योंके साथ शान्ति रहते समय इन्हीं खेलोंमें उनके मनोबल, उत्साह और सारी शक्ति खर्च हो जाती है। उनमें जैसी शक्ति, जीवन व्यतीत करनेका ढंग और स्वतंत्रताप्रेम है, उसके कारण उनके पड़ोसी निर्बल राज्य उनकी तरफ आँख नहीं उठा सकते। हिन्दी द्वीपसमूहका कोई देशी राज्य उनके ऊपर आक्रमण करनेका साहस नहीं करता। आज जैसे ये हैं, वैसे ही शायद जावावाले भी अपनी जातीय स्वतंत्रताके दिनों में धार्मिक और राजनीतिक ढाँचेमें रहे हों।....

"बाली आजकल सात भागोंमें विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक एक दूसरेसे स्वतंत्र तथा अपने-अपने राजाके अधीन है।....

"इन सात राज्योंमें क्लोङ्कोङ्को सबसे पुराना राज्य माना जाता है। कहा जाता है कि इसके राजा आरंभमें जावासे आये थे और एक समय था, जब सारा द्वीप उनके आधिपत्यको स्वीकार करता था।....

"उनके राजचिह्नोंमें एक खड्ग (कृश), और कुछ दूसरी वस्तुयें हैं, जो पहले मजपहित राजाओंकी थीं। द्वीपके दूसरे राजा भी उनके उच्चकुलोद्भव होनेको मानते हैं।....

...."यहाँके निवासी ब्राह्मन, शत्रिया विश्या और शूद्र इन चार जातियोंमें विभक्त हैं। ब्राह्मन दो भागोंमें विभक्त हैं—शैव ब्राह्मन और बुद्ध ब्राह्मन। शैव ब्राह्मनोंका बहुत सम्मान है। वे बत्तक, बकरी और भैंस छोड़कर दूसरा मांस नहीं खाते, सूअर और गायका

मांस उनके लिए वर्जित है। बौद्ध ब्राह्मन सब तरहका मांस खाते हैं।....

"सब तरहके ब्राह्मनोंका बहुत सम्मान किया जाता है। वह कभी किसी दूसरे आदमीको नमस्कार नहीं करते। नमस्कार करनेमें व्यक्तिकी आयु, विद्या और गुणकी मात्रापर ध्यान रक्खा जाता है। ब्राह्मन अपने समानके हाथसे भोजन कर सकता है, किन्तु छोटेके हाथसे नहीं।....

"ब्राह्मन अपनेसे छोटी जातिकी स्त्रीसे ब्याह कर सकता है और ऐसी संतान भुजंग कही जाती है, तथा उसकी अलग जाति बन जाती है।

..."बालीमें चंडाल नामकी एक छोटी जाति है। वह गाँवके भीतर नहीं बस सकते। उनमें से कुछ कुम्हार, रजक, चमार, कलवार....का काम करते हैं। नर्त्तकियां वैश्य और शूद्र जाति की होती हैं।....

"ब्राह्मण अधीनतावाला व्यवसाय नहीं कर सकता, वह धरतीपर नहीं बैठ सकता और न दूसरी जातिको नमस्कार कर सकता है।

"बालीका धर्म दो प्रकारका है—बुद्धका धर्म और ब्रह्माका धर्म। कहा जाता है कि बौद्ध पहले इस देशमें आये। शैव ब्राह्मणोंको यहां आये नौ पीढ़ियां बीती हैं। जो शैव ब्राह्मण सबसे पहले बालीमें आकर बसा, उसका नाम 'वूतूराहू' था और तेलङ्गाना(आंध्र)से आया था। वह रास्तेमें मजपहितमें उतरा था।

"बालीके राजा आमतौरसे क्षत्रिय-जातिके हैं।...बालीके लोगोंमें अधिकांश शैव मतको मानते हैं। बौद्ध बहुत कम हैं।....

"यहां पतिके साथ चितापर बैठकर सती होना बहुत देखा जाता है। यह यज्ञ सभी जाति-वाले कर सकते हैं, किन्तु सबसे अधिक यह क्षत्रियोंमें पाया जाता है। इसके लिये कभी बल-प्रयोग नहीं किया जाता। सती होनेवाली स्त्रियोंकी संख्या बड़ी आश्चर्यकर है—वर्तमान 'विलिङ' राजाके पिताके साथ ७४ स्त्रियां सती हुई थीं।....

"बालियोंके धार्मिक आचार-विचारकी यह बातें मेरे पास मिस्टर क्राफर्डने लिख भेजी थीं, जो १८१४ ई० में बाली गये थे।....उनके देवताओंके बड़े-छोटेके बारेमें पूछनेपर उन्होंने तुरंत जवाब दिया—प्रथम है बत्तार (भट्टारक) गुरु; द्वितीय है बत्तार ब्रमा (भट्टारक ब्रह्मा), जिसका चिह्न है अग्नि; तृतीय है बत्तार विष्णु, जिसका लांछन है जल; चतुर्थ है बत्तार शिव वायु-चिह्नधारी। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवता हैं, पर उन्हें बत्तार (भट्टारक) नहीं कहा जाता।....

"बालीमें अवस्थित बुद्धका धर्म सकलन् और निष्कलन् दो भागोंमें विभक्त है। पहला राजा, देशके विधान आदि सभी लौकिक व्यवहारोंको मानता है; दूसरा पादेन्द (पण्डित) के नामसे विख्यात है, जो शिक्षित ब्राह्मणों मापेरवीतोंके द्वारा कराये जाते सभी क्रिया-कलापों और धार्मिक पूजा-पाठोंको नहीं मानता।...."

§४. आजका बाली

(१) धर्म और रिवाज

बालीके बारेमें जो बातें ऊपर कही गई हैं, वह सवा सौ वर्ष पहलेकी हैं। अब भी बालीद्वीप प्राचीन संस्कृति और धर्मका भक्त है, यद्यपि समयानुसार हमारे ही दृष्टिकोणकी तरह

वहांके दृष्टिकोणमें भी परिवर्तन हुआ है। बालीमें शैव धर्मकी अब भी प्राधानता है, किन्तु उसका आपसमें कोई मतभेद नहीं है। बुद्धको वहां शिवका छोटा भाई कहते हैं, और यज्ञके समय सदा चार शैव और एक बौद्ध पुरोहित बुलाये जाते हैं। बौद्ध पुरोहित दक्षिणमुँह बैठता है, बाकीमें तीन, तीन दिशाओंकी ओर और चौथा बीचमें बैठता है। राजाओंके शवदाह के समय शैव पुरोहितका लाया मंत्रपूत जल बौद्ध पुरोहितके जलके साथ मिलाया जाता है। वहांके लोगोंकी दृष्टिमें शिव और बुद्ध एक ही हैं। जनोक्ति है "या शिव या बुद्ध"--जो शिव है, वही बुद्ध हैं। यद्यपि ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी त्रिमूर्तिसे बालीवाले अपरिचित नहीं हैं; किन्तु वहां प्रधानता शिवकी है। देवियोंमें उमा, काली, श्री और सरस्वती प्रसिद्ध हैं। इनके अतरिक्त इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, काम, वासुकि, सूर्य, चन्द्र, राहु, गणेश आदि भी विख्यात देवता हैं। वहां पानी, वृक्ष, पर्वतके भूतोंको भी पूजा-बलि दी जाती है, बल्कि दूसरे देवताओंसे भूतोंकी ओर लोगोंका विशेष ध्यान रहता है।

बालीमें जो पूजायें प्रचलित हैं, उनमें "सूर्यसेवन" प्रधान स्थान रखता है, किन्तु इससे वहां सूर्यकी नहीं, शिवकी पूजा अभिप्रेत है; जिसमें धूप, दीप, अक्षत, मंत्रादिसे पूजा करनेके बाद पादन्द अपने शरीरके भीतर शिवका आवेश कराता है।

बालीमें छ मन्दिर सबसे अधिक प्रधानता रखते हैं। इनमेंसे एक गुनू-अगुङ पर्वतके सानुपर वासुकीमें है। इसे प्रथमदेव अगुङने स्थापित किया। वहां प्रतिवर्ष एक बार राजा लोग भी यात्रा-पूजाके लिये आते हैं। दूसरे मन्दिरोंमें पुरबतुर (बङली), पुरलेम्पुजङ (करेङसेम), उरबतूकाऊ (तबनन्), उरजेजेरोक् (गियाञ्जर), पुरयुगलवतुङ (जदोङ), पुरगुवाललवा (क्लुङ्लुङकुङ), उरस्कनेन (बदोङ) और पुरपेजेन् (गियाञ्जर) हैं।

पादन्द ब्राह्मणके बाद दूसरा सम्माननीय पुरोहित "प-मङकू" या "मङकू" कहा जाता है। पादन्दकी अनुपस्थितिमें पुरोहितके कितने ही काम यह कराता है। उसके लिये ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं है, किन्तु विशेष शिक्षा अवश्य होनी चाहिए। पादन्द और मङकूके अतिरिक्त एक और अदृश्य शक्ति त्रोत्कसू या "तकसू" की आवश्यकता होती है। यह देवता किसी आदमीके सिरपर आकर सब बातें बतलाता है। कोई महत्वपूर्ण काम करते समय किन्नर-वालोंकी तरह बालीवाले देवताकी इच्छा जानना आवश्यक समझते हैं।

बालीकी नदियाँ हमारी नदियोंके नामपर गंगा, सिन्धु, यमुना, कावेरी, सरयू, नर्मदा कही जाती हैं; किन्तु उनका जल उतना पवित्र नहीं माना जाता, इसलिये उसे मंत्रपूत करना पड़ता है, जिसके बाद उसे अमृत कहते हैं।

यह कह चुके हैं, कि ब्राह्मणोंके अतिरिक्त दूसरी जातिवाले भी बालीमें पूजा-पाठ करा सकते हैं। यही नहीं, वहां स्त्री भी पादन्द बन सकती है और उसे पादन्द स्त्री कहते हैं। उच्च जातिके पादन्द आजीवन अविवाहित रहते हैं, किन्तु यह नियम बौद्ध पादन्दोंपर लागू नहीं है। पूजाकी सामग्रीमें से कुछ भाग पादन्दको मिलता है। पादन्दके उच्छिष्ट अन्न-पानको पवित्र मानकर लोग प्रसादरूपेण ग्रहण करते हैं। पूजाके समयका तोय-तीर्त्त (तोयतीर्थ) बहुत मंगल-कारी माना जाता है और लोग उसे खरीदते भी हैं। पादन्द पुरोहितके अतिरिक्त अध्यापक और ज्योतिषीका भी काम करता है। नये अस्त्रको जब तक वह मंत्र द्वारा प्रतिष्ठित न कर दे, तब तक उसे विश्वसनीय नहीं समझा जाता।

× × ×

(२) बालीका लघु भारत—

१९३० के बाद किसी समय एक पर्यटक स्वामी सदानन्द गिरिने अपनी बाली-यात्राके बारेमें जो बतलाया था, उससे पता लगेगा कि बालीकी भारतके प्रति कितनी आत्मीयता है। स्वामी सदानन्दजी जब बालीके बोलेलेङ बन्दरगाहपर उतरे, तो उनके सामानको रखवाते हुये एक बाली भद्रजनने कहा—"हम भी उधर ही देन्-पासरकी ओर जा रहे हैं। मुझे सेवा करनेका अवसर दीजिए।" मैंने यदि किसी समय उनमें कठोरता देखी, तो खर्चका पैसे देनेके समय। उन्होंने उसके लिये इन्कार करते हुए कहा—"आप महात्मा साधु हैं और मैं बालीका आदमी।" स्वामीजीकी देन्-पासर कसबेसे लौटते वक्त सूर्यसुत नामक भद्र व्यक्तिसे भेंट हुई। "वह क्षत्रिय थे और उन्हें अपने सूर्यवंशी होनेका अभिमान था। शायद वह अयोध्याके रामके ही वंशके हों। वह हमें अपने घर सिंहराजामें ले गये।....

उनका घर दूसरे पड़ोसियोंकी भांति हमारे बंगलोंकी तरह एकतरफा था। घर अत्यन्त स्वच्छ और शुद्ध था और उसके चारों ओर फूलोंके पौधे तथा फलदार वृक्ष लगे थे। उन्होंने अपने बृद्ध पितासे हमारा परिचय कराया, जिनकी हिन्दू देवताओंमें बड़ी भक्ति थी। उन्होंने मुझसे भारतसे कुछ देवचित्रोंके भेजनेकी प्रार्थना की।

"वहां प्रत्येक घरके साथ एक देवमन्दिर होता है, जहां कोई भी जाकर प्रार्थना कर सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी मन्दिर-प्रवेशका अधिकार रखते हैं, चाहे वह निजी मन्दिर हो या सार्वजनिक।

"बालीद्वीप सुन्दर प्राकृतिक दृश्योंसे जगमग-जगमग करता है। एक जगह कुछ खेत हैं, तो दूसरी जगह छोटी-छोटी, टेढ़ी-मेढ़ी नदियां समुद्रकी ओर जा रही हैं। एक जगह उद्यान है तो, दूसरी जगह मीठे जलके सरोवर। कहीं भूमि समतल है और कहीं ऊँचे उठे पहाड़ हैं, जिनमें अब भी कोई-कोई सजीव ज्वालामुखी हैं। सड़कें बहुत सुदंर, सीधी और पक्की हैं, तथा नगर बहुत स्वच्छ हैं। मैदानोंके बीच बहुत-से गाँव हैं, जो अपने नुकीले शिखरवाले मन्दिरोंसे आसानीसे पहिचाने जा सकते हैं।...."

बालीकी नृत्यकलाकी ख्याति सारे विश्वमें है और वह भारतीय नृत्यकलाका एक रूप है।

§ ५. वास्तुकला

बालीमें पुरानी इमारतोंका अवशेष बहुत कम रह गया है। ग्यारहवीं सदीके पहिलेका कोई मन्दिर और मकान नहीं मिलता। पुरानी इमारतोंमें सबसे प्राचीन लियातनसे बेदूलू जानेवाली सडकपर पेतनू नदीकी एक शाखापर अवस्थित गोवागज (गुहागज, गजगुहा) है।

यह नाम जिस मूर्तिके कारण है, वह वस्तुतः गज नहीं, तोरणका काल-मुख (कीर्तिमुख) है। यह गुफा अजन्ता और एलौराकी गुफाओंकी तरह एक अलग-थलगकी विशाल शिलामें खोदी गई है। इसका द्वार ६ फीट ६ इंच ऊंचा और ३ फीट ३ इंच चौड़ा है। इस चौकोर द्वारके ऊपर काल-मुख बना हुआ है, जिसकी आँखें बाहर निकली हुई हैं। काल-मुखके दोनों ओर पत्थर खोदकर सजाया गया है। भीतर जानेपर एक बड़ी शाला मिलती है, जो ४३ फीट लंबी और ९ फीट चौड़ी है, जिसकी दीवारोंमें ग्यारह गवाक्ष बने हुए हैं। तीनको छोड़कर बाकी सभी गवाक्ष खाली हैं। उन तीन गवाक्षोंमें से एकमें गणेशकी मूर्ति है, दूसरेमें राक्षसकी पीठका

भाग, तीसरेमें एक लिंग है, जिसके चारों ओर आठ छोटे-छोटे लिंग घेरे हैं। द्वारके दोनों तरफ दो अक्षर उत्कीर्ण हैं, जो ग्यारहवीं शताब्दीके मालूम होते हैं।

गोवागजके बाद दूसरा पुराना मंदिर गुनुङ कविका चंदी (मंदिर) तंपक् शिरीङ के समीप अवस्थित है। यहाँपर भी पहाड़ खोदकर मंदिर बनाये गये हैं। ये पुराने राजा एवं रानियोंके समाधि-स्थान हैं। इन मंदिरोंमें ९ ऐसे हैं, जो कि एरलाङके कनिष्ठ भ्राता तथा आठ रानियोंके दाहकी स्मृतिमें बनाये गये हैं।

पेजेङ और ततियापीके बीच कलेबेसन नदीके किनारे दूसरा पर्वतोत्कीर्ण मन्दिर है, जो तेरहवीं-चौदहवीं सदीमें बनाया गया था। यह और इस तरहके कुछ अन्य मन्दिर बालीके मध्य-युगके हैं।

मजपहितके पतनके बाद बहुतसे जावा-निवासी बालीमें बस गये। उन्होंने कई मन्दिर बनवाये। पुरदेशमें एक विशेष बने (चतुःशालिका) है, जिसे अगुङ कहते हैं, जहाँ गाँवके मुखिया लोग हर अमावस्या और पूर्णिमाको पूजा करने आते हैं।

बालीके शिव, ब्रह्मा और विष्णुके बने मन्दिरोंमें मेरुका मन्दिर मुख्य है।

× × ×

§ ६. साहित्य

जावाका सारा पुराना साहित्य बालीमें भी अपने साहित्यके तौरपर स्वीकार किया जाता है, और कुछ तो ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जो जावामें नष्ट हो गये और अब बालीमें ही बच रहे हैं। मजपहितके पतनके बाद जो शरणार्थी भागकर बालीमें आये, वे पुराने साहित्यको ही लेकर नहीं आये, बल्कि उन्होंने नये साहित्यका भी निर्माण किया। बालीमें लिखे गये कुछ ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

(१) **जावीका अनुवाद**—इनमें सात बाली भाषाकी कवितायें हैं: आदिपर्व-किँदूङ, रामकिदूङ, भारतयुद्ध-किदूङ, वीमस्वर्ग, अर्जुनविवाह, वृत्तसंचय। चलोङ-अरङ, वरिका-किदूङ। उत्तरकाण्ड गद्यमें लिखा गया है। वीरतंत्रमें कुम्भकर्ण और हनुमानका युद्ध वर्णित है।

(२) **धर्म, दर्शन आदिके ग्रन्थ**—देगुनति (चिकित्सा, राजनीति आदि), यमकुर्व्वनशत्व (नरक-जीवन), लिम्बुर (नरक-वर्णन-काव्य), बगुसदियसी (भटारगुरूकी कथा), पमनचङ्गा-मवोसपहित (शिव, सदाशिव और परमशिवकी कथा) पमनचङ्गा मनिक-अङकेरन् (१२६९में लिखा अति पुरातन बाली गद्य)।

(३) **काव्यादि**—चुपक (दुनीयक काव्य), ररवङ्गी, बुपङशक्ति, जपत्वङ, मन्त्रीयव, पूर्व्वयति। इनके अतिरिक्त पञ्जी नामकी भी कवितायें हैं, जैसे भगन्तक, बेगुसउम्बरा आदि, और द्रेमन, रदेन सपुत्र, लिङपेता।

(४) **ऐतिहासिक काव्य**—जम्बेनगर (मतरामपर डच-विजय), ऊङवञ्जर (डचोंका बंजर-विजय १८५८), बुङबुलेलेन (डचोंका बुलेलेनपर अभियान १८४६), बुङियाञ्जर (देवा-मंगिसका इतिहास), बुङकदिरी, बुङमंगल।

(५) **कहानियोंकी कविता**—तन्त्रिबालि, गुनकय, सत्व; धर्मलक्षण।

(६) चिकित्सा, पक्षी आदि संबंधी श्लोकबद्ध ग्रन्थ।
(७) कारक-संग्रह जैसे ग्रन्थ,
(८) वरिगा (पञ्चाङ्ग)

सदियोंसे भारत और बालीका सम्बन्ध टूट गया था। बाली बहुत पीछे परतंत्र होकर आज स्वतंत्र इन्दोनेसियाका एक भाग है। उसने भी इन्दोनेसियाके अन्य द्वीपोंकी भाँति मुक्तिके लिये संघर्ष किया है, और वह मुक्त भी हुआ। भारत आज भी इन्दोनेसियाकी ओरसे विमुख नहीं रहा। उसकी सात करोड़ सन्तानोंको स्वतन्त्रताके साथ सबल और सुखी देखना चाहता है—बालीका तो भारतसे और औरस सम्बन्ध है। हमें और अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना है। यहाँके तरुणोंको वहाँ जाकर बहुत कुछ सीखना और देखना है और वहाँके तरुणोंको यहाँ बुलाकर भारतको भीतर और बाहरसे देखनेका अवसर देना है। हमारे घुमक्कड़ोंको भी अपने घुमक्कड़ी क्षेत्रके अन्दर बालीको रखना है।

अध्याय ६

अन्य द्वीप

§१. बोर्नियो

(१) भौगोलिक—

बोर्नियो सबसे बड़ा द्वीप है। यह जावासे आठगुना बड़ा है, पर इसकी जन-संख्या तीस लाख ही है। सारा द्वीप घने जंगलोंसे ढँके पहाड़ोंसे आवृत है, जो उत्तर-पूरबसे दक्षिण-पश्चिम चले गये हैं। सबसे ऊँचा पहाड़ केराबलू १३६९८ फीट ऊँचा है। मुख्य नदियाँ ब्रूनी रेजन्, कयुअस पश्चिममें हैं और संपित् कतिङ्गन बरिअत, महकम या ऊतेइ दक्षिणमें हैं। वन्य-सम्पत्ति भी बोर्नियोमें बहुत है। भूमि बहुत उर्वर है। नाना भाँतिका अन्न उपजता है। खनिज सम्पत्तिमें यहाँ हीरा, सोना, चाँदी, सीसा, लोहा, ताँबा, सुरमा, राँगा, विस्मथ, प्लाटिनम, पारा, संखिया, कोयला और पेट्रोल हैं। बोर्नियोका सारा उत्तरी और पश्चिमी भाग, जो सारे भूभागका दोतिहाई है, अंग्रेजोंके हाथमें है।

(२) प्राचीन इतिहास—

बोर्नियोमें सबसे पुराने अभिलेख महकम नदीके किनारे कोती (कूती) ज़िलेके मउराकामङ स्थानमें १८७९ में मिले थे। चीनी नौकाका एक टुकड़ा भी वहाँ मिला, जिससे सिद्ध होता है, कि पुराने समयमें यहाँ कोई व्यापारी नगर था। यहाँ भारतीयोंका उपनिवेश था। मउरामें तीन सोनेकी चीजें मिलीं, जिनमें एक छोटी-सी विष्णुकी मूर्ति है। एक पोरसा ऊँचे पत्थरके यूप (यज्ञस्तंभ) पर एक अभिलेख खुदा है, जिसमें लिखा है:[1]

(१) "राजा मूलवर्म्माने पशु, भूमि और वृक्ष आदिके दान जैसे बहुतसे पुण्यकार्य किये, इसीलिये ब्राह्मणोंने इस यूपको स्थापित किया।

(२) "राजा कुन्दुङ्गका पुत्र प्रख्यात अश्ववर्म्मा था, जो अंशुमान्‌की भाँति वंश-कर्ता था। अश्ववर्म्माके तीन पुत्रोंमें मूलवर्म्मा ज्येष्ठ था, जो अपनी तपस्याके लिये प्रसिद्ध था। उसने एक वहुसुवर्णक यज्ञ किया। उसी यज्ञके इस यूपको ब्राह्मणोंने खड़ा किया। प्रमुख राजा मूल-वर्म्माने बप्रकेश्वरकी पुण्यभूमिमें ब्राह्मणोंको बीस हजार गायें दीं। उसी पुण्यकार्यके लिये ब्राह्मणोंने यह यूप यहाँ स्थापित किया।

(३) "सगरसे उत्पन्न भगीरथकी भाँति....मूलवर्म्मा...."

इन शिलालेखोंमें कोई संवत्सर नहीं हैं, किन्तु अक्षरोंके देखनेसे वह ईसाकी चौथी सदीके मालूम होते हैं। इनसे पता लगता है कि चौथी शताब्दीमें बोर्नियोमें ब्राह्मणधर्मकी स्थापना

---

[1] कल्पवृक्ष भूमिदान सहस्रिका

ही नहीं हो चुकी थी, बल्कि वहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय हजारोंकी संख्यामें बस गये थे और यज्ञदान भी होने लगे थे।

मूलवर्म्माकी तीन पीढ़ियां कम-से-कम वहाँ बीत चुकी थीं। कुन्दुङ शायद कौण्डिन्य हैं। इस गोत्रका पता हमें बाली और कंबुजमें भी मिलता है, अथवा यह स्थानीय भाषाका कोई शब्द होगा।

पूर्वी बोर्नियोमें भी कितने ही ध्वंसावशेषोंमें प्राचीन हिन्दू संस्कृतिके अवशेष मिले हैं। इनमें कोम्बेङकी गुफाने बहुत-सी पुरातन महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है। कोम्बेङ गुफा मउराक-माङसे काफी दूर उत्तरमें तेलेन नदीकी ऊपरी धारके पूरबमें है। गुफामें दो कोठरियां हैं। पिछली कोठरीमें बारह बलुआ पत्थरकी मूर्तियां, पत्थर काटकर बनाई चीजें और कुछ अर्धजीर्ण लकड़ी-लोहेकी कड़ियां मिली हैं। जान पड़ता है, इस अँधेरी गुफामें एक मन्दिर बनाकर चीजोंको छिपाया गया था। मूर्तियां दूरसे लाई गई थीं। ब्राह्मणमूर्त्तियोंमें शिव, गणेश, नंदी, अगस्त, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कंध और महाकालकी मूर्त्तियां हैं। गणेशकी दो मूर्त्तियां हैं। शेष मूर्तियां बौद्ध हैं। अधिकतर मूर्त्तियां ब्राह्मणोंकी हैं, इससे जान पड़ता है, उस समय यहां ब्राह्मणधर्मकी प्रधानता थी। इन मूर्त्तियोंकी एक खास विशेषता यह है, कि यह कला और आकृतिमें जावाकी मूर्त्तियोंसे भेद रखते शुद्ध भारतीय कलाकी मालूम होती हैं। जिस मन्दिरमें यह स्थापित थीं, वह लकड़ीका था और उसके कुछ ही टुकड़े बच रहे हैं, जिससे मन्दिरके बारेमें विशेष जानकारी नहीं हो पाती। ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें इन प्राचीन भारतीय उपनिवेशोंमें मन्दिर लकड़ीके बना करते थे, इसीलिये उनके अवशेष नहीं मिलते। कम्बेङ और मउराकमाङमें चौथी शताब्दीसे पहिले भारतीय उपनिवेशिक बस चुके थे। शायद शत्रुओंसे बचानेके लिये इन मूर्त्तियोंको कम्बेङकी गुफामें छिपाया गया था। मूलमन्दिर महकम नदीकी उपत्यकामें रहा होगा। समुद्रसे नदी द्वारा ऊपरकी ओर जाकर इस उपत्यकामें भारतीयोंने अपनी बस्तियां बसाई थीं।

महकमके अतिरिक्त पश्चिमी बोर्नियोमें कयुअस एक नदी है। इसके किनारे भी कई जगह हिन्दू बस्तियोंके अवशेष मिलते हैं। यहाँ जो पुरानी सामग्री मिली है, उसमें से कुछ है—(१) सेपौकसे मौकुङ, (२) सेपङके पास नदीकी धारसे मिला दो पंक्तियोंका लेख, (३) सुङ्गेइतेकारेकके चश्मोंके पास पतूपहातमें एक चट्टानके ऊपर उत्कीर्ण सात अभिलेख—जो वहाँ उत्कीर्ण मूर्त्तियोंपर लिखे गये मिले हैं—इन अभिलेखोंमें से चारमें

"अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्मकारणम्
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते।"

और तीनमें—"ये धर्माहेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतोऽह्यवदत्। तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः॥" लिखा हुआ है।

आठवां लेख अधिकतर दुष्पाठ्य है।

(४) संपति नदीके मुहानेपर एक बर्तनमें बहुतसे सोनेके पत्तर पुराने अक्षरोंमें लिखे मिले;

(५) सङ-बेलिरन्‌में एक अभिलेख प्राप्त हुआ।

यहां जो वस्तुयें मिली हैं, वे सभी भारतीय हैं। कयुअस नदीके इन बौद्ध अभिलेखोंसे पता लगता है, कि यहां भारतीय व्यापारी, नाविक और उपनिवेशिक ईसाकी आरंभिक सदियोंमें आने लगे थे। कयुअस नदीके मुहानेपर पोन्ति-यानप है, जहाँसे बंका, मलय, श्रीविजय आदिको पहुँचा जा सकता था।

× × ×

चीनी इतिहास मङ-शूमें, जो नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें लिखा गया था, पो-नी (बोर्नियो) का हिन्दीचीनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध होनेका उल्लेख है। सुङ-वंशके इतिहासमें पू-नीका जो वर्णन आया है, उसमें उसके शासकको महाराजा कहा गया है। वहांके लोग कपासका कपड़ा पहनते थे। ब्याहमें पहिले नारियलकी मदिरा, सुपारी भेजते थे, फिर अंगूठी और अन्तमें सूती कपड़ा या सोना-चाँदी। पू-नीके राजा ह्याङ-ताङने ९७७ई० में अपने तीन दूत चीन-दरबार में भेजे थे। राजाने सम्राट्को पत्र लिखते हुए कहा था—"मैं पहिले भी सम्राट्के बारेमें जानता था, लेकिन सम्पर्क स्थापित करनेका कोई साधन नहीं था। हालमें पू-लू-सी नामके एक व्यापारीका जहाज मेरे नदीके मुहानेपर आया। मैंने आदमी भेजकर उसे पहिले अपने प्रासादमें बुलवाया। उसने बतलाया, कि मैं चीनसे आ रहा हूँ। हमारे देशके लोग यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और एक जहाज तैयार कर उस विदेशीको दरबारके लिये पथप्रदर्शक बननेको कहा।"

राजाने प्रतिवर्ष भेंट भेजनेके लिये कहा था, लेकिन दूसरी बार १०८२ ई० में ही महाराजाने देशकी उपजकी भेंट दरबारमें भेजी थी।

जान पड़ता है, ९७७ ई० से चीनका बोर्नियोसे नियमितरूपेण व्यापार होने लगा। आगे तेरहवीं सदीमें चाङ-जू-कवा पू-नी-(बोर्नियो)का वर्णन करता है और बड़े विस्तारके साथ। इससे पता चलता है, कि वहाँवालेंकि रीति-रिवाज हिन्दुओं जैसे थे और वे बुद्धकी पूजा करते थे। उनका राज्य किसीके अधीन नहीं था।

वाङ-ता-यू-अन् (१३४९ई०) पू-नीके बारेमें लिखते हुए बतलाता है, कि वहांके लोग बुद्धकी मूर्तियां पूजते थे और गणित तथा बही-खाता रखनेमें बड़े चतुर थे। लेकिन १३७० ई० के कुछ पहिले जावाने बोर्नियोको जीत लिया। चाऊ-जू-क्वाने लिखा है कि तङ-जुङ-पुर (दक्षिण-पश्चिम बोर्नियो) जावाके हाथमें था। कृतनगर और गजमदके दिग्विजयोंमें भी इस स्थानका नाम मौजूद है। तङ-जुङ-पुरसे ही जावाने अपना आधिपत्य यहाँके दूसरे भागोंपर जमाया। १३६५ ई० तक बोर्नियोका बहुत-सा भाग मजपहित-साम्राज्यके अन्दर था, किन्तु १३७१के बाद बोर्नियोका राजा मामोशा चीन-दरबारको भेंट भेजने लगा। मिङ-इतिहास बतलाता है, कि पू-नी पहिले जावाके अधीन था, फिर पन्द्रहवीं सदीके आरंभसे उसने चीनकी अधीनता स्वीकार की।

मिङ-इतिहास कहता है—

"१४०५के जाड़ेमें शासक मराजा (महाराजा) क-लाने दूतोंके हाथ भेंट भेजी। सम्राट्ने अपने अधिकारी भेजकर उसको देशके राजाका पद दिया; राजमुद्रा, पद और नाना रंगोंके रेशमी वस्त्र प्रदान किये। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी स्त्री, छोटे भाई-बहनों, पुत्र-पुत्रियों और राजपुरुषोंके साथ दरबारमें आया।

"राजाका बहुत सम्मान हुआ, लेकिन वह वहीं बीमार होकर मर गया। सम्राट्ने बहुत शोक मनाया और तीन दिन तक दरबार बंद रहा। शव-संस्कारके बाद राजाकी समाधिकी जगहपर एक मन्दिर बनाया गया, जिसपर हर वसंत एवं शरदमें एक सरकारी अफसर बकरेकी बलि चढ़ाता है। . . . .

"सम्राटने उसके पुत्र ह्यावङ्को सात्वना देते राजाज्ञा निकालकर उसके पिताकी जगह पर देशका राजा नियुक्त किया। ह्यावङ् और उसके चचाने प्रार्थना की, कि हमारा देश प्रतिवर्ष अधिक परिमाणमें जावाको कपूर भेंट करता है, अतः सम्राट् जावाको आज्ञा दें, कि वह कर बंद कर

दिया जाय, जिसमें उसे सम्राट्के दरबारमें भेजा जा सके।..सम्राट्ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और आज्ञा दी, कि भेंट प्रति तीसरे वर्ष भेजी जाय और भेंटके साथ आनेवालोंकी संख्या निश्चित करना राजाके अधीन है। सम्राट्ने जावाको आज्ञा निकालकर कहा, कि पू-तीसे कोई कर न लिया जाय।...

"१४१० ई० में राजाने अपने दूतोंके साथ भेंट भेजी।...

१४१२ ई० में ह्यावङ् अपनी माँके साथ दरबारमें आया। उनका बहुत सत्कार किया गया और बहुमूल्य भेंट दी गयी।

"१४१५ से १४२० ई० के बीच चार बार वहाँसे भेंट आयी, पर बादमें भेंट आनी कम हो गई।

"वन-ली-युग-(१५७३-१६१६) में वू-नी-पूका राजा अपुत्र ही मर गया। सिंहासनके लिये संबंधी आपसमें लड़ने लगे। देशमें भारी युद्ध हुआ, जिसमें सभी प्रतिद्वंद्वी मारे गये और पहिलेके राजाकी एक कन्या बच रही, जिसे गद्दीपर बिठाया गया। तबसे आज तक वहांसे कोई भेंट नहीं आयी, किन्तु व्यापारियोंका आना-जाना बराबर जारी रहा।"

चीनी इतिहासके इन उद्धरणों तथा और सामग्रीपर विचार करते हुए डा० रमेशचन्द्र मजुमदार अपने 'सुवर्णद्वीप' में लिखते हैं[1]:—

"यह स्पष्ट है, कि ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें भारतीय उपनिवेशिक इस द्वीपके भिन्न-भिन्न भागोंमें जा बसे थे। ४०० ई० तक वहां एक हिन्दू-राज्य स्थापित हो चुका था, तथा हिन्दू-धर्म और संस्कृतिका वहां प्रभाव पड़ रहा था। हिन्दू-राज्यकी संस्कृतिकी प्रगतिके बारेमें और कुछ कहना संभव नहीं है, क्योंकि उसके लिये आगे कोई प्रमाणिक सूचना नहीं मिलती। किन्तु, यह निश्चत है, कि हिन्दू-संस्कृति वहां हजार वर्षसे अधिक जीवित रही।..यह भी मालूम होता है, कि देर तक हिन्दू-उपनिवेशोंको मातृभूमिसे पोषण नहीं मिला, इसलिये वह अंतमें जीर्ण हो मुरझा गयी—अर्थात् हिन्दुत्व बोर्नियोमें इसके लिये पर्याप्त शक्ति नहीं रख सका, कि स्थानीय लोगोंको अपने प्रभावमें लाता। इसलिये अंतमें स्थानीय तत्त्वोंने ऊपरसे चिपकाये हिन्दू-संस्कृतिके स्तरको दबोच लिया।"

जावाने बोर्नियोपर तेरहवीं सदीके आरंभमें ही प्रभुत्व जमा लिया था। पीछे बोर्नियोकी कलापर भी जावाका प्रभाव दिखलाई पड़ता है। बीचमें भी कहीं-कहीं भारतीय प्रभाव दिखाई पड़ता है, इससे यही मालूम होता है, कि भारतका संबंध बिल्कुल विच्छिन्न नहीं हुआ।

(३) **बोर्नियोकी कला**—जैसा कि पहले कहा गया, बोर्नियोमें पुरानी वास्तुकलाका कोई अवशेष नहीं मिलता, हाँ, वहां कितनी ही मूर्त्तियां मिली हैं। दक्षिण-पूर्वी बोर्नियोके मर्त्तपुर जिलेमें 'गुनुङ्-कूपाङ्' तथा 'करङ्-इन्तङ्' के बीच खुदाईमें बोधिसत्त्व मंजुश्रीकी पाषाण-मूर्त्ति मिली है। मूर्त्तिकी शैली शुद्ध भारतीय है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वह मूर्त्तियां हैं, जो कोम्बेङमें मिली हैं और जिनके बारेमें हम पहिले कह चुके हैं। शैव मूर्त्तियोंमें सबसे बड़ी महादेवकी खड़ी मूर्त्ति है। महादेवजी एक कमलासनपर खड़े हैं। उनकी चार भुजाओंमें से दाहिनेकी दोमें माला और त्रिशूल है, तथा बायेंके ऊपरवालीमें चमर और नीचेवाली खाली है। सिरपर ऊँचा मुकुट, गलेमें हार, एक मोटा यज्ञोपवीत, कटिके नीचे भारी

---

[1] Suvarnadvipa, Vol II., pp. 416-17

कमरबंद, हाथोंमें अंगद, पैरोंमें कड़ा पहने हुए हैं। पारदर्शक सूक्ष्म वस्त्र कड़ोंसे थोड़ा ऊपर खतम हो जाता है। दूसरी मूर्त्तियोंमें गुरु, नन्दीश्वर, महाकाल, कार्त्तिकेय और गणेशकी भी अच्छी हैं। जान पड़ता है, मंदिरमें मुख्य मूर्त्ति शिवकी थी और उसके पाँच गवाक्षोंमें गुरु, गणेश, दुर्गा, महाकाल और नन्दीश्वर रक्खे हुए थे। कार्त्तिकेयकी मूर्त्ति दीवारमें लगी थी। साथमें एक ब्रह्माका भी सिर मिला है, जिससे जान पड़ता है कि उनका भी वहां कोई मंदिर था। फिर त्रिमूर्त्तिके तीसरे देवता विष्णुके मंदिरके होनेका भी अनुमान किया जा सकता है।

बौद्ध मूर्त्तियोंके मुकुट बहुत ऊँचे शिखर जैसे हैं। इन मूर्त्तियोंमें एक ऐसी है, जिसका दाहिना हाथ वरद मुद्रामें है, और बायें हाथमें पद्मके ऊपर वज्र है। एक चतुर्भुज मूर्त्ति कुछ भद्दापन लिये हुए भी उदर और वक्षस्थलमें सुन्दर है। इसके ऊपरवाले हाथोंमें दाहिनेमें चमर और बायेंमें चक्र है। नीचेके दोनों हाथोंमें बायेंके साथ कमलनाल लगी है और दाहिना पद्मासन बैठी मूर्त्तिके घुटनेपर पड़ा है। मूर्त्तिके शरीरमें अंगद, कंकण, भारी कुण्डल, हार, कटिबंध, मोटा उपवीत है। एक दूसरी चतुर्भुज मूर्त्तिके दो हाथ पद्मासना मूर्त्तिके घुटनोंपर हैं, जिनमें कमलनाल लगे हुए हैं। दाहिने ओरके पिछले हाथमें लंबी पोथी है और बायेंके पिछले हाथमें एक लंबा डंडा-सा, जिसके ऊपर मुठिया या छत्ता-सी कोई चीज लगी हुई है। यह कुछ अपरिचित-सी मूर्त्ति मालूम होती है।

मूर्त्तियोंके देखनेसे कलाका विकास अच्छा हुआ मालूम होता है। कहीं-कहीं आकृतिमें संतुलन नहीं है, विशेषकर हाथों और पैरोंमें, तो भी इन्हें पतनोन्मुख कलाका नमूना नहीं कहा जा सकता।

कुतेईके सुल्तानके पास मउराकमाङसे निकली कुछ वस्तुयें हैं। इनमें एक छोटी-सी सोनेकी विष्णमूर्त्ति है, जिसे सुल्तानका उत्तराधिकारी उत्सवके समय पहिनता है और दूसरा एक सोनेका कच्छप है। विष्णुके तीन हाथोंमें शंख, चक्र, गदा हैं और चौथा दाहिनेका निचला हाथ वरद मुद्रामें है। कारीगरी साधारण है।

बोर्नियोमें प्राप्त सबसे सुन्दर धातुकी वस्तु एक पीतलकी बुद्धमूर्त्ति है, जो मउरा कमाङ्के पास कोता-बेगन्में मिली थी। यह जाकरता (बताविया) म्यूज़ियममें रक्खी गई थी, जहांसे उसे १९३१ की पेरिस-प्रदर्शनीमें भेजा गया। डच-प्रदर्शनागारमें आग लग जानेसे यह अनुपम मूर्त्ति नष्ट हो गयी। मूर्त्ति खड़ी थी, दाहिना घुटना जरा-सा आगे बढ़ा हुआ था। अत्यन्त सूक्ष्म पारदर्शक वस्त्रका उत्तरासंग और ऊपरसे उसी तरहकी एकांस संघाटी थी। मूर्त्तिके चेहरेपर हर्षकी हल्की-सी रेखा झलकती थी। नेत्रोंके बीच ऊर्णाका चिह्न नहीं दिखाई पड़ता था। उष्णीश कुछ अधिक ऊँचा था। दाहिना हाथ उपदेश-मुद्रामें और बायां ऐसे ही वक्षके पास उठा हुआ था। दाहिने हाथ में समकेन्द्रक-चक्र तथा दूसरे महापुरुष-लक्षण अंकित थे। सारी मूर्त्ति भारतीय कलाको प्रदर्शित करती थी, किन्तु चीवरमें कहीं-कहीं गंधार-कलाकी भी छाया दिखलाई पड़ती है।

इन्दोनेसियामें मिली धातु-मूर्त्तियोंमें इसका सौन्दर्य अद्भुत था। अफसोस वह अब केवल फोटो-चित्रोंमें ही देखी जा सकती है, जो कि कभी शताब्दियोंसे आगे नहीं जा सकते। यह मूर्त्ति बतलाती है, कि बार्नियोमें शताब्दियों तक भारतीय संस्कृति, ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्मका प्रचार था। उन्होंने दायक लोगोंको भी संस्कृत बनानेकी कोशिश की होगी, किन्तु अभी उन्हें यहां जावा और बालीकी तरह अवसर नहीं मिला था, कि इसी बीचमें इस्लामने आकर सबसे पहले संस्कृत उपनिवेशिकोंपर हाथ साफ किया, जिससे दायक एवं अन्य वन्य जातियाँ पहलेकी ही भाँति

रह गईं और उनका पूरा विकास नहीं हो सका। जावाकी भाँति बोर्नियोमें भी डच पहुँचे, किन्तु उन्हें उसका एक भाग अंग्रेजोंके लिये छोड़ देना पड़ा।

§२. फिलीपीन और सेलीबीज़

फिलीपीन, सेलीबीज़ द्वीपोंका नाम सुननेसे मालूम होता है, कि ये भारतीय संस्कृतिकी पहुँचके बहुत दूरके स्थान हैं; किन्तु हिन्दू चंपा और बोर्नियो तक ही जाकर रुक नहीं गये।

१८२० ई० में सीबूमें ताँबेकी एक शिवमूर्त्ति मिली थी। यह तीन इंचसे कुछ बड़ी है और इसकी आकृतिपर भारतीय या जावी कलाकी छाप है। दूसरी सोनेकी मूर्त्ति एक आसनबद्ध स्त्री-देवीकी है। यह मिनदानो द्वीपके स्पेराञ्जा कसबेके पास बावा नदीके बायें तटपर अवस्थित एक खड्डसे मिली। यह दो सेरकी मूर्त्ति २१ करात सोनेकी बनी है। मूर्त्तिके सिरपर सजा हुआ मुकुट है, हाथोंमें अंगद और कंकण तथा भुजमूलमें भी भूषण हैं। गलेमें एकावली और कंठहारके अतिरिक्त दोनों कंधों और बगलको लपेटे हुए एक और आभूषण है। दोनों हाथ दोनों बगलमें जानुके ऊपर हथेली ऊपर किये पड़े हैं, नाक नुकीली है, आँखें तथा भँवें तिर्छी नहीं सीधी हैं, कानम भारी छेद है, कटिके ऊपर कोई आभूषण नहीं दिखाई पड़ता। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे बहुत सुंदर नहीं कही जा सकती, पर कोई भद्दी भी नहीं है। मूर्त्ति देखनेसे कोई ऐसी बात नहीं मालूम होती, जिससे कहा जा सके, कि यह अवश्य किसी देवीकी मूर्त्ति है।

सेलीबीज़ फिलीपाइनसे दक्खिन और बोर्नियोसे पूरब एक केकड़ेकी शकलका द्वीप है। उसका दक्षिण-पश्चिमी भाग सिंगापुरकी अपेक्षा आस्ट्रेलियासे अधिक नजदीक है। वहां भी बौद्धधर्म एक समय पहुँचा था। इसका परिचय वहांसे मिली पीतलकी एक सुंदर मूर्त्ति देती है। यह मूर्त्ति कर्मानदीके किनारे किन्तु समुद्रतटसे ६ मील भीतर द्वीपके पश्चिमी तटपर मिली थी। मूर्त्ति एकांश है अर्थात् उसका दाहिना हाथ और कंधा खुला है। चीवरकी चूननको देखकर मथुराके कुषाणकालीन लाल पत्थरकी मूर्त्तियाँ याद आती हैं। मूर्त्तिके हाथ-पैर टूटे हुए हैं, चेहरा गोल है। यह मूर्त्ति सुमात्रा और जावाकी मूर्त्तियोंसे बिल्कुल भिन्न है। शायद यह अमरावती (दूसरी शताब्दी) या आरंभिक गुप्तकाल (४ थी सदी) की शैलीकी मूर्त्ति है। इस तरहकी एक पीतलकी बुद्धमूर्त्ति दोङ्-दुवाङ् (अनाम) में भी मिली थी।

प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रीके बलपर अभी हम इतना ही कह सकते हैं, कि बौद्धधर्म सेलीबीज तक पहुँचा था। इस तरहकी सुंदर मूर्त्ति जंगलमें नहीं फेंकी जा सकती। यह वहीं गयी होगी, जहाँ इसके पूजनेवाले रहे होंगे। यह पूजक भारतीय सार्थवाह भी हो सकते हैं। सार्थवाहोंको तीसरी-चौथी सदीमें भी साहसी बौद्धभिक्षुओंका मिलना दुर्लभ नहीं था। भिक्षु "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" का संदेश लेकर वहां जा चुपचाप नहीं बैठ सकते थे। वहां उन्होंने अपना सांस्कृतिक कार्य अवश्य किया होगा। बीजारोपण ही भर वे कर पाये थे, और आगे जलसिञ्चनके बिना बोया बीज वृक्ष नहीं बन सका। यूरोपीय जातियोंने इन सारे निरीह द्वीपोंपर अधिकार जमाया और आज भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहतीं। उनको अवसर मिला था, कि वह इन द्वीपोंकी पिछड़ी जातियोंको संस्कृत बनातीं, किन्तु उन्होंने अपने सामने वह लक्ष्य नहीं रक्खा था। ईसाई धर्म-प्रचारकोंने थोड़ा-बहुत कार्य जरूर किया, किन्तु वह कितना अपर्याप्त था, यह इसीसे स्पष्ट है, कि यूरोपीय शासनकी तीन सदियोंके बाद भी वहां सिरकर्त्तक दामक और दूसरी जातियाँ अपने वन्य-रूपमें मौजूद हैं। इन पिछड़ी जातियोंको वन्य-अवस्थासे निकाल-

कर संस्कृत और सुशिक्षित बनानेके लिये तीन सौ वर्ष बहुत थे, यह सोवियत रूसके उदाहरणसे प्रमाणित हो चुका है। सोवियत सरकारको मुश्किलसे बीस वर्ष मिले, लेकिन आज वहांकी एस्किमो या किसी भूतपूर्व वन्य-जातिको आप शिक्षा-संस्कृतिहीन नहीं पायेंगे। भारत अब स्वतंत्र है। क्या वह अपने पूर्वजोंके अधूरे कार्यको और ऊँचे तलपर पूरा करनेकी कोशिश करेगा? क्या फिर उसके शिक्षित निःस्वार्थी तरुण नव-संस्कृतिका संदेश लेकर दुनियाँकी पिछड़ी जातियोंको आगे बढ़ानेके लिये बाहर निकलेंगे?

स्रोतग्रंथ

1. Majumdar, R. C. : Suvarnadvipa I, II. Calcutta 1937, 1938
2. ,, : Hindu Colonies in the Far-East. Cal. 1944
3. Chatterjee, Bijan Rai : India and Java. Calcutta 1933
4. Dutt, Nalinaksha : Gilgit Manuscripts Vol. I Srinagar 1939
5. ,, : Early History of the Spread of Budhism Cal. 1925
6. Gopalan, R. : History of the Pallavas of Kanchi
7. Sarkar, H. B. : Indian Influences on the Literature of Java and Bali Cal. 1935
8. Bose, Phanindra N. : The India Colony of Champa. Madras 1926
9. Sadananda Swami : Pilgrimage to Greater India Cal. 1936
10. Raffles, Sir Thomes S. : The History of Java, Vols. I, II. London 1830
11. Khan, G. Mohammed : History of Kedah. Kedah 1932
12. Scheltema J. F. : Monumental Java. London 1912
13. Sircar, Dinesh Ch. : The Successors of the Satavahanas. Cal. 1931
14. Gopalachari, K. : Early History of Andhra Country. Madras 1941
15. Moens, J. L. : Crivijaya, Yava en Kataha 1937
16. Vlekke, Bernard H. M. : The History of Dutch East Indies. Harvard 1946

भाग ३

हिन्द-चीन

अध्याय १

चम्पा

§ १. ऐतिहासिक

बर्मामें धर्म-प्रचार ही के लिये नहीं, बल्कि वाणिज्य-व्यवसायके लिये भी कितने ही भारतीय बस गये थे, जो क्रमशः वहाँके निवासियोंमें घुल-मिल गये। लेकिन वह संख्यामें बहुत थोड़े थे, इसलिये धर्मको छोड़कर खान-पान या रहन-सहनपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सके। लेकिन जावा एक समय भारतका उपनिवेश था। बहुतसे व्यापारी वहाँ वाणिज्य करने गये। उपेक्षित और निर्वासित राजकुमार वहाँ जाकर नवीन वंश कायम करके बस गये। बहुतसे शिल्पी और कलाकार भी वहाँ जा बसे। ४३१ तक तो जावामें भारतीय संस्कृतिका स्थायी प्रभाव पड़ चुका था। जावा हमारे दूसरे उपनिवेशियोंकी पहली मंजिल थी, जहाँसे वह बोर्नियो और हिन्दी-चीनमें बढ़ते गये।

§ २. बौद्धधर्म

हिन्द-चीनमें हमारा सबसे पहला उपनिवेश आधुनिक अनामके दक्षिणमें सीम्पस (सीम) प्रायद्वीपके पूर्वी किनारेपर पहाड़ और तटके बीच न्हामे नगरके आसपासमें था। आज भी वहाँ नवीं शताब्दीका एक भगवती-मंदिर है। यह उपनिवेश ईस्वी सन्‌के आरंभमें स्थापित हुआ था। चीनी इतिहासकारोंके अनुसार चंपाके राज्यकी स्थापना १९२ ई० में हुई थी।

ईसाकी पहली सात-आठ शताब्दियोंमें शैवधर्मका वहाँ जोर था। नवीं शताब्दीसे बौद्ध-धर्मका प्रभाव बढ़ने लगा। इसी समय इन्द्रवर्मा द्वितीयने लक्ष्मीन्द्रलोकेश्वर नामक महाविहार की स्थापना की। किन्तु, वहाँ बौद्ध और शैव विश्वासोंका आपसमें कोई संघर्ष नहीं था। लोकेश्वरसे अर्थ यहाँ अवलोकितेश्वर बोधिसत्व नहीं, क्योंकि लोकेश्वर है, बल्कि कुर्सीपर बैठकर उपदेश देते बुद्धकी प्रतिमासे था। ९०२ ई० में इसी प्रदेशमें स्थविर नागपुष्पने "प्रमुदित-लोकेश्वर विहार" स्थापित किया, और उसकी प्रशस्तिमें लिखा[१]—

"वज्रधातुरसौ पूर्वं श्रीशाक्यमुनिशासनात्।
शून्योपि वज्रधृद्धेतुः बुद्धानामालयो भवत्॥
पद्मधातुरतो लोकेश्वरहेतुर्जिनालयः।
अमिताभवचोयुक्त्या महाशून्यो बभूव ह॥
चक्रधातुरसौ शून्यातीतो वैरोचनाज्ञया।
वज्रसत्त्वस्य हेतुः स्यात् तृतीयो भूज्जिनालयः॥"

[१]Beffo, XI, 277

सनातनीलँघयतिस्म नो हि
स्थितीरुदन्वानिव यः प्रभुत्वे ॥
तस्य कीर्तियशोऽऽश्रीमनोरथवर्म्म(णः) ।
दौहित्रीतनयो योभूद् द्विजात्मप्रवरात्मजः ॥
श्रीरुद्रवर्म्मणस्तस्य नृपतेर्भूरिते(जसः) ।
॥तेजस्विनां योभूत् सुनूर्दीधितिमानिव ॥
धर्मस्थितिं कृतयुगाखिलपादभाजं
यस्साम्प्रतेप्यनुसरत्यमलं ।ऽऽ ।
ऽऽ। मुखतिरस्कृतमण्डलाभस्
सोम्यं स्वकं न हि जहाति ।ऽ कृतोपि ॥
श्रीशम्भुवर्म्मणस्तस्य राज्ञः प्रथितते(जसः) ।
(य) इमं शम्भुभद्रेशं पुनः स्थापितवान् भुवि ॥
यस्सूनुरौरसो राजा प्रादुरासीन्महायशाः ।
श्रीमान् कंदर्प्पधर्मेति साक्षाद्धर्म इवापरः ॥
प्रजा यस्त्वैर्धर्मैर्व्यसनरहितः पाति सुतवत्
न तत्रास्त्याशा मे कलिरिति समुत्सेकविमु(खः) ।
।ऽऽ स्तेजोभिर्विधुतविरसः क्वाप्यपगतो
निदायासह्याशोद्दिनकृत ` इवध्वान्तनिवहः ॥
यस्तस्य पुत्रत्वमुप(ा)सन् ऽऽ।ऽऽ
—— —— ˇ —— —— स्थितिनिघ्नहेतुः ।
सर्व्वप्रजानां समुदेति यत्र
मनोरथो विश्वसृजीव सर्ग्गः ॥
स्वपरहितनिषेधप्राप्तिहेतुप्र ऽऽ
। । । । । गुणानां युक्तिमापादयन् यः
प्रकृतिहितमधीप्सन् सन्तनोत्यात्मतेजो
मधुसमयविवस्वद्रश्मिधर्म्मानुपाती ॥
प्रभासधर्मनृपतेस्सोदर्या तस्य यानुजा समभूत् (।)
जगतां हितार्थजननी विश्वसृजः कर्म्मसिद्धिरिव ॥
. . . . जन्माच्छन्दस्यसत्यकौशिकस्वामी ।
तस्याः पतित्वमागादनसूयाया इवात्रिमुनिः ॥
ऽऽ। पत्यं किल योबभूव
प्रख्यातवीर्य्यश्रुतिरूपकान्तिः ।
क्षत्रं कुलं ब्राह्ममथ द्वयं हि
निरंतरं यः प्रकटीचकार ॥
(श्री म)द्रेश्वरवर्म्मेत्यत्र कुलयोग्य विश्वरूप इति ।
ते च त्रयो बभूवुस्सोदर्य्यभ्रातरो यऽ॥

ऽ। तश्श्री जगद्धर्म्मः प्रथितः प्राज्यविक्रमः ।
प्रायात् केनापि विधिना पुरं यद् भवसाह्व)यं) ॥
(तत्र)स्थापितवाञ्छूलं कौण्डिन्यस्तद् द्विजर्षभः ।
अश्वत्थाम्नो द्विजश्रेष्ठाद् द्रोणपुत्रादवाप्य तं ॥
ऽऽ कुलासीद् भुजगेन्द्रकन्या
सोमेति सा वंशकरी पृथिव्याम् ।
आश्रित्य भावेति विशेषवस्तु
या मानुषावासमुवास ऽऽ ॥
कौण्डिन्यनाम्ना द्विजपुङ्गवेन
कार्य्यार्थपत्नीत्वमनायि यापि ।
भविष्यतोर्थस्य निमित्तभावे
विधेरचिन्त्यं खलु चेष्टितं हि ॥
तदव्यवच्छेदि विशुद्धवंशः
परम्परोपात्तनृपत्वजन्मा ।
अद्यापि योलङ्कृतितां प्रजानाम्
आयात्यनिन्द्यप्रसवैर् ।ऽऽ ॥
तस्य श्रीभववर्म्मणः क्षितिपतेश्शक्ति-त्रय-श्लाघिनो
वीर्य्योद्दामसपत्नसंघसमरस्पर्द्धाभिमानच्छिदः ।
भ्राता यः पृथिवीश्वरस्समभवद् दृप्तारिपक्षक्षयः
तेजोवर्द्धितशासनो रविरिव प्राज्यप्रभावोदयः ॥
स श्रीमहेन्द्रवर्म्मा त्रिदशाधिपतुल्यविक्रमः प्रथितः ।
यमजनयत् प्रियतनयं नय इव सुधियां सुखप्रसवम् ॥
श्रीशानवर्म्मा स नराधिपति र्ऽ
समस्तदिक्प्रान्तविसर्पितेजा(:) ।
प्रासूत यामद्वयवृद्धिहेतोर्—
यज्ञक्रियारम्भ इवोदयर्द्धिम् ॥
(तस्यां श्री शर्व्वाण्यां सत्यां सोमान्वयप्रसूतायाम् ।
वरविक्रमं प्रियसुतं यमजनयच्छ्रीजगद्धर्मः ॥
गुणानां साफल्यं भवति न किलैकत्रवशिनः ।
क्विमप्येयं सृष्टेर्वरकमलयोनेर्भगवतः,
गुणा यत्राशेषा दधति तु परार्ध्यामितिरतिं,
महार्हो रत्नो यो इव जलनिधौ दुस्तरजले ॥
अविरतनरदेवब्रह्मवश्यस्स्वतेजः,
शमितरिपुसनाथः श्रीसमुत्सेकहेतुः ।
दशरथनृपजोयं राम इत्याशया यं
श्रयति विधिपुरोगा श्रीरहो युक्तिरूपम् ॥

विवृद्धिमेति त्रितयं यमेत्य
पद्मा च कांतिश्च सरस्वती च।
प्रायेण सत्स्थानमभिप्रपन्नं
सुबीजमानन्त्यफलाय कल्प्यम् ॥

सोयमुदितोदित-मानवेन्द्र-महतीयान्वयमहत्तर-दुरवाय-पर्य्यन्त-क्षीरपयोनिधि-पूर्व्वभागोदित-निर्म्मल-मयूख-पर्याप्त-मण्डल-क्षपानाथः क्षपित-महाभिमान-दुष्कृत-सपत्न-संघ-संस्तुत-निसर्ग-वीर्य्योवीर्य्य-दृढ़तरैकसार्थ-पार्थिव-गुणोपात्त-पालित-सम्बर्द्धिताहंतीर्थापादितराज्यः लक्ष्मी-निरूपित-वैचक्षण्य(:)श्रीमान् श्रीचम्पापुरपरमेश्वरो महाराजः श्रीविक्रान्तवर्म्मेत्युपात्त-विजयाभिषेकनामा श्रीप्रकाशधर्म्मो नव-सप्तत्युत्तर-पञ्चवर्ष-शतातीत (५७९) शकावनीन्द्र-कालपरिमाणं तपस्य-सितदशाहार्कवासरादित्यर्क्षवृषभोदयैकादश-घटिका-नवग्रहोरादि-पुरस्सरं मीनयुगायातार्कबुधभार्गवं तुलाधरस्थ-भौम-सौरं घटधरसंस्थवाचस्पति नरयुग्मोपगत-ताराधिपशोभनमित्याजवञ्जवीभावसामर्थ्य-वीज-संहृति-चिकीर्षया सकलभुवनैकनाथं श्रीप्रभासेश्वरं प्रतिष्ठापितवान्।

स्वाः शक्तिः प्रतियोग्यतामुपगता क्षित्यादयो मूर्त्तयो
लोकस्थित्युदयादिकार्य्यपरता ताभिर्व्विना नास्ति हि।
इत्येवं विगणय्य शक्तिवशिना येनाध्रियन्तेथवा
का नामेह विभुः क्रिया न भजते या स्युः परार्थोदये ॥

यो ब्रह्मविष्णुत्रिदशाधिपादि—
सुरासुरब्रह्मनृपर्षिमान्यः।
तथापि भूत्यै जगतामनृत्यच्—
छ्मशानभूमावतिचित्रमेतत् ॥

यतो जगत् स्थाष्णु चरिष्णुरूपं
विवर्त्तते कादिव रश्मि जालम्।
यत्रैव भूयः प्रतिलीयते तद्
अहो विचित्रो महतां निसर्गः ॥

यस्यातीतमनोगतेरपि सतो हेतोर्ज्जगज्जन्मनां,
प्रेयोनन्त्यफलप्रदा स्मृतिरपि व्यक्तिः पुनः का कथा।
सौस्थित्य-प्रभवोपलब्धि-विषये चम्पानगर्य्यां स्थिरं
स्थेयादाभुवनस्थितेर्व्विभुरयं स श्रीप्रभासेश्वरः ॥

लीङ्-कोष्ठागारं स—चौम्—विषयं हवौङ् कर्ण्णौय्—वौ-पितौ—क्रौङ्—नजोच्—वसौय्—कोष्ठागारदिमिदित् तत्र सहितं सर्व्वमिदं श्रीमाञ्छ्रीचम्पेश्वरश्रीप्रकाशधर्म्मा भगवतां ईशानेश्वर-श्रीशम्भुभद्रेश्वर-श्रीप्रभासेश्वराणां सततपूजाविषये प्रादात् ॥ ये ध्वंसयन्ति ते ब्रह्महत्याफलमनन्तकल्पेष्वजस्रमनुभवन्ति ये परिपालयन्तितेऽश्वमेधफलं(।) ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरित्यागमादिति प्रतिज्ञातम्(।)तेन तद्देवताविशेषसमक्षयोऽस्य सर्व्वस्य प्रदातेति ॥

(५) शकाब्द ७२१ (७९९ ई०)में इन्द्रवर्मा प्रथमका भद्रेश्वरको भूमिदान[1]—

---

[1] वहीं, p. 44 (No. 23, Yang Tikul Stelae Ins.)

"ओम् । यस्सिद्धर्क्षर्षिसङ्घस्सुरवरनिचयैश्चारणैश्चोत्तमौजो (।)
यं यस्माद्याति युक्तस्स जयति जगताञ्जायते जन्मजुष्टः ।
ताक्ष्यार्क्केन्द्विन्द्रदैत्यैर्द्दिवि भुवि विभवैर्भावभोगस्य भोक्ता (।)
यक्षर्क्षक्षुद्ररक्षः क्षणमपि समभूत्तस्य भक्त्या स्मरेद्यम् ।।

तस्य भगवतोऽसुरासुररिपुपवित्रचरणयुगलसरोरुहमकरन्दस्य क्षीरार्ण्णवतरङ्गगगनसिन्धु-फेनशशिकरशुक्लतरभस्मावदातधवलतरशरीरप्रदेशस्याशेषभुवनोपजीव्यमानविप्रतीततर-पङ्कजमृणालनालपादबिम्बस्य सुरासुरपतिशिखरमङ्गलपदद्वयरेणुगङ्गाप्रवाहस्यापि सुरसिद्ध-विद्याधरगणमुकुटकिरीटवरकनककणनिकरसन्ध्यायमानचरणनखमणिदर्प्पणस्य पादयुगलार-विन्दस्य शरणमधिकृत्य स भगवान् श्रीमानिन्द्रवर्म्मा प्रतिदिवसमेवमखिलदिगन्तराल-धर्म्मस्थितितरतमक्रमप्रतीतः क्षितितले पुण्यमकरोत् ।।

श्रीमान् राजेन्द्रवर्म्मा वरजनमहितो यज्ञरत्नप्रमुख्यः
ख्यातस्तेषां प्रभावैर्म्मनुरिव जगतो रक्षणे क्षेमयुक्तः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रधानो जगति दिवि यथा यज्ञभागैर्म्महेन्द्रो
राज्ये वंशप्रतीतस्सरुचिरिव शशी निर्म्मलाकाशदेशे ।।

स जयति विक्रमतया भुजद्वयेनोद्वहन्निव धरणीं सकलचम्पाधिराज्यवसुमतीतलपतितशतमख इव धनञ्जय इवाप्रतिहतपराक्रमोऽपि हरिरिव विजिताशेषरिपुवृन्दवृद्धस्सुरासुरगुरुचरणद्वयारवि-न्दजनितसुस्फीतदेशातिशयविक्रमस्तु भुवि देवराजसदृशः पूर्व्वजन्मानवरतमखकुशलतपः फलतया धनद इव धनत्यागातिशयेन राजलक्ष्म्यालिङ्गितमृदुतरशरीरप्रदेशः प्रमुदितमनसा तस्य नगरीप्रतीततरवसुधातरतमानुक्रमरक्षणस्वशक्तिप्रभावोज्जितनिरुपद्रववर्ण्णाश्रमव्यवस्थितिस्सुरन-गरीव राजधान्यासीत् ।।

स श्रीमान् नृपतिस्सदा विजयते भूमौ रिपोस्सर्व्वतः
चन्द्रेन्द्राग्नियमस्य विग्रहमधाद्यक्षाधिपस्यौजसा ।
ब्रह्मांशप्रभवः प्रभूत विभवो भाग्यप्रभावान्वितः
शक्तया विष्णुरिव प्रमथ्य च रिपून्धर्मस्थितिं पालयेत् ।।
श्रीभद्राधिपतीश्वरस्त्रिभुवने ख्यातस्स्वतेजोग्निभिर्
गन्धर्व्वोरगराक्षसैश्च मुनिभिर्द्देवर्षिविद्याधरैः ।
पातालप्रभवश्च वीर्य्यतपसा सात्वेन वा योगिनो
युक्तस्तैर्म्मनसा प्रभावविभवैः संस्तूयते सर्व्वदा ।।
नगर्य्याः पश्चिमोद्भुतस्त्रिभिलौकैः समन्वितः ।
दूरतस्तेजसो भक्त्या सोऽयं भाति महीतले ।।
भद्रं स्वस्थं शुभं यस्माज्जगतां पाति तेजसा ।
भद्रस्याधिपतिस्तस्मात्स भद्राधिपतीश्वरः ।।

अथ चिरकालेन कोशकोष्ठागारदासदासीरजतसुवर्ण्णरत्नादिपरिभोगभुक्तस्स भुवनत्रया-ञ्चितपादपंकजरेणुरेव स्वेन तेजसा सकलजगद्धितकारणस्समभवत् ।।

ततश्च कलियुगदोषातिशयभावेन नावागतैर्ज्जवबलसंघैर्न्निर्द्दह्यतेपि नवाम्बराद्रियमिते शक-काले स एव शून्योऽभवत् ।।

बहुवर्षसहस्राणि स बभूव महीतले ।
स्वं स्थानं दहनं गन्तुं ह्यकरोत् स्वस्य मायया ॥

अथ तस्य तदपि राज्ञेन्द्रवर्म्मणा पुनस्स्थापितमेव सकलकोशकोष्ठागाररजतसुवर्णमकुट-रत्नहारादिपरिभोगसान्तःपुरविलासिनीदासदासीगोमहिषक्षेत्रादिद्रव्यं तस्मै तेन दत्तञ्चित्त-प्रसादेन ॥

तस्यापि पार्थिवं लिङ्गं स्थापितं श्रीन्द्रवर्म्मणा ।
इन्द्रभद्रेश्वरोनाम्ना ततश्चाभूत् स एव वा ॥
तस्यैव स्थापितन्तेन द्रव्यं कोशञ्चरस्थिरं ।
समुखञ्चरकोशं हि शाके शशियमाद्रिगे ॥
स एव राजा परिपालयन्महीं
यदा प्रजास्ताः मुदितास्स्वविक्रमैः ।
स्वधर्म्मयत्नात् प्रथितो महीतले
सदा रिपूनाञ्जयति स्म तेजसा ॥
स धर्म्मकुलसम्पन्नस्त्यागी शूरसमन्वितः ।
शक्त्या पराञ्च निर्जित्य महीं पायात्समन्ततः ॥

तस्मै भगवते सकललोकहितकारणाय श्रीन्द्रभद्रेश्वरायेदमिति स भगवान् श्रीमानिन्द्र-वर्म्मा जव्वकोष्ठागारे शिवयज्ञक्षेत्रद्रव्यं शिखिशिखागिरिप्रदेशं भक्त्या शुद्धेन मनसैव दत्तवानिति ॥

इन्द्रभद्रेश्वरस्यैव सर्व्वद्रव्यं महीतले ।
ये रक्षन्ति रमन्त्येते स्वर्ग्गे सुरगणैस्सदा ॥
ये हरन्ति पतन्त्येते नरके वा कुलैस्सह ।
यावत् सूर्य्योऽस्ति चन्द्रश्च तावन्नरकदुःखिताः ॥
लुब्धेन मनसा द्रव्यं यो हरेत् परमेश्वरात् ।
नरकात् न पुनर्ग्गच्छेन् न चिरन्तु स जीवति ॥

(६) शकाब्द ७२३ (८०१ ई०)में राजा इन्द्रवर्माका कोशकोष्ठागार, दास-दासी, गो-महिष-क्षेत्रादिका दानपत्र[1]—

"ओम् । नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो प्रजानां निरुपद्रवाः ।
राज्ञश्च विजयो नित्यं स्म भवन्तु महीतले ॥
श्रीमान्नरेन्द्रः प्रथिवीन्द्रवर्म्मा
ख्यातस्स्ववंशैर्ज्जगतिप्रभावैः ।
ह्यस्तीति लोके स भुनक्ति भूमिं
शक्त्या च निर्ज्जित्य रिपून् हि सर्व्वान् ॥
चम्पाञ्च सकलां भुक्त्वा स एव परमो नृपः ।
तस्य राज्ये सुभिक्षा स्यान्नाना द्रव्याणि सन्ति च ॥

[1]वहीं, p. 52 No. 24A, 24 B (Glai Lamov Stelae Ins.)

न्यहनत् तस्करान् सर्व्वान् तमो भानुरिव प्रभुः ।
शितरश्मिर्य्यथा व्योम्नि तथा वंशे स शोभते ॥
अथ कालेन महता शम्भोर्भ्भक्तिपरायणात् ।
कीर्त्या च धर्म्मेण सता रुद्रलोकमगान्नृपः ॥
तस्यैव भागिनेयोऽसौ श्रीमान् वीर्य्यतमो नृपः ।
सत्यवर्म्मेति नामाख्यः ख्यातो लोके स्वकर्म्मभिः ॥
साद्रिद्रुमार्ण्णवा भूमिर्द्दिशश्च विदिशस्तथा ।
तस्य भावेन महता घूर्णिताश्च समन्ततः ॥
तस्य संमुखतः स्थातुं न शक्तो वा परो युधि ।
विष्णोर्य्यथासुरश्चाभूद्दृष्ट्वा तन्तु पराङ्मुखः ॥
कान्त्योर्व्व्यां कुसुमायुधेन सदृशश्शक्रेण तुल्यो जये
शक्त्युग्रेण यशोर्थिनेऽतिबलवान् देवेन्द्रपुत्रोपमः ।
मान्यो मानवसंगमेषु च सतां तार्क्ष्योग्ररूपो विभुर्
भावानाञ्जयति प्रमथ्य च रिपून् श्रीसत्यवर्म्मा नृपः ॥
चिरकालेन महता प्राप्ते स निधनं गतः ।
ज्ञानेन धर्म्मसंयुक्तो लोकमैश्वरमाप्नुयात् ॥
तस्यानुजश्च नृपतिश्श्रीमान् धर्म्मपरो भवत् ।
इन्द्रवर्म्मेति विख्यातस्तेजसा बलवान् भुवि ॥
स युद्धे न्यगमत् शत्रून्नृपोऽपि परवीरहा ।
समीक्ष्य बलसंयुक्तो मृगेन्द्र इव कुञ्जरान् ॥
भूमौ विजयते राजा वीर्य्यवान् यशसान्वितः ।
सोऽहनत् परसैन्यानि वज्रहस्त इवासुरान् ॥
व्यरोचत महाप्राज्ञो राजा शूरसमन्वितः ।
राज्ये हि धर्म्मसंयुक्तो धर्म्मराज इवाभवत् ॥

स एव राजा श्रीमान् प्रथमतरन्तावदिन्द्रभोगेश्वरं वीरपुरे स्वयमेव स्थापयेत् तिथिकरण-मुहूर्त्तनक्षत्रदिवसलग्नयोगेन तदनन्तरमिन्द्रभद्रेश्वरमुपस्थापितवान् ॥

अथापि शरदि निर्म्मलकरशशिराजवंशसंभूतेन धराधरतनुजकान्तिकोमलशरीरप्रदेशेन तारागणोदयगिरिशिखरनिशाकरेणेव वरभवनगवाक्षप्रदेशविनिहितवदनकमलकुड्मलेन मृग-दर्पणोत्करसुगन्धचन्दनानुलेपनभवलिनोरस्थलवायुद्वयेन पृथुतरभाग्यसंपदुपवृंहितपरमराज्य-राजलक्ष्मीलक्षणोपचितकर्म्मस्वभावेन परबलस्वबलधनुर्ज्यानिष्पेषनिर्घोषपरिकम्पितसमरभूमि-भोगनिश्चलचित्तचन्द्रप्रभावेण राज्ञेन्द्रवर्म्मणेह स भगवानिन्द्रपरमेश्वरस्सकलजगद्धितकारणश्श्री-सत्यवर्म्मणो वरभवनस्थाने स्थापितश्चापि परमशुद्धेन मनसा समस्तमुनिजनतपोधनविबुधविप्र-गणेभ्यः परस्परमुदितप्रवृत्तचित्तेभ्योऽरिक्तप्रयत्नेन धनदानैरपि शकपतिसमये लोकयमपर्व्वते कपालेयकसितपक्षनवम्याः निशायामुत्तराषाढर्क्षेण चन्द्रवारसहितेन कर्क्कटलग्नेन यावद्वसुमती-पर्व्वतमहार्ण्णवाकाशमित्यस्ति तावदित्येव स्थिरो भवतु ।

ओम् । जयति महासुरपुरत्रयाबमर्द्दनविविधविक्रमोऽपि सितभस्मप्रभावयोगादिजय-हुङ्कारनिर्म्मलतरशरीरप्रदेशश्च गगनान्तरस्फुरितविद्युदनेकचञ्चच्चारुरुचिरविततशिखि-

शिखावलीज्वलितनेत्रत्रयज्योत्स्नोद्द्योतितसकलजगन्मण्डलस्थितिर्भाति बहुतरकनकरजततरु-लतावगुण्ठिततुहिनगिरिशिखरगहनविवरान्तरस्थितोऽवनतसिद्धचारणहरिषण्मुखशतमखमुखतिय-विबुधगणमस्तककिरीटमणिकिरणविच्छुरितपादबिम्बो निपतितरक्तबन्धुजीवकुसुमरेणुरञ्जित चरणतलकमलकोमलमृणालनालस्तु नभस्तलनिस्सृतगम्भीर गङ्गाजलनिपातधाराधौततरजटा-धारोऽत्यहङ्कारकामाङ्गदहनस्स सुरासुरमुनिसिद्धयक्षगन्धर्वकिन्नरवराप्सरोगणपवित्रचरणयुग-लाम्भोरुहश्च ती(त्र)बलदर्प्पान्धासुरघ्नश्च स भगवान् महेश्वरोऽपि जगतः स्थित्युत्पत्ति-प्रलयकारणस्तु तथापि नारायणस् समस्तभुवनपरिरक्षणसमर्थभावः क्षीरार्ण्णवतरङ्गसङ्घात-लशयनानन्तभोगभुजगपरिसेवितचतुर्भुजभुवनस्तम्भश्चापि गोबर्धनगिरिधरणसुरासुरमुनिवन्दित-चरणारविन्दस्तु कृतमधुकंसासुरकेशिचाणूररिष्टप्रलम्बनिधनोऽपि मधुकैटभरुधिरसन्ध्यायमानचरण-नखमणिदर्प्पणश्चापि यदेकमूर्त्तिस्थितस्तत इति शङ्करनारायणोऽपि भगवान् सुरचिताभरण-कनकपिञ्जरीकृततनुवरैकदेशस्तु तस्य प्रसादोऽस्तु भगवते श्रीमत इन्द्रवर्म्मणे सर्व्वोपभोगान्-स ददातु तस्मै सर्व्वैश्वर्य्याणीहामुत्र वा तस्य राज्ञो यथेप्सिताः भवन्तु स्म ॥

तस्मै सकलकोशकोष्ठागारसान्तःपुरविलासिनीदासदासीगोमहिषक्षेत्रादिद्रव्यं हेमकटिसूत्र-वलयनूपुरकिरीटमणिमुक्तिप्रवालहारादिभूषणं रजतकुम्भान्नभाजनव्यजनातपत्रकदंवकलशचा-मरशरावादिपरिभोगं स श्रीमानिन्द्रवर्म्मेति परमेश्वरचरितनिरन्तरमनास् सुरपतिरिव दत्तवान् सकललोककारणप्रसादातिशयेभ्यो विगतकलुषचित्तभावेन ॥

य एव राजा परिरक्षति प्रभुः
परस्य दत्तन्तु नृपस्य शासनम् ।
हि तस्य राज्ञः परिरक्षतु स्वकम्
परोऽपि राजा वसुधातले धनम् ॥
य एव राजा तु विनाशयन् धनं
परस्य दत्तन्तु नृपस्य शासनम् ।
परोऽपि राजा तु विनाशयेत्पुनः
स तस्य राज्ञो वसुधातले स्वकम् ॥

प्रथमतरन्तावत् श्रीकोष्ठागारं पवित्रेश्वरस्य कोष्ठागारं ममौच् कोष्ठागारं भुवनाग्रपुरकोष्ठागा-रद्वयं क्लजदटीप्रदेशग्रामैकं चलैप् गिरिशिखरोत्तुङ्गदीर्घं सर्व्वाणि तेन दत्तानि तस्मै चित्तप्रसादेन ॥

ये केचित् साधुपुरुषाः स्वपुण्यपरिरक्षार्थं ते तानि सर्व्वाणि संरक्ष्य दीर्घायुषा भवन्तु सर्व्वैः कुलसन्तानैस्स्वर्गे वसन्तु यावदिन्द्रोऽपि दिवस्थो ह्यस्त्यनेकशतसहस्रकल्पेषु तावद्देवताविशेषैः रमन्तु स्म ॥ ये केचित् पापपुरुषाः नरकनिर्भयाः तानि द्रव्याणि वा हरन्ति नाशयन्ति ते ह्यल्पायुषा वन्तु नरके पतन्तु सर्वैः सप्तमकुलैः यावत् सूर्य्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रतारागणास्सन्ति तावत् नरके वसन्तु स्म ॥

सर्वाणीमानि वचनानि पुरोहिताग्रासब्राह्मणपण्डिततपसगणानां यदा श्रीपरमपुरोहितेन हूयमाने वर्ण्णाले लिह्यमाने ज्वालमाने तदा सर्व्वे शापमवदन् ॥ ये तान्यनुचरन्ति ते दीर्घायुषा भवन्तु ॥ उक्तं हिः—

पाकभेदः कृतघ्नश्च भूमिहर्त्ता च ते त्रयः ।
नरकात् न निवर्त्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

(७) शकाब्द ८११ (८८९ ई०)में राजा इंद्रवर्मा द्वितीयका महालिंगदेव महादेवको दास और भूमिका दान[1]—

श्रों नमः शिवाय ।
ब्रह्मादिमुनिसुरनुतस्सश्रीभद्रेश्वरः प्रभुर्भगवान् ।
जयति जगद्गुरुराद्यस्त्रिपुरजयी योगिभिः साध्यः ॥
मन्त्री नृपतेः ख्यातो विविधगुणैराशयेशभक्त्याशः ।
क्ष्मायां विभाति धर्मैराज्ञा मणिचैत्यनामायम् ॥
शाकाब्दे शशिरूपमंगलयुते मैत्रे धृतेन ग्रहे
कुम्भस्थे भृगु जे ।ऽ। भुजगैसौरिवारे शुभा ।
स्थाप्या तेन कुमारिकासुरगुरौ नागेन्द्र सौरे महा (।)
देवी फाल्गुणनील पञ्चदिवसे गोलग्न ईशप्रिया ॥
श्री महालिङ्ग देवोऽयं स्थापितस्तेन तत्पितुः ।
स्थापिता च महादेवी श्रीमती मातरि प्रिया ॥
तस्येश्वरदेवाख्यो ऽनुजः स्वकीर्त्यैः सेतुर्धरायाञ्च ।
येन स्थाप्यः सुमुदा श्रीश्वरदेवादिदेवोऽयम् ॥
श्रीमहालिङ्ग देवाय प्रादात् क्षेत्रं सदासकम् ।
श्री जयइन्द्र वर्मेदं शास्त्रज्ञो लोकधर्मवित् ॥
चम्पेश्वरा वरनृपा आचन्द्रार्कात् पदाशयाः ।
शृणुयुः वचनमिद परमार्थं सु(धार्मिकम्) ॥
श्रीजयइन्द्र वर्म राजस्य ॥
श्री महालिङ्गदेवं केचिद् अतिक्रत्य नरके पतन्तु केचिद् वलात्कारेनास्य द्रव्यदास—।
क्षेत्रगो महिषान् हरिष्यन्ति देइनशिखाकराले महानिरये पतन्तु (१)
ये धर्मज्ञा न्यायेन पालयन्तिशक्तिमन्तमिमं ते दिवि वसन्तु ॥

(८) शकाब्द ८४० (९१४ई०) में राजा इन्द्रवर्मा तृतीय द्वारा स्वर्णमयी देवीकी स्थापना[2]—

श्रीभद्रवर्मनृपतिर्ज्जगद्विभवदायकः ।
भुनक्ति सकलां भूमिं पयोनिधिपयोम्बराम् ॥
तस्य सूनुर्म्महीपालश्चम्पारक्षणतत्परः ॥
श्री इन्द्र वर्म्मनामास्थात् पूर्ण्णचन्द्र इवाम्बरे ॥
मीमांसषट्तर्कजिनेन्द्रसूर्म्मिस्
सकाशिकाव्याकरणोदकौघः ।
आख्यानशैवोत्तरकल्पमीनः
पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम् ॥
ब्योमाम्बुराशितनुगे शकराजकाले
देवीमिमां भगवतीं कलधौतदेहाम् ।

[1]वहीं, p. 89. N. 32. (Bo. nang stelae Ins.)
[2]वहीं, p. 138 No. 45 (Po-nagar Stelae Ins.)

एकादशेह्नि शुचेरसितेर्कवारे
(सो)तिष्ठिपद्भुवनमण्डल कीर्तिकांक्षी ॥

(९) शकाब्द ९७(१०५०ई०) परमेश्वरवर्मा द्वितीयका मुकुटभृंगार(गडवा) छत्र आदिका दानपत्र[1]–

"स्वस्ति ।
भूताभूतेशभूता भुवि भवविभवोद्भावभावात्मभावाः ।
भावाभावास्वभावा भवभवकभवाभावभावैकभावाः ।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमुकुटतनोरर्धकाया सुकाया
कार्येकार्येशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वासिद्ध्या ॥
सारासारविवेचनस्फुटमना मान्यो मनोनन्दनः
पापापापभयप्रियः प्रियकरः कीर्त्यर्ज्जनैकोद्यमः ।
लोकालोकिकलौ कलौ सति सतस्त्रातुं भवद्भाविनो
भावोद्भावसुभावसग्दुणगणैर्धर्मं तनोत्येव यः ॥
वेलाद्रि नवमे क्ष्मेशः श्रीद्धः श्रीपरमेश्वरः ।
स्वर्णविद्धघटन् तस्याः स्थापयेत् स्थानकस्थले ॥
इदन्तु पूजार्थमुत्तमं मकुटभूषणमेकं विचित्ररशनागुण एकः रूपमयभृङ्गार एकः मयूरच्छत्रमेकं पृथुरजतिवितानमेकमेतत् सर्वंकल-धौतमयैः सुकलशाष्टार्द्धवाल-भाजन पृथुभाजनैः साकं तेनास्यै प्रहितमिति ॥

(१०) शकाब्द १०८५ (११६३ ई०) में श्री जय इंद्रवर्मा चतुर्थका दानपत्र—[2]

पुञ्चिय् अनाक् श्री जयइन्द्रवर्म्मा
प्रादादिदं ग्रामपुरप्रदेशः ।
वानाष्टखेन्दाविव रत्नसानुं
श्रीशानभद्रेश्वर ईश्वरेशे ॥
सनीश्वरात्मा महदीश्वरीकृतो
हिरण्यगर्भो न स ईश्वरोऽधुना ।
हिरण्यगर्भीकृतवप्रतेयसे
दृशस्ततो येन स नु स्तुतस्सता ॥
नैवाशिषस्तत्सुधियानुशक्तः—
तस्मिन् स दातुं दशदिक्षु देवः ।
रक्षाकृतो भूभृति पञ्चवक्त्रः
पुनर्विभर्त्यद्य मुखानि पञ्च ॥
दृष्टैर्म्महास्यैर्वहुवाक् स शर्व्वस्
स्तुत्यात्म यद्य त्तसुवर्णकोशः ।

[1]वहीं, p. 152, No. 55 (Po-nagar Temple Ins.)
[2]वहीं, p. 196 No. 79 (May-Son Temple Ins.)

तत्रैककान्त्यावचनो न्वलाभाद्
देयस्य दत्तेन समानकान्तेः ॥
दयाथ कीर्तिश्च गुणश्च यस्य
रुपञ्च वीर्यञ्च मुखानि पञ्च ।
एतानि वक्ष्यद् युगपन् महेशे
सत्कोशनं पञ्च विभर्त्ति वेदम् ॥
सत्कोशने तत्र पणे सुवर्ण्णे
कर्ण्णत्रिकर्णा द्विवपुर्मणीन्द्रे ।
मुक्तासु धात्रीधरषट् समूहे
रुप्ये पण्णेप्यम्बरशून्यकर्ण्णाः ॥

अध्याय २

फोनन्

§ १. ऐतिहासिक

चंपाके पश्चिममें एक दूसरा प्रदेश अवस्थित था, जिसे चीनी लोग फूनान कहा करते थे। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें यहाँ जावासे कुछ भारतीय पहुँचे थे। प्रथम राजवंशस्थापकका नाम कौंडिन्य बताया जाता है। कहते हैं देवताकी कृपासे उसे धनुष मिला। वह नावपर चढ़कर फूनान-की ओर आया। उस समय फूनानमें कोई रानी राज कर रही थी, उसने कौंडिन्य और उसके साथियोंको देखकर रोकना चाहा, किन्तु कौंडिन्यका पक्ष सबल था। उसने रानीको हराकर उससे ब्याह कर लिया। रानी नंगी थी, कौंडिन्यने उसे पहननेको वस्त्र दिया। इस कहानीसे पता चलता है, कि उस समय फूनानके लोग सभ्यतासे बहुत दूर थे, जबकि कौंडिन्य और उसके साथी वहाँ पहुँचे। लेकिन इस कथाका और दूसरी कथाओंसे भी सादृश्य मिलता है। सुवर्ण-भूमिनें सोण और उत्तरका भी स्वागत कुछ इसी तरह किया गया था। पल्लवोंके पूर्वज स्कंध-शिष्यको द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और एक नागीकी संतान बताया गया है। पल्लवोंके दूसरे शिला-लेखमें स्कंधशिष्यको वीरकूर्च तथा नागीका पुत्र कहा गया है। जावाका सबसे प्रथम घनिष्ठ संबंध पल्लवशासित दक्षिण-भारतसे हुआ। जान पड़ता है,* यह कथा वहींसे जावा होते हिन्द-चीन पहुँची। हिन्द-चीनमें नागमूर्तियाँ भी बहुत पाई जाती हैं। कौंडिन्यने जिस विवस्त्रा नागीसे ब्याह करके उसके राज्यपर अधिकार जमाया था, उसका नाम सोमा था। शायद सोमाके कारण ही फूनानके राजा सोमवंशी कहलाने लगे।

फूनानका राज्य बढ़ते-बढ़ते दक्षिणी हिन्द-चीनसे बंगालकी खाड़ी और उत्तरमें लाव देशसे मलय-प्रायद्वीप तक फैल गया। द्वारावती (स्याम) के मोन तथा पूरबके ख्मेर इनके अधीन थे। ईसाकी प्रथम पाँच शताब्दियोंमें हिन्द-चीनमें इन्हींका प्रभुत्व था।

कौंडिन्यके बादके राजा फान्-चे-मन् (मृत्यु २२५ ई०) ने राज्य-विस्तार करते हुये मलाया तक जीता। २४०-४५ई०में फूनानसे भारत दूत भेजे गये, जो पाटलिपुत्रमें मरुण्डराजाके दरबारमें पहुँचे थे। वहाँ उन्हें घोड़े और दूसरी चीजें विदाईमें मिली थीं। फूनान-राजदूतके साथ भारत (शक राजा) के दूत फूनान आये, जहाँ उनकी चीनी राजदूतोंसे मुलाकात हुई। भारतीय दूत (जिसका नाम चीनियोंने चेन-सोङ उल्लिखित किया है) ने पूछे जानेपर भारतके बारेमें बताया था[1] —

"उस देशमें बुद्धधर्मका बहुत प्रचार है। लोग ईमानदार और भूमि उर्वर है। राजाकी उपाधि मू-लुन् (मुरुण्ड) है। नदियों और जलाशयोंके जलको बहुत-सी छोटी-छोटी नहरोंसे

---

[1] Pelliot, Le Fonnan, p. 271

ले जाकर प्राकारकी परिखाओंमें बहाते हुये एक बड़ी नदीमें पहुँचाया जाता है। प्रासादों, मन्दिरों और मूर्तियोंको उत्कीर्ण अलंकरणोंसे सजाया जाता है। सड़कों, बाजारों, गावों, घरों, पान्थ-शालाओं और नगरोंमें घंटे और वाद्यके हर्षोत्पादक शब्द सुने जाते हैं। वहाँ बहुमूल्य वस्त्र और सुगंधित पुष्प देखे जाते हैं। स्थल और जलके रास्तेसे आकर व्यापारी बड़ी संख्यामें जमा होकर रत्न तथा सब तरहकी मनोहर वस्तुएं बेचते हैं। (उस देशके) दाहिने और बायें कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि छ बड़े राज्य हैं। भारतवर्षसे दो-दो, तीन-तीन हजार ली दूरके रहनेवाले कितने ही राजा वहाँके राजाके आज्ञाकारी हैं, और समझते हैं कि यह राज्य दुनियाके केन्द्रमें अवस्थित है।"

चीन-सम्राट हू (८९-१०५ ई०) के समयमें कई दूतमंडल भारतसे मध्य-एशिया होकर चीन पहुँचे थे और सम्राट हू-अन-ली (१४७-६७) के समयमें भी कितने ही दूत दक्षिणी समुद्रके रास्ते चीन गये। कालिदास और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके समयमें खतम होनेवाले छिन-वंश (२६५-४१९ई०) के इतिहासमें २४५ ई० में भेजे चीनी राजदूतोंकी सूचनाओंमें फूनानके बारेमें लिखा मिलता है[1]—

"यह देश तीन हजार ली के घेरेमें है। वहाँ प्राकार बद्ध नगर, प्रासाद, तथा मकान हैं। आदमी कुरूप, काले और कुंचित-केश होते हैं। वे नंगे रहते हैं और नंगे पैर चलते हैं। वे सीधे-सादे होते हैं और चोरी नहीं करते। वे खेतीका पेशा करते हैं। इसके अतिरिक्त आभूषणोंका खोदना और जड़ना जानते हैं। भोजनके बर्तन उनके बहुतसे चाँदीके होते हैं। कर सोना, चाँदी, मोती और सुगंधित द्रव्यके रूपमें दिये जाते हैं। उनके पास पुस्तकाधानी आदि होती हैं। उनकी वर्णमाला हू (मध्य-एशियाकी एक जाति, जिनकी लिपि भारतीय थी) जैसी है। उनके विवाह, दाह-संस्कारका रीति-रिवाज प्रायः वैसा ही है, जैसा चंपावालोंका।"

इससे साफ है, कि तीसरी शताब्दीमें फूनान बहुत कुछ भारतीय बन चुका था। चौथी शताब्दीके अंतमें दूसरा कौंडिन्य फूनान पहुँचा, उसके बारेमें चीनी इतिहासमें कहा गया है—

"भारतके एक ब्राह्मण कौंडिन्यने दैवी वाणी सुनी—'तुम जाकर फूनानमें राज करो।' कौंडिन्य सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और दक्षिणमें जा फान-फान पहुँचा। फूनानी लोगोंने उसके बारेमें सुना। सारा देश हर्षोन्मत्त हो गया। उन्होंने आकर उसे अपना राजा चुना। उसने देशके ढंगको भारतीय बना दिया।"

४३८ ई० में फूनानमें जयवर्म्मा कौंडिन्य राज्य करता था। उसने अपने यहाँके व्यापारियोंको वाणिज्य करनेके लिये कान्तन भेजा। जब वे लौटने लगे, तो भारतीय भिक्षु नागसेन भारत लौटनेके विचारसे उनके साथ हो लिये। लेकिन आँधीके मारे उन्हें चम्पामें उतरना पड़ा, और व्यापारियोंका सब कुछ लुट गया। नागसेन किसी तरह निकलकर फूनान पहुँच सके।

यह वह समय था, जब गुप्तोंकी शक्तिका ह्रास हो चुका था और हेफ्ताल (तथाकथित श्वेतहूण) उत्तरी भारतके कितने ही भागोंपर अधिकार कर चुके थे।

राजा जयवर्माने ४८४ ई० में भारतीय शाक्यभिक्षु नागसेनको (चीन-दरबारमें) आवे-दनपत्र देकर भेजा। इस पत्रमें चीन-सम्राटको बौद्धधर्मका संरक्षक तथा उसके राज्यमें धर्मकी

[1]वहीं, p. 254

अधिकाधिक अभिवृद्धिकी प्रशंसा की गई थी। उस समय फूनानके राजाका एक विद्रोही संबंधी चंपामें भाग गया था और वहाँसे प्रतिरोध कर रहा था। आवेदनमें उसे दबानेकी प्रार्थना की गई थी। नागसेनने चीनकी राजधानीमें पहुँचनेपर बताया, कि चंपा देशमें महेश्वर देवताकी पूजा अधिक होती है। फिर वह किसी बोधिसत्वकी बात करने लगा।

"उसने मूलतः एक साधारण वंशमें पैदा हो बोधि (परमज्ञान) के योग्य हृदय पाया था। वह ऐसी अवस्थामें पहुँच गया, जहाँ दोनों यान नहीं पहुँच सकते थे। उसकी (तपस्याके) फलने जनताको संसारिक बंधनोंसे मुक्त कर दिया।....बुद्धका सुधारक प्रभाव दसो दिशाओंमें फैला हुआ है, और वहाँ कोई ऐसा नहीं है, जो उसकी सहायताका पात्र न हो।"

५०३ ई० में जयवर्माके दूसरे दूत चीन गये। उसी समय सम्राटने फूनान-राजको "प्रशान्त-दक्षिणसेनापति-फूनन-राज" की पदवी दी।

फूनानके रस्म-रिवाजके बारेमें लिखा है—"लोग देवताओंकी पूजा करते हैं। इन देवताओं-की वे पीतलकी मूर्तियाँ बनाते हैं, जिनमेंसे किसीके दो मुँह और चार हाथ तथा किसी-किसीके चार मुँह और आठ हाथ होते हैं। मरनेपर शोक-प्रदर्शनके लिये वे केश और दाढ़ी मुँड़ाते हैं। वहाँ शवोंका चार प्रकारसे संस्कार होता है: (१) नदी प्रवाहमें फेंक देना, (२) जलाकर राख कर देना, (३) गाड़ देना, (४) गिद्धोंके लिये छोड़ देना।"

§ २. धर्म

(शैव, बौद्ध) फूनानका राजवंश शैव था, इसीलिये जाति-भेदपर भी अधिक जोर देना स्वाभाविक था। किन्तु साथ ही वहाँ बौद्धधर्मका भी कम प्रभाव नहीं था। संस्कृतका पठन-पाठन खूब होता था। उस समयके फूनानमें आजका स्याम भी सम्मिलित था। फूनानके दक्षिण-में मलय प्रायद्वीप मुख्यतः बौद्ध देश था। वहाँके चौथी सदीके शिलालेखोंसे पता लगता है, कि लिगोर और दूसरे इलाकोंमें समुद्र-तटपर कई बौद्ध केन्द्र थे। क्रा-स्थलडमरूमध्यके दक्षिण-में प्राप्त आठवीं-नवीं शताब्दीके शिलालेखोंसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। इनमें से एकमें ७७५ ई० में अवलोकितेश्वर, बुद्ध और वज्रपाणिके लिये श्रीविजय (पलेंबङ) के राजा द्वारा बनवाये तीन स्तूपोंका वर्णन है। अपने प्रतापके मध्याह्नके समय फूनानमें मलय भी शामिल था, यह बतला आये हैं। फूनानने जयवर्माके राज्यकालमें दो प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु दिये, जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थोंका चीनी भाषामें अनुवाद किया। उनके अनुवादित ग्रन्थ अब भी चीनी त्रिपिटकमें मिलते हैं। इन भिक्षुओंके नाम थे संघपाल और मन्द्रसेन। संघपाल एक पोतसे चीन गये थे। वह कई भाषायें जानते थे। सम्राट ऊ ने उन्हें धर्म-ग्रन्थोंको अनुवादित करनेके लिये कहा। संघपाल (संघवर्मा) ने ५०६-१२ ई० में अपने अनुवाद किये। वह ५२४ ई० में मरे। मंद्रसेन ५०३ ई० में चीन-राजधानीमें पहुँचे। सम्राट ऊ ने उन्हें भी संघपालके साथ मिलकर अनुवाद के काममें लगा दिया, किन्तु उनका चीनी भाषापर कभी अच्छा अधिकार नहीं हो पाया।

जयवर्मा ५१४ ई० में मर गया। उसके पुत्र रुद्रवर्माने अपने भाईको मारकर राज्य लिया। ५३९ ई० में चीन-सम्राटके पास उसका दूत गया था। उसके बाद राज्यमें अशांति फैल गई और फूनानके सामंत ख्मेर (कंबोज)-राजाने उसे ध्वस्त कर दिया।

---

[1]Nanjio Catalogue, Appendix II Nos. 101 and 102.

अध्याय ३

कम्बुज (ख्मेर)

§ १. आरम्भिक काल

कम्बुज राजाके नामसे इस देशका नाम कंबोज पड़ा। संभव है, जिस तरह चंपा भारतीय नामसे लिया गया, वैसे ही भारतकी पश्चिमी सीमापर स्थित कंबोज देशके नामपर यह नाम पड़ा हो। मुरुंड-शक लोग कम्बोज (वर्तमान उभय-ताजिकिस्तान) से पूर्ण परिचित थे, बल्कि तीसरी शताब्दीमें वहाँ शकोंका ही राज था। उस शताब्दीमें मुरुण्ड राजदूत फूनान पहुँचा था और दूसरी भेंटोंमें घोड़े भी लाया था, जो संभवतः कम्बोजके प्रख्यात घोड़े रहे हों। जो भी हो, इस प्रदेशमें आनेवाले भारतीय उपनिवेशिकोंके लिये कम्बोज सर्वथा अपरिचित शब्द नहीं था। लेकिन ९४७ ई० (८६९ शकाब्द) के अभिलेखमें कंबु-ऋषि और अप्सरा मेरासे कंबुज राजवंश-की उत्पत्ति बतलायी गई है।

कम्बोज नाम ही भारतीय नहीं है, बल्कि एक समय था, जब यह देश हर बातमें भारतीय था। संस्कृत पठन-पाठन, सभा-शास्त्रार्थका यहाँ वैसा ही प्रचार था, जैसा हर्ष और पीछेकी शताब्दियोंमें भारतमें। ख्मेर जातिके बीचमें चाहे उनकी संख्या कम ही रही हो, किन्तु उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको वहाँ रोपित करनेकी पूरी कोशिश की, यद्यपि वह उसमें उतनी कड़ाई नहीं कर सके। वहाँ ब्राह्मण-कन्या क्षत्रियसे और क्षत्रिय-कन्या ब्राह्मणसे शादी करती देखी जाती थीं। कम्बोजके संस्कृत पद्यबद्ध शिलालेखोंको पढ़कर कालिदास और भवभूति याद आते हैं और उनके निर्मित अङ्कोर-थोम, अङ्कोरवाट जैसे नगरों तथा प्रासादोंको देखकर एलौराके कैलाश तथा गुहा-प्रासादोंके रूपमें अवशिष्ट भारतके भव्य सौध सामने आते हैं। कम्बोजकी इमारतोंकी पुरानी प्रशस्तियाँ ब्राह्मणधर्मकी प्रधानता बतलाती हैं, किन्तु बौद्धधर्मका भी प्रभाव वहाँ नगण्य नहीं था और नहीं वह बहुत पीछेसे वहाँ पहुँचा। वस्तुतः बौद्ध और ब्राह्मण विचार-धारायें जाति-हीनता और वर्णाश्रमप्राबल्यके सहारे प्रायः सबल और निर्बल होती थीं। जहाँ वर्णाश्रम या जातिवाद प्रबल हुआ, वहाँ ब्राह्मणधर्मको शक्ति मिली; जहाँ वर्णाश्रमधर्म अंतिमरूपेण विजयी हुआ, वहाँ बौद्धधर्मको अंतिमरूपेण परास्त होना पड़ा। स्वयं भारत इसका एक उदाहरण है। इसी तरह जहाँ जातिहीनताका पलरा भारी हुआ, वहाँ बौद्धधर्मका पलरा भारी हुआ; और जहाँ वर्णाश्रमका उच्छेद हुआ, वहाँ ब्राह्मणधर्मका उच्छेद हुआ और बौद्धधर्मकी अंतिम विजय हुई। कम्बोज इसीका उदाहरण है। यद्यपि अब कम्बोजमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-भेद नहीं रहा और पुराने ब्राह्मण-क्षत्रियोंके वंशज एक जाति हो आज बौद्धके रूपमें दीखते हैं; किन्तु इससे भारतीय संस्कृतिको क्षति नहीं हुई। आज बौद्ध उस संस्कृतिके रक्षक हैं। कितना आश्चर्य होगा, जब इन पृष्ठोंमें आप कम्बोजका जो चित्र अपने सामने देखेंगे, वह भारतीयोंके लिये

कोई अस्तित्व नहीं रखता मालूम होता। कितनी आत्मविस्मृति है ! हम जैसे हर्षवर्धन, धर्म-पाल, महीपाल, गोविंदचंद, कर्ण और भोजका स्नेहसे स्मरण करते आत्म-गौरव अनुभव करते हैं, उसी तरह आजके कम्बोज-पुत्र अपने श्रुतवर्मा, जयवर्मा और सूर्यवर्माकी कृतियोंको अपने लिये अभिमानकी चीज समझते हैं। हैं वस्तुतः दोनों ही परम्परायें एक ही संस्कृतिकी दो शाखायें।

भारतीय संस्कृति जितने विशाल भूभागमें फैली, उसके इतिहासको देखनेसे ब्राह्मण और बौद्धधर्मोका उत्कर्ष जाति-हीनता और जातिवाद-प्रबलतापर आधारित रहा। जातिवादके वातावरणमें बौद्धधर्म नहीं पनप सकता और जाति-हीनताकी स्थितिमें ब्राह्मणधर्म नहीं टिक सकता। तो क्या भविष्यके जातिहीन भारतमें बौद्धधर्मके लिये कोई स्थान है ? इसका उत्तर देना उतना आसान नहीं, तो भी हम कह सकते हैं, कि जातिहीन भारतमें बौद्धधर्मकी पुनः जागृति अधिक संभव है।

(२) संस्कृत और वर्णाश्रम-धर्मका प्रचार--

"शील-सु-शम-क्षांति-संयम-धी-निधि[1]।"

"नमोस्तु परमार्थाय व्योमतुल्याय यो दधौ।
धर्म-संभोग-निर्माणकायां त्रैलोक्यमूर्तये।
भाति लोकेश्वरी मूर्ध्ना योऽमिताभं जिनं दधौ।
मितरश्मिप्रकाशानां अर्क्केन्दीवर दर्शनाद्।
प्रज्ञापारमितार्थायै भगवत्यै नमोस्तु ते।
यस्यां समेत्य सर्वज्ञाः सर्वज्ञत्वं उपेपुषः।"

अथवा ११८६ ई० का शिलालेख-----

"सम्भार-विस्तार-विभावित-धर्मकाय:
संभोगनिर्मितिवपुर् भगवान् विभक्तः।
यो गोचरो जिन-जिनात्मज-देहभाजां
बुद्धाय भूतशरणाय नमोस्त तस्मै।
वन्दे निरुत्तरमनुत्तरबोधिमार्गं
भूतार्थ-दर्शन-निरावरणैकदृष्टिम्।
धर्मं त्रिलोकविदितामरवन्द्यवन्द्यम्
अन्तर्वसत्-षडरिषंड-विखंड खड्गम्
सम्यग् विमुक्ति-परिपंथितया विमुक्त-
संगोपि सन्ततगृहीतपदार्थसङ्गः।
सङ्गीयमान-जिनशासन-शासितान् यान्
संघोभिसंहित इति प्रभवोवताद् वः।
त्रैलोक्य-कांक्षित-फलप्रसवैक-योनिर्
अग्रांगुलीविटप-भूषितवाहुशाखः।
हेमोपवीत-लतिका-परिवीत-कायो
लोकेश्वरो जयति जङ्गमपारिजातः।

---

[1] I. S. E. E., p. 62

मुनीन्द्र-धर्म्माग्रसरीं गुणाढ्यान्
धीमद्भिरध्यात्मदृशा निरीक्ष्याम ।
निरस्तनिः शेषविकल्पजालां
भक्त्या जिनानां जननीं नमध्वम् ।"

क्या संस्कृतके इन श्लोकोंको देखकर मनमें यह कल्पना भी हो सकती है, कि भारतसे बहुत दूर पूरब प्रशान्त महासागरके तटपर, फ्रांसीसियोंकी दासताके जुयेके नीचे कराहते हिन्द-चीनके लोग इन और ऐसे हजारों श्लोकोंको बनाया करते थे ?

किसी कम्बोज राजाने फूनानके राज्यका उच्छेद किया, उस समय ब्राह्मणधर्मकी वहां प्रधानता थी, बौद्धधर्म भी था, किन्तु न वह वहां तंत्रयानके रूपमें था और न आजकी तरह पाली थेरवादके रूपमें । वहांके भिक्षुओंको शील-श्रुत-शम-शांति-दया-संयम-धीका निधान कहा जाता था, अर्थात् ये आदर्श उनके सामने थे । वहां शिव और बुद्धके भक्त बड़े स्नेहके साथ रहते थे, हाँ, राज्यके लिये राजाओंके झगड़े होते ही रहते थे ।

(३) फूनानपर कम्बुजकी विजय

रुद्रवर्मा फूनानका अंतिम राजा था, जिसको परास्त कर भववर्माने कम्बोज राज्यकी स्थापना की । फूनानके साथ युद्धमें सेनापतित्व भववर्माके अनुज चित्रसेनने किया था, जो पीछे महेन्द्रवर्माके नामसे कंबुज-सिंहासनपर बैठा । नये राजवंशकी स्थापनामें ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह दो प्रभावशाली ब्राह्मणोंका भी कुछ हाथ था । ये दोनों ही रुद्रवर्माके वैद्य थे । भववर्माके सामन्त उग्रपुरके अधिपतिने हान्शेवाले शिलालेखमें अपने स्वामीकी प्रशंसा की है[1]—

"उमाके कोखसे नियंत्रित-तरंगा गंगा जिसके सिरमें माला बनी, उस चन्द्रशेखरकी जय हो . . . .अविजेय, उदार, द्वितीय मेरु समान महान् राजा श्री भववर्मा भूशासकोंका स्वामी था । सोमवंशमें उद्भूत समुद्रपर चन्द्रिका समान जिसका वीर्य युद्धक्षेत्रमें सदा चमकता रहा । निराकार अतएव मानवबलातीत उसने आभ्यन्तरिक शत्रुओंको जब जीत लिया, तब बाहरी शत्रुओंके बारेमें क्या कहना ? . . .सर्वप्रताप-समन्वित सूर्यसे भी शक्तिमें अधिक जब वह शरद्में अभियानके लिये निकलता, तो उसके शत्रु सामने नहीं ठहर सकते थे । उसकी सेनाकी धूलि शत्रु-ललनाओंके कपोलसे प्रसाधन-चूर्णको मिटाकर चन्दन-चूर्ण-सी दिखाई पड़ती थी । . . . . उसकी प्रज्वलित शक्तिके रहते अवरुद्ध नगरके प्राकारोंमें आग लगाना व्यर्थ होता । . . . .पर्वतके राजाओंकी विजयके बाद पृथ्वीके चारों कोनोंमें वंदीजनों और उसके सद्गुणोंकी सेनाने उसके यशको फैला दिया । उसके विजयोंने पृथ्वीकी सीमाओंको लाँघकर उसके रूपमें ऐल राजवंशको सर्वोपरि स्थानपर पहुँचा दिया । समुद्र-मेखला पृथ्वीको पहिले अपनी शक्तिसे जीत अपने शासन-में मधुर व्यवहार द्वारा उसे उसने दूसरी बार जीता । . . . .राजाओंकी मुकुट-मणियाँ उसके-चरणोंको प्रकाश करतीं, किन्तु उसके निर्मल हृदयमें अभिमान नहीं पैदा कर सकती थीं । . . ."

इसके बाद थोड़े दिन तक शासन करनेवाले भववर्माके बारेमें कहकर अगले राजा महेन्द्र-वर्मा (चित्रसेन) का वर्णन है, फिर उग्रपुर-अधिपतिका गुण गाते भद्रेश्वर महादेवकी प्रतिष्ठा करनेकी बात कही है:—

[1]I.S.E.E., pp.13-14

"दास, पशु, भूमि, सुवर्ण आदिको देवसंपत्ति कहकर दिया। इसपर देवताके विरागी-सेवक ही अधिकार रक्खेंगे, दाताके वंशज और संबंधी इस संपत्तिके उपभोग करनेका अधिकार नहीं रखते।...."

भववर्मानि किस वर्ष अपने राज्यकी स्थापना की, इसका उल्लेख किमी अभिलेखमें नहीं है, किन्तु उसके अभिलेखोंकी लिपि बीजापुर जिलेके बादामीमें ५७८ ई० के मंगलीशवाले शिलालेख से मिलती है। जावाके सबसे पुराने तथा पश्चिमी जावामें प्राप्त पूर्णवर्माके शिलालेख और बोर्नियोमें कुतेइसे प्राप्त मूलवर्माके अभिलेखोंकी लिपि भी इससे बहुत समानता रखती है।

भववर्मानि फूनानके विजयमें अमित संपत्ति पाकर उससे अपने यश-कीर्तिको बहुत बढ़ाया। फ़ोम्-बन-तेआ-नेआङः (स्यामी सीमांतपर अवस्थित बतेंबंग प्रान्तमें) से प्राप्त एक शिवलिङ्गकी पीठिकामें उत्कीर्ण भववर्माके लेखसे इस बातका आभास मिलता है:[1]

"धनुषके पराक्रमसे जीती निधियोंको प्रदानकर उभयलोक-करधारी राजा श्री भववर्मानि त्र्यम्बकके इस लिङ्गकी प्रतिष्ठा की।"

भिअलकन्तेलसे भी उसी समयका एक लेख मिला है, जिसकी तीन पंक्तियाँ ही पढ़ी जा सकती हैं[2]—

"वह श्री भववर्माकी भगिनी तथा श्री वीरवर्माकी पुत्री थी, जो अपने पति और धर्मकी भक्तिमें दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्माकी माताको, जिसने पत्नीके तौरपर ग्रहण किया, उस ब्राह्मणोंमें सोम-समान स्वामी....सामवेद-विदग्रणी श्री सोम शर्मानि पूजा-विधि और अतुल दानके साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वरकी प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखंड पाठके लिये उसने रामायण और पुराणके साथ सम्पूर्ण भारतको प्रदान किया। जब तक त्रिभुनेश्वरकी कीर्ति अवशेष है, जो कोई भी ऐसे शुभकर्मको करेगा, वह इस महान् धार्मिक कृतिका भागी होगा, किन्तु जो दुष्ट पामर एक भी पुस्तक यहांसे ले जायेगा,...."

इस लेखसे मालूम होता है कि भववर्मा क्षत्रिय था, उसकी बहन सोम शर्मा नामक ब्राह्मण से ब्याही गई थी, और उसका पुत्र हिरण्यवर्मा पिताकी भाँति ब्राह्मण नहीं, बल्कि माताके समान क्षत्रिय था। यह ईसाकी छठीं शताब्दी अर्थात् प्रायः बाणभट्टके बाल्यकालकी बात है।

§२. महेन्द्रवर्मा

भववर्माका भाई महेन्द्रवर्मा हर्षवर्द्धनके बाल्यकालमें कंबोजका शासक हुआ। इसीके राज्यकालमें ६०४–२४ (५२६–४६ शकाब्द) का लिखा शिलालेख व्याङमें मिला है। इसमें एक शिवपदके दानका वर्णन है। भारतमें तो आज गयामें विष्णुपद मिलता है, शिवपद कहीं नहीं मिलता। मूर्त्ति बनानेसे पहले बुद्धके पदका भी वर्णन पाली-ग्रन्थोंमें आया है। एक ऐसा ही पद नर्मदा नदीके भीतर किसी चट्टानपर था, जिसके अनुकरणपर ही सिंहलवालोंने वहाँके शर्वोच्च शिखर श्रीपादपर बुद्धके चरणकी कल्पना की। संभव है, भारतमें विष्णुपदकी तरह शिवपद भी रहे हों।[3]

---

[1] I. S. E. E., p. 28
[2] I. S. E. E., p. 30
[3] I. S. E. E., pp. 34-36

"सम्यक् ध्यानके निरंतर अभ्यास तथा प्रशांत मन द्वारा जिसे धीर (लोग) अंतरमें आसीन अनुभव करते हैं,......परम ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छासे जिस अन्तर्ज्योतिकी आराधना करते हैं। तप, स्वाध्याय और यज्ञकी क्रिया तन्मय होकर की जानेपर वर्णनातीत फल प्रदान करती है, केवल उन्हींके लिये नहीं, जो कि इन (सत्कर्मोंके) फलोंमें आसक्ति रखते हैं, बल्कि उनको भी, जो कर्मफल-त्यागी और विरागी हैं।......भगवानका पद उनकी कृपासे यहाँ स्थान पाया, समृद्धिका स्थान......द्विजोत्तम एक ब्राह्मण ध्रुवका पुत्र ध्रुवपुण्यकीर्तिके पौत्र.... विद्यावित्‌ने इस शंभुपदके पुण्यकार्यको किया।.....उसीने पर्वत-उपत्यकामें भगवानके अभिषेकके लिये सरोवर खनाया। शकाब्द ५२६ में भगवानका यह पद ईंटकी दीवारोंसे घेरा गया और ५४६[1] में सरोवरमें पानी भरा गया।......"

इस अभिलेखसे मालूम होता है, कि तत्कालीन कंबोजवासी संस्कृत-पद्य-रचना और शिवके प्रति श्रद्धामें भारतीयोंसे कम नहीं थे। यहाँ एक यह भी बात ध्यान देनेकी है, कि अंकोंमें संख्या प्रदर्शित करनेवाला यही सबसे पुराना (छठी सदीका) अभिलेख है। भारतमें ऐसे शिलालेख आठवीं-नवीं शताब्दीसे ही मिलते हैं।

महेन्द्रवर्माके बाद उसके पुत्र ईशानवर्माने शासन अपने हाथमें लिया। वह स्वेन्-चाङ्, हर्षवर्द्धन और बाणभट्टका समकालीन था। कंबोजकी राजधानी ईशानपुरका यह नाम शायद उसीके नामपर पड़ा। उसने ६१६ ई० अपना दूतमंडल चीन भेजा था। सुई-राजवंशके इतिहासमें यि-शो-ना-शियेन (ईशानसेव) के बारेमें लिखा है:—

"राजा सप्तरत्नमंडित पंचविध गंधसुगंधित आसनपर बैठता है। गजदन्त तथा सुवर्ण-पुष्प द्वारा मंडित बहुमूल्य दारुस्तम्भोंपर तना चँदवा उसके ऊपर होता है। सिंहासनके दोनों तरफ एक-एक आदमी धूप जलानेकी धूपदानी लेके चलता है। राजा गोटेदार पाण्डुवर्ण रेशम पहनता है, बहुमूल्य मणियों और मोतियोंसे अलंकृत मुकुट धारण करता है और उसके कानोंमें स्त्रियोंकी भाँति सोनेका कुण्डल होता है। उसके जूतोंपर भी दाँतका काम होता है।"

ईशानवर्माके बाद ६४७ ई० में भववर्मा द्वितीयका शासन था, किन्तु यह अधिक प्रसिद्ध राजा नहीं था। उसके बाद जयवर्मा प्रथम ६६५ ई० में पहले ही गद्दी पर बैठा। उत्तरी भारत में यह समय हर्षवर्द्धनके बादकी अराजकताका था। कंबोज-राजाओंमें सबसे पहले इसीके अभिलेखमें बौद्धधर्मका नाम आता है। यह लेख वत्-प्रे-वियर स्थानमें मिला था। यह कंबोज राजवंशका सबसे पहला संवत्सर अंकित संस्कृत-अभिलेख है। अभिलेखका आरम्भ किसी ब्राह्मणिक देवताके नमस्कारसे होता है। लेखका कुछ भाग है[2]—

"विजयी राजा श्री जयवर्मा, जिसके साथ चंचला भाग्यदेवी लक्ष्मी दृढ़-बद्ध है,.... जो जगत-पालन-कृत्यमें चतुर है। मुनियोंने जिसे सहस्राक्षदेव घोषित किया है। जगत-रक्षा करते उसने और विस्तृत भूमि जीती। उसके राज्यमें एक ही माँके पुत्र दो श्रेष्ठ भिक्षु रहते थे। दोनों शील-श्रुत-शम-शांति-संयम-धी-निधि थे। उनका नाम था रत्नभानु और रत्नसेन। दोनों विमलयश भाइयोंकी बहनकी पुत्रीका पुत्र शुभकर्मरत शुभकीर्त्ति था। परिवारकी अखंड दाय-परम्परा तथा राज-आज्ञाके अनुसार उसके पूर्वजोंकी अर्जित संपत्ति उसीको प्राप्त है।" इसके बाद शब्दोंमें पाँच सौ छियासी शकाब्द (अर्थात् ६६४ ई०) का उल्लेख है।

---

[1]ऋतु अब्धि इषिय [2]I. S. EE., pp. 160-61

जयवर्माके राजवैद्य तथा आढ्यपुरके अधिपति सिंहदत्तका एक महत्वपूर्ण अभिलेख अंशुनिकमें मिला है,[1] जो शकाब्द ५८९ (६६७ ई०) का है। सिंहदत्तने इसमें अपने वंशका भी वर्णन किया है। वह रुद्रवर्माके प्रभावशाली वैद्यों ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंहके भागिनेय धर्मदेशका पौत्र तथा सिंहवीरका पुत्र था। उसके पिता और पितामह, भववर्मा, महेन्द्रवर्मा और ईशमवर्माके मंत्री थे। अभिलेख बहुत सुंदर संस्कृतमें है, जिसका कुछ अंश है—

"त्रिविक्रम (विष्णु)की भाँति अजेय राजा श्री रुद्रवर्मा था, जिसका सुखमय शासन आज भी दिलीपकी भाँति स्मरण किया जाता है। उसकी सेवामें ज्येष्ठ ब्रह्मदत्त और कनिष्ठ ब्रह्म-सिंह दो भाई अश्विनकी भाँति प्रधान वैद्य थे। इन दोनोंके धर्मदेव ज्येष्ठ और सिंहदेव कनिष्ठ दो सौभाग्यशाली भागिनेय थे। राज़ा भववर्माने अपनी शक्तिसे राज्यको ले लिया। उसके लिये श्री गंभीरेश्वर फल (राज्य था) और कल्पद्रुम सदृश ये दोनों उसके मंत्री थे। दोनों ही सुमन्त्रदाता, अनुभवी, न्याय और राजनीतिमें पारंगत, आध्यात्मिक और व्यावहारिक ज्ञानके मूर्त्तिस्वरूप थे। पीछे समृद्ध भूशासक महेन्द्रवर्माके भी ये दोनों मंत्री हर बातके साधक थे। कनिष्ठ सिंहदेवको व्यावहारपटुके तौरपर राजदूत बना राजाने चंपा-राजाके पास मैत्रीके लिये भेजा। धर्मदेवका पुत्र था स्वजातिसिंह सिंहवीर,......जो इस युगमें रहते हुए शुभ कर्मोंमें दृढ़रत था, जिससे एक पद अवशिष्ट रहने पर भी कलियुगमें धर्म नहीं लड़खड़ाया...। वह राजाओंमें सिंहविजयी जयवर्माका वैद्य था।"

लेखसे मालूम होता है कि राजाने इस वैद्यको अपनी माता रानीके भाईकी सेवा करनेके लिये भेजा, फिर उसके कामकी सराहना करते उसे आढ्यपुर (आङ्-चुन्निक) का अधिपति बनाया। सिंहदत्तने ही ५८९ शकाब्दमें श्री विजयेश्वरकी स्थापना की।

§३. शैलेंद्रोंका अधिकार

जावा (श्रीविजय) के राजाने कंबोजपर आक्रमण किया, इसका वर्णन अरब व्यापारी सुलेमानने ८५१में किया था, जिसपर ९१६ ई० में अबू-जैद हसनने व्याख्या की। सुलेमानके कथनानुसार उस समय ख्मेर जैसी जनसंख्यावाला कोई दूसरा राज्य नहीं था। "वहांके लोग नंगे पैर घूमते हैं। सभी प्रकारका मद्य और शराब वहाँ वर्जित है। सारे देशमें और नगरोंमें एक भी शराबी और नशा पीनेवाला नहीं मिल सकता।......ऋतुके अनुसार जावासे ख्मेर दससे बीस दिनमें पहुँचा जा सकता है।"

श्रीविजयके राजाके ख्मेरपर आक्रमणके बारेमें अरब लेखकने लिखा है—

"ख्मेर राजाको तब तक पता नहीं लगा, जब तक कि (श्रीविजय) महाराजाने राजधानी की ओर जानेवाली नदीमें पहुँचकर सेनाको उतार नहीं लिया। उसने एक आक्रमण करके राजधानीपर अधिकार कर लिया। ख्मेरका राजा गिरफ़्तार हुआ। लोग शत्रुके सामनेसे भागने लगे।"

अरब-लेखकने यद्यपि इस विजेताको जावाका राजा बतलाया है; लेकिन वह वस्तुतः श्रीविजय (सुमात्रा) का शैलेन्द्र राजा था। शैलेन्द्रोंका जावापर भी अधिकार था। इन्होंने आठवीं सदीके उत्तरार्द्ध और नवीं सदीके पूर्वार्द्धमें जावामें बहुतसे भव्य बौद्ध विहार और स्तूप बनवाये थे,

---

[1] I. S. E. E., pp. 66-68

जिनमें एक बरोबुदुर भी था। जान पड़ता है, जयवर्मा प्रथमके बाद शैलेन्द्र-राजवंशने कंबोज-पर भी अधिकार कर लिया।

चीनी लेखोंसे ईशानवर्माके समयके कंबोजके (सातवीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध अर्थात् हर्ष सम-कालीन) लोगोंके जीवनका पता लगता है। कंबोजकी राजधानी ईशानपुर थी, जिसमें बीस हजार परिवार बसते थे। नगरके केन्द्रमें महाशाला थी, जिसमें राजाका दरबार लगता था। राज्यमें तीन नगर थे। हरेक नगरका एक अधिकारी होता था। राजके उच्चाधिकारियोंके चार वर्ग थे। राजाके सम्मुख आनेपर वह सिंहासनके सामनेकी सीढ़ीमें तीन बार पृथ्वीको (झुककर) छूते थे। राजाके सीढ़ीपर आनेकी आज्ञा देनेपर वह अपने हाथोंको दोनों कंधोंपर लगाकर प्रणाम करते थे। फिर वह राजाके चारों ओर बैठकर राजके कामोंपर विचार करते थे। जब मंत्रणा पूरी हो जाती थी, तो वे प्रणाम करके चल देते थे।

(आचार, व्यवहार)—कंबोजके आदमियोंके बारेमें चीनियोंने लिखा है: आदमी कदमें छोटे और काले रंगके होते हैं, लेकिन स्त्रियोंमें साफ रंगकी भी कोई कोई-होती हैं। लोग अपने बालोंका जूड़ा बाँधते हैं और कानोंमें कुण्डल पहनते हैं। वह दृढ़ और कर्मठ होते हैं। उनके घर और घरके असबाब स्याम जैसे होते हैं। वह दाहिने हाथको शुद्ध और बायेंको अशुद्ध समझते हैं। वह प्रतिदिन सवेरे नहाते और वृक्षकी लकड़ीसे दाँत साफ करते हैं। पोथी पढ़नेके बाद वह प्रार्थना करते हैं और फिर नहाते हैं, तब भोजन ग्रहण करते हैं। भोजनके बाद वह फिर अपना दाँत धोते और एक बार और प्रार्थना करते हैं। अपने भोजनके लिये वह घी, मलाई, चीनी, चावल और बाजरा—जिसकी वह रोटी बनाते हैं—का इस्तेमाल करते हैं। विवाहमें वह कन्याके पास सिर्फ एक परिधान ब्याहकी भेंटके तौरपर भेजते हैं। तिथि निश्चित हो जानेपर घटक वधूके पास जाता है। वर-वधूके परिवार सप्ताह-भर बाहर नहीं निकलते। रात-दिन दीपक जलता रहता है। विवाह-संस्कार हो जानेपर पति, परिवारकी सम्पत्तिमें से अपना भाग ले, अलग घरमें रहने लगता है। संबंधियोंके मरनेपर जो बचा रहता है, उसे पीछे सम्पत्ति मिलती है, अन्यथा वह सरकारी कोषमें चली जाती है। मरनेका सूतक मनाते हैं—बिना खाये, बिना बाल कटाये सात दिन तक स्त्री-पुरुष रोते-कानते हैं। बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण (ताव) पुरोहितोंके साथ संबंधी एकत्रित हो बाजेके साथ गान करते जलूस निकालते हैं। सुगंधित लकड़ीकी चितापर शवको फूँक दिया जाता है और चिताकी राख सोने या चाँदीकी डिबियामें रक्खी जाती है, जिसे नदीके बीचमें फेंक दिया जाता है। गरीब, चित्रित तथा नाना प्रकारसे अलंकृत मिट्टीकी डिबिया काममें लाते हैं। कभी-कभी जीवोंके खानेके लिये शवको पहाड़पर भी रख दिया जाता है।

ख्मेर-घरोंके बारेमें चीनियोंने लिखा है—इस देशमें सभी घर पूर्वाभिमुख होते हैं। बैठते वक्त भी लोग पूरबकी ओर मुँह करके बैठते हैं। वहाँ अतिथिके सत्कारमें सुपारी, कपूर और सुगंध प्रदान करनेका रवाज है। वहां प्रगट कोई शराब नहीं पीता, लेकिन अपने घरके भीतर, परिवारके बड़ोंके न रहनेपर पति-पत्नी शराब पीते हैं। राज्यके पास पाँच हजार युद्धके हाथी हैं, जिनमें सबसे अच्छोंको खानेके लिये मांस दिया जाता है।

कंबोजके प्रथम कालमें मकान अधिकतर लकड़ीके बनते थे, फिर ईंट और पीछे चलकर पत्थरके बनने लगे। लकड़ीके पुराने मंदिरोंका अवशेष नहीं मिलता, पत्थरके विशाल मंदिरोंका प्रचार अगले कालमें होने लगा। ईंटके मकान पाँचवीं शताब्दीमें बनने लगे थे। ईंटके

मीनारोंके कुछ अवशेष भी मिले हैं। नवीं शताब्दीमें जयवर्मा द्वितीयके समयमें जब ख्मेरकी वास्तुकला उन्नतिके शिखरपर पहुँची, भी ईंटोंका इस्तेमाल होता था, पर सिर्फ साधारण इमारतोंमें। अब बलुआ पत्थरका ही सबसे अधिक प्रयोग होने लगा था।

§४. कम्बुजकी पुनः स्वतंत्रता

(१) प्रतापी जयवर्मा द्वितीय (८०२-६६ ई०)—

प्रथम जयवर्माके बाद प्रायः सौ वर्ष तक कंबोज शैलेन्द्र राजाओंके अधीन रहा। इस समय परतंत्रताके बोझसे दबे जाते कंबोजमें नये मंदिर और विहार कैसे बनते? इसीलिये इन सौ वर्षोंमें अभिलेखों और दूसरे स्थानीय चिन्होंका पता नहीं मिलता। जयवर्मा द्वितीय शकाब्द ७२४ (सन् ८०२ ई०) में गद्दीपर बैठा। इसके समयसे कंबोजके इतिहासमें एक नया युग आरंभ होता है। जयवर्मा द्वितीय कंबोजका महावीर है, वह हिंद-चीनका सबसे बड़ा शासक है। शताब्दियों तक कंबोजमें उसके गीत गाये जाते रहे हैं। मरनेके बाद उसे "परमेश्वर" नाम दिया गया था, और वह इसी नामसे लोगोंमें आज भी ज्यादा प्रसिद्ध है। स्दोक्-काक्-थोम्में प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख[1]में राजा परमेश्वरकी प्रशंसामें लिखा है—

"यह (महापुरोहित-) परिवार पहले इन्द्रपुर विषय (जिला) के भद्रयोगी गाँवमें रहता था। फिर परमभट्टारक (मन्-व्राह-पाद) परमेश्वर जावासे शासन करनेके लिये इन्द्रपुर नगरमें आये। पूज्य और श्रीमान् गुरू शिवकैवल्य परमभट्टारक परमेश्वरके राजपुरोहित बने। फिर परमभट्टारक परमेश्वरने इन्द्रपुर छोड़ दिया और शिव-कैवल्य कन्दारहोमके साथ राजसेवाके लिये चले आये। परमभट्टारकने उनके संबंधियोंको लानेकी आज्ञा दी। जब वे आ गये, तो परमभट्टारकने कृपापूर्वक उन्हें भूमि दी और कुती गाँव बसाकर उन्हें प्रदान किया। फिर परमभट्टारक परमेश्वर हरिहरालय नगरीमें राज करते रहे। इसी नगरीमें अपने परिवारके साथ शिवकैवल्य भी वास करने लगे।..फिर परमभट्टारक परमेश्वरने अमरेन्द्रपुर नगरी बसाई और शिव-कैवल्य भी परमभट्टारककी सेवामें उसी शहरमें चले गये। उन्होंने परमभट्टारकसे अमरेन्द्रपुर-के पास एक भूखंड माँगा और कुतीसे अपने परिवारको बुलाकर वहीं भवालय नामक ग्राममें बसा दिया।..फिर परमभट्टारक परमेश्वर महेन्द्रपर्वतमें शासन करने गये और शिवकैवल्य भी परमभट्टारककी सेवा करते वहाँ रहने लगे। फिर हिरण्यदामा नामक ब्राह्मण, जो मंत्रविद्यामें निष्णात था, देश (जनपद अर्थात् भारत) से आया। परम भट्टारकने उसे इसलिये बुलाया था, कि वह ऐसा विधान (पुरश्चरण) तैयार करे, जिसमें कंबुज देश जावाके मातहत न रहे और राज्यमें अपना स्वतंत्र चक्रवर्ती हो। ब्राह्मणने विनाशिक (तंत्र) के अनुसार विधि बनाई और देवराज (जगत्-ता-राजा) काम्-रतेनकी स्थापना की। ब्राह्मणने आदिसे अंत तक **विनाशिक, नैयोत्तर, सम्मोह** और **शिरच्छेद्को** बोलकर लिखवा दिया। फिर उन्हें उसने शिवकैवल्यको सिखाया। उसने शिवकैवल्यको जगत्-ता-राजाकी विधिको कैसे किया जाय, यह भी सिखा दिया। परमभट्टारक परमेश्वर और ब्राह्मण हिरण्यदामाने तब शपथ की, कि जगत-ता-राजा विधि

[1] B.E.F.E.O., T. XV, pp. 70-71

सम्पन्न करनेके लिये केवल शिवकैवल्यक परिवारको ही काममें लगायेंगे, दूसरेको नहीं। शिव-कैवल्यने यह विधि अपने सभी संबंधियोंको सिखलाई। तब परमभट्टारक परमेश्वर शासन करनेके लिये हरिहरालय लौटे और जगत-ता-राजा (देवराज) को भी वहीं लाया गया। शिवकैवल्य और उनके संबंधी पूर्ववत् पुरोहिती करते रहे। शिवकैवल्य उन्हींके शासनकालमें मर गये। परमभट्टारक जगत-ता-राजा-के निवास हरिहरालयपुरीमें मरे—सभी राजधानियोंमें जहाँ-जहाँ राजा जगत-ता-राजाको ले गये, वहाँ वह रक्षकके तौरपर उत्तरोत्तर राजाओंके राजकालमें सभी राजधानियोंमें देवताकी भाँति वास करते रहे।"

इस लेखसे पता लगता है, कि जयवर्मा द्वितीय मृत्युके बाद—जिसे परमेश्वर नाम दिया गया—जावासे शासन करनेके लिये कंबोज भेजा गया था। जावाके अधीन शासनाधिकारी रहते उसने कंबोजके कई नगरोंपर शासन किया और अंतमें कंबोजको स्वतंत्र राज्य बनानेमें सफल हुआ। उसने हरिहरालयपुरीको अपनी राजधानी बनाया। जगत-ता-राजा या देवराजकी कोई विशेष तांत्रिक विधि थी, जिसका आरंभ जयवर्मा द्वितीयने कराया था। यह भी पता लगता है, कि भद्रेश्वर (शिव) और इस राजवंशका कोई कुल देवता जैसा विशेष संबंध था। जावामें भी राजदेवता और राजवंशका संबंध पाया जाता था। राजदेवताके साथ उसका नित्यपूजक राजपुरोहित भी विशेष स्थान रखता था, जैसे कंबुजमें हिरण्यदामा, चंपामें भृगु ऋषि और मध्य जावामें अगस्त्य-ऋषि, जावान इस तांत्रिक विधिको दक्षिण-भारतके कुंजर-कुंज स्थानसे प्राप्त किया था और जावासे फिर यह हिन्द-चीनकी ओर फैला। जयवर्माके समय शिवकैवल्यका परिवार देवराजका पुश्तैनी पुरोहित था।

(१) ब अंङ्कोरथोम और बौद्धधर्म—जयवर्मा द्वितीय जावासे शासक बनाकर कंबोज भेजा गया और उसने स्वतंत्र राजा बन बायोन्के विशाल मंदिर तथा अङ्कोरथोम् नगरका सुन्दर कलापूर्ण निर्माण किया। पुरातत्वकी खोजोंने यह भी बतला दिया, कि बायोन पहिले बौद्ध विहार था, जो पीछे शैव देवालयमें परिणत हो गया। यह स्मरण रखनेकी बात है, कि गुप्तवंशके बाद विशेषतः समसामयिक गुर्जर-प्रतिहारोंके शासनकालमें सारे उत्तरी भारतमें पाशुपत (शैव धर्म) का प्रचार था। उसी पाशुपत धर्मका जोर इन शताब्दियोंमें कंबोजमें भी था। यद्यपि हरिहर-पूजासे शैव-वैष्णव एकता स्थापित करनेकी कोशिश प्रतीत होती है, किन्तु कंबोजमें वैष्णव सम्प्रदायका कभी उतना जोर नहीं रहा। जयवर्मा द्वितीयने शैलेंद्रोंसे प्रभावित होकर चाहे आरंभमें बौद्धधर्मकी ओर अधिक भक्ति दिखलाई हो, किन्तु वह भक्ति स्थायी नहीं दिखाई देती, और उसके उत्तराधिकारी तो निश्चय ही बौद्ध नहीं, शैव थे, इसीलिये बायोनका निर्माण पूरा होते-होते वह शैव मंदिरमें परिणत हो गया।

मरनेपर "परमेश्वर" नाम प्राप्त जयवर्मा द्वितीय हिन्द-चीनके कितने ही कथानकोंका नायक बना। जयवर्मासे सौ साल बाद शकाब्द ८१७ (९०५ ई०) में शिवपुरके सोमशिव मुनि के एक शिष्यने एक शिलालेखमें जयवर्मा द्वितीयके बारेमें लिखा है—

"राजाओंका सनातन अधिपति श्री जयवर्मा था, जिसके चरणोंको प्रणाम करते राजाओंके मुकुटकी चमकीली मणियां अधिक प्रकाशित हो उठती थीं। प्रजाकी भलाईके लिये इस परिशुद्ध राजवंशमें भूमिसे असंबद्ध महापद्म हो एक ताजे पद्मकी भाँति वह उद्भूत हुआ। जिसे देखकर ललनाएँ कहतीं—'मेरी आंखो! तुम बंद रहना, जिसमें यह शुभरूप एक क्षणके लिये भी

हमारे मनसे विलग न हो।' उसके सौन्दर्यकी कोई उपमा नहीं हो सकती। उसके मुखसे सादृश्य रखते भी चन्द्रमामें कोई दोष है, जिससे कि राहु उसे ढँक लेता है। समुद्रमेखला धरा उसके बाहुओंके लिये अधिक भारी नहीं है। उसकी भुजा पृथ्वीके शासकोंको प्रणत करनेके लिये पर्याप्त है। उसका आसन सिंहोंके सिरपर है, उसकी आज्ञायें राजाओंके सिरोंपर आसीन हैं, उसकी राजधानी महेन्द्रपर्वतके ऊपर है। तो भी उसे अभिमान नहीं।.."

जयवर्मा द्वितीय, हर्षवर्द्धन शीलादित्यकी भाँति शैव होते बुद्धमें भी बड़ी श्रद्धा रखता था, इसीलिये उसके बनवाये बहुतसे विहार और देवालय लोकेश्वरको समर्पित किये गये हैं। वह ६७ वर्ष राज्य करनेके बाद ८६९ ई० में मरा।

जयवर्मा संबंधी जन-कथायें आज भी कंबोजमें प्रसिद्ध हैं और उसका खड्ग तो कंबोजकी अत्यन्त पवित्र संपत्ति है। प्राचीन ब्राह्मणोंके वंशज बाकू लोग रात-दिन उसकी रखवाली करते हैं। जरा-सा मोर्चा या मैल लग जानेपर राष्ट्रपर भयंकर आफत आनेका भय होने लगता है।

(२) जयवर्माकी वास्तुकला—(हिन्द-चीनकी वास्तुकला और मूर्त्तिकलामें जयवर्माकी देन अद्भुत है। कंबोजकी वास्तुकलामें तो उसका काल स्वर्णयुग है। श्री विजयके शैलेन्द्र-वंशने जावाके बरोबुदूर-जैसी विस्मयकारिणी कृतियोंका निर्माण किया था। जावामें रहते जान पड़ता है, जयवर्माका वास्तु-शिल्पसे बहुत प्रेम हो गया और उसने कंबोजमें आनेपर अपनी कल्पनाओंको साकार रूप दिया।)

(क) आजकल प्रखानके नामसे प्रसिद्ध हरिहरालय उसकी प्रथम राजधानी थी। यह अंकोरथोमके पास ही उत्तरमें है। हरिहरालयपुरीसे उन कृतियोंका निर्माण शुरू हुआ, जो अंकोर-प्रदेशकी अद्वितीय महान कृतियोंके रूपमें पूर्णताको प्राप्त हुईं। नगरके लिये बहुत ही उपयुक्त स्थान चुना गया था। पासमें महान सरोवर है, जिसके तलसे ऊपर सूखा स्थान नगरके लिये चुना गया। कृत्रिम सरोवर दो मील लंबा और तिहाई मील चौड़ा है। यह सरोवर आजकल प्रा-ऋष्-दाखके नामसे प्रसिद्ध है—दाख तड़ागका अपभ्रंश है। तालाबके किनारे सुंदर हरिहर (शिव और विष्णु) का मंदिर है। शिव और विष्णुके उपासकोंके बीच कभी बहुत विवाद होते थे, हरिहरके नामसे उसका समन्वय किया गया। भारतमें आज भी हजारों पुरुषोंके हरिहर नाम उसी समन्वयके द्योतक हैं। विहारमें गंडकके किनारे गंगासे नातिदूर हरिहरक्षेत्र है, जहाँ भारतका सबसे बड़ा (सोनपुर) मेला लगता है। सरोवरके बीचमें दो नागोंसे लिपटा एक छोटा-सा मंदिर है। मंदिर जिस द्वीपपर है, उसपर कई और छोटे-छोटे तालाब क्रमसे बने हुए हैं।

सरोवरके पास प्रखानकी पुरी (राजभवन) है। पुरीके चारों ओर चौड़ी परिखा है, जिसपर कई पत्थरके पुल बने हुए हैं। यहाँ समुद्रमंथनका दृश्य दिखलाया गया है। ऊँचे दरवाजोंपर विकराल मानव-मुखोंवाले मीनार बने हुए हैं। पुरीके भीतरकी इमारतें ध्वस्त हो चुकी हैं, लेकिन मानव-मुखवाले ४७ सैंतालिश मीनारोंमें अधिकतर अब भी पहचाने जा सकते हैं। इस युगमें यद्यपि मकानोंके बनानेपर पत्थरका उपयोग किया गया, किन्तु कड़ियां लकड़ीकी थीं; इसलिये अधिक दिन तक टिक न सकीं। दीवारोंपर मूर्त्ति-शिल्पके जो सुन्दर नमूने दिखाई पड़ते हैं, उनसे मालूम होता है, कि इस प्रथम प्रयासमें भी वास्तुकला कितनी उन्नत हो चुकी थी।

[1] I. S. E. E., p. 343 (नोम् सन्दोक में प्राप्त)

यहां एक पुराने ढंगके बुद्धके सिर और नागपर आसीन भगवानकी मूर्त्ति भी पायी गयी है।

(ख) जयवर्माकी दूसरी राजधानी अमरेन्द्रपुर थी, जो अंकोरथोम्से प्राय: सौ मील उत्तर-पश्चिम एक बालुकामैदानमें बन्तऐशयर (मार्जारदुर्ग) के ध्वंसके रूपमें अब भी मौजूद है। यहां निर्जल भूमिके बीचमें एक कृत्रिम सरोवर बनाया गया था, जिसे भरनेके लिये एक नहर लाई गई थी। सरोवरके बीचमें एक जल-मंदिर था। सरोवरके पश्चिमी किनारेपर पुरीके ध्वंस हैं। पुरी डेढ़ मील लंबी और सवा चार मील चौड़ी थी। धुसोंके पीछे परिखा और फिर पत्थरका प्राकार है। प्राकारके भीतरका भाग चतुष्कोण है। परिखापर चार पाषाणसेतु हैं, जिनकी बाहियाँ बड़ी सुन्दर और नागोंसे अलंकृत हैं। सेतुओंके सामने चार विशाल द्वार हैं, जिन्हें विशाल गरुड़ोंसे अलंकृत किया गया है और जिनके ऊपर मनुष्य-मुखवाले मीनार खड़े हैं। पाषाणसिंहोंसे सुशोभित चारों द्वारोंसे पत्थर बिछाये पथ भीतरकी ओर जाते हैं।...... चतुष्कोणकी दीवारोंपर रूपावलियाँ अंकित हैं, जो केवल बायोन और अङ्कोरवात में ही मिल सकती हैं। इन मूर्त्तियोंमें ब्राह्मण देवताओंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी मूर्त्तियाँ हैं, जिनके मुकुट-पर एक-एक बुद्धकी मूर्त्ति उत्कीर्ण है। इनमें धार्मिक जलूस, पवित्र अग्निका जलूस, पालकियों पर चलती राजकुमारियाँ, चलती सेनायें, युद्धके दृश्य, नौ-सैनिक-युद्ध आदि-आदि दृश्य अंकित किये गये हैं।

इस महामंदिरके बनानेके लिए बहुत दूरसे बलुआ पत्थर मँगाये गये थे। अङ्कोरवात और बायोनके बाद यही सबसे महत्त्वपूर्ण मंदिर है। मंदिर संभवतः महायान बौद्ध धर्मका था, किन्तु उसपर शैव धर्मका भी काफी प्रभाव था। यहाँ कितनी ही बौद्ध कथायें अंकित की गयी हैं और भगवान बुद्धकी भी बहुत-सी मूर्त्तियाँ हैं। इसी कालमें राजाने एक बौद्ध विहारको दान भी दिया था।

(ग) जयवर्माकी तृतीय राजधानी थी **महेन्द्र पर्वत**। अङ्कोरथोमसे उत्तर-पच्छिम बहुत दूर, फ्नोम्कूलेन्के नामसे प्रसिद्ध यह स्थान, पर्वतके ऊपर नहीं उसकी जड़में है। फ्नोम्कूलेन् (कूलेन—पर्वत)की जड़से आगे ब्यङ-मीलयाका विशाल ध्वंसावशेष फैला हुआ है। यहाँ भी एक विशाल कृत्रिम सरोवर है, जिसके बीचमें एक बहुत छोटा-सा जल-मंदिर है। राजभवन इसके पच्छिममें थे। यहाँ भी विस्तृत परिखा, चौड़े पाषाणस्तूप, भव्य द्वार, चौकोर भवन-आँगन आदि हैं, वैसे ही जैसे दूसरी राजधानियोंमें। हाँ, यहाँ मंदिरके पासमें दो विशाल भवन हैं। शायद ये राजाके रहनेके महल थे। यहाँ पुरीके भीतर बहुतसे तालाब हैं। पाषाणको खोदकर फूल-पत्ती बड़ी बारीकीसे बनायी गयी हैं। यहाँ देवी-देवताओंके मंदिर बहुत कम हैं।

कंबोजीय जन-कथाके अनुसार इन अद्भुत इमारतोंको मनुष्यने नहीं, बल्कि इन्द्रकी आज्ञासे देवशिल्पी पोपुशनौकरने बनाया था।

(३) जयवर्मा तृतीय (८६९–७७ ई०)—

जयवर्मा द्वितीयके बाद उसका पुत्र जयवर्द्धनने जयवर्मा तृतीयके नामसे गद्दीपर बैठ, नौ वर्ष (८६९-८७७ ई०) शासन किया। उसके साथ ही जयवर्माका वंश खतम हो गया। जयवर्मा तृतीयका मामा रुद्रवर्मा इन्द्रवर्मा प्रथमका नाना था। इन्द्रवर्मा प्रथम ८७७ ई०में गद्दीपर बैठा। इन्द्रवर्माने भी कितने ही मंदिर और दूसरी इमारतें बनवायीं। इसकी बनवायी इमारतें जयवर्मा द्वितीयकी अपेक्षा फूनानकी इमारतोंसे अधिक मिलती हैं, जिनकी वास्तुकलामें पल्लव-वास्तुशिल्पकी अधिक छाप पायी जाती है। इन्द्रवर्मा ८८९ ई०में मरा।

जयवर्मा द्वितीयके अपनी ओरसे लिखाये अभिलेख नहीं मिले, किन्तु इन्द्रवर्माके राजकीय अभिलेख मिलते हैं।

(४) **यशोवर्मा** (८८९-९०९ ई०)—

इन्द्रवर्माका पुत्र यशोवर्द्धन यशोवर्माके नामसे गद्दीपर बैठा। कंबोजीयमें वास्तु-शिल्पको इसने बहुत आगे बढ़ाया। यशोवर्माकी शिक्षा शिवसोमके शिष्य वामशिवने दी थी। उसने बहुत अधिक अभिलेख लिखवाये। एक अभिलेखमें वह लिखता है[1]—"चन्द्र-चन्द्र-आठ (८११ शकाब्द—८८९ ई०)में अभिषिक्त हुए राजाओंके राजा श्री यशोवर्माने अपने द्वारा प्रतिष्ठित परम भगवानके लिए दास आदि दान दिये।"

८९३ ई०में यशोवर्माने गौरी और भगवानका मंदिर बनवाया। बन्तेइछ्मारमें प्राप्त ख्मेर भाषाके एक अभिलेखमें लिखा है—"जब भरतराहु समबुद्धिने परमभट्टारक यशोवर्माके विरुद्ध विद्रोह किया और राजमहलपर हमला किया, तो राजाधानीकी सेनायें भाग निकली थीं, लेकिन राजसामन्त स्वयं लड़नेके लिए आये। संयक (भक्त) अर्जुन और संयक श्रीधर देवपुरने राजाकी रक्षा करते हुए अपने प्राण दिये। भरतराहुके विद्रोहको दबाकर उसने संयक श्री धर्मदेवपुरके पुत्र संयक देवपुरको ब्राह्म-कमरतेन-अन श्री नरसिंहवर्माकी उपाधि और दोनों मृतभक्तों (संयकों)को अमृतेनकी पदवी प्रदानकर उनकी मूर्त्तियाँ स्थापित कराईं तथा उनके परिवारोंको धनमान दिया।....

राजाने पूर्वमें चम्पा द्वीपपर आक्रमण किया और ह्लेक पर्वतपर चम्पाराज श्री जयइन्द्र वर्मा द्वारा बनवाये दुर्गको छीन लिया। उसने राजाके स्थानपर चम्पाके एक सेनापतिको सिंहासनासीन कराया।...."

इस लड़ाईमें पीछे यशोवर्माको बड़ी मुश्किलसे जान बचाकर भागना पड़ा। राजाके प्राणकी रक्षामें संयक श्रीदेव और संयक श्रीबर्द्धन मारे गये। उक्त शिलालेखमें बताया गया है, कि किसी मंदिरके दक्षिण-पूर्वमें देवता अर्जुनदेव और पूर्व-उत्तरमें देवता श्रीधरदेवपुर, पश्चिम-दक्षिणमें देवता श्रीदेवदेव और उत्तर-पच्छिममें देवता बर्द्धनदेवके मंदिर बनवाये गये। वीरोंको कैसे देवताके रूपमें परिणत किया जाता है, यहाँ इस बातका स्पष्ट उदाहरण है।

यशोवर्माके अभिलेखोंमें कहीं-कहीं सुन्दर काव्यकी छटा दिखाई पड़ती है।[2] उसके शिलालेखोंमें एक परिवर्त्तन और मिलता है। इसके पहिलेके शिलालेखोंकी लिपि पल्लव (दक्षिण-भारत) लिपि थी, लेकिन अब इसीके शिलालेखोंसे पहिले-पहिल उत्तर-भारतकी लिपिका प्रयोग होने लगा। इस तरहका परिवर्त्तन सिर्फ कंबोज ही में नहीं, इसी समय जावामें भी दिखलाई पड़ता है। जान पड़ता है, इस समय उत्तर-भारतसे काफी आदमी बृहत्तर भारतकी तरफ गये। यमुना-तटवासी एक ब्राह्मणके आनेका उल्लेख एक शिलालेखमें भी मिलता है, लेकिन चूँकि उत्तरी भारतकी लिपि जावामें भी फैली देखी जाती है, इसलिए संभव है, लिपि जावासे कंबोज पहुँची हो।

ब्याह-संबंधके बारेमें कितनी ही बातें इन शिलालेखोंमें मालूम होती हैं। यशोवर्माकी

[1] S. E. E., p. 325

[2] S. E. E., p. 333

माता इन्द्रदेवी अनिन्दितपुर-अधिपति पुष्कराक्षकी पुत्री थी, किन्तु उसकी माँ आर्यदेश-विनिर्गत वेदवेदांग-पंडित अगस्त्य ब्राह्मणके वंशकी थी। यशोवर्माके पिता इन्द्रवर्मा प्रथमने अपने मामाकी लड़कीसे शादी की थी, जिसमें दक्षिण-भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। देवताओंके मंदिरके बारेमें यशोवर्माने कुछ नियम बनाये थे, जिन्हें उसने बहुतसे मंदिरोंमें खुदवा दिये थे। इनके देखनेसे मालूम होता है, कि दक्षिणी भारतके शिवमंदिरोंके साथ उनकी कितनी समानता है—

"मोती, सोना-चाँदी, गाय-घोड़े, भैंस-हाथी, पुरुष-स्त्री, उद्यान आदि सभी चीजें जो कि राजा यशोवर्माने आश्रमको दिये हैं, उन्हें राजा या किसी दूसरेको नहीं ले जाना चाहिए। राजकुटीके भीतरी भागमें केवल राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय ही अपने आभूषणोंको उतारे बिना जा सकते हैं। साधारण लोग जो कुलीनोंके पीछे-पीछे आयेंगे, वह बिना मालाके साधारण वेशमें ही. . . .भीतर जा सकते हैं। . . . .साधारण जन वहाँ भोजन या सुपारी नहीं खा सकते, (यदि कुलीनोंके अनुचर न हों तो) साधारण जन भीतर नहीं जा सकते। वहाँ झगड़ा नहीं करना होगा। दुष्ट चरित्रवाले साधु वहाँ नहीं रह सकते। शिव और विष्णुके अर्चक ब्राह्मण सदाचारी भद्र पुरुष वहाँ बैठकर धीमे स्वरमें स्तुति-पाठ तथा ध्यान कर सकते हैं। राजाके अतिरिक्त जो कोई भी मठके सामनेसे गुजरे, उसे रथसे उतरकर बिना छाता लगाये चलना चाहिए। विदेशियोंपर यह नियम लागू नहीं है। मठके प्रधानके तौरपर नियुक्त महंतको चाहिए, कि ब्राह्मणों, राजपुत्रों, मंत्रियों, सेनानायकों, शैव और वैष्णव सम्प्रदायके साधुओं तथा साधारण जनोंमें श्रेष्ठपुरुष जैसे अतिथियोंका स्वागत करें, उन्हें अन्न, पान, ताम्बूल आदि दें तथा सभी सेवायें करें। यहाँ दिये हुए नियमके अनुसार उनका सत्कार करना चाहिए। यहाँ घोषित शासन (आज्ञा)को जो तोड़ें या अतिक्रमण करें, वे जब तक चन्द्र और सूर्य हैं, तब तक नरकमें जायें। यहाँ दी गयी आज्ञाका जो अनुगमन और समर्थन करें, वे आधे पुण्यके भागी हों।"

मंदिरोंमें जानेके संबंधमें जो नियम थे, उनमें कुछ ये हैं—

नीले और कई रंगके कपड़ोंको पहनकर भीतर नहीं जाना चाहिए।

देवपूजाकी इच्छा रखनेवाले स्त्री-पुरुष पूजा-सामग्री लेकर जा सकते हैं।

जिनके पास और सम्पत्ति नहीं, केवल श्रद्धा-भर है, वह फूल लेकर जा सकते हैं।

अंग-भंग, कुबड़े, कृतघ्नी, बौने, महापातकी, ठलुवे, विदेशी, कोढ़ी और दण्डित व्यक्ति शिवमंदिरके भीतर नहीं जा सकते।

महेश्वर-सम्प्रदायके अनुगामी, आत्मसंयमी, कुलीन, सदाचारी और शान्तचित्त पुरुष भीतर जानेके अधिकारी हैं।

नियमोल्लंघन करनेवालोंमें यदि ब्राह्मण हों, तो चूँकि दूसरा दण्ड नहीं दिया जा सकता, इसलिए उन्हें सिर्फ हातेके बाहर निकाल दिया जायेगा।

राजपुत्रोंको बीस पल सोनेका दण्ड होगा, उसका आधा राजाके संबंधियों तथा मंत्रियोंको होगा। ५ पल सोना केवल उन्हें दण्ड होगा, जो सोनेके दण्डवाले छाता धारण करनेके अधिकारी हैं। उससे भी आधा व्यापारियोंको।

उसका भी आधा शिव और विष्णुके पूजकों और उसका भी आधा जन-साधारणको दण्ड देना होगा।

साधारण जनोंमें जो जुर्माना देनेकी शक्ति नहीं रखते, उनकी पीठपर बेंत लगेंगे।

मंदिरके पूजा-प्रकार, बर्तन आदिकी शुद्धिके समय कोई अपराध करनेपर मंदिरके प्रमुखसे

लेकर असली दोषी तक बीस पल सोना तथा निश्चित क्रमसे दूसरोंको दण्ड देना होगा।

"अंबुजाधिपति-समान प्रतापी अंबुजाक्ष, कंबुजाधिपति इस कंबुज लिपिका लेखक है।"

आश्रम (मठ)में सम्मान प्रदर्शन करनेके बारेमें एक अभिलेखमें कहा गया है[1]—

"(राजाके) बाद बाकी सबसे ऊपर ब्राह्मणका सम्मान होना चाहिए, यदि बहुत हों तो विद्या और गुणके अनुसार सम्मान होना चाहिए। फिर राजकुमार, मंत्री, सेनाध्यक्ष, अच्छे पुरुष क्रमशः सावधानीसे सम्मानित किये जाने चाहिए। जिसने युद्धमें वीरता दिखलाई है, ऐसे वीरका विशेषतया सम्मान करना चाहिए। अयोद्धाकी अपेक्षा योद्धाका विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि उसीके ऊपर धर्मकी रक्षाका भार रहता है।

"ब्राह्मणके बाद शैव पाशुपत आचार्यका सम्मान करना चाहिए, यदि उनमें कोई वैयाकरण हो, तो उसको पहिले। शैव और पाशुपत सिद्धान्तके विद्वानोंमें व्याकरणका भारी पण्डित, अध्यापक इस महाश्रममें सबसे बढ़कर सम्मानका पात्र है। बहुपठित गृही भी आचार्यके समान ही सम्मानित होना चाहिए, क्योंकि मनुने कहा है—....धन, मित्र, आयु, सदाचार और पाँचवीं विद्या, इनमें उत्तरोत्तर विशेष सम्मानके अधिकारी हैं।....सभी साधारण जन, तरुण, वृद्ध, रोगी, दरिद्र और अनाथ जनोंको भलीभाँति भोजन, औषधि आदि देनी चाहिए। प्रतिदिन नियमानुसार सोना देना चाहिए और कपिला गायको घास और पूजासे सम्मानित करना चाहिए।....जो भक्त युद्ध-क्षेत्रमें मारे गये, जो भक्त मर गये, जो भक्त चल बसे, निस्सन्तान होनेसे जो श्राद्धसे वंचित रहे, इन सबका प्रत्येक मासके अन्तमें चार आढक चावलसे श्राद्ध करना चाहिए। श्राद्धपिण्डको आश्रममें बनाकर यशोधर सरोवरके तटपर उसका दान करना चाहिए।"

आगे यह भी लिखा है कि भोजन, तांबूलपत्र, दंतकाष्ठ आदि आचार्य, साधु तथा अतिथियों को देना चाहिए। विद्यार्थियोंको भोजन उनकी आयुके अनुसार मिलना चाहिए। कौओंको भी थोड़ा चावल पकाके देना चाहिए। जैसी संख्या हो, उसीके अनुसार तीन हँड़िया भात और दस हँड़िया तेमन उनको देना चाहिए। आचार्यों और साधुओंको बाल धोनेके लिए भस्म और रेहयुक्त विशेष भस्म देना चाहिए। उन्हें भस्म रखनेके लिए एक पात्र, गंधके लिए दूसरा, आगके लिए तीसरा और जल रखनेके लिए एक घड़ा देना चाहिए।

सादापत्र (तालपत्र), मसी और खड़िया मिट्टी तथा पाँच पर्व जैसे विशेष दिनोंमें उन्हें विशेष भोजन देना चाहिए। अपनी कोठरियोंमें साधुओंके रहते समय प्रमुखका नियंत्रण नहीं रहेगा। अगर निरपराध व्यक्ति डरकर शरण लेने आयें, तो उन्हें न उनके उत्पीड़कको पकड़ना चाहिए, न उनके हाथमें देना चाहिए। कोई प्राणी मन-वचन-कर्मसे यहाँ किसी प्राणीकी हत्या नहीं करे। ....आश्रम या सरोवरके समीप निरीह प्राणी नहीं मारे जाने चाहिएँ। राजाकी पुत्री, पौत्री, राजपरिवारकी वृद्धायें और साध्वी स्त्रियोंका अतिथिकी भाँति सत्कार करना चाहिए, किन्तु उन्हें कोठरियोंमें नहीं जाना चाहिए। प्रसिद्ध दुराचारिणी स्त्रियोंको शरणके लिए भी भीतर नहीं आने चाहिए।

कंबुजके शिलालेखोंमें कितने ही संस्कृतके कवियों और काव्योंका भी उल्लेख आता है, जिनमें कुछ तो इन लेखोंसे कुछ ही पहिले गुजरे थे। इससे मालूम होता है, कि वृहत्तर भारत

---

[1] I. S. E.E., p. 421

भारतकी सर्वतोमुखीन प्रगतिसे कितना अवगत रहता था[१]—"राजा (यशोवर्मा) अपनी प्रवर सेना द्वारा स्थापित धर्म-सेतुओंसे दूसरे प्रवरसेनको पीछे छोड़ गया, क्योंकि उसने केवल एक साधारण सेतुका निर्माण किया था।" यहाँ प्राकृत काव्य "सेतुबंध"की ओर संकेत है, जिसे कालिदासने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी पुत्री प्रभावती देवीके पुत्र बाकाटक राजा प्रवरसेनके नामसे लिखा था। और जगहोंमें राजा यशोवर्माकी तुलना कल्याण समन्वित पारस, (जैन तीर्थंकर), प्राकृत कवि गुणाढ्य, राजनीतिकार विशालाक्ष और कवि शूरसे की गयी है। एक श्लोकमें[२] कहा गया है—

"सूर्य एक मयूर (कवि)के पद्यमय प्रशंसासे सन्तुष्ट हो गया, किन्तु राजा उसके विरुद्ध प्रतिदिन हंसगणसे अपने चरण पुजवाता रहा।" मयूर महाकवि बाणका ससुर था, जिसने 'सूर्य-शतक' लिखा था।'

एक सामुद्रिक युद्धमें यशोवर्माके विजयका वर्णन करते हुए लिखा है[३]—

"विजयाभियानमें महासागरमें चारों ओर अपनी सफेद पालोंके साथ फैले हुए पोतोंको उस (राजा)ने उसी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया, जैसे प्राचीन कालमें ब्रह्माके कमलकी अगिनित पंखुरियोंको मधु और कैटभने किया था।"

इसी तरह बृहत्कथाकार गुणाढ्य, कामसूत्रकार वात्स्यायन, महाभाष्यकार पतंजलिके संबंधकी भी श्लेषोक्तियाँ हैं।

(५) बौद्ध अभिलेख—

अङ्कोरथोमके राजप्रासादके बिल्कुल पास तेप्नम्के मंदिरमें उत्तर-भारतीय लिपिमें एक बौद्ध शिलालेख[४] मिला है। यशोवर्माने ब्राह्मण-आश्रय (मठ)के लिए पहिलेकी प्रशस्तियाँ लिखवाई थीं, लेकिन इस शिलालेखमें उसने एक बौद्ध विहारकी प्रशस्ति खुदवाई है। पहिले दो श्लोकोंमें शिवकी स्तुति करके तीसरेमें कहा गया है—"जिसने स्वयं अवगत करके इस भवके बंधनसे मुक्तिके साधनोंको तीनों लोकको समझाया, जिसने निर्वाण वरको प्रदान किया, उसी वंद्यचरण, करुणहृदय बुद्धको नमस्कार है।"

इसके बाद दूसरे अभिलेखोंमें भी मिलनेवाली वंश-परंपरा पन्द्रह श्लोकोंमें वर्णित की गयी है, फिर असली प्रशस्ति अट्ठाईस श्लोकोंमें लिखी गयी है, जिसमें सैंतालीसवाँ श्लोक है—

"राजाधिराज कम्बु-भूमिपति राजा यशोवर्माने बौद्धोंके हितके लिए इस सौगताश्रमको बनवाया।"

इसके बाद महंत (कुलाध्यक्ष) द्वारा सम्मान आदिके नियम बताये गये हैं, जो बहुत-कुछ शैव-आश्रमकी भाँति ही है—

"विद्या-सम्पन्न आचार्य, जिसने बौद्धशास्त्र और व्याकरण पढ़े हैं, उसका सम्मान ब्राह्मणसे कुछ कम होना चाहिए।"

---

[१] I. S. E.E., p. 434
[२] I. S. E.E., p. 457
[३] I. S. E.E., p. 478
[४] Journal Asiatique, March, April 1908

इससे मालूम होता है, कि कंबोजमें ब्राह्मणोंका मान्य बौद्धोंसे अधिक था। बौद्धोंके लिए भी श्राद्ध आदिकी वही बातें लिखी हैं, जो शैवोंके लिए थीं; जिससे जान पड़ता है कि कंबोजीय बौद्ध भी इन क्रिया-कलापोंको मानते थे।

थ्नाल-बरेके अभिलेखमें यह श्लोक घिस गया है, लेकिन यहाँ बौद्धोंके लिए लिखा है—

"नभस्य (आश्विन) शुक्ल चतुर्दशीको महोत्सव करके बुद्धशास्त्रोंके अनुसार दान देना चाहिए। इस दिन और तपस्य (फाल्गुन) मासकी पूर्णिमाको भी यशोधर सरोवर नामक तीर्थमें स्नान करनेवालोंको भोजन कराना चाहिए। सौगताश्रममें उन यतियों (भिक्षुओं)को रहने देना चाहिए, जो इन्द्रियविजयी, अध्ययनशील, सदाचारी, गृहभारमुक्त, वर्षाकालमें अन्य शरणरहित, एकाहारी, स्वधर्म कर्म-परायण हैं।"

इसके बाद भिक्षुओंको प्रतिदिन जीवन-निर्वाहके लिए क्या मिलना चाहिए, इसके बारेमें लिखा है—

"चार दंतकाष्ठ, आठ सुपारी, साठ तांबूलपत्र, आधा आढ़क चावल, एक मुट्ठी दीपिका (पाचक-धान्य) और एक गट्ठा ईंधन—यह सब एक आचार्यको देना चाहिए।" वृद्ध यतीको यह सभी चीजें किन्तु कुछ कम परिमाणमें और तरुण यतीको और भी कम परिमाणमें देनेको कहा गया है। शैवाश्रममें जहाँ भस्म, धूप, गंध आदि देनेकी बात लिखी गई है, वहाँ सौगताश्रम (बौद्धविहार)में आचार्य और स्थविर-भिक्षुको एक धूपदानी, एक घट और एक अँगीठी आदमी पीछे चार महीनेके उपयोगके लिए देनी चाहिए। शैवोंके भस्मपात्रकी जगह यहाँ भिक्षापात्रका नाम आया है। पंचानबेसे सौ तकके पाँच श्लोकोंमें दास-दासियों कीसेवाके बारेमें लिखा है—

"दो लेखक, दो राजकुटी-संरक्षक, दो पुस्तक-रक्षक, दो ताम्बूलपत्रदायक, दो जलहारक, छ पत्र(-तालपत्र)प्रस्तुतकारक, चार मशालधारक, साग आदिके पकानेवाले चार सेवक, इनके निरीक्षक दो और आठ भोजनयाचक, बारह चावल पकानेवाली दासियाँ—कुल मिलाकर पचास होंगे।"

विद्वान् अध्यापकोंके लिए तीन विशेष दास, कुलपतिकी सेवाके लिए नौ दास, एक दासी, दो अस्तुरे, पाँच वस्त्र, दो सूइयाँ, तीन खेतिहर होंगे।

"यदि कुलाधिप इस नियमका अनुगमन न करे, तो राजा बिना दया दिखाये उसे दण्ड दे तपस्वियोंके हाथमें दे देगा।"

(६) अंकोरथोम्—

यशोधरपुर (कंबुपुरी) यशोवर्माकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। स्दोक-काक्-थोम्के अभिलेखमें लिखा है[1]:—

"तब परमभट्टारक परमशिवलोक (यशोवर्माका मृत्युके बादका नाम)ने यशोधरपुर नगरी बसाई और राजधानीमें रखनेके लिए जगत्-ता-राजा (राजकीय देवता)को हरिहरालयसे लाये। फिर परमभट्टारकने केन्द्रीय शिखर बनाया। शिवाश्रमके स्वामी (वामशिव)ने मध्यमें पवित्र लिंगकी प्रतिष्ठा की।"

---

[1] B. E. F. O., T. XV. II, p. 89

यशोधरपुर अङ्कोरथोमका नाम है, और केन्द्रीय पर्वत (यशोधरगिरि) बायोनका केन्द्रीय महाशिखर है। बायोनको ही अभिलेखोंमें शिवाश्रम कहा गया है। शिवसोम और वामशिवने बौद्ध आश्रमसे परिवर्त्तितन करके इस आश्रमको तैयार किया।

हिन्द-चीनके इस अद्‌भुत नगरध्वंसकी प्रसिद्धि आज सारी दुनियामें है। इसके चारों ओर ३३० फुट चौड़ी परिखा है। भीतर चारों ओर पत्थरके प्रासाद हैं। नगर प्रत्येक ओरसे दो मील लम्बा और वर्गाकार है। साधारण जनता परिखासे बाहर रहा करती थी, प्राकारके भीतर केवल मंदिर, मठ, सरकारी घर और उच्चवर्गीय लोगोंकी हवेलियाँ थीं। ईसाकी नवीं शताब्दीमें दुनियाका शायद ही कोई नगर आकार और वैभवमें अंकोर (नगरका अपभ्रंश) की तुलना कर सकता हो। नगरके ठीक केन्द्रमें बायोनका विशाल मंदिर था, जो शुद्ध ख्मेर वास्तु-कलाका नमूना था। इसके उत्तरकी तरफ एक विशाल मैदान था, जिसके चारों ओर दूसरी इमारतें थीं। नगरद्वारोंसे तीन महापथ बायोनकी तरफ जाते थे और दो मैदानकी ओर। नगरमें पाँच महाद्वार थे, जिनमें पूर्वकी ओर दो और बाकी ओर एक-एक थे। मैदानके आमने-सामने बायोन, बापुओन (पीछे बना) विमानाकाशकी इमारतें थीं। फिर राजदरबार था, जो सुन्दर मूर्त्तिकलासे अलंकृत था। यहीं साथमें तेप्र-नाम् (बौद्ध विहार) प्राहविथ् (विद्यापीठ) और बौद्ध चबूतरे थे। यह वस्तुयें आज भी कुछ ध्वस्त रूपमें विद्यमान हैं।

राजपथोंके दोनों तरफ, सरोवरों और मंदिरोंके चारों ओर ईंटें, खपरैल और ठीकरे भारी परिमाणमें पड़े हैं। कंबुज नगरीकी बस्ती बड़ी घनी थी, जो आज निर्जन और ध्वस्त हो गयी है।

सौ फीट चौड़े, एक-एक मील लंबे पाँच राजपथ दरवाजोंसे नगरके केन्द्रकी ओर जाते थे। इनके किनारे बने महलों, नगरके भीतरके सरोवरों, प्राकारों आदिको देखकर दर्शक चकित रह जाता है।

बायोन—एलौराका कैलाश पहाड़ काटकर निकाला गया है, जब कि बायोन् पत्थरोंसे जोड़कर बनाया गया है, इसलिए श्रम और कौशलमें शायद इसे कुछ कम कहा जा सके; लेकिन बायोन्में एक नहीं, कैलाश जैसे अनेक शिवालय हैं—शायद दोनोंके निर्माण-कालमें बहुत अन्तर नहीं है। बायोन् यह नगरकी सबसे बड़ी इमारत है, जो नगरके केन्द्रमें अवस्थित है। इसके शिखरमें भारतीय मदिरोंके शिखरोंकी छाया मिलती है। इसकी पत्थरकी दीवारोंपर अनेक प्रकारके दृश्य हैं, कैलाशकी तरह, किन्तु उससे कहीं अधिक परिमाणमें ये मूर्तिरूपमें उत्कीर्ण हैं। मुख्यद्वारके सामने मैदानमें हरेक तरफ दो पुष्करिणियाँ हैं। मंदिरसे हटकर अपेक्षाकृत छोटी दो इमारतें हैं, जिनमें कभी पुस्तकालय था। बायोन् शिखरकी ऊँचाई डेढ़ सौ फीट है, जिसके ऊपरसे चालीस दूसरे शिखर (मीनार) दिखाई पड़ते हैं। शिखरोंमें चारों दिशाओंकी ओर चार मुख बने हुए हैं। ये मुख त्रिनेत्रधारी शिवके हैं। उनमें जटायें बड़ी बारीकीसे उरेही गयी हैं। ये केश कभी सुवर्णरंजित थे। बायोन्के अंगुल-अंगुलमें सुन्दर कलाका परिदर्शन है, लेकिन बायोन् आज उतना सुरक्षित रूपमें नहीं है, जितना अङ्कोरबातका नगर, जिसकी ख्याति ज्यादा है। भित्ति-अंकित दृश्योंमें तरह-तरहके कथानक हैं—कहीं युद्धका दृश्य है, सामंत हाथियोंपर बैठे हाथमें धनुष लिये हैं, पदाति छोटे भाले और ढाल लिये, कुछ लोग छातीमें रस्से लपेटे खड़े हैं। कहीं दाढ़ीवाले ब्राह्मण जनेऊ पहने वृक्षकी छायामें बैठे हैं। अन्यत्र कुश्ती हो रही है, वादक वीणा बजा रहे हैं, नट-बाजीगर अपनी कला प्रदर्शित कर रहे हैं। कहीं राजा

केवल एक धोती पहने, गलेमें केवल एक हार डाले खिड़कीपर बैठा है। उसके चारों ओर परिचारक बैठे हैं। खिड़कीके नीचे हरिन, साँड, गैंडा, खरगोश आदिको आदमी एकके बाद एक लिये जा रहे हैं। कहीं मृतक अस्थियोंकी यात्रा हो रही है। राजकुमारियाँ पालकियोंपर हैं, ढँके रथ बैलोंसे खींचे जा रहे हैं। मछली मारनेके दृश्य, सामुद्रिक युद्ध, विजित देशोंसे अपार निधियोंको लाते हाथी. . . .। कहीं क्रुद्ध शंकर अपनी तृतीय आँखकी ज्वालासे कामको भस्म कर रहे हैं।

बायोन्‌में पीछे मूर्ति-पंक्तियोंका एक तीसरा तल प्राप्त हुआ है, जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व कमलपर खड़े हैं। उनके मुकुटमें अमिताभ और हाथोंमें कमल, पुस्तक, माला और दर्पण हैं; उनके चारों ओर उड़ती अप्सरायें हैं। इस तलको देखकर फ्रेञ्च विद्वान फि-नो की अब राय है, कि बायोन् पहिले महायान बौद्ध देवालय था, जिसमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वरकी प्रधान मूर्ति थी। पीछे उसे शैव मन्दिरमें बदल दिया गया। बौद्ध मन्दिर होनेपर भी उसपर भारतीय संस्कृतिका उतना ही अधिकार है, जितना शैव मन्दिरपर और हिन्द-चीनमें तो उस समय शैव और बौद्धका भेद उतना स्पष्ट नहीं था।

यशोवर्माकी कृति अङ्कोरथोम बड़ी भव्य थी और आज भी है। उसने तीस साल राज किया होगा, क्योंकि ९१० ई० के एक शिलालेखमें उसे हाल ही में मरा बताया गया है।

(७) बौद्धधर्मका उत्कर्ष—

यशोवर्माके बाद उसका ज्येष्ठपुत्र हर्षवर्मा और कनिष्टपुत्र ईशानवर्मा (द्वितीय) यशोधर-पुरके सिंहासनपर बैठे। ईशानवर्माने अद्रिव्याधपुरके शिवालयके वास्ते प्रतिपक्ष काम करनेके लिये छ सुंदर दासियां प्रदान की थीं, इसीलियेः—"कम्बोजके इस राजाका गुणगान सारी दुनियामें हो रहा था।"

दासताका वह युग था, इसलिये मन्दिरोंपर दास-दासियोंका चढ़ाना कोई अचरजकी बात नहीं थी। जयवर्मा चतुर्थके बहुतसे शिलालेख मिले हैं, जिनमें मन्दिरोंको दान किये दास-दासियों की बहुत लंबी सूची दी हुई है[१]—

"ताई (दासी) ज्ञा ताईपाऊ, सी (दास) रत, सी पाऊ।" सूचीमें ऐसी चार हजार संख्या गिनाई गई है। हर्षवर्मा द्वितीय अपने पिता जयवर्मा चतुर्थकी जगह ९४२ ई० में राजा हुआ। एक प्रभावशाली सामंत कवीन्द्रारि-मथनका नाम इसी समयसे मिलता है। पिताकी भांति इसने भी कोहकेरको अपनी राजधानी बनाई। मरनेके बाद इसका नाम "ब्रह्मलोक" पड़ा। इसके समयके एक शिलालेखमें भैंस और दासकी बदलाईके झगड़ेका निर्णय दिया गया है:[२]—

"ब्रह्मलोक गये राजाके समय बप (बाप) रव् नामक व्यक्तिने वनम-श्रेन्‌के स्तेन (ब्राह्मण) से एक भैंस उधार ली। सरकारी बेगारसे बचनेके लिये उसने धान-टेक्स-उगाहकोंके मुखिया बपनोसको उसे दे दिया। वपरवने भैंसके बदलेमें वनम-श्रेन्‌के स्तेनको ताई कन्-ह्यन् नामक दासी दे दी। उसने उसे शिवपत्तनके मन्दिरको दान कर दिया। थोड़े समय बाद दासी भाग गई। स्तेनने बपरवको बदला लेनेके लिये कहा। पहिले उसने कन्-ह्यनकी जगह मन्दिरमें

[१]I. S. E. E., p., 554

[२]Aymonier. Le Cambodge, I, pp. 246 247.

सेवा करनेके लिये ताई कम्पितको देना स्वीकार किया, किन्तु पीछे इन्कार कर दिया। उसपर मुकदमा चला और दोषी ठहराया गया। ताई कम्पित स्तेनको दे दी गई, जिसे उसने भगवान-की सेवामें लगा दिया।—न्यायाधीश कम-स्तेन-अन श्री भूपतिवर्मा; सहायक—लोनपित्रा-नन्दन, लोनई, लोन-आनन्दन, लोन-पण्डिताचार्य, गवाह—अतन, श्री धरणीन्द्रपकल्प, स्तेन-अन् . . . पवित्र न्यायालयका पेशकार।"

यद्यपि उस समयके संसारके और देशोंकी भांति दासताकी कठोरता ब्राह्मणिक जातिवादसे मिलकर कम्बोजमें काफी कड़वी रही होगी, किन्तु कम्बोजमें स्त्रियोंका स्थान भारत तथा दूसरे देशोंसे काफी ऊँचा था।

लोवेकके एक संस्कृत शिलालेख[1]में सप्तदेव कुल नामक एक परिवारके बारेमें लिखा है:—"प्राण (राजा राजेन्द्रवर्माकी इस वंशमें उत्पन्न स्त्री) अपने कुल, आचार और प्रतिभाकी श्रेष्ठताके कारण राजेन्द्रवर्माकी मृत्युके बाद जयवर्माके अन्तःपुरके लेखकोंकी मुखिया बनाई गई।"

चीनी लेखकोंने भी कंबुज-दरबारके बारेमें लिखा है, कि वहां पदाधिकारी अधिकतर राजवंशके होते हैं और पुरुषोंके न होनेपर स्त्रियां उन पदोंपर नियुक्त होती हैं। चीनी लेखकोंने फलित ज्योतिषमें उनकी निपुणताकी दाद दी है। कम्बोज वस्तुतः भारतका ही एक छोटा संस्करण था और वहां भारतकी जाति-पाँति, छुआछूत खूब प्रचलित थी। पुराने अरब पर्यटकों-ने जावा और कम्बोजको हिन्दू-देश लिखा है। तो भी वहांके जाति-भेदका भारतसे अन्तर था। यद्यपि पुराणों और प्राचीन ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंका क्षत्रिय-कन्यासे विवाह वैध समझा जाता था, किन्तु व्यवहारमें शायद ही कभी उसे देखा जाता था—महाकवि राजशेखर एक अपवाद थे। किन्तु ब्राह्मण पुरोहितोंका राजकन्याओंसे विवाह कम्बोजमें कोई विचित्र बात नहीं थी। ८९० शकाब्द (९६८ ई०) के एक शिलालेख[2]में लिखा है, कि राजेन्द्रवर्मा[3] (मृत्यु ९६८ ई०) के "पुत्र (जयवर्मा पञ्चम) ने वर्णों और आश्रमोंको दृढ़ आधारपर स्थापित करके भगवानको प्रसन्न किया," किन्तु "इस प्रसिद्ध राजाकी कनिष्ठ भगिनी राजा राजेन्द्रवर्माकी कन्या इन्द्रलक्ष्मी एक प्रख्यात ब्राह्मणकी पत्नी थी, जिसने ८९० शकाब्दमें प्रेमके साथ अपनी माँकी मूर्ति स्थापित की। भूपाल राजेन्द्रवर्माका जामाता और राजा जयवर्माके भगिनीपति देवभट्ट दिवाकर थे, जिन्होंने मधुबनमें तीन देवता स्थापित करके भद्रेश्वरके रूपमें उनकी प्रतिष्ठा की। भद्रेश्वरको सुवर्ण और दूसरे बहुमूल्य रत्नोंके एक यान, अद्भुत रत्न-आभूषण देकर बहुत-सी भूमि, ताँबा, चाँदी, सोना, गाय, दास, दासी, भैंस, घोड़े, हाथियोंको देनेके बाद, ... देव (दिवाकर) ने स्वयं आज्ञा दी, कि इस स्थानपर आनेवालोंके भोजनके लिये प्रतिवर्ष छ खारी चावल दिया जाय।"

एक राजाके जामाता और दूसरेके भगिनीपति भट्ट दिवाकर कम्बोज नहीं, भारतके ब्राह्मण शायद मथुरिया चौबे थे—"जहां सुंदर कालिंदी (यमुना) प्रवाहित होती है, छत्तीस हजार ब्राह्मणों द्वारा तीनों साँझ गाये जाते ऋक्-यजु और साम्के मंत्रोंकी ध्वनिसे जहांकी सारी भूमि प्रतिध्वनित होती है, जहां कृष्णने कालीनागका मर्दन किया, दैत्योंको मारा और बचपनमें

---

[1] I. S. E. E., p. 129

[2] I. S. E. E., p. 4

[3] देखो अनुच्छेद २

क्रीड़ा की, वहीं यह देवभट्ट दिवाकर पैदा हुए।" चौबे पहिले भी उदार होते थे, यह तो दसवीं शताब्दीकी बात है। पहली-दूसरी सदीमें कम्बोज तक जानेकी आवश्यकता न थी। घरमें ही शक-राजा अपने पुरोहित माथुर ब्राह्मणोंको दामाद बनानेके लिये तैयार थे, वस्तुतः माथुर चौबोंकी अलग इकाई शकोंके ही प्रभावसे हुई और मथुरा तो मथुरा बनी ही शकोंके हाथों।

जयवर्मा पञ्चमके द्वितीय उत्तराधिकारी सूर्यवर्मा (मृत्यु-पश्चात् "निर्वाण-पद") १०२२ई० के लोपबुरीके शिलालेखमें मठों और आश्रमोंके बारेमें राजाज्ञा उद्धृत है। यद्यपि यह राजा बौद्ध था और स्थविर तथा महायानी भिक्षुओंके पुण्यमेंसे हिस्सा बँटाना चाहता था, किन्तु साथ ही वह वर्णाश्रमधर्मका भी प्रतिष्ठाता होना चाहता था। उसने ब्राह्मण शिवाचार्यको "उसकी श्रेष्ठ धार्मिकताके कारण अपनी जातिका मुखिया बनाया।" किन्तु यह वर्णाश्रम-प्रतिष्ठा कहाँ तक सफल हो रही थी, इसका प्रमाण यही है, कि योगीश्वर पंडित ब्राह्मण-कन्या भास्वामिनीकी सन्तान थे और भास्वामिनी परमेश्वर (जयवर्मा द्वितीय) की रानी थी—अर्थात् क्षत्रिय राजाकी कन्या ही ब्राह्मणको नहीं ब्याही थी, बल्कि प्रतिलोम-विवाह भी वैध था। परमभट्टारक "निर्वाणपद" (सूर्यवर्मा) के राज-कालमें वंशपरम्परासे राजपुरोहित चले आये परिवारके स्तेन्-अन् सदाशिव जगत्-ता-राजाके पुरोहित थे। परमभट्टारक निर्वाणपदने उनसे साधुता छुड़ा अपनी रानी वीरलक्ष्मीकी बहनसे शादी करा दी और सदाशिवको कम्-स्तेन् श्री जयेन्द्र पंडित राजपुरोहित तथा प्रथम-श्रेणीके सरदारकी उपाधियोंसे भूषित किया। ख्मेर साधारण जनताकी उपार्जित संपत्तिका बड़ी स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग राजवंशी और पुरोहित बहुत अच्छी तरह आपसमें बाँटकर करते थे। इस समयके शिलालेखोंसे यह भी पता लगता है, कि ब्राह्मणोंका सम्मान अब स्वेच्छापूर्वक नहीं, बल्कि राजाश्रयके कारण होता था, इसलिये उनका मान कम होने लगा था।

आगे भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-विवाहके उदाहरण बहुतसे मिलते हैं। जयवर्मा सप्तम (११८२) की प्रथम रानी जयराजदेवी एक ब्राह्मणकी लड़की थी, जिसे उसकी बहन एक परम श्रद्धालु पण्डिता बौद्धमहिला इन्द्रदेवीने धर्मग्रन्थ पढ़ाये थे। इस रानीने एक प्रशस्ति स्वयं रची थी, जो फी-मे-अन्-अकाशके शिलालेखोंके रूपमें मौजूद है।

आठवीं, नवीं, दसवीं शताब्दियोंमें अर्थात् जिस समय कन्नौजमें गर्ज प्रतिहारोंका शासन था, कंबुज अपनी ब्राह्मण-भक्तिके लिय बहुत प्रसिद्ध था। जगह-जगहसे ब्राह्मण विद्वान उसी तरह उधर खिंच रहे थे, जैसे दिल्लीके मुसलमान शासकोंके समय ईरान, बलख, बुखारातकके मुल्ला।

नरपति (वर्मा) देशमें **भरद्वाजगोत्री** हृषिकेश नामके एक पंडित ब्राह्मण रहते थे। कम्बोजमें वेदोंका बहुत सम्मान है, यह बात सुनकर वह कम्बोजमें आये। जयवर्मा सप्तमने "श्री जय महाप्रधान" की उपाधि दे उन्हें राज-पुरोहित बनाया। हृषिकेश पीछे भीमपुरके शिवालयकी यात्रा करने गये। वहां उन्होंने एक शैवकुल-कन्या श्री प्रभासे ब्याह किया। श्री प्रभाकी **द्वितीय कन्या** "चक्रवर्ती राजदेवी" की उपाधिसे विभूषिता हो जयवर्मा अष्टमकी रानी बनी। श्री प्रभाकी छोटी बहन सुभद्राका ब्याह "अध्यापकाधिप" मंगलार्थसे हुआ। इन दोनोंका पुत्र महानाथ एक भारी वैयाकरण था और राजा **इन्द्रजयवर्माके** शासनकालमें "अध्यापकाधिप" की उपाधिसे भूषित किया गया था। अष्टम जयवर्माने मंगलार्थ और उसकी माता सुभद्राकी

B E. F. E. O., T, XXV Nos. 3-4, p. 372.

मूर्ति राजधानीमें स्थापित कराई थी, पीछे उनके नामका एक मन्दिर भी बनवाया, जिसमें राजा इन्द्रवर्मा और राजा इन्द्रजयवर्माने भी वृत्ति दी थी।

इससे जान पड़ता है, कि कंबुजमें जन-साधारणके लिये वर्ण-व्यवस्था भले ही कड़ी रही हो, किन्तु जहां-तक ब्राह्मणों और राजवंशका संबंध था, उनकी रोटी-बेटी खूब चलती थी—ब्रह्मक्षत्र-विवादका नाम नहीं था।

* * *

सूर्यवर्मा प्रथम (१००२-४९) से बौद्धधर्मका प्रभाव बढ़ने लगता है, उसे प्रथम बौद्ध राजा कह सकते हैं। यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं, कि वह ब्राह्मणधर्मसे उदासीन था। इसने अपनी सालीका ब्याह सदाशिवसे करके उन्हें जयेन्द्र पण्डितकी उपाधि दे राजपुरोहित-पदसे सम्मानित किया, यह हम बतला चुके हैं। सूर्यवर्माने वस्तुतः एक नये वंशकी स्थापना की थी, इसीलिये यह आवश्यक था, कि लोगोंका विश्वास अपने प्रति पैदा किया जाय। सूर्यवर्माने प्रमुख सरदारों और दूसरोंसे राजभक्तिकी जो शपथ ली थी[1], वह निम्न थी—

"९३३ शकाब्द (१०११ ई०) भाद्रकृष्ण नवमी रविवार। यह शपथ है, जिसे कि हम प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चौथी श्रेणीके तम्ब्राच (दरबारी) ले रहे हैं. . . ., और अपना हाथ काटकर कृतज्ञता और विशुद्ध भक्तिके साथ ९२४शकाब्दसे पवित्र अग्नि, पवित्र रत्न, ब्राह्मणों और आचार्योंके सामने पूरी प्रभुताको भोगनेवाले परमभट्टारक श्री सूर्यदेवको अर्पित कर रहे हैं। हम कभी दूसरे राजाका सम्मान नहीं करेंगे, हम कभी विरोध नहीं करेंगे, हम कभी किसी शत्रुसे साँठ-गाँठ नहीं करेंगे, हम कभी किसी तरह उन्हें क्षति नहीं पहुँचावेंगे। हम इस बातका वचन देते हैं, कि परमभट्टारकके प्रति कृतज्ञतापूर्ण अपनी भक्तिके साथ हम सभी कामोंका अनुष्ठान करेंगे। युद्ध होनेपर अपने प्राणोंकी कोई चिन्ता न करके उनके लिये ईमानदारीसे लड़नेकी प्रतिज्ञा करते हैं। हम युद्ध-क्षेत्रसे नहीं भागेंगे।. .सारे जन्म-भरके लिये हमारा जीवन परमभट्टारककी सेवामें अर्पित है। इसलिये अपनी मृत्यु तक प्रत्येक काल और परिस्थितिमें, हम राजाके प्रति ईमानदारीसे अपने कर्त्तव्यका पालन करेंगे। यदि कोई बात हो, जिसके बारेमें सब कुछ जाननेके लिये परमभट्टारक विदेश जानेकी आज्ञा दें, तो हम उसके सारे विवरणको खोज लायेंगे। यहां उपस्थित हम सब दीर्घजीवी परमभट्टारकके प्रति राजभक्तिकी शपथपर यदि डटे न रहें, तो हम उनसे प्रार्थना करते हैं, कि वह हमें सब प्रकारका दंड दें। यदि हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेसे बचनेके लिये अपनेको छिपायें, तो हमारा जन्म यावत्-चन्द्रदिवाकर बत्तीस नरकोंमें हो। यदि हम अपनी शपथको ईमानदारीसे पूरा करें, तो परमभट्टारक हमारे देशकी पुनीत प्रथानुसार हमारे परिवारकी रक्षाके लिये आज्ञा दें, क्योंकि हम अपने स्वामी परमभट्टारक श्री सूर्यवर्मदेवके अनुरक्त अनुयायी हैं, जो परमभट्टारक ९२४ शकाब्दसे पुनीत शासनको पूर्णतया हाथमें लिये हुए हैं। भक्त सेवकके लिये इस लोक और परलोकमें उचित बदला हमें मिले।"

प्रायः साढे आठ सौ वर्ष पहिले यह शपथ ली गई थी, जिसे आज भी फ्नोम्पेन्में सरकारी अफसर लेते हैं। शब्द प्रायः भी वही हैं। दोनोंमें अन्तर यही है, कि पहिलेके "ब्राह्मणधर्मी" शब्दकी जगह "बौद्ध" शब्द लगा दिया जाता है।

कम्बोजमें अब न ब्राह्मणधर्म रहा, न महायान बौद्धधर्म, बल्कि उसकी जगह पाली (स्थवि-

[1]B.E.F.E.O., T. XIII.

रवादी) बौद्ध धर्मने ली है। सूर्यवर्माके समय महायानका प्रचार था। कम्बोजमें स्थविरीय बौद्ध-धर्मका इतिहास १३४० ई० से शुरू होता है, जब कि वहां हीनयानका प्रभुत्व स्थापित हुआ। लेकिन सूर्यवर्माका नाम आज इतिहासमें भी लिया जाता है, यह शायद उसकी बौद्धधर्मके लिये की गयी आरंभिक सेवाओंके लिये ही है।

(८) अङ्कोरवात—

अङ्कोरवात्का अर्थ है "नगर देवालय"। अङ्कोरथोम् "नगर धाम" का अपभ्रंश है। शताब्दियों तक यह विशाल नगर निर्जन रहा। जहां कभी मनुष्योंकी घनी बस्ती थी, वहां घोर जंगल लग गया था। हमारे भी किसी नगरको यदि तीन-चार सौ साल छुआ न जाय, तो वह भी घोर जंगल और वन्य पशुओंका बसेरा बन जायेगा, जैसी कि पिछली शताब्दीमें अजन्ताकी हालत हुई थी। १८६० ई० में एक फ्रेंच प्रकृतिशास्त्री आँरी मूवो[1] ने इस विस्मृत नगरीका पता लगाया था। इस भीषण जंगलमें विशाल देवालय देखकर वह स्तब्ध रह गया। उसने लिखा था, "यह दुनियाकी अत्यन्त आश्चर्यमय इमारत है। ऐसी इमारत यूनान और रोममें भी कभी नहीं बनाई गई।"

अङ्कोरवात् (नगर देवालय) को किसने और किस देवताके लिये बनाया, इसके बारेमें कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन अनुमान होता है, कि इसे सूर्यवर्मा द्वितीय और उसके गुरु दिवाकर पण्डितने बनवाया था और शायद यह उस समय विष्णुदेवालय था, जो आज हीनयानी विहार बना हुआ है। सूर्यवर्मा द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारी सप्तम जयवर्माके शिलालेखोंमें जिस तरहकी लिपि मिलती है, वही यहां भी मिलती है। इसके शिलालेखोंमें परमविष्णुलोक राजाका जिक्र आता है, जो सूर्यवर्मा द्वितीयका ही मरनेके बादका नाम था। लेकिन इसमें आपत्ति यह है, कि जहां सूर्यवर्मा महायानी बौद्ध था, वहां इस मन्दिरमें महायानका कोई चिह्न नहीं पाया जाता। अङ्कोरवातकी बनावट और वास्तुकला अङ्कोरथोम्से पीछेकी है। इस विशाल कृतिका निर्माण एक पीढ़ीमें नहीं हो सकता था। दिवाकर पण्डित जयवर्मा षष्ट धरणीन्द्रवर्मा प्रथम और सूर्यवर्मा द्वितीय—इन तीनों राजाओंका गुरु रहा। शिलालेखोंमें उसके अनेक देवालय बनानेकी बात मिलती है, इसलिये बहुत सम्भव है कि दिवाकर पण्डित ही ने इसे बनाया हो।

अंङ्कोरवात् अङ्कोरथोमसे प्रायः एक मीलपर है। इसमें स्थानकी कमी न होनेके कारग हरेक चीज बड़े आकारमें है। परिखा, परिखा नहीं, बल्कि सात सौ फीट चौड़ी एक झील कही जा सकती है। उसपर बना पुल छत्तीस फीट चौड़ा है। मन्दिरका प्राकार पूरब-पच्छिम दो-तिहाई मील लंबा और उत्तर-दक्षिण आध मील चौड़ा है। मुख्य द्वार पच्छिम तरफ है। मूर्ति-कला यहां भी बड़ी सुंदर है। दरवाजेके दो तरफ दो पुस्तकालय थे। मुख्य मीनार भूमिसे २१३ फीट ऊंची है। उसके भीतर स्थापित मूर्ति न जाने कब गुम हो गई। पाषाणोत्कीर्ण अलंकरण बहुत विशाल और कलापूर्ण है। दीवारोंपर फूल-पत्ते और देवकन्यायें बहुत बारीकीसे बनाई गई हैं, लेकिन कलाकी दृष्टिसे ये बायोन्का मुकाबिला नहीं कर सकतीं। मूर्तियोंकी प्रथम पंक्तिमें कितने ही ऐतिहासिक महत्वके कंबुज दरबारी दृश्य हैं। पहिला दृश्य राजा, रानी, राजकुमारोंका

---

[1]Henrie Moul.

है। फिर भाला और धनुषवाले अंगरक्षक दिखाई पड़ते हैं, जिनके सामने सिरपर लंबे केश और कानोंमें कुण्डल पहने ब्राह्मण बड़े गर्वके साथ बैठे हैं। इनमें तीन खड़े हैं, जिनमेंसे बीचका आदमी बाकी दोको फल-सजी थाली लानेका हुक्म दे रहा है। साथके छोटे-से लेखमें "पण्डितोंकी ओरसे राजको भेंट" लिखा हुआ है। दूसरे अभिलेखमें है—"परमभट्टारक पुण्यपाद स्वामी परम-विष्णुलोक शिवपादगिरिपर सेनाके जमा होनेकी आज्ञा देते हैं।"

आगे कितने ही मन्त्रियोंकी मूर्तियां अंकित हैं। ख्मेर मंत्रिमंडलमें चार मन्त्री होते थे। वही चार मन्त्री यहां अंकित हैं। फिर सेनापतियोंकी मूर्तियां बनी हैं। बहुत-सी मूर्तियों और दृश्योंके नीचे नाम भी खुदे हैं।

आज भी अङ्कोरबात अङ्कोरथोम्के रूपमें भारतीय संस्कृतिके स्मृति-चिह्न हिन्द-चीनमें भी पड़े हैं। समय आ गया है, जब भारतीय संस्कृति और कलाके विद्यार्थियोंके लिये अङ्कोरवात तथा अङ्कोरथोमका दर्शन और अध्ययन वैसे ही अनिवार्य होना चाहिये, जैसा अजंता और एलौराका।

§५. अन्तिम वैभव

(१) धरणींद्रवर्मा—

धरणीन्द्रवर्मा द्वितीयके शासनमें सिंहल और कंबोजके बीच मैत्रीपूर्ण संबंध था। यह सिंहलके प्रतापी राजा पराक्रमबाहु (११६४-९७) का समय था। सिंहलराजने कम्बोज-राजके पास उपायन भेजा था, जिसमें लंकाकी एक राज्यकन्या भी थी। बर्माके राजाने रास्तेसे उसे पकड़ मँगाया। इसपर पराक्रमबाहुने नौसैनिक अभियान भेजकर दक्षिणी बर्माके कुसुमी बंदरगाहको लुटवाया और इस अपमानका बदला जयवर्मा सप्तमने पेगूपर अपनी विजयध्वजा गाड़कर लिया। शायद सिंहल राजकुमारी जयवर्माके ही लिये भेजी गई थी।

(२) कम्बुजका अशोक जयवर्मा सप्तम (११८२-१२०२ ई०)—

जयवर्माके मरनेके बाद "महापरमसौगत" का नाम दिया गया था, जिससे उसके धार्मिक विचार स्पष्ट हैं। वह कंबोजका महाप्रतापी राजा था। जयवर्माके राज्यमें चंपा और पुकाम (पगान) भी थे। शायद पगानसे अभिप्राय पेगू (बर्मा) से है। मलाया भी जयवर्माके अधीन था। जयवर्माके राज्यकी सीमा चीनसे पश्चिममें बंगालकी खाड़ी और दक्षिणमें मलयप्रायद्वीप तक थी।

(क) बौद्धधर्मसे प्रेम—

ता-प्रो-हँम शिलालेखोंमें बुद्धके नमस्कारके साथ प्रशस्तिमें लिखा है—"प्राणिमात्रके शरण बुद्ध पूजित हैं; फिर बोधिमार्ग पूजित है।" जिससे जात संसारका अर्थ स्पष्ट ज्ञात होता है; फिर जो सब तरहके रागोंसे मुक्त होते भी दूसरोंकी भलाईके कार्यमें सदा रत है, उस संघका वर्णन है, फिर कल्पद्रुमके सजीव अवतार लोकेश्वरकी वंदना है. . . .। इसी लेखमें कहा गया है—"उसने चंपा जाकर युद्धक्षेत्रमें वहांके राजाको पकड़के फिर दयावश उसे राज्य देकर छोड़ दिया। उसके इस गौरवपूर्ण कृत्यको दूसरे राजाओंने सुना. . . .। राजाने अपने गुरुके परिवारको राजवंशिक की भाँति सेनापतिकी उपाधि दी।"

---

[1]B. E. F. E.O., T., VI., p. 44

जयवर्मा सप्तमने राजविभार नामक नगर बसाया और उसे 'मुनीन्द्रमाता' (प्रज्ञापारमिता) की सेवाके लिये दान कर दिया। उसने प्रज्ञापारमिताके रूपमें अपनी माँकी मूर्ति बनवाई थी। इस लेखमें मन्दिरमें पूजाके लिये दिये हुए बंधानोंकी सूची दी गई है, जिनमें चावल, तिल, मूंग, कांगुन, घी, दूध, दही, मधु, गुड़, तिलतेल, तरुफलतेल, वस्त्र, देवमूर्तियोंके लिये चीनी रेशमकी मसहरीका भी उल्लेख है। अठारह त्योहारोंके बंधान थे। राजा और भूमिपतियोंने ३१४०गाँव मन्दिरोंको दिये थे। "सब मिलकर १२,६४० व्यक्ति (मन्दिरके भीतर) रहते। ६६,६२५ स्त्री-पुरुष देवपरिचारक हैं। बर्मी और चंपा (के बंदी) सब मिलाकर ७९,३६५ व्यक्ति होते हैं।" चीनी इतिहासमें भी १२९५ ई० के आसपास जयवर्मा सप्तमका पगानको जीतकर अपने राजमें मिलाना उल्लिखित है।

राजाने भारी परिमाणमें चाँदी-सोना, पैंतीस हीरे, चालीस हजार छ सौ मोती, चार हजार दो सौ चालीस मार्जारनेत्र (रत्न) तथा दूसरे बहुमूल्य पत्थर. . . ., एक बड़ी सोनेकी थाली, कुछ खड़िया और भारी परिमाणमें सीसा प्रदान किया था। वहां ९७० विद्यार्थी अपने अध्यापकों-के साथ रहते थे।

(ख) आरोग्यशालायें—

वसंतमें चैतकी अष्टमीसे पूर्णिमा तक प्रत्येक वर्ष बौद्ध परम्पराके अनुसार वसंतोत्सव मनाया जाता था और दो यज्ञ किये जाते थे। कृष्णचतुर्दशीको भगवान्‌की तीन बार प्रदक्षिणा-मेला होती, उस समय भगवती (प्रज्ञापारमिता) भी रहती और पूर्णिमाको वीर, शक्ति आदि दूसरे देवता भी साथ रहते। उस समय नर्तक-नर्तकियां चारों ओर नृत्य करतीं और लोग सत्य-सदाचार आदि अच्छे गुणोंका अभ्यास करते। तीनों गुरुओं, हजार देवताओं और ६१९ दिव्यशक्तियोंको भेंट-पूजा चढ़ाई जाती, हजार विद्वान भिक्षुओं और ब्राह्मणोंका भोजन होता। लेखके अगले भागमें जयवर्माकी बनवाई आरोग्यशालाओंका विवरण है—"भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें ११७ आरोग्यशालायें और ६९८ मन्दिर (औषधालय) स्थापित हैं, जिनमें रहनेवाले बीमारों और दूसरोंको १,१७,२०० खारिका[1] (साढे तीन लाख मनसे अधिक) प्रतिवर्ष देना होगा।" लेखमें कई बातोंके आँकड़े दिये गये हैं। अस्पतालों और मन्दिरोंका खर्च चलानेके लिये ८३८ गांव लगे थे। वहां ८१,६४० स्त्री-पुरुष काम करते थे। सरकारी भंडारसे जो चीजें दी जाती थीं, उनमें अन्नके अतिरिक्त मधु, मोमबत्ती, पीपल, अजवाइन, क्षार, दो प्रकारका कपूर, इलायची, सूखा अदरख और दवाइयोंके १९६० छोटे-छोटे बक्स आदि थे। अन्तमें राजाने प्रार्थना की थी—"मेरे इन पुण्यकर्मोंसे मेरी माँ भवसागर-मुक्त हो बुद्धपद प्राप्त करे।"

प्रशस्तिके अन्तमें लिखा है, कि राजा श्री जयवर्माके पुत्र श्री सूर्यकुमारने इसे महादेवीके सम्मानमें बनाया।

जयवर्मा सप्तमके आरोग्यशाला-संबंधी दस शिलालेख मिले हैं, जिनकी प्रशस्तियां करीब-करीब एक-सी हैं। शिलालेखोंमें पहिले बुद्धके निर्माण, धर्म और सम्भोग इन तीनों कायोंको नमस्कार किया गया है, रोगान्धकारके दूर करनेवाले भैषज्य गुरु बुद्ध, बोधिसत्त्व, सूर्य वैरोचन,

---

[1] खारिका-१२८ सेर

चन्द्र रोची और चन्द्र वैरोचन रोहिणीशकी महिमा गाई गईहै। फिर राजा जयवर्माके बारेमें लिखा है— "मनुष्यकी शारीरिक व्यथा उस (राजा) के लिये आत्मिक व्यथा मालूम हुई। वह रोगीकी अपेक्षा उसे अधिक कष्टकर थी, क्योंकि अपना नहीं, प्रजाका दुख राजाओंको दुखी बनाता है। . . . उसने चिकित्साशास्त्रमें निपुण वैद्योंकी सहायतासे राज्यके शत्रुओं—रोगोंको नष्ट किया।" अभिलेखसे पता लगता है, कि आरोग्यशालायें बुद्धभैषज्यगुरुके मन्दिरके चारों ओर बनाई जाती थीं और बिना भेद-भावके चारों वर्णोंके लिये खुली थीं। उनमें दो प्रकारके भृत्य थे—आरोग्य-शाला-भवनमें रहनेवाले (स्थितिदायी) और बाहर रहनेवाले (स्थितिदा)। पहिली श्रेणीमें थे दो चिकित्सक, चिकित्सकोंके दो सेवक, दो भंडारी, दो रसोइया, दो औषधकारक, चौदह धात्री और आठ दूसरी औरतें, जिनमें दो चावल कूटती थीं। दूसरी श्रेणीके आदमी ६६ थे। फिर चीज़ों, विशेषकर दवाइयोंकी एक बड़ी सूची दी गई है, जिसे कि राजकीय भंडारसे प्रत्येक रोगीको दिया जाता था। अन्तमें आरोग्यशालावाले गाँवोंके लोगोंको जो सुविधायें प्राप्त थीं, वह भी गिनाई गई हैं—वहांके लोग कर और बेगारसे मुक्त थे, प्राणियोंके साथ क्रूरताका बर्ताव करनेपर ही उन्हें दण्ड मिलता था।

यह था कंबोजराज सप्तम जयवर्मा, जो कि कन्नौजके राजा जयचंदका समकालीन था। उसने अपने राज्यमें एक-दो नहीं, एक-सौ-दो अस्पताल और ७९८ भैषज्यगुरु-मन्दिर (औषधालय) बनवाये थे। विनयपिटकके महावग्गमें भैषज्य-स्कंधकके[1] नामका एक अध्याय है, जिसमें बुद्धने निम्न प्रकारकी दवाइयोंका विधान किया है—पांच प्रकारके भैषज्य (दवा), चर्बी, मूलकषाय, पत्ता, फल-गोंद-लवण-चूर्ण, कच्चे मांस, कच्चे खूनकी दवाइयां और साथ ही दवा बनानेके लिये खल, मूसल, छलनी, अञ्जन, अञ्जनदानी, सलाई, सिरके तेल, नस, धूमबत्ती, वातके तेल, दवामें मद्यमिश्रण आदिका भी उपदेश है। भैषज्य (दवा) के बारेमें उपदेश देनेके कारण ही बुद्धका नाम भैषज्यगुरु पड़ा। भैषज्यगुरुकी मूर्तिके एक हाथमें हर्रा बना रहता है। बुद्धके शारीरिक व्याधियोंके हर्त्ता होनेका यह रूप भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें कितने ही लोगोंको प्रभावित करनेमें सफल हुआ। सबसे प्रथम अशोक इससे प्रभावित हुये थे, जिन्होंने जगह-जगह मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्साके लिये चिकित्सालय बनवाये और औषधियों तथा जड़ी-बूटियोंको अपने देशमें ही नहीं, यूनानी लोगोंके देश तकमें भेजा था। कोई आश्चर्य नहीं, यदि जयवर्मा ने भैषज्यगुरुके इस रूपसे प्रभावित होकर चीनसे बंगालकी खाड़ी तक अपनी विशाल आरोग्य-शालाओंका जाल बिछा दिया। जयवर्माने ११९० ई० में चंपाको जीता था, अर्थात् उससे दो साल पहिले, जबकि मुहम्मदगोरीने भारतपर विजय प्राप्त की।

§६. कंबुजका पतन

जयवर्मा सप्तमके बाद इन्द्रवर्मा द्वितीय (१२०१-४७ ई०), फिर जयवर्मा अष्टम (१२४८-९५ ई०), फिर श्रीन्द्रवर्मा (१२९६-१३०७) और श्री इन्द्रजयवर्मा कम्बोजकी गद्दीपर बैठे। इस सारे समयमें यद्यपि सामाजिक और धार्मिक जीवनमें कम्बोजका विकास रुका नहीं रहा, किन्तु अब राजनीतिक तौरसे वह पतनोन्मुख था। तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें चीनपर कुबले-खानका शासन था। वह सारे पूर्वी एशियापर अपना एकछत्र राज चाहता था। भला कम्बोज-

---

[1]देखो, विनयपिटकका मेरा अनुवाद, पृ० २१५-६२

को वह कैसे अछूता छोड़ देता, जबकि चीनवाले उसे सुवर्णरत्नकी खान समझते थे। कंबुजमें इतनी शक्ति नहीं थी, कि चम्पाको अपने हाथमें रखे रहता, इसीलिये १२२० ई० में चम्पाको छोड़ना पड़ा। स्यामी (थाई) भी मंगोलोंसे उत्पीड़ित हो अब उत्तरसे कंबुजकी ओर बढ़े। और उनके दक्षिणके भाइयोंने कंबुजका जुआ उतार फेंका। कुबलेखानकी सेनाने १२८३ ई० में चम्पापर आक्रमण करके उसे अपने राज्यमें मिला लिया। वहींसे चीनी दूत शू-ता-कुवान् करद बनानेके लिये १२९६ ई० में कम्बोज गया। यद्यपि शू ने अपनी पुस्तकमें कार्यमें सफल होनेकी बात लिखी है, लेकिन चीनी इतिहासकारोंका कहना है, कि १५२० तक न जावा ने और न कंबुजने ही चीनका करद होना स्वीकार किया।

(२) कम्बुज समाज—

शू-ता-कुवानकी यात्राके समय कंबुजमें श्रीन्द्रवर्मा (१२९६-१३०७) का राज्य था। शू वस्तुतः सरकारी तौरसे नहीं गया था। उसने कंबुजके बारेमें बहुत-सी ज्ञातव्य बातें लिख छोड़ी हैं। दूसरे चीनी यात्रियोंकी तरह उसने नगर, वेश-भूषा, रीति-रिवाजका काफी बारीकीसे अध्ययन किया है।

अंङ्कोरवातके बारेमें उसने कथा सुनी थी, कि उसे लूपान् (विश्वकर्मा) ने एक रातमें बना दिया था। हमारे यहां अजन्ता-एलौराको भी इसी तरह देवशिल्पी विश्वकर्माकी कृति माना जाता रहा। लोगोंके वस्त्र-भूषाके बारेमें वह कहता है[1]—"पुरुष-स्त्री दोनों सिरपर अपने केशोंका जूड़ा बाँधते हैं।...वह केवल एक लुंगी पहनते हैं, किन्तु बाहर जानेपर एक चादर भी ले लेते हैं। उनके सबसे अच्छे और बारीक कपड़े पश्चिमी समुद्र (भारत) से आते हैं। राजा बड़ी-बड़ी मोतियोंकी एक माला और हाथ-पैरमें रत्नजटित कट-कंकण पहनता है। वह नंगे पैर चलता है और उसके हाथ-पैर महावरसे रंगे रहते हैं।...जन-साधारणमें केवल स्त्रियां ही अपने हाथ-पैरको रंग सकती हैं।...

"ऊँचे पदोंपर साधारणतया राजवंशिक ही रक्खे जाते हैं। उच्चतम पदाधिकारी सोनेकी डण्डेवाली पालकियां और सुनहले डंडेवाले छत्ते इस्तेमाल करते हैं।...."

शूने कम्बोजके भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियोंके बारेमें कहा है:—

"विद्वानोंको पण्डित (पं-कि) कहा जाता है, भिक्षुओंको शू-कू, (आज भी स्यामी भिक्षुओंका यही नाम है) और ताव् (ब्राह्मण)-धर्मी पाशुपत (पा-शो-वेइ) कहे जाते हैं। पण्डितोंकी पहचान गर्दनमें पड़ा सफेद धागा है, जिसे वे कभी नहीं हटाते। पण्डित राजसेवामें ऊँचेसे ऊँचे पदों तक पहुँच सकते हैं।

"शू-कू (भिक्षु) अपना सिर मुंडाते हैं, पीले कपड़े पहिनते हैं, दाहिना कंधा नंगा रखते हैं, और नंगे पैर चलते हैं। वे मांस-मछली खाते हैं, पर मद्य नहीं पीते। बुद्धको भी वह मछली-मांसका भोग लगाते हैं। जिन पुस्तकोंका वे पाठ करते हैं, उनकी संख्या बहुत है और वे तालपत्र-पर लिखी रहती हैं। इन भिक्षुओंमें कुछके पास सोनेके डंडेवाली पालकियां और सोनेके मूठवाले छत्ते होते हैं। गंभीर बातोंपर राजा उनसे सलाह लेता है। वहां बौद्ध भिक्षुणियां नहीं हैं।"

---

[1] M. Pelliot द्वारा Chen la Fong. Ki का अनुवाद B. E. F. E.O.

इस वर्णनसे मालूम होता है, कि तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें कम्बोजमें महायान या संस्कृत बौद्धधर्मकी जगह पाली बौद्धधर्म प्रचलित हो चुका था। "पाशुपत अपने जूड़ोंको लाल या सफेद कपड़ोंसे बांधते हैं। उनके मन्दिर बौद्ध मन्दिरोंसे छोटे होते हैं; क्योंकि ताव् (ब्राह्मण) धर्म उतना समृद्ध नहीं है, जितना कि बौद्ध धर्म। पाशुपत सिर्फ एक पाषाण-खंड (लिंग) की पूजा करते हैं। ब्राह्मणधर्मिणी साधुनियां भी होती हैं। वह दूसरेके हाथसे भोजन नहीं ग्रहण करते और न खुले आम खाते हैं।"

"गृहस्थोंके लड़के पढ़नेके लिये भिक्षुओंके पास जाते हैं और बड़े होनेपर गृहस्थ बननेके लिये लौट जाते हैं।"

"लोग मोटे और बहुत काले होते हैं।...गोरा रंग राजमहलके लोगों या कुलीन परिवार-की स्त्रियोंमें पाया जाता है।....स्त्री और पुरुष दोनों साधारणतया शरीरके ऊपरी भागको नंगा रखते हैं, बालोंको जूड़ेके रूपमें बांधते हैं और नंगे पैर घूमते हैं। रानियां भी इसी तरह रहती हैं। राजाकी तीन रानियां और अनेक रखेलियां हैं।....राजा अपनी प्रधान रानीके साथ अपने निजी वासस्थानमें सुनहले झरोखेपर बैठता है। झरोखेके नीचे महलके लोग पांतीसे बरामदेकी दोनों ओर खड़े होते हैं और बारी-बारीसे राजाके पास जाते हैं।....

"लेख साधारणतया काले मृगचर्मपर लिखा जाता है, जिसपर लिखनेके लिये सफेद चूरनसे बनी ढंडी (बर्तनी) काममें लाई जाती है।"

चीनके बहुतसे स्थानोंमें अब भी स्नानको अच्छी दृष्टिसे नहीं देखा जाता। शू ने कम्बो-जियोंकी आदतपर असंतोष प्रकट करते हुए लिखा है— "लोग बहुत बीमार पड़ते हैं, जिसका कारण उनका बार-बार नहाना है।" शू ने अधिक स्नानके कारण ही कंबुजमें कुष्ट रोग होनेकी बात कही है।

"इस देशमें प्रतिवर्ष तीन-चार फसल काटी जाती है।....खेतको उर्वर बनानेके लिये पाखाना इस्तेमाल नहीं किया जाता, क्योंकि गंदा समझकर उससे घृणा की जाती है।...."

"इस देशमें औरतें व्यापार करती हैं। सोना और चीनकी चाँदीका दाम बहुत होता है और उनके बाद चीनके रेशमी वस्त्र, राँगा, चीनी बर्तन, हल्दी, कागज, शोरा आदि अधिक महत्व रखते हैं। गेहूँकी बहुत माँग है, किन्तु चीनसे उसका निर्यात निषिद्ध है।...."

"प्रत्येक गांवमें अपना मन्दिर या स्तूप होता है। चाहे बस्ती कितनी ही छोटी हो, किन्तु हरेक गांवमें एक सरकारी मुखिया होता है, जिसे 'मयिची' कहते हैं। सड़कोंपर पान्थशालायें होती हैं। हालमें स्यामियोंके साथ लड़ाईमें देशकी बड़ी बर्बादी हुई है।"

शू-ता-कुवानने नये राजा (श्रीन्द्रवर्मा) को पिछले राजाका दामाद लिखा है। उसका पहिले राजाकी कन्यासे प्रेम हो गया। राजकन्याने सोनेकी तलवार (राजकीय खड्ग) लेकर अपने पतिको दे दी। पिछले राजाके लड़केने विरोध करना चाहा, किन्तु उसके बहनोईने उसे बन्दी बना लिया।

श्रीन्द्रवर्माके समयमें यद्यपि ब्राह्मणधर्मका प्रभाव बहुत कम हो गया था, किन्तु अभी उसके समाप्त होनेमें कुछ समय था। इसी समय अंङ्कोरसे सोलह मील उत्तर-पूरब ईश्वरपुर (वंतेल-श्रेइ) में "त्रिभुवन महेश्वर" नामक शिवालय बनाया गया था, जो ख्मेरकलाका उत्कृष्ट नमूना है।

(३) अन्तिम संस्कृत अभिलेख—

श्री इन्द्रवर्माके उत्तराधिकारी श्री इन्द्रजयवर्माके समयका अंकोरवात्‌में आखिरी संस्कृत-शिलालेख है, जो चौदहवीं शताब्दीके मध्यका मालूम होता है। उसकी लिपि यद्यपि सुन्दर नहीं हैं, पर भाषा शुद्ध है। उसमें किसी शैवमन्दिरके लिये जयवर्मा परमेश्वर द्वारा विद्येशके स्थापित किये मठ (आश्रम) के लिये दानका उल्लेख है। अभिलेखमें बताया गया है, कि विद्येशके पूर्वज सर्वज्ञमुनि आर्यदेश (भारत) से आये थे। एक दूसरा पूर्वज विद्येशविद् अष्टम जयवर्माका होता तथा श्री इन्द्रवर्माके अभिषेकमें ऋत्विज था। विद्येशविद्‌के मरनेके बाद एक दूसरा ब्राह्मण श्री इन्द्रवर्माका होता बना और उसने यशोधर सरोवरके किनारे गंगाकी मूर्ति स्थापित की। चौदहवीं सदीके अन्त या पन्द्रहवीं सदीके आरम्भका एक अशुद्ध संस्कृत शिलालेख वहां मिला है, जिसमें अवलोकितेश्वरका नाम है, जिसका अर्थ है, कि अभी महायान कंबुजसे विदा नहीं हुआ था।

(४) फ्रांसको आत्मसमर्पण—

तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें स्यामियोंका आक्रमण कंबुजपर होने लगा। कंबुज राजा असमर्थ हो राजधानीको अंङ्कोरसे हटानेके लिए मजबूर हुए। उधर दक्षिण-पूर्वमें अनामियोंका जबर्दस्त आक्रमण हो रहा था, जो चम्पाको लेकर अब कंबुजको नष्ट-भ्रष्ट करनेमें लगे थे। कंबुज दोनों ओरसे सिमटते-सिमटते थोड़ा-सा रह गया और अन्तमें अनाम तथा स्यामके भी कुछ प्रान्तोंके साथ वह उन्नीसवीं सदीमें फ़्रांसके सामने नतमस्तक हुआ।

(५) कम्बुज भाषा और वंश—

आज यद्यपि कंबुजमें संस्कृतका प्रचार नहीं है, लेकिन उसका स्थान धार्मिक क्षेत्रमें पाली-ने लिया है, जो संस्कृत-वंशजा है। कंबुज या ख्मेर वर्णमाला दक्षिणी भारतके पल्लव और पूर्वी चालूक्य लिपिसे निकली है। अब भी कंबुज भाषामें संस्कृतके बहुतसे शब्द हैं, किन्तु कम्बोजियोंने उनके उच्चारण अपनी तरहसे कर लिये हैं—'ग' 'क' में बदल जाता है और 'त' 'द' में, इसी तरह प=त, प=ब, ब=प, ज=च, श=स, 'व=य। हमारा देवता साधारण ख्मेर में तेप्‌दा और साहित्य-ख्मेरमें तेवदा हो जाता है; पुरुष→बरोष→प्रोस; शासन→शास्ना→शात्स्; स्वर्ग→सुओर्ग्या→सुओर; वाक्→वेअचा→पेअक; विमान→फीमेअन।

ख्मेर (किरात) भाषा मोन्-ख्मेर-वंशसे सम्बन्ध रखती है। बर्माकी तलैंग भाषा मोन-भाषा है। खसिया (आसाम), मुण्डा (छोटा नागपुर) भाषायें भी मोन्-ख्मेर-वंशकी हैं। नेपालकी नेवारी और हिमाचल प्रदेशकी कनौरीका भी इस भाषासे सम्बन्ध है। ख्मेर-भाषा में बहुतसे पुराने शिलालेख हैं, जिनसे ६२९ ई०की भाषा तकके नमूने मिल सकते हैं।

(६) महायानसे हीनयान—

यदि कंबुजका बौद्धधर्म भारतकी तरह वज्रयान तक न पहुँचकर महायान तक ही रह जाता, तो सम्भव है वह चीन-जापानकी भांति वहां भी बना रहता। भारत या भारतसे बाहर जहांसे भी बौद्धधर्म लुप्त हुआ, वह वज्रयान तक पहुँचनेके बाद ही। जावा और सुमात्रापर भी यही बात लागू होती है। वहां नालन्दा और विक्रमशिला तकके तन्त्रनिष्णात आचार्य मन्त्र सीखने जाते थे। कम्बोजमें तन्त्र-यान जावासे पहुँचा था। पाशुपत मतका भी मन्त्र-तन्त्रसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिये भी कंबुजके दोनों धर्मोंका वज्रयानमें परिणत होना सहल हो गया।

वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें नेपालमें भी बौद्धधर्मकी हालत डावाँडोल हो चुकी थी, किन्तु पिछली दो दशाब्दियोंमें पाली बौद्धधर्मने वहां पहुँचकर सहारा दे दिया और अब भले दिनोंकी आशा है। कंबुजमें यदि पाली बौद्धधर्म न पहुँचा होता, तो उसकी भी वही हालत हुई रहती, जो कि जावा, सुमात्रा और मलायामें हुई।

स्यामके थाई कम्बुजके इस धार्मिक परिवर्तनमें सहायक हुए।

(७) कम्बुजपर स्यामकी विजय—

तेरहवीं सदीमें मंगोलोंके प्रहारसे जब पगान (बर्मा) राजवंशका पतन हो रहा था, उससे थोड़ा पहिले उत्तरी पहाड़ोंकी शान-जातिकी एक शाखा थाई अपने मूल-स्थानसे आगे बढ़ी। उनका एक भाग बर्मापर अधिकार जमानेमें सफल हुआ और दूसरा मेनाम-उपत्यकामें पहुँचा, जहां उनका कम्बुजों (ख्मेरों) के साथ संघर्ष हुआ। उन्होंने सुखोदयाको ख्मेरोंसे छीन लियां।

बहुत शताब्दियां हुईं, जब कंबुज गुटका रूपमें भारत था। उस समय उसका भारतसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। दुनियामें बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। भारत भी परतन्त्र हुआ। यद्यपि आज भी उस देशका नाम हिन्द-चीन है, किन्तु वे सारे सम्बन्ध कबके विस्मृत हो चुके हैं। आज भारत स्वतन्त्र है। हिन्द-चीन भी फ्रांसीसी साम्राज्यवादके जुयेको निकाल फेंकना चाहता है। यद्यपि रास्तेमें बहुत-सी कठिनाइयां डाली जा रही हैं, किन्तु चीन और हिन्दके स्वतन्त्र तथा सबल होनेके बाद हिन्द-चीन परतन्त्र नहीं रह सकता। आज दोनों देशोंका पुराना सम्बन्ध पुनः स्थापित करनेका समय आ गया है, जिसमें बौद्धधर्म और संस्कृतिका कम हाथ न होगा।

§७ः कंबुजके अभिलेख[१]

(१) (प्रथम) उदयादित्यवर्माका अभिलेख

येनैकेन वितन्वता तनुभृतामात्मान्तराण्यात्मना
भिन्नाजन्त ।ऽ।ऽ।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ ।
नानाकारविकाररूपमखिलान्न स्वीकृतन्तत्त्वत-
स्तं वन्दे हरिम् ऽ।ऽ।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ ।।१।।
येनारविन्दनिलयन्निजनाभिपद्मं
यो ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽऽ ।
व्याख्यायते निजा।ऽ। रमाधिपत्य-
न्नारायणम् ।।।ऽ।।ऽ।ऽऽ ।।२।।
यस्यात्मेन्दुनभो ।ऽ।। नलक्षितयम्बु तीक्ष्णांशुभि-
र्ग्राह्याभिस्तनुभिर् ।ऽ।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ ।
निर्मूर्तित्वमुदीरयन्ति मु ।ऽऽऽ वचो नास्पद-
न्निर्वाणाभ्युदयादिकारण ।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ ।।३।।

---

[१]Bulletin De l, Ecole Francaise D' Extreme-Orient Tome XI (1911), pp. 400-3

आसीदासिन्धुसन्धेस्स्फुरितशरकरोनिर्जित(।) रातिवर्गो
राजेन्द्रः कम्बुजेन्द्रान्वयगगण ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ. ।
श्रीमान्यस्त्रिद्विरन्ध्रैर्धरणीभृग्रद्रुदयादित्यवर्माग्यकर्मा
दोर्भ्यामुर्वीमसह्यामधिपति ।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ. ।। ४ ।।

वर्मान्तं युधि नाम विभ्रदजितश्श्रीराजपत्यादि यस्
सेनानिर्जयवर्मणो ऽवनिभृतां पत्युःसुपत्नी च या ।
मातुश्श्रेष्ठपुरेश्वरान्वयभुवो यस्याग्रजस्सो ऽनुजा
सा सोदर्यतयाभवद्वरयशस्त्यागादिभिस्सद्गुणैः ।। ५ ।।

योद्ग्रे युद्धसमुद्धताय रिपवे दिव्यं सदिव्याङ्गनं-
दाता लोकमिहोदयन्नतिक्रते योऽरण्यमाजेर्द्रुते ।
उद्धर्तुर्धरणीधरस्य धरणीमम्बोधिमग्नां पुरा
लीलां लिप्सुरिवोद्धार पतितान्तां विप्लवाब्धौ पुनः ।।६ ।।

कामं दग्ध्वा तदङ्गद्युतिनिखिलधनान्यात्मसात्कृत्य गात्रे
कीर्तिर्भूतार्धचन्द्रो रिपुजनभयकृत्कालकूटाग्र्यवीर्यः ।
गङ्गाम्भस्सुप्रसादो ऽयुगनयनभवद्वह्नितेजोनुजात :
शर्वोऽसावीश्वरो यस्सकलगुणनिधिस्साम्बुधि क्ष्मामरक्षत् ।। ७ ।।

तस्याग्रजो धृतासिर्युधि वैरिगणैरुदीरितोन्ताग्निः ।
गुणगणमणिनीरनिधिश्श्रीनरपतिवीरवर्मा य : ।। ८ ।।

प्रेङ्खद्खङ्गभृतानुजेन जयिना यस्तेन युद्धे युतो
दुर्धषो ऽरिगणैरिवामरपतिश्श्रीजानिना सारिणा ।
यत्कारुण्यसुवृष्टिहृष्टहृदयान्येतानि शुष्कान्यपि
प्रारूढानि पुनः फलन्ति च जगत्सस्यानि भान्ताऽऽयुगात् ।। ९ ।।

विद्याश्चतस्रश्चतुरस्य यस्य
रुचिप्रकर्षेण कृतप्रकर्षाः ।
विवृद्धमीयुर्जगतां समृद्ध्यै
पूर्णोडुपस्येव पयोधिमालाः ।। १० ।।

तस्मिन्धर्मनिधौ पयोधिरशनां क्षोणीं प्रदायानुजे
कान्तां निस्पृहधीर्युवापि स वशी वद्धासिधाराव्रतः ।
सद्भक्तिर्हरये हरिं कलिजिते हैमं स्वमूर्ति परां
प्रादादुत्सवयामिनं सुरचितं तं तारतार्क्ष्यस्थितम् ।। ११ ।।

(२) शकाब्द ८७४ (९५२ ई०) में राजेन्द्रवर्माका अभिलेख—[1]

त्रैगुण्याध्यशिखीन्दुभास्करकरप्रद्योतनोद्गीथजै-
रग्र्यैः पद्मजकञ्जटृक्त्रिनयनैरध्यासितैश्शक्ति [भिः] ।

---

[1] **वहीं**, Tome XXV (1925),pp. 311-31

संरोधस्थितिसंभवात्मरतये भिन्नस्त्रिधैकोऽपिद्ध्यै यस्
तस्मै नित्यचिते शिवाय विभवे राज्ञोऽर्थसिद्धयै नमः ॥१ ॥
रूपं यस्य नवेन्दुमण्डितशिखं त्रय्याः प्रतीतं परं
वीजं ब्रह्महरीश्वरोदयकरं भिन्नं कलाभिस्त्रिधा ।
साक्षादक्षरमामनन्ति मुनयो योगाधिगम्यं नमस्
संसिद्ध्यै प्रणवात्मने भगवते तस्मै शिवायास्तु वः ॥ २ ॥
एका प्राक्कलहंसविभ्रमगतिः कान्तोन्मदा या सती
भित्त्वाङ्गं गगनोद्गतात्मरतये या तानवत्वं पुनः ।
पद्मं मानससंभृतं निजरुचिप्रोज्जटम्भितं बिभ्रती
सा शक्तिश्शिवताङ्गतोदयकरी गौरी परा पातु वः ॥ ३ ॥
येनैतानि जगन्ति यज्वहुतभुग्भास्वन्नभः स्वन्नभः
क्षित्यम्भःक्षणदाकरैस्स्वतनुभिर्व्यातन्वतैवाष्टभिः ।
उच्चैः कारणशक्तिरप्रतिहता व्याख्यायते नक्षरं
जीयात्कारणकारणं स भगवानर्धेन्दुचूडामणिः ॥ ४ ॥
नारायणं नमत यो विभुतां वितन्वन्
लोकत्रयं त्रिपदलङ्घितमात्रमेव ।
दृष्ट्वा तुरीयपदमाप्तुमिवाधुनापि
निद्राच्छलेन विदधाति समाधिमब्धौ ॥ ५ ॥
अम्भोजभूर्जयति यो वदनैश्चतुर्भि-
रोङ्कारवारिदरवं सममुज्जगार ।
क्षेत्राहितं त्रिभुवनोदयपूरणार्थं
उत्सुक्ततामिव नयन्निजबीजमाद्यम् ॥ ६ ॥
मन्दाशुमण्डलविनिर्गतवारिधारा
मन्दाकिनी जयति धूर्जटिना धृता या ।
मूर्ध्ना नगेन्द्रतनयार्धशरीरसन्धेः
प्रेमानुबन्धमिव दर्शयितुं प्रकाशम् ॥ ७ ॥
आसीदानीरराशेरवनिपतिशिरोरत्नमालार्चिताङ्घिर्
बालादित्याभिधानोऽप्यरिकुलकमलोप्लेववाखण्डचन्द्रः ।
सोमाकौण्डिन्यवंशाम्बरतलतिलको भूपतिर्भूरिकीर्तिर्
दोर्दण्डोद्योतितानिन्दितपुरभरितां राज्यलक्ष्मीं वहन् यः ॥८ ॥
प्रोद्दृप्तद्विषतांदधद्युधि वधूवैधव्यदीक्षाविधिं
बध्नन् यश्शिशिरांशुरश्मिविशदां सत्कीर्तिमालां गुणैः ।
स्वर्गद्वारपुरे पुरन्दरपुरप्रस्पर्द्धि संबर्धने
सर्वश्शार्वमतिष्ठिपत्स्वविभवं लिङ्गं विधानान्वितम् ॥ ९ ॥
ब्रह्मक्षत्रपरम्परोदयकरी तद्भागिनेयी सती
पुण्यं नाम सरस्वतीति दधती ख्याता जगत्पावनी

नानाम्नायगिरां गभीरमधिकं पात्रं द्विजानां वरं
सिन्धूनामिव सिन्धुराजमगमद्या विश्वरूपं प्रियम् ॥ १० ॥
सोमाद्ये सारभूते निजकुलनिवहे भूरिधाम्नि व्यतीते
रुद्रोपेन्द्रामरेन्द्रप्रभृतिसुरवरैस्सङ्गते नन्दनार्थम् ।
तद्वंशक्षीरसिन्धोः प्रविकिरितयशः पारिजाताभिजाता
लेभे जन्मावदाता भुवनहितकरी या द्वितीयेव लक्ष्मीः ॥ ११ ॥
या नाम्नापि महेन्द्रदेव्यभिहिता भूभृत्सुतैर्वेश्वरी
देवी दिव्यविलासिनीभिरसकृत् संगीयमानस्तुतिः ।
भास्वद्वंश ।ऽ।ऽ। पुराधीशावनीशात्मजो
यां सम्प्राप्य महेन्द्रवर्मनृपतिः सार्थमिधादीशिताम् ॥ १२ ॥
लक्ष्मीं तीक्ष्णतरांशोरधिकमधरयन्ध्वस्तदोषान्धकारो
वन्धन्पद्मानुबन्धं प्रकटिततपसा तेन पत्या प्रजानाम् ।
देव्यां तस्या [मदि] त्यां दिवसकर इवोत्पादितः काश्यपेन
श्रीमद्राजेन्द्रवर्मावनिपतिरभवत्तेजसामाकरो यः ॥१३ ॥
दुग्धाम्बुराशेरिव पूर्णचन्द्रः
चंडाशुरत्नादिव चित्रभानुः ।
शुद्धान्वयाद्यो नितरां विशुद्धः
प्रादुर्बभूवाखिलभूपवन्द्यः ॥ १४ ॥
तेजःप्रकाशस्तमसो विनाशो
दिशां प्रसादः स्फुटता कलानाम् ।
यत्तिग्मतेजस्तुहिनांशुकृत्यं
येनोदये तन्निखिलं वितेने ॥ १५ ॥
रम्योऽपि सम्यक्प्रसवेन सौम्यः
सन्तानकस्सन्ततमुद्गतेन ।
महाफलं यं समवाप्य भूम्नः
रुरोह कोटिं रमणीयतायाः ॥ १६ ॥
विवर्धमानोन्वह [मि] द्धकान्ति-
र्वपुर्विशेषेण मनोहरेण ।
यः सर्वपक्षोदयमादधानस्-
तिरश्चकारैव हिमांशुलक्ष्मीम् ॥ १७ ॥
यश्शैशवेप्याशु तथा कलाभिः
पूर्णोऽन्वहं शब्दगुणेऽतिदीप्तः ।
यथा कलावत्त्वमपीन्दुलब्धं
जाड्यान्वितं दूरमधश्चकार ॥ १८ ॥
निरस्य दोषा [न् प्र] सरं स्फुरन्ती
प्रकाशितार्था भुवनेऽनुवाना ।

विद्यानवद्येन मुखेन यस्य
प्राक्संगतेनैव दिनस्य दीप्तिः ।। १९ ।।
आसद्य शक्तिं विबुधोपनीतां
माहेश्वरीं ज्ञानमयीममोघाम् ।
कुमारभावे विजितारिवर्गो
यो दीपयामास महेन्द्रलक्ष्मीम् ।। २० ।।
पृथुप्रतीतप्रथितैर्गुणौघैस्
सद्वंशजातं प्रथने प्रधानम् ।
धनुर्महत् क्षत्रकुलं च तुल्यं
यश्शिक्षया नामयतिस्म तुङ्गम् ।। २१ ।।
शिष्टोपदिष्टं प्रतिपद्य सद्यः
क्षेत्रं यमुत्कृष्टमकृष्टपच्यम् ।
श्रद्धाम्भसा सिक्तमरुक्षदुच्चैः
शास्त्रस्य शस्त्रस्य च वीजमग्र्यम् ।।२२।।
यस्सर्वतस्सर्वगुणान्पटिम्ना
रुचेस्सदाधारविशेषमुज्भन् ।
उपाददे लोकहिताय भास्वान्
रसानिव प्रत्यहमस्ततन्द्रिः ।।२३।।
उद्यानभागस्य वसन्तसम्प—
दिवामृतांशोरिव पौर्णमासी ।
आमुष्णती यस्य विशेषशोभा
समुज्जजृम्भे नवयौवनश्रीः ।।२४।।
यत्रापि पुंलोमहतः प्रकृत्यां
निरूपितं लक्षणमस्त्रशेषम् ।
केनाप्यसांख्यागमवद्विभाव्यं
प्रकाशयामास महेशभावम् ।।२५।।
बाल्यात्प्रवृद्धप्रभृतिप्रभूतं
यद्यस्य सौन्दर्यमनन्यलब्धम् ।
ध्रुवं विधातावयवीचकार
तद्रञ्जयन्यौवनकान्तिमृद्धाम् ।।२६।।
निरुन्धमानो सततं मनोभूर्
यस्य स्फुटे नूतनयौवनेऽपि ।
सौन्दर्यसंदर्शनजातलज्ज
इवान्तिकं नोपससर्प दर्पात् ।।२७।।
यस्याङ्गलावण्यमनन्यरूढं
दृष्ट्वा रतिः प्रेमनिमीलिताक्षी ।

मन्ये न मेने पतिमात्मनीनं
पिनाकिनेत्राग्निशिखावलीढम् ॥२८॥
धनुर्विकर्षप्रततोरुशक्तिर्
युवप्रवीरो युवराजलक्ष्मीम् ।
अयोनिजां यो जनकोपनीतां
सीतां सतीं राम इवोद्गुवाह ॥२९॥
यदार्कबिम्बादिव हेमकुम्भा—
दम्भोमृतेनागलताभिषेकः ।
ततः प्रभृत्येव विवृद्धिभाजा
भूतां हिमांशोरिव यस्य लक्ष्म्या ॥३०॥
स्नानाम्बुनिस्तीव्रममन्त्रबन्ध्यै—
तेजोऽनलो यस्य समेधतेस्म ।
तत्स्पर्धयेवाशुजलैः पतद्भिर्—
द्विषां समं शोकहुताशनोऽपि ॥३१॥
अलंकृतेनाकृतकैश्श्रुताद्यैर्
हृद्यैर्निजाङ्गैश्च निसर्गकान्तैः ।
अग्राम्यभूषोण चयेन येन
विभूषणं मंगल मित्युपात्तम् ॥३२॥
नवां नवां ध्यानमहाभिषेके
यो ऽभुक्तरत्ना भरणो बभार ।
पीताम्भसः कुम्भ भवेन लक्ष्मी—
मम्भोनिधेरुद्गतरलराशेः ॥३३॥
उच्चावचैरुच्चपदाधिरूढैर्
ग्रहैर्भियेव (ा) कृतविग्रहोऽपि ।
आरोपितो यस्स्वयमप्यकाङ्क्षस्
सिंहासने हाटकशैलतुङ्गे ॥३४॥
यस्याङ्गकान्तेः क्व तथानवद्यं
विद्येत मन्येऽप्युपमानमन्यत् ।
संक्रान्तमादर्शतलेऽपि बिम्ब—
मनर्हमाधारवशान्निजं यत् ॥३५॥
यत्राभिषेके पतताम्भसार्द्रा
वसुन्धरा वारिधिचारुकाञ्ची ।
ऊर्ध्वीचकारैक मिवातपत्रं
यशस्स्फुरञ्चन्द्रकलावदातम् ॥३६॥
स्वलक्षणैर्लक्षितसर्वसम्पत्
फलं समाख्याति पुरो विपाकम् ।

यस्याशिषो विप्रगणप्रयुक्ताः
कृतानुवादा इव संबभूवुः ॥३७॥
द्विरेफमाला इव पारिजातं
धियो मुनीनामिव चात्मयोगम् ।
व्यापारमन्यं जगतां विहाय
दृशोद्वितीयं प्रतिपेदिरे यम् ॥३८॥
इतस्ततो विद्युदिवाद्युतच्छ्रीस्
तावन्नृपाणां प्रचला प्रकृत्या ।
रम्या शरत्प्रादुरभून्न यावद्—
यदीययात्रासमयो निरभ्रा ॥३९॥
तीव्रास्त्रनीराजनराजितश्रीर्
दीप्तो महामण्डलदीक्षया यः ।
विद्याङ्गमन्त्रैश्च कृतात्मगुप्तै—
रसा [धय] त्सिद्धिमुदारभूतिम् ॥४०॥
यस्मिन्दिधत्यप्रचलत्पताकां
पताकिनीं दिग्विजयाय याति ।
द्विड्राजलक्ष्मीः प्रचचाल पूर्व—
मुर्वी तु पश्चाद् बलभारगुर्वी ॥४१॥
निशम्य सौमित्रिमिवाभियाने
ऽभिगर्जितं निर्जितमेघनादम् ।
तूर्यध्वनिं यस्य दशास्यतुल्यै—
दूराद् द्विषद्भिर्विभयांबभूवे ॥४२॥
प्रतापवह्नेरिव धूमजालं
बलोद्धुतं यस्य रजः प्रयाणे ।
अप्यस्पृशद्वैरिविलासिनीना—
मुदश्रयामास विलोचनानि ॥४३॥
क्ष्मां निपीड्य प्रथमं प्रवृत्तः
स्रोतांसि कालुष्यमथो रजोभिः ।
याने नयन् यस्य समुत्पपात
संघश्चमूनामिव बद्धरोषः ॥४४॥
कीर्णः क्वचिद्भञ्जितभूमिभृद्भि—
रन्वस्यमानः परवाहिनीभिः ।
क्वचिच्च यस्य प्रततः प्रयातुः
स्वर्वाहिनीमार्ग इवास मार्गः ॥४५॥
वियत् ।ऽऽ वरणं जनानां
चेष्टास्वशक्ति विहतं प्रकाशम् ।

यद्यत्प्रदोषस्तनुते तमोभिस्
तत्तच्चकारारिषुऽवलैर्यः ॥४६॥

वितत्य पक्षद्वयमात्तनादं
यस्मिन्प्रयात्ताक्ष्यें इव प्रपन्ने ।
द्विण्नागवृन्दं हृतवीर्यसम्पद्
गन्तव्यतामूढतयावतस्थे ॥४७॥

ऽऽ।ऽऽ॥ऽ।ऽऽ.।
ऽऽ।ऽऽ॥ऽ।ऽऽ.।
ऽ।ऽऽ॥ऽ।ऽऽ.।
ऽऽ।ऽऽ॥ऽ।ऽऽ.।४८॥

वाणासनं बिभ्रति यत्र युद्धे
शुद्धे शरत्काल इवाभिदृष्टे ।
इतस्ततो लीनतयाशु मोघा
मेघा इवासन् लघवो नरेन्द्राः ॥४९॥

....
...................।
....
...................॥५०॥

सत्याविमूढरय पतङ्गसाम्यं
समेत्य सानन्द इवारिवर्गः ।
यद्बाहुदण्डारणिजं ज्वलन्तं
तेजोऽनलं यद्विपदे ऽभिषेदे ॥५१॥

....
.... ।
....
ऽऽ।ऽ।णान् नभसि प्ररुद्धः ॥५२॥

निजासनं प्राप्य रिपून्निरस्य
रुद्ध्वा मरुद्वर्त्म मनोरयञ्च ।
विजित्य यस्याभ्यसतोऽवतस्थे
ऽप्यतन्द्र ऽऽ॥ऽ।ऽऽ. ॥५३॥

....
.... ।
....
वाणैः समं संयति संजहार ॥५४॥

शिलीमुखा मूर्धनि चापमुक्ता
झङ्काररम्या द्विषतां निपेतुः ।

स्वस्सुन्दरीहस्तलताविमुक्त-
मन्दारगन्धानुगतास्तु यस्य ॥५५॥

. . . .
. . . . ।
. . . . .तु बन्धं
चकर्त भूभृन्निवहोत्तमाङ्गम् ॥५६॥

शस्त्रव्रणास्रस्रुतिधारयाद्रौ
रुद्धोऽप्यरीन्द्रै र्युधि यो दिदीपे ।
छिद्‌छाययाच्छादित एव भानु-
र्बिभ्रत्तनुत्रं त्यजति स्वदीप्तिम् ॥५७॥

. . . .
. . . . ।
ऽऽ। (दु)र्वर्यविकीर्णकीर्तिर्
दशाननन्दुह्र्दमुन्निनाय ॥५८॥

न स्वीचिकीर्षुर्युधि चक्रिचक्रं
बज्रञ्च नो बज्रभृतोऽपि जिष्णुः ।
यश्शक्तियुक्तो नु महेश्वरास्त्रं
सुदुस्सहं प्राप्य जितारिवर्गः ॥५९॥

. . . .
. . . . ।
ऽऽ तन्त्वस्य विलासिनीना-
मभिद्यताराद्धृदयं स्वयञ्च ॥६०॥

यो मथ्यमानस्समरेऽरिवीर्
गाम्भीर्ययोगान्न जहौ प्रसादम् ।
ह्रदो हि कालुष्यमुपैति भोगात्
स्तम्बेरमैरम्बुनिधिर्न जातु ॥६१॥

. . . .
. . . . ।
विदिद्युते विद्युदिव स्फुरन्त्य-
जिह्मापि जिह्वेव भुजोरगस्य ॥६२॥

स्निग्धासिपातप्रतिघातहाने
मुष्टेर्लघुत्वात्स्मृतिविभ्रमाद्वा ।
पुनः प्रहारेण कृतेऽरिपाते
भुजापवादं बुभुज भृशं यः ॥६३॥

. . . .
. . . . ।

दिव्याङ्गनानामवतारणार्थं
सोपानसम्पत्तिमिवाकरोद्यः ॥६४॥

रन्ध्रे ऽभियोगं निजपक्षरक्षां
विभज्य यो दूषणसाधनाभ्याम् ।
हृतोत्तरप्राक्रममाततान
कुर्वन् पटुं निष्प्रतिभं विपक्षम् ॥६५॥

. . . .
।ऽ।ऽऽततया फलत्वम् ।
विधेर्विधेये विपरीतवृत्तेर्
वृत्तं कृती यो ऽनुचकार युद्धे ॥६६॥

सख्यानुनीतापि सदाभिमुख्ये
प्रागल्भ्यमिच्छत्यपि शत्रुसेना ।
पराङ्मुखी वीक्ष्य बभूव दूराद्
वधूर्नवोढेव समिद्गतो यम् ॥६७॥

. . . .
श्लिष्टे महाजौ विजयश्रियां च ।
नापार्थको विक्रमसंपदेति
यो युक्तमुक्तः खलु युवितर्विद्भिः ॥६८॥

दुर्गाभिसंपर्कविवर्णदेहो
गुहाननालोचनलोलदृष्टिः ।
यस्यारिसंघो मृगकृत्तिवासा
वने स्थितः स्थाणुसमोऽप्यनीशः ॥६९॥

. . . . .वरस्य
मनोरथो यस्य वृथा बभूव ।
नोर्वी यदुर्वीविजिगीषुतायां
वदान्यतायामपि नालमर्थी ॥७०॥

प्रेङ्खत्प्ररूढस्फुटविद्रुमौघो
हरेस्समाक्रान्तिनिमग्ननागः ।
अन्तर्वनैर्दुर्गतयानितुल्यो
यस्यारिदेशोऽपि जहाति लक्ष्मीम् ॥७१॥

. . . . ऽर्थसिद्धि-
मुद्योगयुक्तस्त्रिगणस्य वृद्ध्यै ।
दिशश्चतस्रो विदितप्रयामा
जग्राह विद्या इव बालभावे ॥७२॥

कृत्वावकाशं भुवने विभूता-
दस्पृष्टमन्यैर्गुणिनिर्महीयः । . . . . .

संव्यश्नुते शब्दगुणानुबन्धं
यशो यदीयं खमिवाकलङ्कम् ॥७३॥
.........क्षयकर्शिताङ्गं
प्राक्सुश्रुताचारविचारणाभिः ।
निश्शेषदोषक्षपणेऽतिदक्षो
यष्षड्साङ्गैर्धरणीं पुपोष ॥७४॥
तदेव तेजो विजितान्यतेजः
पूर्वं महन्मण्डलमेव तच्च ।
भृशं दिदीपे महदाधिपत्यं
यः प्राप्य भास्वानिव मध्यमह्नः ॥७५॥
[सिंहास]नाद्रीन्द्रमुदीर्णसिंहं
यत्राधिरूढे सति तीव्रधाम्नी ।
न तारकाः केवलमस्तभासो
पतन्नृपाणां मणिमौलयोऽपि ॥७६॥
एकत्र शुभ्रेऽपि शशाङ्कशोभे
समुद्धृते यस्य महातपत्रे ।
महीमशेषां प्रविहाय तापस्
समाससाद द्विषतां मनांसि ॥७७॥
[चि]राय यद्रूपनिरूपणेच्छाः
सञ्चोदिता नूनमशेषलोकाः ।
मत्रैरसङ्ख्यैरनिमेषभूयं
भूयोऽभ्यवाञ्छन्निजवाञ्छिताप्त्यै ॥७८॥
लक्ष्मीं दिदृक्षुस्सहजां सुहृत्सु
यथाक्रमं स क्रमयाञ्चकार ।
सदर्पणां यो मणिदर्पणेषु
च्छायामिव स्वां परिभुक्तभूषः ॥७९॥
यस्यातितेजिष्ठतया सनीति-
र्नितान्तमृज्वी न यथा वरेषाम् ।
मुक्त्वार्कचन्द्रौ न गतिर्ग्रहाणां
प्रतीपवक्रान्यतमस्य कस्य ॥८०॥
सन्मन्त्रमूलैश्चतुरश्चतुर्भिस्
सामादिभिर्यो विविधप्रयोगैः ।
अपाय संरोधिभिरभ्युपायैर्
वेदैश्च संसाधयति स्म सिद्धिम् ॥८१॥
सदापि मूलप्रकृतिः प्रतीतश्
चित्रं महत्कर्म च दर्शयन् यः ।

षाड्गुण्ययोगात्त्रिगुणं प्रधान-
मतुल्यमाचष्ट विनापि वाचा ॥८२॥

प्रायेण जिह्मोऽपि विधिर्विधेये
मन्त्रप्रभूत्साहविशेषशक्तिः ।
अपायदृष्टेः प्रतिकूलपक्षे
ऽनुकूलयामास भियेव यस्य ॥८३॥

त्रिवर्गसंसर्गसुहृद्भिरारा़द्
राष्ट्रं गुणौघैरवभर्त्स्यमानाः ।
दोषा रुषेवाशुविपक्षपक्ष-
मशिश्रियन्यस्य गुणाश्रयस्य ॥८४॥

निर्भिद्य सद्यः स्वमवद्यमुद्यन्
योऽन्यायिनोऽन्यान्विनिनाय युक्त्या ।
तमांस्यपि घ्नन् सकलं कलङ्क-
मुपेक्षते स्वं क्षणदाकरो हि ॥८५॥

सुशासनादव्यसनाच्च यस्य
प्रजासु जाता न विपत्तिशङ्का ।
अजातशत्रोरपि राजपुत्री
दुश्शासनात्प्राप परां पुरार्तिम् ॥८६॥

छिद्रप्रतीक्षा प्रशमात्तशीलास्
सुदुर्धराः खण्डितधार्मभिश्च ।
यं पार्थिवं पात्रमवाप्य लक्ष्म्यास्
स्थेष्ठा इवापस्सुविदग्धमासन् ॥८७॥

यशश्शक्तिसिंहीं परितश्चरन्तीं
विद्राव्य हिंस्रामरिवर्गमार्गे ।
वृषेण योगादुदितप्रजां तां
पुपोष लक्ष्मीं महिषीमवाप्य ॥८८॥

अजीगणत्सूरिगणोऽतिराज्ञां
सहस्रदोषं धुरि कार्तवीर्यम् ।
यदा तदा सर्वगुणैरनूनं
नूनं कथा का पुनरेव यस्मिन् ॥८९॥

दिवः पृथिव्योरपि गीयमानां
जिष्णोर्यशोऽप्यर्जितवीर्यसम्पत् ।
कर्णासुखं श्रोत्रसुखस्य शङ्के
यस्योपमार्हं यशसो न जातम् ॥९०॥

आक्रान्तदिग्व्योम्नि पयोमुचीव
प्रगर्जिते यस्य यशस्यनात्तम् ।

न केवलं रत्नमुपानयन्द्राक्
प्रादाद् गजाद्यञ्च विदूरभूमिः ॥९१॥
लक्षाध्वरोत्थैः स्थगयद्भिराशा
धूमैर्निरुद्ध्वार्ककराकरैर्यैः ।
दिवञ्च शातक्रतवीञ्च कीर्तिं
मलीमसत्त्वं युगपन्निनाय ॥९२॥
यद्धूमसंदर्शनतोऽनुमान-
मग्ने तदेवाव्यभिचारमुक्तम् ।
नवन्तु तद्यन्मखधूमदृष्टौ
वृष्टेर्वसूनामनुमानमेव ॥९३॥
स्वयं प्रपन्नाभिरयाचमानं
पूर्णं सुसम्पद्भिरिवाद्भिरब्धिम् ।
रिक्तोऽपि यं प्राप्य यथेष्टपूर्णः
पुनर्ववर्षाभ्र इवार्थिसार्थः ॥९४॥
चक्षुर्मनोहार्यपि दर्शयच्च
कराग्रशोभामपि सद्रसार्द्रम् ।
यस्यैन्दुबिम्बं शुभरङ्गवृत्ते-
र्नेत्तोपमार्हं न कुरङ्गदुष्टम् ॥९५॥
छायाश्रितोऽप्यन्यनृपो विजेतुं
दृप्तद्विषोऽलं किमुत स्वयं यः ।
आस्तां रविस्सङ्क्रमितोरुतेजा-
श्चन्द्रो न किं सन्तमसान्युदस्येत् ॥९६॥
सन्दर्शयामास तथान्यभूषा
न भूरिशोभां मणिदर्पणाञ्च ।
राज्ञां यथाज्ञानिजकर्णपूरी-
कृत्वा यदीया नखदर्पणश्रीः ॥९७॥
अन्योऽपि सन् केनचिदेऽतुल्यो
गुणेन नो यन्महिमानमाप ।
नृत्तव्रतो याति हि नीलकण्ठो
न तावतैवेश्वरतां मयूरः ॥९८॥
सदागतिः स्नेहकरी विभुत्वं
बिभर्त्यदभ्रं दधती प्रकाशम् ।
पृथ्वीमदीया रचनां जवत्सु
धत्ते महाभूतमयीव कीर्त्तिः ॥९९॥
वदान्यता-शौर्य-वपुर्विलास-
गाम्भीर्यमाधुर्यदयादयो ये ।

तेषामिवैको निलयः प्रयत्न-
धियाधिको यो विदधे विधात्रा ॥१००॥
प्रतीतवीर्यो भुवि कार्तवीर्यो
वीर्यं यदीयं द्विभुजोर्जितं प्राक् ।
वीक्षेत चेदात्मभराय जन्ये
मन्येत मन्ये स्वसहस्रहस्तान् ॥१०१॥
दूरात्प्रतप्तैर्द्विषतां विजेतु-
र्यस्य स्वयुद्धं नितरां दुरापम् ।
गन्धद्विपस्येव मदोत्कटस्य
वित्रासितान्यद्विरदस्य गन्धैः ॥१०२॥
विहाय सङ्गं परदेवतासु
श्रद्धा च भक्तिश्च परा यदीया ।
श्रीकण्ठमुत्कण्ठितया प्रपन्ने
गङ्गाभवान्याविव देवदेवम् ॥१०३॥
सौन्दर्यसर्गं............विधाता--˘-˘- ।
जातरूपमयस्तम्भं यमेकं भुव--˘-- ॥१०४॥
इत्थंकृतो मया कामो दग्ध [:] किल पिनाकिना ।
इतीवेश्वरतां नीतो विधात्रा यो ऽतिसुन्दरः ॥१०५॥
..........विद्या............. ।
.........[च] तुरास्य प्रजा [(पति] म् ॥१०६॥
लक्ष्मीं वक्षस्थले क्षिप्त्वा कीर्तिं पारे पयोनिधेः ।
विद्यया कामतो रेमे वृद्धयैव युवापि यः ॥१०७॥
जुगोप गां वसिष्ठस्य दिलीपः प्रावप्रजेच्छया ।
लब्ध्वा प्रजाः स्ववीर्येण भार्गवीयास्त....म् ॥१०८॥
भुवनापलापनोद्वेले यत्कीर्तिक्षीरसागरे ।
छायाव्याजेन भूर्भीत्या नूनमिन्दुमुपाश्रिता ॥१०९॥
सहस्रभोगभरितो व.....भवोऽपि यः ।
अनन्तगुणयुक्तोऽपि विनतार्तिहितो भृशम् ॥११०॥
उर्वीमवृण्वताम्भोधिमेखलाभोगमण्डिताम् ।
एकच्छत्रेण महता मेरुर्येन वृथा कृतः ॥१११॥
कलिकंटकसंपर्कादास्खलन्त्यादहानितः ।
धर्मः कृतर्थतारस्तु (?) यं समागम्य सुस्थितः ॥११२॥
यस्य वीर्यानिलोद्धूतो धामधूमध्वजो युधि ।
द्विड्वधूनां विधूमोऽपि वाष्पधारमवर्धयत् ॥११३॥
अचिरभानिभारिश्रीस्स्थेयस्या..चमाश्रिता ।
गुणानुबन्धबद्धापि कीर्ति..प्रदिग्द्रुता ॥११४॥

रूढः श्रीनन्दने यस्य रणे रक्तासिपल्लवः।
बाहुकल्पद्रुमो दिक्षु यशः पुष्पमवाकिरत् ॥११५॥
यद्याने दृप्तदन्तीन्द्रदन्तनिर्घातताडिता।
रुषेवोर्वी महःरवान्ब्रजसातन्द्रमावृणोत् ॥११६॥
समिद्धे कृपाणाग्नौ मन्त्रसाधनबृंहितः ।
कृत्वारिवक्त्रपद्मानि यस्संराज्यमजीजनत् ॥११७॥
दृढोऽप्यधृष्यसत्त्वोऽपि तुङ्गोऽप्युन्मूलिते — ।
मथनेऽनन्तवीर्येण यो न भूभृत्कुलोद्गतः ॥११८॥
तृषितेव द्विषां लक्ष्मीः प्लुष्टा तेजोऽग्निना भृशम् ।
यस्य पुष्करजां धारां प्राप्य चिक्षेप न क्षणम् ॥११९॥
पादाम्बुजरजो यस्य चरितानुकृतेरिव ।
......भूभृद्वराङ्गेषु पदं दत्वा श्रियं दधौ ॥१२०॥
निद्राविद्राण दृक्स्त्रीवज्जठरेणावहत्प्रजाः।
हरिर्यस्तु हृद्वैवैशस्सुबोधस्फुटपौरुषः ॥१२१॥
दृप्तारीन्द्रं विजित्याजौ योऽनुजग्राह तत्कुलम् ॥
.............भिन्नेभेन्द्रो मृगाधिपः ॥१२२॥
निस्त्रिंशबल्लभां वद्ध्वा गुणयुक्तस्तु मार्गणैः ।
ऋजुभिर्यो विजित्यारीन्भेजेऽर्थान्सद्गुणैरिव ॥१२३॥
निपीतं नीलकण्ठेन कण्ठालंकृतये विषम् ।
विबुधानां....र्थन्तु ...ेद्वान्तं वचोमृतम् ॥१२४॥
सान्द्रैर्यस्याध्वरे धूमैरूर्ध्वगैरुद्धदृष्टिभिः ।
ब्रघ्नोऽधुनापि दिग्भ्रान्तैस्स्वधुर्यैर्भ्राम्यते ध्रुवम् ॥१२५॥
स....यद्धाम...यो द्विट्समिद्भिस्समिन्मखे।
[अ]क्षीणां दक्षि[णां] कीर्तिं दिग्द्विजेभ्यस्समादिशत् ॥१२६॥
द्विषतां न्यस्तशस्त्राणां प्रणामशिथिलीकृतं।
चापस्यैव गुणे यस्य विरतिर्न तु धन्विनाम् ॥१२७॥
सुवृत्तोऽपि सुहृद्धृद्यो भुजो यस्य महीभुजः ।
दुर्हृदामसुहृ[दाञ्च] प्रतीतस्सर्वदा रणे ॥१२८॥
एकद्रव्याश्रितं भावं ज्ञात्वा द्विड्जातिभावितम् ।
कार्मुकेषूचितं कर्म सविशेषं व्यधत्त यः ॥१२९॥
शूलिनाध्यासितां भक्तिगम्भीरां यस्य हृद्गुहाम् ।
तन्नेत्रोनलभीत्येव विविशुर्नान्यदेवता ॥१३०॥
रामाणां हृदयारामे तिष्ठन्तं कामतस्करम् ।
प्रजिहीर्षुरिवाभ्रान्तो यो विवेश मुहुर्मुहुः ॥१३१॥
योगोद्यतोऽपि यश्शान्तौ नाम्नैव द्विड्भयङ्करः।
दूराद्धि राजसिंहस्य गन्धं घ्रात्वा द्विपा द्रुताः ॥१३२॥

मन्त्रवीर्यप्रयोगाढ्यं प्राप्यानन्यवरेव यम् ।
कृतार्था कामदा पृथ्वी करजामर्दमार्दवात् ॥१३३॥
युक्तिरेतावता त्यक्ता कान्तिरन्तेऽपि दर्शिते ।
यज्जगच्चित्तसर्वस्वमाहृतं येन सर्वदा ॥१३४॥
न्यस्तशास्त्रो वने सुप्तो हरिर्योगपरोऽप्यजः ।
कान्तार्धशवरो रुद्रो यं जिगीषुं स्मरन्निव ॥१३५॥
स्फुटासीन्दीवरस्रस्तरक्तमध्वासवेच्छया
द्विट् श्रीभृङ्गीव बभ्राम यस्य दोर्म्राद (?) सन्निधौ ॥१३६॥
नक्षत्रकुलसम्पन्नं भूतानामवकाशकृत् ।
व्योमेवारिपुरं यस्य शब्दमात्रेण लक्षितम् ॥१३७॥
शरकर्माकुलो यस्य वाहिनीदुर्गसंगतः ।
वने खड्गसहायोऽरिस्संयत्संस्थ इव द्रुतः ॥१३८॥
वैरिणो ध्याननिरता वीतरागा गुहाशयाः ।
यस्येशस्याङ्घ्रियोगेन विना नालं विमुक्तये ॥१३९॥
काहं भर्ता परित्यक्ता श्वापदैस्स्थातुमुत्सहे ।
इतीवारिपुरी यस्य प्राविशद्दावपावकम् ॥१४०॥
यस्य स्तववतो वीर्यं रणे दृष्ट्वा द्विषद्गण ।
स्तवेप्सयेव सिंहादियुक्तमन्ववसद्वनम् ॥१४१॥
मदोन्मत्तोऽपि तुङ्गोऽपि नियोज्यो धर्मसाधन ।
इतीभेन्द्रगणो येन द्विजेभ्योऽदायि भूरिशः ॥१४२॥
विभक्तिप्रकृतीनां यस्सप्तधा विदधात्पदे ।
तद्धितार्थपरश्चासीदागमाख्यातकृत्यवित् ॥१४३॥
प्रतापानलसन्तप्ता शङ्के दाहाभिशङ्कया ।
आप्लाविताखिलद्धात्री येन दानाम्बुवृष्टिभिः ॥१४४॥
सुमनोहारिणी यस्य गुणैर्बद्धा विकासिनी ।
लोकत्रयश्रियाद्यापि कीर्तिमाला धृताधिकम् ॥१४५॥
यस्य सागरगम्भीरपरिखा भस्मसात्कृता ।
चम्पाधिराजनगरी वीरैराज्ञानुकारिभिः ॥१४६॥
विवर्णौ चरणौ यस्य नृपमौलिमणित्विषा ।
सर्ववर्णानुरक्ता तु निर्मलोर्वी भुजोद्धृता ॥१४७॥
कलिरेकान्तवामोऽपि दक्षिणो यस्य शासने ।
द्रुतारीननुदुद्राव तेजोऽनलभयादिव ॥१४७॥
तथा नीरनिधेर्येन क्षोणी निष्कण्टकीकृता ।
नाद्यापि स्खलिता कीर्तिर्यथैका सर्वतो गता ॥१४९॥
गुणेषु मुख्यया वृत्या गौण्या द्रव्येष्ववर्तत ।
गणनापि मतं यस्य काश्यपीयमनुज्झतः ॥१५०॥

यथाकामं द्विषत्कामः क्व निलिल्ये नु निर्भयम् ।
यद्यस्य याने धूलिभिस्सान्धकारीकृता दिशः ॥१५१॥
प्राध्वंकृता सदा प्रेम्णा विदग्धप्रियमुत्सुका ।
न निरास्थत यं जातु राजविद्या कुलाङ्गना ॥१५२॥
साक्षात्प्रज्ञापतिर्दक्षो दक्षिणक्षणमक्षिणोत् ।
सकलं सकलङ्कं यः कलिदोषाकरं कृती ॥१५३॥
[स] दा कृते मखशते यस्ततैर्धूमनीरदैः ।
शरद्यपि नभश्चक्रे प्रावृषीव मलीमसम् ॥१५४॥
परस्त्रीविमुखो योऽपि सदाचारविचक्षणः ।
केनाप्याजौ परश्रीणां पाणिग्रहविधिं व्यधात् ॥१५५॥
यस्येनस्यान्यतेजांसि तेजसा जयतोद्यते ।
नूनमौर्वानिलोद्यापि लीनो स्पर्धितयाम्बुधौ ॥१५६॥
बद्धा विधात्राहीन्द्रेण रिक्ता नूनमियं धरा ।
येन स्वकीर्तिरत्नेन पूरयित्वा वृषाङ्किता ॥१५७॥
भिन्नेभकुम्भनिर्मुक्ता मुक्ता येन रणाङ्गणे ।
रेजिरे विधवारिश्रीवाष्पाणामिव विन्दवः ॥१५८॥
कीर्तिनादाम्बुदध्वान................।
.......न्त्रिभुवनक्षेत्रे धर्मबीजमवर्धयन् ॥१५९॥
सिंहेन नोपमानार्हो यस्य शौर्येण संयुगे ।
तथा हि यद्भियारातिरध्यशेत गुहां हरेः ॥१६०॥
वानीराजीवराजांश................।
.......[स]रोजानि निर्यन्ति मुखमण्डलात् ॥१६१॥
...............तेजोऽनलसंगता ।
कलिं न्यक्कुर्वती यस्य राज्यश्रीर्दमयन्त्यभूत् ॥१६२॥
यशो विस्तारसंक्षिप्ता क्षितिर्यस्य ˘–˘– ।
.... ॥१६३॥
.................यमेकमतितेजसम् ।
नूनमुल्लेखितस्त्वष्ट्रा भ्रममारोप्य भास्करः ॥१६४॥
योग्यं वरं यमासाद्य मर्त्यलोके ˘—˘ ।
.... ॥१६५॥
[तार] यित्री तितीर्षूणां गम्भीरापन्महानदीम् ।
वेदव्यासं न सुषुवे यस्य वाक्सत्यवत्यपि ॥१६६॥
ऋजवो गुणसंपर्कादापदां प्रतिघा[तकाः] ।
.... ॥१६७॥
जीर्णाहीन्द्रेण विधृता साचलेयं चलेदिति ।
यूनि नूनं व्यधाद्वेधा यत्राहीने वसुन्धराम् ॥१६८॥

विभूतिर्भूतपूर्वापि राज्ञां च गुणसंहतिः ।
.... ॥१६९॥
संभृता क्ष्माभृतां लक्ष्मीराबाल्यात्कन्यका इव ।
यथाकालमुपायैर्यो निरूपायैरुपायत ॥१७०॥
शब्दशास्त्रेऽप्यधीती यो विना द्विर्वचनं गुरोः ।
.... ॥१७१॥
यस्योपमानं सञ्जातं न किञ्चिद् गुणविस्तरैः ।
बुद्ध्वा बौद्धं मतं मेनेऽन्यतीर्थैरपि नान्यथा ॥१७२॥
कालदोषाम्बुधौ मग्ना दुर्गे गंभीरभीषणे ।
.... ॥१७३॥
शुभं शुभंयुनः यूनामनुवर्त्यानुवर्तिना ।
रसायनं विना भावी येन वर्षीयसाजरम् ॥१७४॥
विष्वग्विकीर्णैर्युगपद्यस्य तेजोनिरुज्ज्वलैः ।
.... ॥१७५॥
राज्ञां कृत्यमिति ज्ञात्वा यस्य दुर्गसमाश्रयः ।
न दानवभयादब्धिमधिशेते रिपुर्मधोः ॥१७६॥
अपि कामादयो दोषास्स्थाने येन नियोजिताः ।
.... ॥१७७॥
मनीषीभिर्मनोहृत्य पिवद्भिश्चरितामृतम् ।
अतिपानादिवोद्गीर्णं यस्य काव्यैर्निजैस्सह ॥१७८॥
दोषान्धकारबहुलं जगज्जातं यथा यथा ।
यस्य.......................... ॥१७९॥
धर्मेण संस्तुतानां यो निषिध्यजगतामपि ।
विनाशहेतुं नातस्थे क्षणभङ्गप्रसङ्गिताम् ॥१८०॥
अनेककर्तुरप्युच्चैः पदो गोपतिरप्यगात् ।
अक्रोधनस्य.......................... ॥१८१॥
भृगुमात्रमपि प्राप्य वह्नेः प्रतिहतं पुरा ।
तेजस्त्वधाक्षीद्यस्यापि महान्तं वाहिनीपतिम् ॥१८२॥
वदान्यस्स्वश्रियं चक्रे सुहृत्साधारणीं हरिम् ।
वक्षोनिक्षिप्तलक्ष्मी.......................... ॥१८३॥
तर्षो हर्षेण संप्राप्य व्यनीयत वनीपकैः ।
यं महान्तं ह्रदमिव प्रसन्नं स्फुटपुष्करम् ॥१८४॥
असूर्यंपश्यमसुहृत्स्त्रीवक्त्रकुमुदाकरम् ।
उच्चैस्सङ्कोचयामास.......................... ॥१८५॥
पतच्छिली मुखच्छायाच्छन्नद्विड्वदनाम्बुजे ।
रराज राजसिंहो यश्चरन् रणमहाह्रदे ॥१८६॥

संमुखीनो रणमुखे यस्य नासीदसीदतः ।
प्रेङ्खत्स्वखड्गसङ्क्रान्तमप्र. . . . . ॥१८७॥
धनुरुद्दर्शनमात्रेण तीर्थध्वांक्षा द्विषो द्रुताः ।
कामं पुरो न यस्याजौ भुजङ्गारिरपि स्थितः ॥१८८॥
सालकाननरम्यां यः स्फुटपुष्पशिलीमुखाम् ।
द्रुतेभ्यः पटवीं द्विड्भ्यो योद्धृभ्यो. . . . . ॥१८९॥
प्रोल्लसत्कीचकशता कङ्कादिभिरुपाश्रिता ।
शून्याप्यरिपुरी येन विराटनगरी कृता ॥१९०॥
केवलं राजनागानां वीर्यं मन्त्र इवाहरत् ।
यो नाद्यूनतया प्राणान्क्षिपन्ताक्ष्यं इव – ॥१९१॥
दृष्ट्वा यस्याध्वरं शक्रयशो विभ्रंशशंकया ।
धूमस्पर्शच्छलान्नूनमुदश्रुनयना शची ॥१९२॥
रुद्धान्यतेजसो यस्य पादच्छायामशिश्रियन् ।
मेरोरिवेलापतयरिसतच्छत्रत्यजोऽनिशम् ॥१९३॥
सृष्टौ चन्द्रार्कयोर्धाता नादरादिव भिन्नयोः ।
यमेकेन्तपनाह्लादसमर्थमसमं व्यधात् ॥१९४॥
उपान्तसेवां वाञ्छन्त्यो यत्पादन्तीव्रतेजसम् ।
मौलिरत्नप्रभाम्बोभिरसिञ्चन् भूपपङ्क्तयः ॥१९५॥
नवं प्रियमहोलोके यद्विहाय धनुस्स्मरः ।
उन्ममाथाङ्गनाचित्तं यत्कान्त्यानुपमानया ॥१९६॥
स्फुटाष्टदिक्प्रान्तदले हेमशैलोरुकर्णिके ।
यशो गन्धायते यस्य भुवनैकसरोरुहे ॥१९७॥
उद्वान्तरागाः स्फुरिता यस्याङ्घ्रिनखरश्मयः ।
अस्पर्धन्त नतोर्वीन्द्रमौलिरत्नमरीचिभिः ॥१९८॥
अन्वरुध्यत यस्याज्ञां फलप्रसवसम्पदे ।
आजन्मबन्ध्यश्चूटो(?)ऽपि वसिष्ठस्य दिलीपवत् ॥१९९॥
सहस्रमुखसंकीर्त्यं गम्भीरं गुणविस्तरम् ।
यस्य भाष्यमिवप्राप्य व्याख्याखिन्नापि धीमताम् ॥२००॥
श्रीमत्सिद्धेश्वरं लिङ्गं सिद्धे शिवपुरे गिरौ ।
वर्धयामास यो भोगैरपूर्वैः शिविकादिभिः ॥२०१॥
तत्रापि लिङ्गं शर्वस्य शर्वाणीप्रतिमे शुभे ।
यस्सम्यक्स्थापयामास पितृणां धर्मवृद्धये ॥२०२॥
यदुपक्रममासेव श्रीभद्रेश्वरशूलिनः ।
भोगोऽन्यत्रापि देवान्यः पूजाभिरुदमीमिलत् ॥२०३॥
विविद्धिं धर्मसिन्धूनां श्रीन्द्रवर्मादिभूभृताम् ।
स्वमण्डलस्य च समं यश्चक्रे नृपचन्द्रमाः ॥२०४॥

यशोधरतटाकस्य दक्षिणेनापि दक्षिणः ।
यश्शौरिगौरीशनिमाः(?) शम्भोर्लिङ्गमतिष्ठिपत् ॥२०५॥
स सोमवंशाम्बरभास्करश्श्री-
राजेन्द्रवर्मा तदिदं नृपेन्द्रः ।
स्वर्गापवर्गाधिगमस्य लिङ्गं
लिङ्गं प्रतिष्ठापितवान्स्मरारेः ॥२०६॥
सम्प्राप्तयोः प्राप्तयशास्स्वपित्रोर्
भुवः पतिः सोऽपि भवोद्भवेन ।
संस्थानतां स्थापितवान्स्थितिज्ञो
निमे (?) इमे द्वे शिवयोश्शिवाय ॥२०७॥
महाभजस्सोऽपि चतुर्भुजस्य
निमामिमामंबुजजन्मनश्च ।
अतिष्ठिपन्निष्ठितराजकृत्यो
लिङ्गान्यथाष्टावपि चाष्टमूर्तेः ॥२०८॥
रत्नोल्लसद्भोगसहस्रदीप्तं
स चाप्यहीनं द्रविणस्य राशिम् ।
अशेषमप्येष्वदितेव शेषं
देवेषु देवेन्द्रसमानवीर्यः ॥२०९॥
स कल्पयामास महेन्द्रकल्पस्
सदा सदाचारविधिं विधेयम् ।
शैवश्रुतिस्मृत्युदितां सपर्यां
पर्याप्तमासामिह देवतानाम् ॥२१०॥
स चापि वाचस्पतिधीस्सुधीरं
धर्मानुगं धर्मभृतां पुरोगः
तान्भाविनो भावितराजधर्मा-
निदं वचोऽवोचत कम्बुजेन्द्रान् ॥२११॥
रक्ष्यस्य संरक्षणम्...(य)त्
स क्षत्रधर्मो विदितो यदा वः ।
पुण्यन्तदेतत्परिरक्षतेति
विज्ञापना साधयतीव सिद्धम् ॥२१२॥
धर्मो युगेऽस्मिन् स्थिरमेकपात्स
कथं समस्थस्यत सुस्थितोयम् ।
भवादृशां शास्त्रदृशां स नो चेन्
महाभुजस्तम्भमुपाश्रयिष्यत् ॥२१३॥
धर्मापदस्साधु......कापि
लज्जेत कर्ता किमुत स्वयं च ।

रक्षाधिकारी नृपतिर्विशेषा-
दिति प्रतीतं भवतामिदन्तत् ॥२१४॥
सन्तो यशो धर्मधना न बाह्यं
धनं धनायेयुरिहात्मनोऽपि ।
प्रागेव देवादिधनं सतां वो
विनिश्चयो यन्नु बद्धमूलः ॥२१५॥
तथापि भूय ˘ ˘ यामि युष्मां-
स्तदक्षतं रक्षत पुण्यमेतत् ।
मा हार्ष्ट देवस्वमिति प्रकाशं
न धर्महेतोः पुनरुक्तदोषः ॥२१६॥
अभ्यर्थितोऽसूनपि सम्प्रयच्छेत्
महान्महिम्ना किमुत स्वकृत्यम् ।
अतश्च विस्रम्भबलप्रगल्भा
वाक्प्रार्थनाभङ्गभयोज्झितैषा ॥२१७॥

शकाब्दे गण्यमान्ये कृतनगवसुभिर्माधमासस्य पुण्ये (८७४ शाके)
शुक्लस्यैकादशाह निमिषमपि भवे याति वर्षार्धमिन्दौ ।
अर्चाभिश्शौरिगौरीगिरिशकजभवां सार्धमर्धेन्दुमौलेश्
श्रीराजेन्द्रेश्वराख्यं स्थितिमकृत परां लिङ्गमत्रेदमाभिः ॥२१८॥

स्रोत ग्रंथ

1. Chatterji B. R.: "Indian Cultural Influence in Combodia", Calcutta, 1928.
2. Law. B. C.: "Buddhist Studies", Calcutta, 1931.
३. सांकृत्यायन राहुलः विनयपिटक (अनुवाद) महाबोधिसभा, १९३५.

अध्याय ३

थाई भूमि (स्याम)

§१. गंधार (थाई)

थाई लोगोंका मूलस्थान युन्-नन् (चीन) था। उस समय उनका भारतके साथ घनिष्ट संबंध था। सेचुआन और यून्नके रास्ते आसाम होती चीनकी पण्यवस्तुयें—विशेषकर रेशमी वस्त्र—ईसापूर्व दूसरी शताब्दीमें भी भारत आया करती थीं। ईसापूर्व दूसरी शताब्दीमें चीनी यात्री चङ-क्याङने वाह्लीक (बलख) और तुषारमें भारतसे आये चीनी रेशमको देखा था। इसी रास्ते भारतीयोंने चीनके पथपर चिन्दवीन, इरावदी, सालविन, मेकाङ्, लालनदीके तटपर अपने उपनिवेश बसाये थे और इस प्रदेशको उन्होंने गन्धारका नाम दिया था, जो तेरहवीं सदी तक प्रचलित था। इन उपत्यकाओंमें कई राज्य थे। मनीपुर और आसामके बाद ता-चिनका हिन्दू राज्य था, जिससे पचहत्तर कोस और पूरब चिन्दविन नदीके पार दूसरा हिन्दू राज्य था। आजकलके चीनी प्रान्त युन्-नन्में नन्चाऊ या तलीका राज्य था। स्थानीय परंपराके अनुसार इसे अशोक राजाके पुत्रने बसाया था,—यहीं थाई लोगोंका राज्य था।

चीनके इतिहासके आरंभसे ही युन्नके थाइयोंका उनके साथ संघर्ष था। थाई बराबर अपनी स्वतंत्रताके लिए लड़ते रहे। वह अपने गन्धार और उसकी राजधानी ताली, अपने विदेह और उसकी राजधानी मिथिलाके लिए गर्व करते थे। उनके पास भारतीय वर्णमालाके अक्षर थे। आठवीं शताब्दीके अन्तमें थाई राजाको चीनी वेश-भूषा, रंग-ढंगसे बहुत प्रभावित हुआ देखकर सात भारतीय शिक्षकोंने उसे बहुत फटकारा।

नवीं शताब्दीके आरंभमें मगध-निवासी भिक्षु चन्द्रगुप्तका वहाँ बहुत प्रभाव था। उस समय तलीके राजाको "महाराजा" कहा जाता था। इरावदी और सालविनके बीचके एक थाई राज्यका नाम कौशांबी था। उत्तरसे दक्षिण युन्-नन्से स्याम तकके कुछ राज्योंके नाम थे—आलविराज्य, ख्मेरराष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गशिला, योनकराष्ट्र, हरिपुंजय।

चीनी यात्री ई-चिङके अनुसार थाई लोगोंके इस पुराने देशके भीतरसे बीस चीनी तीर्थ-यात्री ईसाकी पहिली, दूसरी, तीसरी शताब्दियोंमें भारत गये थे। चीन-सम्राट्ने ९६४ ई०में इसी रास्तेसे अपने तीन सौ धर्मदूतोंको बौद्धधर्म-ग्रंथोंकी खोजके लिए भेजा था। राज्य-विस्तारके साथ चीनका थाइयोंसे संबंध हुआ, इसीलिए हमें चीनी लेखोंसे उस कालके थाइयोंका पता मिलता है। गन्धारके हिन्दी थाई बड़े स्वतंत्र और स्वाभिमानी थे। पहिले वह शान्ति और सुलहसे रहना चाहते थे। ७५० ई०में कोलोफेङ (चीनीमें लिखा नाम) गद्दीपर बैठा। उसने ताली नगरको अपनी राजधानी बनाया। चीन-दरबारमें जानेपर उसे असम्मानित होना पड़ा। वह बड़े अमरखके साथ देश लौटा और फिर उसने चीनपर चढ़ाई करके बतीस नगरों एवं गाँवों

पर अधिकार कर, चीनी सेनाको तीन बार हराया। उस समय तिब्बतमें शक्तिशाली स्रोङ्चन-वंशका राज्य था। स्रोङ्चनके प्रपौत्र ख्रि-ल्दे-ग्चुग-ब्र्तनके साथ मेल करके उसने ७५४ ई०में चीनी सेनाको फिर करारी हार दी। उसके पोते इमोशुन्ने ७७० ई०में दादाका स्थान लिया और भोटके साथ मिलकर चीनपर फिर आक्रमण किया, किन्तु असफल रह कर चीनके साथ सुलह की। उसने भोटके प्रभावसे मुक्त होनेके लिए अपने राज्यमें आये भोटियोंको मारकर तिब्बत-पर आक्रमण किया, उसके सोलह नगरोंपर अधिकार करके लूटमें भारी सम्पत्ति पाई। इमोशून-के एक उत्तराधिकारीने ८२०ई०में चीनपर सफलतापूर्वक आक्रमण किया और लूटकी सम्पत्तिके साथ वह बहुतसे चतुर शिल्पी भी बन्दी बनाकर ले गया। ८५० ई०में गन्धारके राजाने सम्राट्की उपाधि धारण की। यह बात चीनके थाङ सम्राटको बहुत बुरी लगी और उसने लम्बी किंतु असफल लड़ाई छेड़ दी। गंधार सम्राट्का अगले कुछ सालों तक इतना बल बढ़ा, कि उसने ८५८ ई०में तोंकिंगपर आक्रमण किया और ८६३में अनामको जीत लिया, जिसे चीनने तीन वर्ष बाद लौटा पाया। गन्धारका अगला सम्राट्, जिसे चीनीमें फा कहते हैं, ८७७में गद्दी पर बैठा। चीनसे उसने सन्धि की। ८८४ ई०में चीन-सम्राट्ने उसके लड़केको अपनी कन्या दी। चीन गन्धारपर सारा जोर लगाकर थक गया था, इसलिए थाङ-वंशने फिर उधर लालच-भरी निगाहसे नहीं देखा। सुङ-वंशके प्रथम सम्राट् (९६०-७६)के सेनापतिने गन्धारपर आक्रमण करनेकी आज्ञा माँगी, किन्तु सम्राट्ने पहिलेकी भूलको दुहरानेसे इन्कार कर दिया।

१२५३ ई० तक गन्धार राज्य स्वतंत्र और सबल रहता चला आया था। इसी साल चीनके मंगोल सम्राट कुबलेखानने गन्धारपर धावा किया—मंगोलियासे चलकर सनातन हिमसे आच्छादित हिमकी श्रेणियोंको पार करता वह गन्धारकी सीमापर पहुँचा। गन्धार राज्यने अधीनता स्वीकार करनेसे इन्कार कर दिया और उनका डँटकर मुकाबिला किया, लेकिन कई लड़ाइयोंके बाद हार गया। राजधानी मंगोलोंके हाथ चली गई और १२५३ ई०में राजाने आत्मसमर्पण किया—जिसके साथ गन्धारके हिन्दी-थाई राज्यका नाम लुप्त हो गया।

थाइयोंने पहिले डँटकर मुकाबिला किया। हारनेके बाद मंगोलोंकी दासता स्वीकार करनेकी जगह बहुतोंने देश छोड़ दिया और वे चारों ओर बिखर गये। इन्हींमेंसे एक अहोमके रूपमें आसाममें पहुँचे। दूसरा शानके नामसे वर्माकी पूर्वी सीमापर पहुँचा और आगे चलकर प्रायः दो शताब्दियों (१२८७-१५३१) तक उत्तरी बर्मामें राज्य किया। उनमें से एक बड़े भागने दक्खिनमें जाकर स्यामको लिया। पहिले कितनी ही शताब्दियों तक स्यामी कहे जानेके बाद अब उन्होंने अपनेको थाई और अपने देशको थाई-भूमि कहना शुरू किया।

× × ×

§२. थाई भूमिमें थाई (स्यामी)

(१) सुखोदया—

स्याम (श्याम) शान शब्दका रूपान्तर है। शान-जातिके लोग अब भी बर्माके पूर्वोत्तरी भागमें रहते हैं। शान शब्दसे ही हानहाम, अहोम, अहाम, असाम, असम, बना। इसी शान=अहोम-जातिने तेरहवीं सदीमें आसाममें पहुँचकर उस देशको यह नाम दिया। अहोम, शान और थाई (स्यामी) सभी लाव् (गंधार)-वंशकी शाखायें हैं। मेनाम् नदीकी उपत्यकामें थाई (मुक्त, स्वतंत्र) लोग सभ्यतामें प्रविष्ट होनेसे पहिले ही बस चुके थे। कम्बुजकी विकसित

संस्कृतिके साथ उनका यहीं सम्पर्क हुआ। तेरहवीं सदीके मध्यमें हम लाव-जातिकी अहोम शाखाको आसाम जीतते देखते हैं। शान जिस समय बर्मापर अधिकार प्राप्त करते हैं, उसी समय थाई भी आगे बढ़ते हैं। कुबलेखान्ने १२५४ ई०में शानोंके नान्-चाऊ-राज्यको अपने हाथमें लिया और युन्-नन मंगोल-साम्राज्यका अंग बन गया। यही समय है जब सीमान्तके थाइयों और दूसरी लाव-जातियोंपर दबाव पड़ा और वे आगे बढ़नेके लिए मजबूर हुईं। (तेरहवीं शताब्दीमें मीनम्-उपत्यकामें दो थाई-सरदार कम्बुजके सामन्तके तौरपर रहते थे, उनमेंसे एकको कम्बुज राजाने "श्रीइन्द्रपतीन्द्रादित्य" की उपाधि दी थी।

§३. सुखोदया

उसने इस उपाधिको दूसरे सर्दारको देकर १२१८ ई०में सुखोदयामें एक स्वतंत्र थाई राजवंशकी स्थापना की। यही प्रथम थाई राजा इन्द्रादित्य हैं। इसे कहनेकी अवश्यकता नहीं कि कम्बुजके सम्पर्कमें रहनेसे मीनाम् तटवासी थाइयोंपर पहिले ही से काफी कम्बोजीय प्रभाव पड़ चुका था। स्यामी राजवंशका आरंभ सुखोदयासे होता है। इन्द्रादित्यका दूसरा नाम श्री सूर्यफ्राः महाराजाधर्माधिराज भी था।

इन्द्रादित्यके रानी नाङ सुराङसे तीन पुत्र हुए, जिनमें पहिला पहिले ही मर गया, बाकी दो वानमुराङ और फ्राः राम (खम्हेङ) थे। इन्द्रादित्यके बाद राम खम्हेङ राजा हुआ। उसने एक शिलालेखमें अपने पिताके बारेमें कहा है[1]—"मेरे पिताका नाम सी-इन्थरा-थित् (श्रीइन्द्रादित्य) और माँका नाम नाङ सुराङ (देवी सुराङ) था। मेरे बड़े भाईका नाम वान-मुराङ (राज्यरक्षक) था। हम सहोदर तीन भाई और दो बहनें थे। मेरा ज्येष्ठ भाई छुटपनमें ही मर गया।"

इन्द्रादित्यके समय दुश्मनोंके साथ बहुत संघर्ष रहा, जिसमें राम खम्हेङने प्रमुख भाग लिया था। राम स्वयं कहता है—"जब मैं उन्नीस चावल-कटाई (वर्ष)का हो गया, तो मोवाङ-चोन-का अधिपति खुन-साम-चोन (तीन जातियोंका राजा) मुवाङताक्में आया। मेरा पिता दाहिनी ओरसे खुन-साम-चोनके साथ लड़ने गया। खुन-साम-चोनने बाईं ओरसे उसपर आक्रमण करके बहुत जोरसे दबाया। मेरे पिताके लोग छिन्न-भिन्न, तितर-बितर हो जल्दी-जल्दी भाग निकले। मैं नहीं भगा। मैंने नेफा-फोन् (योद्धाओंकी सेना) नामक हाथीको आगे बढ़ा अपने पिताके सन्मुखकी भगदड़में ले गया। मैंने खुन-साम-चोनसे गजद्वंद्व किया, खुन-साम-चोनके हाथी मत्म्वाङ (राज्यनिधि) को ऐसा दबाया कि वह परास्त हो गया। खुन-साम-चोन हारकर भाग गया।....इसलिए मेरे पिताने मुझे फ्राः राम खम्हेङकी उपाधि दी, क्योंकि मैंने खुन-साम-चोनके हाथीको परास्त किया था।....अपने पिताके जीवनमें मैं उनका सहायक और आधार रहा; मैं अपनी माँका सहायक और आधार रहा। यदि मुझे शिकारमें हरिन या मछली मिलती, तो मैं उसे अपने बापके पास ले जाता। यदि मैं खट्टा-मीठा फल पाता, चखके स्वादिष्ट देखता, खानेमें अच्छा मालूम होता; तो मैं उसे अपने बापके पास ले जाता। यदि मैं हाथियोंके शिकारमें जाता और पा लेता, तो उन्हें अपने बापके पास ले जाता। यदि मैं गाँव और नगरमें जाता, हाथियोंको पाता, हाथियोंका दाँत पाता, चाँदी पाता, सोना पाता,

[1] Journal of Siam Society VI. I. (1909) PP. 65-66

कुमारियाँ पाता, तो उन्हें अपने बापके पास लाकर छोड़ देता।" इस प्रकार राम खम्हेङने अपने पिताकी सेवा की। पिताके मरनेपर बड़ा भाई गद्दीपर बैठा—

"मेरा पिता मर गया, मैं अपने बापकी भाँति भाईका सहायक और आधार बना रहा।"

(१) राम खम्हेङ—

बड़े भाईके मरनेके बाद राम खम्हेङ १२८३ ई०से पहिले सुखोदयाकी गद्दीपर बैठा: "मेरा भाई मर गया, इस तरह राज्य मुझे मिला।"

राम खम्हेङ (रामराजा) स्यामके सबसे बड़े राजाओंमें था। उसका एक बड़ा काम था स्यामी-भाषाके लिए नई लिपि बनाना। उसने अपने शिलालेखमें इसके बारेमें लिखा है—"पहिले स्यामी लिखनेका कोई अक्षर नहीं था। १२०५ संवत् (१२८३ ई०) अजवर्षमें राजकुमार खुन-राम खम्हेङके दिलमें इच्छा हुई और उसने स्यामी-लिपिके लिए अक्षर बनाये।" पुराने स्यामी-अक्षरका इस तरह आरंभ हुआ, जिससे आजकी स्यामी-लिपि बनी। इसमें वर्णोच्चारणके साथ-साथ सुरका भी संकेत है। रामने अपनी लिपि कम्बोज-लिपिकी सहायतासे बनाई थी।

रामने अपनी राजधानी सुखोदयाको भी समृद्ध किया। वहाँ कई बौद्ध विहार बनाये, जहाँ—"पूज्य आचार्य हैं, माननीय भिक्षु हैं, एक महास्थविर हैं। सूर्यास्त (पश्चिम)की ओर एक वनाराम है। राजा खुन-राम-खम्हेङने उसे बनवाकर फ़ाः महास्थविरको दे दिया। महा-स्थविर नायक भिक्षु और थिन्यान हैं, त्रिपटकके पारंगत, अपने संघके मुखिया, अपने देशके सभी आचार्योंके ऊपर हैं। वह सीथम्मरात (श्रीधर्मराष्ट्र)से यहाँ आये हैं। वनवाले आरामके बीचमें एक मंदिर-भवन है, जो बहुत लम्बा, चौड़ा, ऊँचा और अत्यन्त सुन्दर है। उसमें एक अठारह हाथ ऊँची खड़ी मूर्त्ति है।"

रामने न्यायको सुलभ बनानेकेलिए हरेक आदमीको अपने पास तक पहुँचनेकी सुविधाके लिए घंटी टाँग रखी थी। रामके समयमें सुखोदयाका राज्य मेकाङ-तटसे छावा और पश्चिममें हंसावती (पेगू) तक था।

राजा रामका यह शिलालेख १२१४ शकाब्द (१२९२ ई०)में लिखा गया था।

इस राजाका उपाधि-सहित पूरा नाम था "फ़ा-खुन-राम-खम्हेङ-चाव्-मुराङ श्री सज(ज्ज)नालय-सुखोदय।" कभी-कभी उसे मा-काव्-लाव् और थाई-जातिका खुन-नाइ (राजा और स्वामी) कहा गया है।

रामके पुत्रका नाम श्री धर्मराज था, जिसे पिताने श्री सजनालय (सुखोदय)का फ़ाः महा-उपराज बनाया था।

(२) श्रीसूर्यवंश राम—

शिलालेखसे मालूम होता है कि पिताके बीमार होनेपर सामन्तोंने उसे अधिकारवंचित करना चाहा था, पुत्र चारों ओरसे उनपर हमला करके दबा कर अपने पिताकी गद्दीपर बैठा। १३५५ ई०में उसका अभिषेक हुआ, उसी समय उसने "फ़ाः पाद्-कामरत न-अन् श्री सूर्यवंश राम महाधर्मराजाधिराज"की उपाधि ग्रहण की।

यह चौदहवीं शताब्दीका मध्य था। इस समय सुखोदया-राज्यमें ब्राह्मणधर्म भी मौजूद था, किन्तु सूर्यवंशकी बौद्धधर्ममें बड़ी श्रद्धा थी। वह स्वयं भी लोगोंमें बौद्धधर्मका प्रचार करता था। उसने बहुत-से विहार बनवाये थे। १३५७ ई० में उसने नगरजम् (खम्-फेन्-फेत्)में श्रीरत्न-

महाधातुकी प्रतिष्ठाके लिये एक विहार बनवाया और तबसे वह अधिकतर यहीं रहता था। उसने ब्राह्मणों और तपस्वियोंकी पूजाके लिये परमेश्वर (महादेव) और विष्णुकी मूर्त्तियाँ भी स्थापित कराईं।

अपने धर्म-प्रचारकी लगनमें राजाने अनुभव किया, कि परिशुद्ध बौद्धधर्म सिंहलमें है, इसलिये वहाँसे किसी धर्माचार्यको बुलवाकर धर्मका सुधार किया जाय, तो अच्छा होगा। बाईस वर्ष राज्य करने के बाद १३६२ ई०में उसने सिंहलसे महास्वामी संघराजको लानेके लिये अपना एक राज्य-पंडित भेजा। संघराजने आना स्वीकार किया। संघराजके चन्ननगर (आधुनिक फित्-स-नुलोक) के पास आनेकी बात सुन, उसने स्वागतकी तैयारी की। सुखोदया नगरके पश्चिमी भागमें भिक्षुओंके लिये कुटी और विहार बनवाये गये। महाथेर (महास्थविर) भिक्षुओंके साथ राजधानीकी ओर अग्रसर होने लगे। राजाने अपने अमात्यों, मंत्रियों, राजपुत्रोंको महाभिक्षुओंके स्वागत-सत्कारके लिये भेजा। उन्होंने चन्नपुरमें जाकर राज-अतिथियोंका स्वागत किया और रास्तेके नगरोंमें ठहराते सुखोदयामें लाये।

भारी सत्कारके बाद राजाने महास्वामी संघराजसे अपने बनाये विहारमें वर्षावास करनेकी प्रार्थना की, भिक्षुओंके सन्मानमें नाना प्रकारके धार्मिक दान दिये। उसने भगवान बुद्धकी एक बड़ी प्रतिमा बनवाई और सोना-चाँदी दस प्रकारकी बहुमूल्य वस्तुयें, चीवर तथा दूसरे परिष्कार अर्पित किये।

वर्षाके अंतमें राजाने महास्वामी संघराज तथा उनके साथी भिक्षुओंको अपने हेमप्रासाद नामक राजमंदिरमें बुलाया और उनका स्वागत-सत्कार करते हुए अञ्जलि बाँधकर कहा—

"मैं चक्रवर्तीसम्पत्ति, इन्द्रसम्पत्ति या ब्रह्माकी सम्पत्ति नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ केवल बुद्ध होना, जिसमें भवसागरमें पड़े जीवोंकी सहायता कर सकूँ।"

फिर राजाने बुद्ध-धर्म-संघकी शरण ली, प्रव्रज्या (भिक्षुव्रत) ग्रहण की। राजाके इस तरह विरत होनेके कारण राज्यमें गड़बड़ी होने लगी। प्रजाने राजाके पास जाकर प्रार्थना की। अंतमें यह बात महास्वामी संघराजके पास पहुँची। संघराजने प्रजाके पक्षमें निर्णय दिया और उनकी सलाहसे राजाने फिर राजकाज सँभाला और शत्रु लु-अङ-प्रङके लोगोंको हराकर फिरसे शांति स्थापित की। इसी राजाके दूसरे शिलालेखसे पता चलता है कि १३५८ ई० में सिंहलसे महाबोधि-वृक्षकी एक शाखा स्याम लाई गई।

§४. अयोध्याके राजा

हृदयराजके कालमें ही थाइयोंने मेनानकी उपत्यकापर आक्रमण करके वहां अयोध्या (अयुथिया) नामसे एक नगर बसाया। धीरे-धीरे उसका वैभव बढ़ता गया और १३६१ ई० में वह स्यामका सांस्कृतिक केन्द्र बन गयी। चौदहवीं सदीके मध्यसे लेकर अठारहवीं सदीके मध्य तक अयोध्या स्यामकी राजधानी रही। अयोध्याका पहला राजा रामाधिपति सुवर्णदोल था। १३५० में सैंतीस वर्षकी आयुमें वह अयोध्याके सिंहासनपर बैठा। उसने १३६९ ई० तक उन्नीस वर्ष राज किया। रामाधिपतिका तीसरा उत्तराधिकारी परमराजाधिराज (बो रोम्-मरखा-थिरथ्) था। यह रामाधिपतिका साला तथा दूसरे राजा रामेसुरका मामा था। उसने अपने भांजेको एक ही साल राज करनेके बाद हटाकर गद्दी अपने हाथमें ले ली।

स्याममें बौद्धधर्मका प्रचार तथा त्रिपिटकका अध्ययन-अध्यापन बढ़ता ही गया। १४०६ ई० में

राजाको सूचितकर भिक्षुओंने फा: परमगुरु त्रिलोकतिलक श्री रत्न शीलगंध वनवासी धर्म्म-कीर्त्ति संघराज महास्वामी चावको अपना संघराज बनाया। संक्षेपमें उनकी उपाधि "संघराज" और "महास्वामी" थी, जिसमें "परमगुरु" और जोड़ दिया गया। इस परमगुरुके मरनेपर राजाधर्मराजाधिराजके परामर्श तथा माता-रानी और भिक्षुओंके अनुमोदनसे फा रत्न मंगलविलास महाथेरको संघराज बनाया गया।

परमराजाधिराजके बाद चार और राजा गद्दीपर बैठे, फिर पांचवां परमराजाधिराज (१४१७-३७) स्यामका शासक बना। इसीके समय १४२६-२७ ई० में बुद्धपादकी स्थापना हुई। विष्णुपद गयामें और शिवपद कंबुजमें प्रसिद्ध थे। लंकामें बुद्धपाद वहांके सबसे ऊँचे पर्वतपरहै, स्याममें भी महास्थविर श्री मेधंकरने पत्थरमें बुद्धपाद बनवाया। पदचिह्न बनाकर उसीमें एक सौ आठ चिह्न छ फेरोंमें अंकित कराये। पैरके नीचे अस्सी श्रावकों—बुद्धके शिष्यों—को अंकित किया गया।

पालीमें भी अस्सी महाश्रावकोंमें से ७४ के नाम मिलते हैं, किन्तु इन दोनों सूचियोंमें पन्द्रह ही नाम (कोष्ठक वाले) एक हैं, जिससे संदेह होता है, कि महाथेर मेधंकरके बनवाये हुए इस बुद्धपादमें अंकित नाम किसी दूसरी परंपरासे लिये गये हैं। नाम इस प्रकार हैं:—

१. आज्ञा कौंडिन्य[1]
२. सारिपुत्र (७७)
३. महामोग्गलान (८०)
४. महाकस्सप (६३)
५. अनिरुद्ध (७९)
६. कालिगोधापुत्त
७. लकुट भद्दिय
८. पिंडोल भरद्वाज
९. मैत्रायणीपुत्र
१०. महाकात्यायन
११. चुल्लपंथक
१२. महापंथक
१३. सुभूति
१४. खदिरवनिय
१५. कंखारेवत
१६. शोण कोडिवीस (४५)
१७. शोण कुटिकन्न
१८. सीवलि
१९. वक्कलि
२०. राहुल
२१. रट्ठपाल

[1]देखो अंगुत्तरनिकाय १।२।१-७ ('बुद्धचर्या', पृष्ठ ४६९-७२)

२२. कुंडधान
२३. वंगीश
२४. वंगंतपुत्र
२५. दब्ब मल्लपुत्त
२६. पिलिन्द वात्सि
२७. वाहिय दारुचीरिय
२८. कुमार काश्यप (३९)
२९. महाकोट्ठित
३०. आनंद (६०)
३१. उरुवेल काश्यप
३२. काल उदायी
३३. बक्कुल
३४. थोभित
३५. उपालि (६५)
३६. नंदक (५४)
३७. नंद (७६)
३८. महाकाप्पिन
३९. स्वागत
४०. राध
४१. मोघराज
४२. महाप्रजापती गौतमी
४३. खेमा
४४. उत्पलवर्णा
४५. पटाचारा
४६. धम्मदिन्ना
४७. नंदा
४८. शोणा
४९. कुंडलकेशा
५०. भद्रा कापिलायनी
५१. भद्रा कात्यायनी
५२. कृशा गौतमी
५३. शृगालमाता
५४. तपस्सु
५५. भल्लुक
५६. सुदत्त गृहपति
५७. चित्र गृहपति
५८. हस्तक आलवक

५९. महानाम शाक्य (९)
६०. उग्र गृहपति
६१. उद्गत गृहपति
६२. शूर अम्बष्ठ
६३. जीवक कौमारभृत्य
६४. नकुलपिता गृहपति
६५. सुजाता
६६. विशाखा मृगारमाता
६७. खुज्जुत्तरा
६८. सामावती
६९. उत्तरा नंदमाता
७०. सुप्रवासा कोलियदुहिता
७१. सुप्रिया
७२. कात्यायनी
७३. नकुलमाता
७४. काली कुररघरिका

१५४८ ई० में वर् दीर राज अयोध्याधिपति था। स्यामने पहले बर्मापर आक्रमण किया। इसपर बर्मा (पेगू)के (तविन्-स्वेथि) राजाने एक बड़ी सेना लेकर स्यामियोंको हराया। फिर नवंबरके महीनेमें स्यामपर उसने चढ़ाई कर दी। कई महीने तक पेगूके राजाने अयोध्याको घेर रक्खा। अंतमें स्यामराजके पुत्र और दामाद बंदी हुये। स्यामको तीस युद्ध-गज, ३३० तिकल चाँदी और तेनासिरिमकी चुंगी तथा दो सफेद हाथी देकर सुलह करनी पड़ी। इस हारसे राजाको बहुत खेद हुआ और उसने अपने पुत्र महामहिन्दके लिये गद्दी छोड़ दी।

वस्तुतः सफेद हाथी नहीं हुआ करते, किन्तु काले रंगमें जरा कमी होनेपर इस देशमें उसे सफेद हाथी कहके महासुलक्षण समझा जाता है। १५६३ में पेगूके राजाने सुना कि स्यामके पास दो नये सफेद हाथी हैं। उसने उनमें से एकको माँगा। स्यामके राजाने टालमटोल किया, फिर एक बड़ी बर्मी सेनाने आकर अयोध्याको घेर लिया और लंबे युद्धके बाद राजाको बर्मियोंके हाथमें आत्मसमर्पण करना पड़ा। राजा, रानी और एक छोटा राजकुमार बंदी बनाकर ले जाये गये, और युवराज आमहिन् १५६४ ई० में राजा घोषित हुआ। शायद इस समयका बर्मी राजा बयिन्नौङ था। १५६८ ई० में तीसरी बार बर्मा नृप स्यामपर आक्रमण करके स्यामके राजाको बंदी बनाकर ले गया। स्यामके राजाने देश लौटकर भिक्षु बननेकी आज्ञा माँगी। लौटनेके बाद उसके पुत्र आमहिन्ने बर्माकी अधीनता छोड़ विद्रोह कर दिया। बूढ़े पिताने उसका समर्थन किया। फिर एक बड़ी बर्मी सेना स्याम आयी। आमहिन् बंदी बना और उसकी राजधानी लूट ली गयी। आमहिन्को मृत्युदंड दिया गया या उसने स्वयं आत्महत्या कर ली। बर्माकी थाङ्की ओरसे स्यामी करद राजा बना।

इसी तरह बर्माके साथ युद्ध-पराजय-विद्रोह होते-होते सत्रहवीं सदीका आरंभ आया और योरोपीय व्यापारी पूरबमें आने लगे। १६०४ ई० में डच ईस्ट इण्डिया कंपनीने अयोध्यामें अपनी कोठी खोली, फिर फ्रेञ्च भी स्याम पहुँचे।

१६५६ ई० फ्रा-नराईने स्यामी बंदरगाहोंको स्पेन, पोर्तगाल, इङ्गलैंड, हालैंड और फ्रांसके व्यापारियोंके लिये खोल दिया और पन्द्रहवें लुईके पास व्यापारिक तथा पारस्परिक रक्षा-संधि करनेके लिये दो दूत-मंडल भेजे। अब तक बर्मा और स्यामका झगड़ा चलरहा था, योरोपीय जातियोंने स्यामके साथ कूटनीति चलनी शुरू की। अयोध्याकी शक्ति क्षीण होती गयी, किन्तु अब भी बौद्धधर्म वहां इतना प्रभावशाली था, कि सिंहलने अपने यहां भिक्षुसंघकी पुनः स्थापनाके लिये स्यामसे मदद माँगी। स्यामराजा महाकालने सिंहलक राजदूतका स्वागत किया और अपने यहांसे उपालि प्रमुख भिक्षु भेजे; जिन्होंने लंका जाकर शरणंकर संघराज और दूसरोंको उपसम्पदा दी। यह अठारहवीं सदीके मध्यकी बात है।

१५६० ई० में स्याममें दो राजवंश राज्य कर रहे थे, और जिस वक्त अठारहवीं सदीके मध्यमें पलासीकी विजय अंग्रेजी राज स्थापित करनेमें सहायता कर रही थी, उसी समय बंकाकमें एक नई राजधानी तैयार हो रही थी। बर्मियोंका आक्रमण अब भी बंद नहीं हुआ था और उन्हींके आक्रमणके फलस्वरूप १७६७ ई० में अयोध्या ध्वस्त हुई। मालूम होने लगा, अब स्यामराज्य समाप्त हो जायगा। इसी समय अर्ध-चीनी एक स्यामी नेता फाया-ताक्-सिनने तितर-बितर हुई स्यामी सेनाको एकत्र कर बर्मी सेनाको मार भगाया और बंकाकमें नई राजधानी स्थापित की। बौद्धभिक्षु उसके विरोधी हो गये, क्योंकि उसने भिक्षुओंमें फैलते दोषोंको दूर करनेके लिये कुछ कड़ाईसे काम लेना चाहा था। १७८२ ई० में फायाको राज्यसे हटा दिया गया।

§५. आधुनिक राजवंश

चाउ-फया चक्रीने बंकाकमें १७८२ ई० में नया राजवंश स्थापित किया, जो आज तक चला जा रहा है। उस समय भिक्षुओंमें कई दोष आ गये थे। त्रिपिटकके पाठोंमें भी बहुत-सी गड़बड़ी हो गई थी। नये राजाने इस दुर्व्यवस्थाको दूर करनेका बीड़ा उठाया। राजा चक्रीने त्रिपिटकके पाठको ठीक करनेके लिये एक सभा (संगीति) बुलाई और नये पाठवाले शुद्ध त्रिपिटकको रखनेके लिये खास तरहकी एक शाला तैयार कराई। चक्रीका उत्तराधिकारी फ्रा बुद्ध लोतला स्यामी-भाषाका बहुत बड़ा कवि था। इसके दो पुत्र थे। बड़ा कलाव् राजा बना और छोटा मोङकुत् भिक्षु हो गया। फ्रा-माङ-क-लाव् ने १८५१ तक शासन किया। २६ वर्ष भिक्षु रहनेके बाद मोङकुत अपने भाईके बाद राजगद्दीपर बैठा। मोङकुतके सामने एक ओर बौद्ध-संघकी कुरीतियोंको दूर करनेकी समस्या थी और दूसरी ओर पाश्चात्य देशोंके संपर्क तथा पूरबमें फ्रांस और पश्चिममें इङ्गलैंडकी नोंच-खसूटसे बचे देशको सुरक्षित रखनेके लिये आधुनिक शिक्षा और विज्ञानके प्रचारकी बड़ी अवश्यकता थी। मोङकुत्ने इतिहास, व्याकरण आदिपर स्वयं ग्रन्थ लिखे, देशसे दास-प्रथाका उन्मूलन किया, अफीम और जुएपर रोक-थाम की।

उसके बाद मोङकुतका पुत्र चुलालोङ्कार्न (चूडालंकार १८६८-१९११ ई०) गद्दीपर बैठा। इसने सम्पूर्ण पाली त्रिपिटकको स्यामी अक्षरोंमें छपवाकर प्रकाशित कराया, भिन्न-भिन्न भाषाओंके अध्ययनके लिये स्कूल खोले। अब स्याम आधुनिक युगमें आ गया। ४४ वर्ष राज करनेके बाद चूडालंकारके मरनेपर उसका पुत्र बजिराउद (वज्रायुध) १९११ ई०में गद्दीपर बैठा। उसकी शिक्षा-दीक्षा आक्सफोर्डमें हुई थी, इसलिये स्यामी भद्रसमाजपर पाश्चात्य प्रभाव अधिक पड़ना

स्वाभाविक था। १९२४ ई० म उसने षष्ठ रामकी उपाधि धारण की। वह १९२५ ई० में भारतमें भी बौद्धतीर्थोंके दर्शनके लिये आया था।

१९२६ में राजा रामके मरनेपर उसका छोटा भाई प्रजाधिपोक् राजा बना। स्याम यद्यपि बौद्धधर्मका बहुत ही अनुरक्त देश है, भारतीय संस्कृतिकी तो उसपर अमिट छाप है, किन्तु देशकी नई समस्यायें ठीकसे नहीं हल हो पाई हैं। कभी वहां समाजवाद आगे बढ़ता है, तो कभी फासिस्त-वादकी जय-जय बोली जाती है। चक्री-राजवंशका एक बच्चा अब भी राजसिंहासनपर है, किन्तु अब प्रतिद्वंद्विता है आढ्यवर्ग और साधारण कमाऊ जनताके स्वार्थोंके बीच। बाहरी शक्तियाँ चाहती हैं, कि स्याम अपनी भीतरी समस्यायें हल न कर सके।

स्याम तेरहवीं शताब्दीमें अस्तित्वमें आया, इसका यह अर्थ नहीं कि तभीसे उसका सांस्कृ-तिक इतिहास शुरू होता है। स्यामका सारा इलाका पहले कंबुजका एक भाग था। १९०५ की जनगणनाके अनुसार बासठ लाख तीस हजारकी आबादीमें अस्सी हजार कम्बुजीय थे। दूसरे थे—स्यामी तीस लाख, लाव बीस लाख, चीनी चार लाख, मलायी एक लाख पन्द्रह हजार। स्यामियों और लावोंकी ५० लाख संख्यामें भी काफी कम्बुजरक्त है, संस्कृतिका तो कंबुजसे अटूट संबंध है ही। यद्यपि वहां राजा-प्रजा दोनोंका धर्म बौद्धधर्म है, किन्तु पहिले वहां काफी ब्राह्मण और उनके देवलाय भी थे। अब भी कुछ ब्राह्मण वहां रहते हैं, जो राजाओंके अभिषेक तथा दूसरे धार्मिक कृत्योंमें पुरोहित होते हैं—ब्राह्मण शब्द वहां बिगड़कर फ्राम हो गया है। बंकाकमें उनका एक मंदिर (वत्-वोत्-फ्राम) भी है, जिसमें त्रिमूर्त्तिकी विशाल प्रतिमायें हैं।

स्याममें बीस हजार विहार (वत) और एक लाखसे ऊपर भिक्षु हैं, इसे धर्मका अजीर्ण कह सकते हैं, क्योंकि भिक्षुओंकी इतनी बड़ी सेना सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रोंमें महत्वपूर्ण भाग नहीं लेती। स्याम ऐसा देश है, जहाँ चावल अवश्यकतासे अधिक पैदा होता है, इसलिये वहाँ आहारकी कोई समस्या नहीं है। हाँ, इसमें भी संदेह नहीं कि इतनी बड़ी संख्या भिक्षु बनकर जनसंख्या-वृद्धिमें रोक-थाम पैदा करती है, किन्तु यह भिक्षुओंके लिये कोई ऊँचा आदर्श नहीं हो सकता।

६. थाई भाषा

हम कह चुके हैं कि स्यामियोंका संबंध आसामके अहोमों और बर्माके शानोंके साथ है। उनकी भाषा अब भी बहुत-कुछ एकवर्णिक है। उसमें अनेक वर्णवाले शब्दोंको भी एकवर्णिक बनानेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। तो भी स्यामी भाषाने संस्कृत और पालीसे बहुत अधिक शब्द लिये हैं। राजनीतिक, वैज्ञानिक परिभाषायें और राजकीय पद तो प्रायः सारे ही संस्कृतसे लिये गये हैं। प्रधान मंत्रीको वहां मोन्त्री कहा जाता है। शासन-सभाके सदस्य अमंच (अमात्य) कहे जाते हैं। इसी तरह राजपुरोहित परोहित, राजकीय छत्रधारक छत्तखाहो (छत्रग्राह) और खत्खाहो (खड्गग्राह) है। हाथियोंका अफसर राजकीय छत्रधारक छत्तन्थ (छद्दन्त) और घोड़ोंका असुसव (अश्व)। पटरानी अक्खम्हेसी (अग्रमहिषी) कही जाती है। दूसरे पदाधिकारियोंमें कुछ हैं रामोन्त्री (राजमंत्री), यम्मरात (यमराज=प्रधान दंडन्यायाधीश)।

यदि स्यामी-भाषाके पारिभाषिक कोषको उठाकर देखें, तो वहां संस्कृतके तत्सम और तद्भव शब्द भरे मिलेंगे। भाषामें साधारण बन गये शब्द संस्कृत उच्चारणसे कुछ भेद भी रखते हैं:—

स्यामी	संस्कृत, पाली	स्यामी	संस्कृत, पाली
अहन्	अहर्	अनन्दोन	अनन्तर
आइ	आय	अंथुलि	अञ्जलि
आकन	आकार	अङ्खर	अंगार
आकात	आकाश	अज़रोथ	औरस
अमित	आमिष		
अरम	आराम	दारा	तारा
अस	अश्व	जाल	जाल
अथित	आदित्य	जन	चन्द्र
अह्य	आर्य	जतुर	चतुर
वन्फत	पर्वत	जिन्दा	चिन्ता
बसिक्	उपासिका	जोन	चोर
बात्	पाश	दुत्सदि	तुष्टि
बत्र	पत्र	ग्रू	-गुरू
बोङकोचा	पंकज	हत्त	हस्त
बुन	पुण्य	होलोमान	हनूमान
बुत्स	पुष्प	इन्थ्री	इन्द्रिय
छय्यिय	जय	कोबिल्लवत्थु	कपिलवस्तु
छक्र	चक्र	कायि	काय
छल	जल	कम्म	कर्म
चिप	जीव	कंजनबुरी	कांचनपुरी
चोल्लमान	जलमार्ग	कंथ	कंठ
चोङ फू-थवीब	जम्बूद्वीप	क:सतीत्र	क्षत्रिय
खम्म	ग्राम	नमोनमो	नमोनमो
खोबन्	गोपाल	नन	नाना
खोदोम	गौतम	ओङ	अंग
खोङखा	गंगा	ओसोत्	औषध
लखोन्	नगर	पक	पक्ष
लाफ	लाभ	फाब	भाव
लव्	नव	फछ:न	वचन
लोखबन	लोकपाल	फहा	बाहु
महेसुएन	महेश्वर	फाक्	भाग
मख: मात	माघ मास	फंथन	बंधन
मंखल	मंगल	फंथू	बंधु
मङसा	मांस	फरन:सी	वाराणसी
मेक्	मेघ	फ़यू	वायु
मोन्तर	मंत्र	फ्यत्	वैद्य

स्यामी	संस्कृत, पाली	स्यामी	संस्कृत, पाली
नाख	नाग	फेत्त	वेद
नखोन्	नगर	फिक्खु	भिक्षु
नमत्सकन	नमस्कार	फ्रा	वर
फूबन	भूचाल	श्यम्रट्ठम	श्यामराष्ट्र
फुम	भूमि	तलबत	तालपत्र
फूत्त	बुद्ध	थक्सिन	दक्षिण
प्रेत्	प्रेत	थन्	दान
रछा	राजा	थनु	धनु
राच्छवोङ्	राजवंश	थ:वर:वदी	द्वारावती
रक्सोत	राक्षस	थेप्	देव
रोक्	रोग	थुक्	दुःख
सदुदि	स्तुति	वेहन	विहार
सक्दी	शक्ति	वि:चय	विजय
साल	शाल	विवह	विवाह
सलिक	सारिका	वियोक्	वियोग
समुत	समुद्र	यिवा	जीव
सरिर	शरीर	शशिथोन्	शशधर
सिंङ्होन	सिंहल	शयाम्	श्याम
		सयमथेत्	श्यामदेश

स्रोत ग्रन्थ

Bose, P.N. : Indian Colony of Siam, Lahore 1927.
Law. B.C. Buddhist studies.

भाग ४

अफगानिस्तान, मध्य-एसिया

अध्याय १

अफगानिस्तान[1]

अफगानिस्तान प्रागैतिहासिक कालसे भारतका अंग रहा है। आज के अफगान भी सांस्कृतिक तौरसे भारतके अतिसमीप हैं। दिसंबर १९४८में भारतीय पत्रोंमें निकला, कि काबुल-विश्वविद्यालयने पश्तो-साहित्यके विद्यार्थियोंके लिये संस्कृतको अनिवार्य कर दिया है। कुछ लोगोंको इसमें विचित्रता-सी मालूम पड़ी। वे समझ नहीं पाये, कि अफगानिस्तानमें की जड़ भारतीय संस्कृतिसे बहुत मूलबद्ध है। किसी भी संस्कृत जातिके लिये अपनी संस्कृतिका इतिहास समझना, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना आवश्यक है। नवचेतना आनेपर अफगास्तिानमें वैसा होना आवश्यक था, जो कि उस दिन काबुल-विश्वविद्यालयने किया। अफगानिस्तानका मानववंशिक इतिहास भारतीय इतिहाससे अलग नहीं, इसके बारेमें हम पहिले कुछ कह आये हैं और आगे मध्य-एसियाके बारेमें लिखते वक्त भी कुछ और कहेंगे। वैदिक कालमें अफगानिस्तानमें कई जातियाँ (जन) रही होंगी, जिनमें से कुछके नाम अब भी अफगान कबीलोंमें मिलते हैं। बुद्धके समय अफगानिस्तान दारयोवहुके साम्राज्यका अंग था और गंधारके नामसे पुकारा जाता था। आजकल भी अफगानिस्तानमें कंधार शहर है और पेशावर (प्राचीन पुरुषपुर) तो गंधारका प्रमुख नगर रहा है। काबुलके पासकी उपत्यका, जिसे आजकल कोहदामन कहते हैं, पहिले कपिशाके नामसे विख्यात थी। आज भी वहांका अंगूर बहुत मधुर होता है। पाणिनिके समय (ई० पू० ४थी सदी) तो कापिशायनी सुरा बहुत प्रसिद्धि रखती थी। तक्षशिला (रावलपिंडी जिला) पहिले पूर्वी गंधारकी राजधानी थी। इस प्रकार गंधार एक समय रावलपिंडीसे हिन्दूकुश तक फैला हुआ था। रावलपिंडी जिलेमें अब बहुत कम गांव पख्त (पश्तो) भाषाभाषी हैं, किन्तु सिन्धके दक्षिणी तटसे काबुल और कंधार तक पश्तो-भाषा बोली जाती है। तक्षशिला बुद्धके समय विद्या और वाणिज्य दोनोंका केन्द्र थी और उसका उत्तरी भारतसे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। पोक्कसाति राजाने बुद्धका यश सुनकर राज्य छोड़ दिया था और वह तक्षशिलासे बुद्धके पास मगधमें जाकर भिक्षु बना था। इससे जान पड़ता है कि बुद्धका सन्देश उनके जीवन-काल ही में गंधार पहुँच गया था। उनके निर्वाणके बाद तो बौद्धधर्म अवश्य ही वहां पहुँच चुका था। ई० पू० तृतीय शताब्दीमें अशोक धर्मराजने अपने राजमें जो ८४ हजार स्तूप जगह-जगह बनवाये थे, उनमें एक धर्मराजिक (स्तूप) तक्षशिलामें भी था। अशोकके समय भिक्षुसंघने भिन्न-भिन्न देशोंमें धर्म-प्रचारक भेजते समय कश्मीर-गंधारमें स्थविर-मध्यान्तकको दूसरे साथियोंके साथ भेजा था। मौर्यवंशके बाद धीरे-धीरे कश्मीर और गंधार बौद्धधर्मका केन्द्र बन गये, और ग्रीक तथा शक जातियोंको भारतीय संस्कृतिकी शिक्षा देनेमें सबसे बड़ा हाथ गंधारके बौद्धभिक्षुओंका ही

---

[1] **सडवन् > शरद्वत्, पख्तून > पक्थ**

था। गंधार पहिले ईरानी और पीछे ग्रीक संस्कृतिकी सीमापर पड़ता था, इसलिये इसे भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके सम्मिश्रणसे नवीन संस्कृतिको जन्म देनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। गंधारने हिन्दी-ग्रीक मूर्तिकलाको जन्म दिया। गंधारने बौद्ध-दर्शनके असंग और बसुबंधु जैसे अद्वितीय दार्शनिक दिये। सूफीदर्शन और शंकर वेदान्तके पिता भारतीय विज्ञानवादकी प्रथम कल्पना पेशावर-निवासी आर्य असंगने इसी भूमिमें की। दिङनागके गुरु बसुबन्धु यहींके थे, जिन्होंने न्यायशास्त्रके प्रथम ग्रन्थोंको लिखा था। प्राचीन गंधार और आजकी पठान-जाति यदि गंधार-मूर्तिकलापर अभिमान करे, यदि पठान असंग और बसुबंधु जैसे अपने महान् विचारकोंका गर्व करे, तो इसे कौन अनुचित कह सकता है? ईसापूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी दसवीं शताब्दी तक गंधार (अफगानिस्तान) बौद्धधर्म, साहित्य, संस्कृतिका केन्द्र रहा है। पश्चिमसे आनेवाले घुमन्तुओंके प्रहारको पहिले बर्दाश्त कर यही उन्हें भारतीय संस्कृतिका पाठ पढ़ाता था। इसने खुशी-खुशी अपनी संस्कृतिको ध्वस्त होते नहीं देखा। पाँचवीं सदीके आरम्भमें गंधारमें बौद्धधर्मकी क्या अवस्था थी, इसे हम फा-शीन्‌की यात्रासे जानते हैं, सातवीं सदीके बारेमें स्वेन्-चाङ् हमें बताता है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं, कि अफगानिस्तान बौद्धधर्मके गौरवमय इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। मध्य-एसिया और चीनमें धर्म-प्रचार करनेमें भी यहांके भिक्षुओंका विशेष हाथ रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि चीन और मध्य-एसियाको जानेवाले पुराने रास्ते कपिशा (कोहदामन)-होकर ही जाते थे। चीनी पर्यटक चाङ-क्याङ (ई० पू० १३८-१२६) ने चीनके रेशम और दूसरी चीजोंको भारतके रास्ते बख्तरमें बिकते देखा था, वह भी कपिशा (कोहदामन) के रास्ते ही गई थीं। आज पूर्वी मध्य-एसिया हम कश्मीर-लदाखके रास्ते जा सकते हैं। गिल्गित-हुंजाका रास्ता भी है, किंतु अधिक कठिन है, तो भी उधरसे भी जाया जा सकता है। प्राचीनकालका रास्ता वक्षु-उपत्यकासे बदख्शाँ और बखान होकर जाता था और दूसरा रास्ता वक्षुकी शाखा सुर्खाबसे होकर गया था। आगे फरगानाका रास्ता भी था, किन्तु वह कुछ दूरका था। इस प्रकार मध्य-एसियाका यातायात मुख्यतः अफगानिस्तानके रास्ते होता था और अफगान (प्राचीन गंधार) लोग मध्य-एसियामें व्यापार ही नहीं, धर्म और संस्कृतिके प्रचारमें भी आगे थे। अफगानिस्तानमें बौद्धधर्मके विनाशका इतिहास बहुत क्रूर रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। आजके अफगानिस्तानमें बुतपरस्ती सबसे जघन्य अभिशाप समझी जाती है, किन्तु उसकी कला, संस्कृति और दर्शनका सबसे यशस्वी काल वही था, जब सारा अफगानिस्तान बुतपरस्त था—बुतपरस्त, फारसीका शब्द, वस्तुतः बुद्ध-परस्त (बुद्धपूजक) का विकृत रूप है। अरबके बद्दुओंको इसमें सिर्फ मिट्टी, पत्थर और धातुकी मूर्तियाँ और लोगोंके उनके प्रति मिथ्या विश्वास ही दिखलाई पड़े। वह उनकी कलाको नहीं समझ सकते थे। कलाको समझनेके लिये अधिक संस्कृत होनेकी अवश्यकता होती है। लेकिन आजके अफगान अपनी विस्मृत संस्कृतिको फिर पहचाननेकी कोशिश कर रहे हैं। उनके चित्रकार और मूर्तिकार फिर बामियाँ-कपिशाके ध्वंसावशेषोंसे कलाका प्रथम पाठ ले रहे हैं। पुराना धर्म लौटे या न लौटे, किन्तु पुरानी संस्कृति अफगानिस्तानकी नवीन संस्कृतिके निर्माणमें अवश्य भाग लेगी।

अध्याय २

पश्चिमी एसिया

§ १. जातियोंका गमनागमन

चीनी तुर्किस्तान और सोवियत तुर्किस्तान दोनों ही मिलकर मध्य-एसिया कहे जाते हैं। यहां अधिक उल्लेख पूर्वी मध्य-एसिया अर्थात् चीनी तुर्किस्तानका होगा; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि पश्चिमी मध्य-एसिया बौद्धधर्मके इतिहासमें कम महत्त्व रखता है। पश्चिमी मध्य-एसिया-का प्रसिद्ध नगर बुखारा बौद्धधर्मका ही स्मारक नगर है। मंगोल लोग आज भी विहारको बुखार कहते हैं। तुर्क और उनसे पहिलेकी जातियाँ भी अपनी भाषामें विहारका यही उच्चारण रखती थीं। इस्लामके आनेसे पहिले इस स्थानपर एक बड़ा बौद्ध-विहार था, जिसके कारण नगरका यह नाम प्रसिद्ध हुआ। अरबोंके शासनके प्रथम वर्षोंमें इस जगह छोटी-बड़ी मूर्तियाँ बिका करती थीं, जिन्हें किप्चक मरुभूमि तथा दूसरी जगहके यात्री खरीदकर ले जाया करते थे। तेर्मिजके पासकी खुदाईमें कितनी ही गंधार-कलाकी बौद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं। स्वेन्चाङ अरबोंके विजय और बौद्ध-धर्मके ध्वंसके थोड़ा ही पहिले तुखार (तुषार) देशमें गया था। उस वक्त सारे तुखार देशमें बौद्ध-विहार फैले हुए थे। तुखार देश वक्षुके दोनों पार हिन्दूकुश और दरबन्दकी पहाड़ियोंके बीचमें था। आजकल यद्यपि नदीके दोनों तटके लोग एक ही उजबेक जातिके हैं, एक ही भाषा बोलते हैं; किन्तु उत्तरी भाग सोवियतमें है और दक्षिणी भाग अफगानिस्तानमें।

(१) जातियोंकी खिचड़ी—

मध्य-एसियामें बौद्धधर्मके प्रसारके बारेमें अधिक कहनेसे पहिले थोड़ा वहाँकी जातियोंके बारेमें कह देना आवश्यक है। वैसे तो जातियाँ दूसरे देशोंमें भी मिश्रित होती रही हैं, किन्तु यह मिश्रण जितनी शीघ्रता, जितनी विलक्षणतासे, मध्य-एसियामें होता रहा, वैसा शायद ही कहीं रहा हो। पेकिङका-मानव पुरा-पाषाण-युगका बहुत पुराना नमूना है, लेकिन दक्षिणी उजबेकिस्तानमें भी उससे पीछे किन्तु पुरा-पाषाण-युगके आदमीकी खोपड़ी मिली है। लेकिन यह इतिहासके बहुत प्राचीनकालकी बात है। वहाँ नवपाषाण-युगके गाँवों और उनकी चीजोंका पता लगा है। उस समयके लोग भूमध्यसागरीय जातिके-से मालूम होते हैं। फिर निम्नवक्षुके किनारेके रेगिस्तानोंमें जो पुराने अवशेष मिले हैं, उनके मिट्टीके बर्तनोंका सादृश्य सिन्धु-उपत्यका और बलोचिस्तानके बर्तनोंसे अधिक है, अर्थात् उनका सम्बन्ध सिन्धु-उपत्यकी पुरानी (द्रविड़) जातिसे था।

पिछले पाँच-हजार वर्षोंके मध्य-एसियाके इतिहासको संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है: नवपाषाण-युगके आरम्भमें वक्षु और सिर-दरियाओंके बीच और नीचेकी भूमिमें सिन्धु-उपत्यका की पुरानी जातिसे सम्बन्धित कोई जाति रहती थी, जो आखेट और पशु-पालनके अतिरिक्त

थोड़ी खेती भी कर लेती थी। उस वक्त इस जातिके निवासके उत्तर किप्चक-मरुभूमि, वोल्गा और उससे पश्चिम काफी दूर तक आखेटजीवी घुमन्तू आर्य-शक रहा करते थे। अकाल-महामारी पड़ी या परस्पर कलह हुआ या लूटका प्रलोभन मनमें आया, जैसे भी हो, इन घुमन्तुओंका एक भाग वोल्गाके आरपार कहींसे भाग कर अपने घोड़ों, भेड़ों, गायों और कुत्तोंको लिये अराल समुद्र और उसके पूरब-पश्चिमके मैदानोंकी ओर आया। वह तूफानकी तरह आया था, जैसे कि पीछे ईसाकी पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक दूसरे घुमंतू यहां आया करते रहे। घुमन्तुओंने स्थानीय निवासियोंमें से कितनोंको मारा, कितनोंको काम लेनेके लिये जीते रहने दिया। पहिले उनका अपने तंबू और पशुओंसे ही स्नेह रहा और खेती करनेवालोंसे उनकी चीजें थोड़ी-बहुत ले लेते थे। शताब्दियां बीतते-बीतते पहलेकी जातियोंके रक्त-सम्मिश्रणसे एक नई जाति बन गई। उक्त नवागंतुक जाति अपनेको आर्य कहती थी। वक्षुकी इस विशाल भूमिमें कुछ दिनों रहनेके बाद इन्हींकी एक शाखा भारत आई, जो भारतीय आर्य कहलाई; दूसरी ईरानमें फैल गईं, जिसने आर्य नामसे ही अपनी उस भूमिका नाम ईरान रक्खा। जिस वक्त आर्य अपने मूलस्थानसे वक्षु-उपत्यकाकी ओर आये, उससे कुछ शताब्दियों बाद वहां बच रहे उनके कुछ बंधु शक पूरबकी ओर बढ़ते वर्तमान कज़ाकस्तान तथा पूर्वमें सर्वत्र फैल गये। घुमन्तुओंके मूलस्थान कहनेका कभी यह अर्थ नहीं है, कि वह सौ-पचास मीलका एक छोटा-सा प्रदेश होगा। घुमन्तुओंके लिये सालमें पाँच-सात सौ मीलका चक्कर कोई चीज नहीं है। आर्योंके उन बच रहे भाइयोंका क्या नाम था, यह कहना सम्भव नहीं है; किन्तु वह उसी जातिके पूर्वज थे, जो पीछे ताम्र-युगमें अल्ताई और उसके आगे तक फैलती ईसापूर्व तीसरी-चौथी शताब्दीमें कंसू तकमें बस गई थी, और जिस जातिको हम "शक" नामसे जानते हैं।

आर्य, शक घुमन्तू बंधुओंको सम्मिलित जातिके तौरपर आर्य-शक कहा जा सकता है। इनके दूसरे सम्बन्धी भाषामें कुछ दूरके थे। दोनोंमेंसे आर्य-शकको शतम् वंश कहा जाता है और दूसरेको केन्तम्। अपनी-अपनी भाषामें वे लोग सौको शत या केन्त कहते थे, इसीलिए उन्हें ये नाम दिये गये। जो जाति कंसू तक फैल गई, वह शतम् वंशकी थी। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि आर्य-शकोंसे भिन्न केन्तम् वंश सब-का-सब यूरोपमें रह गया। मध्य-एसियामें प्राप्त एक तुखारी-भाषा केन्तम् वंशकी थी, यह बहुत आश्चर्यकर आविष्कार है। इस चिरविलुप्त केंतम् भाषाके कितने ही अपूर्ण ग्रन्थ मिले हैं। ज्ञानको तुखारी (क) में "क्नान" कहा जाता था, जो पश्चिमी यूरोपीय भाषाओंके "क्नौन" से मिलता है। दूसरे कुछ **स-शके क** होनेके उदाहरण लीजिये:—

ओक्ध—अष्ट
विकी—विंशति
ओक्तुक्—असीति

आर्योंके बाद जो लोग पूरबकी तरफ फैले थे, वह केवल शतम् भाषाभाषी ही नहीं थे, बल्कि उनमें कुछ केन्तम्के भी बोलनेवाले थे। घुमन्तू कबीलोंमें कभी-कभी भिन्न-भिन्न भाषाभाषी घुमन्तू भी शामिल होते दिखाई पड़ते हैं, इसे हमने हूणोंमें देखा, अवारोंमें देखा, तुर्कोंमें भी देखा। जब एक घुमन्तू जाति बलिष्ठ हो जाती है, तो कितने ही दूसरे घुमन्तू भी लाभमें भाग लेनेके लिए साथ हो चल देते हैं। तरिम-उपत्यकामें तुखारी भाषाभाषी प्राचीन कालमें एक साथ आये या पीछे भागकर वहाँ शरणार्थी हुए अथवा हो सकता है, केन्तम् भाषाभाषी ताम्रसे पहिले परिचित हुए हों और शक उन्हें ताम्रकार धातुकारके तौरपर ले आये हों। किसी तरह भी हमें

इसकी व्याख्या करनी ही पड़ेगी, क्योंकि शतम्‌के समुद्रमें केन्तम्‌का द्वीप उत्तरी तरिम-उपत्यकामें ईसाकी आरम्भिक शताब्दियों और बादमें रहता रहा। शक, पार्थिव एक दूसरेकी समीपवर्ती जातियाँ थीं, यह हम अन्यत्र कह आये हैं। इन शकोंके कई अलग-अलग कबीले रहे होंगे, जिनमें सिकन्दरसे पहिलेवाले कुछके नाम ग्रीक-इतिहासकारोंने दिये हैं। यूची, वू-सुन्, क्वयि-साङ (कुशाण) जैसे नाम चीनियोंने दिये हैं। इन्हीं शकोंका एक कबीला खश था, जिसे हम काशगर और कश्मीरके नाममें पाते हैं तथा खश-जातिके नामसे सारे हिमालयमें फैला देखते हैं। ये खश या कश ईसापूर्व दूसरी सदीमें भारत आनेवाले शकोंसे पहिले ही पहाड़ों-पहाड़ भारतमें चले आये थे और वह चिरकाल तक हिमालयकी चरभूमियोंमें पशु-चारण करते थे। ईसापूर्व दूसरी सदीमें जब चीनियों और हूणोंका भारी संघर्ष हुआ, तो ओर्दुस(ह्वाङ-हो) के उत्तर-उत्तर मंगोलियाकी ओर हूण रहते थे और ह्वाङहोसे पश्चिम कंसू, तुङह्वाङकी ओर यू-ची-जातिको पशु-चारण करते थे। तेरहवीं शताब्दीके आरम्भमें जिस जगह चिंगीस खानने तंगूतों (अम्दो) से संघर्ष किया था और अन्तमें अपना प्राण भी खोया था, उसी जगह उससे १४०० वर्ष पहिले यू-ची रहते थे। यू-चीको कोई-कोई विद्वान् ऋचीकका रूप बतलाते हैं और कोई-कोई कुशाणका ही इसे रूप-परिवर्त्तन समझते हैं। जो भी हो, ईसापूर्व १७० ई०में हूणोंके बड़े क्रूर प्रहारके बाद यू-ची अपनी भूमि छोड़नेके लिए मजबूर हुए। हूणोंने भागते हुए वर्त्तमान इली-उपत्यकाके वू-सुन् नामकी दूसरी शक-जातिको भी खदेड़ा। हूणोंका प्रभाव और दबाव जैसे-जैसे बढ़ा, वैसे-वैसे शक कबीले यक्सर्तस् (सिर-दरिया) और वक्षु नदीकी ओर अपने तम्बुओं, पशुओं और परिवारोंको लेकर भागते गये, और अन्तमें १३० ईसापूर्वमें वह बाख्तर (बलख)के ग्रीक राजवंशको नष्ट करके अपना अधिकार जमानेमें सफल हुए।

(२) मध्य-एसियामें चाङ-क्याङ (१३८–१२६ ई० पू०)—

इसी समय यूचियोंको चीनके साथ मिलकर दोनोंके शत्रु हूणोंसे लड़ानेके लिए चाङ-क्याङ दूत बनाकर भेजा गया था। यूचियों तक पहुँचनेसे पहिले ही रास्तेमें उसे हूणोंने पकड़ लिया और दस साल बन्दी बनाके रक्खा। इलीवासी वू-सुन्, हूणोंके जुएको फेंक रहे थे, इस अवसरसे लाभ उठाकर चाङ-क्याङ निकल भागा और ता-युवान् (खोकन्द) जा पहुँचा। यहाँ फर्गानामें घुमन्तू जीवनका नाम नहीं था, बल्कि बाकायदा गाँव और नगर बसे हुए थे। वहाँसे वह समरकन्द (काङ)के रास्ते ता-यू-ची और फिर यू-ची (तुखार देश) पहुँचा। उसके आगे अन्-सी (पार्थियन) राजाओंका राज्य था। उसने पामीरके तुखारियों (ता-हिया)को देखा, जो यू-चीकी प्रजा थे। एक साल तुखारियोंमें बिताकर जब वह लौटकर चीनकी ओर जा रहा था, तो खोतन-लोब्नोरके रास्तेपर हूणोंने उसे पकड़ लिया। साल-भर बाद फिर वह वहाँसे निकल भागनेमें समर्थ हुआ। चाङ-क्याङने जो कुछ देखा-सुना, उसकी सूचना सम्राट्‌को दी और सलाह दी, कि लोब्नोर और कोक्-नोरके हूणोंसे बचकर भारतका रास्ता आधुनिक जेचुवानसे निकाला जा सकता है।

बाख्तरमें पहुँचकर चाङ-क्याङने यूचियोंको अपने देशके पुनर्विजयके लिए बहुत उकसाया उन्हें चीनसे मिलकर हूणोंसे लड़नेमें सफलताकी आशा दिलाई; किन्तु यू-ची अब नये देशके शासक थे, वे वहाँ आरामसे जीवन बिता रहे थे। उन्होंने उसकी बात नहीं मानी।

× × ×

(३) श्वेत हूण—

जिस प्रकार ग्रीक शासनको शकोंने खतम किया था, उसी प्रकार शकोंके शासनको श्वेत हूणोंने समाप्त किया। इनके उद्गमके बारेमें "हूण" शब्द भ्रामक है, वस्तुतः यह हूण नहीं, शकार्यवंशी थे।

हूणोंको ईसापूर्व द्वितीय शताब्दीमें भारी क्षति पहुँचाकर चीनने पश्चिमकी ओर ढकेल दिया, फिर उन्होंने भी मरुभूमिसे आगे बढ़ते शकोंके भिन्न-भिन्न कबीलोंको ढकेलकर गोबीकी आधुनिक कजाकस्तानकी वोल्गाके तट तककी भूमिको शकोंसे खाली करवा लिया। हूणोंका एक गरोह बढ़ते-बढ़ते अतिलाके नेतृत्वमें चौथी सदीमें दन्यूबके तटपर आधुनिक हंगरीमें पहुँच गया। कजा-कस्तान (इलीसे लेकर वोल्गा तक)की भूमिमें हूणोंका प्राबल्य हो जानेपर भी कुछ शक घुमन्तू वहाँ बच रहे थे, जो पीछे अपना ओर्दूले दक्खिनकी ओर बढ़े। इन्हींको हेफ्ताल या श्वेत हूण कहते हैं। किदार इनका मुखिया था। तोरमान और मिहिरकुल उसके उत्तराधिकारी थे। किदारका नाम भारतमें प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु उसके सिक्के मथुरा और लखनऊ म्यूजियममें हैं। तोरमानने तो ग्वालियर और विदिशा तक विजय किया था। इन्हीं हेफ्तालोंने बाख्तर और काबुलके कुषाण राज्यका उच्छेद कर दिया, गुप्त-साम्राज्यको ध्वस्त करके फिर उठने लायक नहीं रहने दिया, सासानी (ईरान) राजा पीरोजको ४८४ ई०में मार डाला और ईरानको कितने ही सालों तक अपना करद बनाके रक्खा। इनकी राजधानी वरख्शा, बुखारासे पाँच-छ मीलपर अवस्थित थी, जहां इनके महलोंकी दीवारोंपर बहुत सुन्दर चित्र बने हुए थे। पाँच-छ साल हुए वरख्शाकी खुदाई हुई, जिसमें भित्तिचित्रोंके अवशेष मिले हैं। उनपर सासानी कलाकी भी छाप है, लेकिन वह मुख्यतः भारतीय शैलीके हैं। कुछ विद्वान् हेफ्तालयोंकी राजधानीको वरख्शा नहीं, बदख्शा बताते हैं, लेकिन यह विचार प्रामाणिक नहीं मालूम होता।

हेफ्ताल क्यों सिर-दरियाके परेकी अपनी भूमि छोड़नेके लिए मजबूर हुए? अवार, जिन्हें ज्वान्-ज्वान् भी कहा जाता है, हूणोंके वंशज और हूण-शक्तिके उत्तराधिकारी हो गये थे। इनका विशाल साम्राज्य कराशहरसे कोरिया तक फैला हुआ था, और राजधानी तुन्ह्वाङ थी। तुर्क इनके दास या अर्धदास थे, जो इनकी ओरसे अल्ताईकी खानोंमें काम करते थे। काला-न्तरमें दास शक्तिशाली हो गये। उन्होंने स्वामियोंको मार भगाया। अवारोंका स्थान तुर्कोंने लिया। अवार पश्चिमकी ओर भगे, जिनके मार्गमें पड़े बचे-खुचे पुराने शक (जो हूणोंमें बहुत दिनों तक रहनेके कारण कुछ हूण-से बन गये थे, लेकिन रंग अधिक साफ होनेके कारण श्वेत हूण कहे जाते थे)अपने निवास-स्थानको छोड़ दक्षिणकी ओर भागे। यही श्वेत हूण या हेफ्ताल थे। यूचियोंके अपनी पूर्व भूमिसे भाग आनेका यह अर्थ नहीं, कि सारी तरिम-उपत्यका या काशगर-खोतनका प्रदेश शकोंसे खाली हो गया था। चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक, बल्कि उसके पीछे तक भी—जब कि अवार, तुर्क, उइगुर जैसी मंगोलायित जातियोंका इस भूमिपर राजनीतिक प्रभुत्व था—तरिम-प्रदेशमें हूणी या तुर्की भाषा नहीं बोली जाती थी, न मंगोलीय चेहरोंकी प्रधानता थी। ईस्वी सन्के आरम्भके समय राजनीतिक प्रभुत्व चाहे जिसका भी हो, किन्तु कराखोता, तुनह्वाङ, कूचा, काशगर आदिमें शकायी, तुखारी, सोग्दी और शायद नियाकी भाँति एकाध जगह भारतीय भाषा भी बोली जाती थी। किन्तु आज पूर्वी और पश्चिमी तुर्किस्तानमें तुर्की भाषा बोली जाती है, इसलिए तुर्कोंके साथ जब सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसी समयसे तुर्की भाषा पहिलेकी भाषाओंको हटाकर आ जमी, यह धारणा गलत है। पश्चिमी तुर्किस्तानमें

जहाँ थोड़े-से ताजिकोंको छोड़कर तुर्की भाषा-भाषी (उज्बेक) लोग मिलते हैं, वहाँ भी मंगोलोंके आनेसे पहिले ताजिकी-भाषा ही सर्वत्र बोली जाती थी। अरब सेनापति कुतैबने जब ख्वारेज़्म और समरकन्द (७११ ई०)पर अधिकार किया था, उस समय इस सारे प्रदेशकी बोली सोग्दी थी, यद्यपि वहाँ डेढ़ सौ वर्षोंसे अधिकसे तुर्कोंका राज्य था। ७२७ ई०में कोरियाका भिक्षु ह्वे-चाउ बामियाँ और आसपासके इलाकेमें गया था। उस समय उसने कपिशा (कोहदामन, काबुल) और इस पारके लोगोंके रीति-रिवाजको एक प्रकारका देखा था, फर्क सिर्फ सोग्दी और ईरानी भाषाके बीच जैसा था।

जान पड़ता है, ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक उभय मध्य-एसिया (सोग्द और काशगरिया) अभी भाषा और जाति दोनों दृष्टिसे मंगोलायित जातियोंसे प्रभावित नहीं हुआ था। यह प्रभाव काशगरियामें आठवीं-नवीं शताब्दी और सोग्दमें दसवीं शताब्दीके बाद बहुत अधिक पड़ने लगा, जिसका वेग इस्लामके पूर्ण विजयके साथ और भी बढ़ा।

बौद्ध-संस्कृतिका अन्त स्वेन्-चाङके समयमें नहीं हुआ था। उस समय समरकन्दमें बौद्ध-विहार थे। बाख्तरका नवविहार बहुत विशाल एवं प्रसिद्ध था। स्वेन्-चमङने सातवीं सदीके द्वितीय पादमें बौद्धधर्मके पतनका वहाँ लक्षण नहीं देखा था। ७२७ ई०में कोरियन भिक्षु ह्वीचाउने बामियाँके पास अभी विहारों और भिक्षुओंको लुप्त नहीं पाया था, हालाँकि अरबोंकी विजय यात्रा आरब्ध हो चुकी थी और बौद्धधर्म वहाँसे मिटनेवाला था।

× × ×

§२. भिन्न-भिन्न समयोंमें जातियां

ऐतिहासिक कालपर विचार करते हुए मध्य-एसियाके नक्शेपर हमें जातियोंका स्थान निम्न प्रकार मालूम होता है:—

(१) कुरव महान् (५२९ ई० पू०)—सिर-दरिया और अरालसे उत्तरकी ओर शक-घुमन्तू, इली और तरिमकी उपत्यकाओं तथा लोब्नोरके पास तक भी शक कबीले, जिनमें तरिम-उपत्यकामें कहीं-कहीं केन्तम्-भाषा-भाषियोंके द्वीप थे, सिर-दरियासे हिन्दूकुश तक सोग्द भाषाभाषी (ईरानी), मंगोलिया-मंचूरियामें हूण।

(२) सिकन्दर (३२९ ई० पू०)—सिर-दरियाके उत्तर और अराल समुद्रके पास शक कबीले, जिनमें कास्पियन तटपर पार्थिव या पह्लव थे; इली और तरिमकी उपत्यकाओं तथा कन्सू तक शक कबीले, जिनमें तरिम-उपत्यकामें केन्तम्-भाषा-भाषियोंके कुछ द्वीप थे; सिर दरियासे हिन्दूकुश तक सोग्दी-भाषा-भाषी; मंगोलियामें हूण।

(३) (१७५ ई० पू०)—कन्सू और लोब्नोरमें यू-ची (ऋचीक) शक; इली उपत्यकामें वूसुन्, सिर-दरिया और हिन्दूकुशके बीच सोग्द-भाषा-भाषी, निम्न वक्षु और कास्पियनके पूर्व और दक्षिणपर पार्थिव; मंगोलिया और ओर्दुसमें हूण।

(४) चाङ्-क्याङ् (१३८-१२६ ई० पू०)—कन्सू, लोब्नोरमें हूण; इलीमें वूसुन् (शक); तरिममें शक और शकोंके भीतर केन्तम्-भाषी द्वीप तथा कुछ भारतीय औपनिवेशिक; फरगाना (मध्यसिर) और जरफ़शाँ-उपत्यकामें सोग्द, सोग्दोंके भीतर शक कबीले। तुखारिस्तान या मध्यवक्षु-उपत्यका अर्थात् दरबन्द पर्वतमालासे हिन्दूकुश तक पूर्वी ईरानियोंके बीच शकोंके ओर्दू तथा ग्रीक औपनिवेशिक।

(५) **कनिष्क (७८ ई०)**—कन्सूमें हूण, लोब्नोर और तरिममें शकोंके बीचमें केन्तम्-भाषियों तथा भारतीयोंके द्वीप, इली और चू-उपत्यकाओंमें हूण-कबीलोंके बीच शकोंके अवशेष; सिरसे हिन्दूकुश तक सोग्द-भाषा-भाषी तथा कुषाण कबीले; निम्न वक्षु और कास्पियनके दक्षिण-पश्चिम तटपर पह्लव।

(६) **फा-शीन् (४०० ई०)**—कन्सूमें तो-पा, लोब्नोरमें तंगुत् और शकोंके अवशेष; तरिम-उपत्यकामें शकोंके भीतर केन्तम्-भाषियों और भारतीयोंके द्वीप; इली-उपत्यकामें हूणोंके बीच शकोंके अवशेष; चू-उपत्यका और निम्न सिर-उपत्यकामें हूणोंके बीच शकावशेष (हेफ्ताल या श्वेत हूण); फरगाना, ज़रफ़शा और वक्षु-उपत्यकामें सोग्द-भाषा-भाषी तथा मिश्रित शक (तुखार)।

(७) **श्वेत हूण (५३० ई०)**—कन्सूमें अवार (हूणिक), लोब्नोरमें तंगुत; अल्ताई, इली-उपत्यका, चू-उपत्यका और निम्न सिर-दरियामें अवार (दक्षिणी अल्ताईमें अवारोंके भीतर तुर्कदास); सिरसे हिन्दू-कुश तक सोग्दी भाषाभाषियोंके भीतर तुखार द्वीप और हेफ्ताल (श्वेत हूण) कबीले;

(८) **स्वेन्-चाङ् (६३० ई०)**—कन्सूमें तुर्क, लोब्नोरमें तंगुत्, तरिम-उपत्यकामें शकोंके भीतर केन्तम्-भाषी, भारतीय और तुर्क, इली-उपत्यकामें तुर्क, चू-उपत्यकामें तुर्कोंके भीतर सोग्द, निम्नसिरमें तुर्क, सिरदरियासे हिन्दूकुश तक सोग्दीयों और तुखारियोंके बीच तुर्क, निम्न वक्षुमें सोग्दी; कास्पियन-दक्षिण-पूर्व तट, मेर्व तथा दक्षिणमें ईरानी।

(९) **अरब-विजय (७११ ई०)**—कन्सू और लोब्नोरमें तंगुत; तरिममें शक; इली, चू, निम्न सिर-उपत्यकाओंमें तुर्क, सोग्दी भी कुछ; फरगानासे हिन्दूकुश तक सोग्दियोंके भीतर तुर्क।

(१०) **महमूद ग़ज़नवी (१००० ई०)**—कन्सू और लोब्नोरमें तंगुत, तरिम-इली-चू और निम्न सिर-उपत्यकाओंमें तुर्क, सिरसे हिन्दूकुश तक, ताजिक और तुर्क, (भारतमें प्रतिहार-राज्य)।

(११) **चिंगिस्खान (१२२७ ई०)**—कन्सू-लोब्नोरमें तंगुत; तरिम, इली-चू-निम्न सिर एवं निम्न वक्षुमें तुर्क; सिरसे हिन्दूकुश तक तुर्कोंके बीच ताजिक, मेर्व और दक्षिण-पश्चिम कास्पियन तटपर तुर्कोंके बीच ईरानी।

३. सोग्द

(१) **भौगोलिक**—

उभय मध्य-एसियामें जातियोंके निवास को अभी बतला चुके। इनमें ७२७ ई०में कोरियन भिक्षुके आने तक बौद्धधर्म बामियाँ, अर्थात् तुखार (हिन्दूकुशसे दरबन्द पर्वत तक)में बौद्धधर्मकी अधिक क्षति नहीं हुई थी। हाँ, यह अरबोंके साथ सोग्दियोंका आत्मरक्षाके लिए भयंकर संघर्षका समय था (सिन्ध अरबोंके हाथमें चला जा चुका था)। फरगाना और ज़रफशाँ-उपत्यकामें सौ वर्ष पहिले स्वेन्-चाङके समयमें भी ज़रथुश्ती धर्मकी प्रधानता थी, जिसमें कुछ बौद्ध भी रहते थे। आठवीं शताब्दीमें हम दोनों मध्य-एसियाको तुर्किस्तान कह सकते हैं, लेकिन तुर्क शब्द अभी इस्लामका पर्याय नहीं बना था। पश्चिमी तुर्किस्तान भी समानी-वंशके शासक नस्र (९१३-९४३ ई०)के समय ही पूर्णतया मुसलमान हुआ। इसके बाद तेजीसे इस्लाम

तरिम और चू-उपत्यकाओंकी तरफ बढ़ा। १००० ई०के आसपास खुतन, काशगर आदिने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

(२) सोग्दी-भाषा और साहित्य—

पश्चिमी मध्य-एसियाकी ज़रफ़शाँ नदीका पुराना नाम सोग्द (सुग्ध) है। इसीके किनारे समरकन्द और बुखाराके ऐतिहासिक नगर हैं। ईरानी वंशकी होती हुई भी सोग्दी-भाषाकी अपनी विशेषता यह थी, कि वह संस्कृतके नजदीक थी। संस्कृतके कितने ही शब्द जो ईरानीमें नहीं मिलते, वह सोग्दीमें मिलते थे। सोग्द-शासककी लड़की रोक्सानासे सिकन्दरने ब्याह किया था और उससे एक पुत्र हुआ था। माँ-बेटे दोनों पारिवारिक कलहकी भेंट हुए। वर्तमान ताजिक सोग्दोंके वंशज हैं, किन्तु दोनोंमें भेद भी है। अरबोंकी विजयके बाद प्रथम मुसलमान बने ईरानी अरबोंके सहायक बनकर सोग्द देशमें आये। उनका प्रभाव धीरे-धीरे इतना बढ़ा, कि सोग्दी-भाषाकी जगह खुरासान (पूर्वी ईरान)की भाषा वहाँ छा गई। समय पाकर सोग्दी-भाषाका वहाँ कोई नमूना नहीं रह गया। मध्य-एसियाके अनुसन्धानोंने उस मृत-विस्मृत भाषाके अभिलेखोंको उसी तरह प्रचुर परिमाणमें प्रदान किया, जिस तरह विस्मृत तुखारी और शक-भाषाके अभिलेखोंको। १९३३ ई०के करीब समरकन्दके पास मुग पर्वतकी खुदाईमें अरबोंसे अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रताके लिए लड़नेवाले राजाका दफ्तर मिला, जिसमें ७० के करीब राजकीय चर्मपत्र थे। सोवियतके विद्वानोंमें इससे बहुत प्रसन्नता हुई थी। सोग्दी-भाषाका प्रमुख क्षेत्र सोग्द-उपत्यका ही नहीं, सिर-दरियासे वक्षूके उत्तरी पहाड़ों तक था। अरब-शासन और खुरासानी प्रभुत्वके पहिले और पीछे सामानी-जैसे ईरानी वंशके शासन तथा अन्तमें तुर्क जातियोंके प्राबल्यके कारण सोग्दी-भाषा सिमटती गई। अन्तमें उसे समरकन्दके ऊपरी पहाड़ोंमें शरण लेनी पड़ी, जहाँ गलचा-भाषाके रूपमें अब वह अग्निक नदीके तीन-चार गाँवोंमें रह गई है। सोवियतके विद्वान बड़ी शीघ्रतासे उस भाषाके शब्दकोष, महावरों आदिको जमा करनेके लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। सोग्दी-भाषा यद्यपि शकद्वीपके तरिम-चू या इली-उपत्यकाओंकी भाषा नहीं थी, किन्तु सोग्दी-व्यापारी सब जगह फैले हुए थे, इसी कारण सोग्दी-अभिलेख वहाँ मिले हैं।

पूर्वी मध्य-एसियामें सोग्दीय व्यापारी ही नहीं बसे हुए थे, बल्कि ईरानमें घोर दमनके कारण वहाँसे मानीके अनुयायी भी इधर भाग आये थे। चीन के वर्णनमें हम देखेंगे, कि कैसे उनकी चीन राजधानी तक पहुँच थी। मानीपन्थ तो एक समय उइगुरोंका राजकीय धर्म हो गया था। यही कारण है, जो तुन्ह्वाङमें सोग्दी-भाषामें इतने अधिक हस्तलेख मिले।

सोग्दियोंका दोनों मध्य-एसियापर काफी सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा। लोब्नोरके दक्षिणमें सोग्दियोंका एक उपनिवेश था, जिसमें मानी ही नहीं, नेस्तर और बुद्धके भी माननेवाले थे। वहाँ बौद्ध-ग्रन्थ भी सोग्दी-भाषामें अनूदित हुए। यद्यपि जो हस्तलेख हमें मिले हैं, उनमें बौद्धोंके प्रतीत्य-समुत्पादसूत्रको छोड़कर अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अभाव है, किन्तु हो सकता है, दूसरे ग्रन्थ हम तक पहुँच नहीं पाये। तुन्ह्वाङके हस्तलेखोंमें "वज्रच्छेदिका" और "सुवर्णप्रभास"के सोग्दी-अनुवादोंके अंश मिले हैं। इनके अतिरिक्त "वेसन्तर जातक" "नीलकंठधारणी"के भी कुछ भाग मिले हैं। सोग्दियोंके छोटे-से उपनिवेशमें बौद्धधर्मकी अपेक्षा उनका जातीय धर्म ज़रथुस्ती या मानीपन्थ अधिक प्रिय रहा होगा।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है, कि मानीके धार्मिक विचारोंपर बौद्धधर्मका प्रभाव पड़ा था। मानीका जन्म २१६ ई०में मेसोपोतामियाँमें ईरानी पिता-माताके घरमें हुआ था। उसने ईसाई, जर्थुश्ती और बौद्ध तीनों धर्मोंका समन्वय करना चाहा था, जिसके कारण उसे और उसके अनुयायियोंको शक्तिशाली ईरानी पुरोहितोंका कोप-भाजन बनना पड़ा। मानीने स्वयं कितने ही ग्रन्थ और पत्र भी लिखे थे। वह विचारकके साथ-साथ एक अच्छा चित्रकार भी था।

मेसोपोतामियाँमें ईसाई मानीको शैतानका अवतार और ईसाई सिद्धान्तोंका जाल करनेवाला कहते थे। मध्य-एसियामें तो मानीपंथवालोंने बौद्धधर्मके विचारों और परिभाषाओंको और भी अधिक अपनाया था। मानीने अपनी पुस्तक "शापूरगान"में लिखा है—"भगवानके दूतोंने समय-समयपर सदा मानव-जातिके पास ज्ञान और कर्म (शील) का संदेश पहुँचाया, जसे कि एक समय उन्हें (संदेशोंको) पैगम्बर बुद्धने भारतको, जरथुस्तने ईरानको और ईसूने पश्चिमको संदेश दिया।" जर्मन विद्वान् कैस्लरके अनुसार "शील (सदाचार) के संबंधमें मानीने बुद्धकी शिक्षाओंका प्रयोग किया।" इसमें संदेहकी गुंजाइश नहीं है, कि मानीने भारतकी लंबी यात्रा की थी। वह बौद्धधर्मको जानता था। उसके ग्रन्थोंमें बुद्धका नाम आया है, अतः नये धर्मकी स्थापनाके समय उसका ध्यान उसकी ओर जरूर गया होगा।

मानीमें अपने धर्म-प्रचारके लिए फारसी और सिरियाकी भाषाओंका उपयोग किया, किन्तु लिपि उसने अपनी खाश तरहसे बनाई थी। यह लिपि सिरियाकी लिपिकी अपेक्षा अधिक उच्चारणानुरूप है। इस लिपिको सोग्दी कहा जाता है। बौद्ध प्रचारकोंने भी अपने अनुवादोंमें इसी लिपिका प्रयोग किया है। मध्य-एसियाके अनुसंधानोंने मानीके धर्मको जाननेमें बड़ी सहायता की। विद्वानोंने मानीपंथके बहुतसे ग्रन्थोंके मूल एवं अनुवाद प्रकाशित किये हैं।

अध्याय ३

सिङ्-क्याङ्-(चीनी तुर्किस्तान)

§१. भौगोलिक

सिङ्-क्याङ्का क्षेत्रफल ५ लाख ५० हजार वर्गमील, अर्थात् मंचूरियासे दूना, सेचुवानसे तिगुना हैं। यह मंगोलिया, सोवियत-भूमि, अफगानिस्तान, भारत, तिब्बत और चीनके कन्सू-प्रान्तसे घिरा है। अब यह कमूनिस्त चीनका अंग है।

यहां जुङ्गारी, तकलामकान जैसे मरुस्थल, लोब्नोर झील तथा तरिम, काशगर, यारकंद, खोतन एवं इली, काली-इर्तिश आदि नदियाँ हैं। आजकल प्रसिद्ध नगर हामी, तुर्फान, कराशहर, कूचा, अक्सू, या-चू, काशगर, शूले, यारकंद, खोतन, यूतियान हैं। बर्कुल, कुचिङ्जे, उरुम्ची (तिहुवा), सुइलयि, उस, चुगुत्रक और इली (सुइतिङ) उत्तरी सिङ्-क्याङ्के नगर हैं।

जनसंख्या ३० लाख है। जातियोंमें चंतू (सिर बाँधनेवाले) तुर्क सारी जनसंख्याके ६० सैकड़ा हैं। मंगोल ६ सैकड़े हैं, जो इली-उपत्यका और उत्तरी सिङ्-क्याङ्में रहते हैं। कजाक इली-उपत्यका और अल्ताई (पर्वतमाला) में रहते हैं। किरगिज काशगर और उच्चमें रहते हैं। यहां ६० हजार रूसी भगोड़े भी आये।

§२. प्राचीन पोथियोंका आविष्कार

पूर्वी तुर्किस्तानमें शताब्दियोंसे मृत्युकी शांति छा गयी थी। इस भूमिपर कभी आजसे भी अधिक कोई उच्च संस्कृति थी, कभी मरुभूमिके गर्भमें भी नगर, लहलहाते खेत और मेवोंके बाग थे, इसका पता पहिलेसे भी लोगोंको था, इसीलिये खजाना ढूँढ़नेके लिये कभी-कभी स्थानीय लोगोंमेंसे किसी-किसीने प्रयत्न भी किया था; लेकिन खजाना फर्माइश पर तो नहीं निकाला जा सकता। किसके पास इतना खजाना पहिलेसे धरा हुआ था, कि अपने ऊँटों और गदहोंपर खाना-पानी लाद, दिनोंका रास्ता नाप उस मरुभूमिमें जाकर डेरा डालता और हजारों मन बालू-मिट्टी हटाता सो भी ऐसी जगहमें, जहां कभी भी बवंडर उठकर लाखों मन बालू गिराकर सबकी जीवित समाधि बना सकता था। उन्नीसवीं सदीके मध्यसे पश्चिमके विद्वानोंमें पूरबकी संस्कृति और सभ्यताके जाननेकी जिज्ञासा हुई, जिसमें संस्कृतकी सर्वत्र स्वीकृत प्रतिष्ठा सहायक हुई और विद्वान् पुरानी पोथियों तथा अभिलेखोंके संग्रहमें तत्परता दिखलाने लगे।

१८७० ई० में मध्य-एसियामें एक हस्तलेख मिला! ५ नवम्बर १८९० ई० को बंगाल एसियाटिक सभाकी साधारण बैठकमें कर्नल वाटर हौसने काशगर (पूर्वी तुर्किस्तान) में लेफ्टिनेंट बावर द्वारा प्राप्त उक्त भोजपत्र पोथीका एक हस्तलेख और कुछ मुद्रायें प्रदर्शित कीं। प्रदर्शित वस्तुओंके बारेमें साथही बावरने निम्नलिखित टिप्पणी लिखी थी—

"मैं जब कूचारमें था, तब एक आदमीने मुझे एक भूगर्भित नगर दिखलानेकी बात कही, किन्तु शर्त यह रखी, कि मैं आधीरातको जाऊँ। वह डर रहा था, यदि मैं एक यूरोपीयको वहां ले जाऊंगा, तो चीनी (अधिकारी) उसे मुश्किलमें डालेंगे। मैंने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया और हम आधीरातको चले। उसी आदमीने मुझे भोजपत्रपर लिखे पुराने हस्तलेखका एक पुलिन्दा लाकर दिया। वह एक विचित्र-सी पुरानी इमारतकी जड़में खोदनेपर निकला था। ऐसी इमारतें कूचा जिलेमें बहुत-सी मिलती हैं। काशगरमें भी नदीके उत्तरी तटपर ऐसी एक इमारत है। जिस इमारतसे हस्तलेख मिले थे, वह उक्त भूगर्भित नगरसे सटी हुई बाहरकी तरफ है। मेरा विश्वास है कि हस्तलेख और ध्वंसावशेष बौद्धोंके हैं।"

कर्नल वाटर हौसने इन हस्तलेखों और उनकी प्राप्तिके बारेमें कुछ नहीं कहा। कुछ विद्वानोंने बतलाया, यह हिन्दी-तातार-संस्कृतमें हैं, जिसका प्रचार खोतन और काशगरमें ईसाकी पहली शताब्दीमें था। हस्तलेखका ब्लाक बनाकर सभाके जर्नलमें इस विचारसे छाप दिया गया, कि शायद कोई सदस्य उसे पढ़ सके। यह खबर 'बंबई गजट' में भी छपी थी, जिसकी एक प्रति डाक्टर हर्नलको अदनमें मिली, जब कि मार्च १८९१ ई० में वह भारतकी ओर आ रहे थे। कलकत्ता पहुँचनेपर उन्हें मालूम हुआ, कि हस्तलेख कर्नल वाटर हौसके पास हैं। कर्नलने उन्हें देखनेके लिये दे दिया। डाक्टर हर्नलने हस्तलेखोंको देखकर उनपर नोट लिखा और १८९१ ई० में बंगाल एसियाटिक सभाकी एक बैठकमें बतलाया कि पुस्तक संस्कृतकी मालूम होती है।

ये हस्तलेख आविष्कारकके सम्मानमें बावर-हस्तलेखके नामसे प्रसिद्ध हुए। भारतकी आबो-हवामें भोजपत्र या तालपत्रकी पोथियोंको कीड़ों और धूप-शीतसे बचाना बड़ा मुश्किल है। नेपालका जलवायु कुछ अनुकूल होनेसे वहां ग्यारहवीं सदी तक की पुस्तकें मिली हैं। दसवीं-ग्यारहवीं सदीकी कितनी ही ताल-पुस्तकें लेखकने भी तिब्बतमें देखी हैं। अब तक सिर्फ तालके पत्ते ६०९ ई० तक के मिले थे, जो कि चीनके रास्ते जापान गये और अपने विहारके नामसे होरियोजी हस्तलेखके नामसे प्रसिद्ध हैं। बावर-हस्तलेख दो पत्ता नहीं, अधिक पन्नोंका था और उसका ग्रन्थ अपूर्ण नहीं, पूर्ण था। यह गुप्ताक्षरमें लिखा हुआ था। यह उस समय लिखा गया था, जब कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त उत्तरी भारतमें शासन कर रहे थे—अर्थात् चौथी सदीका उत्तरार्द्ध।

ये बातें जब प्रकाशित हुईं, तो इनसे प्राच्यविद्या-जगतमें सनसनी फैल गई। रूसी विद्वान् सबसे पहिले बौद्धधर्म और साहित्यके सम्पर्कमें आये थे और उन्होंने मंगोल, चीनी और तिब्बती भाषाओंका गभीर अध्ययन किया था। अभी उन्होंने ग्रंथोंको अनुवादमें पढ़ा था और यहां मरुभूमि में ऐसे भूमिनिहित नगरका पता लगा, जहां मूल संस्कृत-ग्रन्थोंके मिलनेकी सभावना थी। राज-धानी सेंतपीतरबुर्ग (आधुनिक लेनिनग्राद्) में खलबली मच गई। सम्राज्यी पुरातत्व-सभाका ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। काशगरके रूसी कौंसल-जेनरल पेत्रोव्स्कीको तुरन्त ऐसे अभिलेखोंकी खोज करनेका हुक्म हुआ। इसका परिणाम हुआ १८९१ में "पेत्रोव्स्की-हस्तलेखों" की प्राप्ति। इन्हें पढकर डाक्टर सेर्ज् ओल्दन्बुर्गने प्रकाशित किया।

ब्रिटिश सरकार क्यों पीछे रहने लगी। उसने कश्मीर, लदाख, काशगरम अवस्थित अपने अफसरोंको हस्तलेख खोजनेकी आज्ञा दी। इसका परिणाम हुआ, ल (लदाख) के मोरावियन-मिशनके पादरी वेबर द्वारा प्राप्त तथा उन्हींके नामस प्रसिद्ध "वेबर-हस्तलखों" का १८९१ ई० में मिलना। इन्हें एक काबुली व्यापारीने कुंइगर नामके ध्वंसावशेषमें खोदकर पाया था। इनमें ९ पुस्तकोंके छत्तीस पन्ने थे। कुइगर, ले और यारकंदके रास्तेपर चीनी तुर्कि-

स्तानकी सीमाके थोड़ा ही भीतर है। डाक्टर हर्नेलने अपना लेख वेबर-हस्तलेखोंके बारेमें बंगाल एसियाटिक सभाके जर्नलमें प्रकाशित कराया। इसी तरह काशगरके ब्रिटिश एजेंट मेकर्टनीको वहांसे और हस्तलेख मिले, जिन्हें उसने कश्मीरके रेजीडेंट टेल्बोटके पास भेज दिया। पता लगा कि बावर-हस्तलेखोंकी प्राप्तिके बाद दिल्दार खानने कूचामें एक जगह कितने ही और हस्तलेख पाये, जिनके अलग-अलग भाग बवर, मेकर्टनी और रूसी कौंसल-जेनरलके हाथोंमें पहुँचे। मेकर्टनीके हस्तलेखोंमें कुछ तालपत्रपर लिखे थे, कुछ भोजपत्रपर और कुछ कागजपर।

नवंबर १८९५ में डाक्टर हर्नेलके पास शिमलाके वैदेशिक विभागने लदाखके ब्रिटिश संयुक्त कमिश्नर कप्तान गॉडफ्रे द्वारा प्राप्त हस्तलेख भेजे। यह भी कूचामें खोदकर निकाले गये थे। चीनी अधिकारियोंके डरसे खोदनेवाले व्यापारियोंने अपना नाम नहीं बतलाया था। गॉडफ्रे-हस्तलेख डाक्टर हार्नेलके हाथमें पहुँचते-पहुँचते टूट-फाट गये थे। उस विद्वानने बड़े परिश्रमसे ठीकसे लगाकर उन्हें पढ़ा। अब यूरोपके विद्वानोंमें मध्य-एसियाके हस्तलेखोंके आविष्कारों ने बहुत उत्सुकता पैदा कर दी थी। अगस्त १८९७ ई० में डाक्टर हर्नेलने इनके बारेमें एक लेख लिखा और उसे सितंबर १८९७ ई० में पेरिसमें होनेवाली एकादश अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या-कांग्रेसके सामने पेश किया। एक बैठकमें फ्रेञ्च महाविद्वान् सेनार्तने एक और भोजपत्र-हस्तलेखके प्राप्त होनेकी घोषणा की, जो खरोष्ठी-अक्षरोंमें लिखे 'धर्मपद' का एक अंश था, जिसे फ्रेञ्च यात्री देरिन्ने १८९२ ई० में खोतनमें पाया था। सेनार्तकी सूचनाने कांग्रेसकी इन्दो-यूरोपीय शाखामें बड़ी हलचल मचा दी, क्योंकि आज तक खरोष्ठी-लिपिमें लिखे कुछ थोड़े-से अभिलेख उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेशमें मिले थे। देखनेसे यह भी पता लगा, कि वह 'धम्मपद'के किसी विशेष संस्करणके हैं। भाषा उनकी पाली थी, लेकिन वह अशोक-शिलालेखोंकी पालीसे अधिक मिलती थी। प्रोफेसर ओल्देन्बुर्गने उसी बैठकमें बताया, कि उक्त 'धर्मपद'के कुछ भाग सेंतपीतरबुर्ग भी पहुँचे हैं। १८९८ ई० में सेनार्तने फोटोचित्रके साथ धर्मपदका एक विवेचनापूर्ण संस्करण "जूर्नल आज़ियातीक्" में छपवाया। अप्रैल १८९९ ई० में कप्तान डी० जीने काशगरसे ७२ पन्नोंका हस्तलेख भेजा, जिसे डा० हर्नेलने अप्रैल १९०० ई० में छपवाया।

जिस समय इस तरह मध्य-एसियाके हस्तलखोंके पन्ने प्रकाशित हो विद्वानोंमें गंभीर चर्चाके विषय हो रहे थे, उसी समय (१८९६) स्वीडन-निवासी पर्यटकराज स्वेन्‌हेडेन तकलामकान मरुभूमिमें जाँच-पड़ताल कर रहा था। उसने खोतन और उसके आसपास कितनी ही बुद्धकी मूर्त्तियों और हस्तलेखोंके टुकड़े पाये और वहांकी भूगर्भित नगरीको एसियाका पम्पेई कहा। यह स्मरण रहना चाहिए कि जान्सनने भी १८६५ ई० में मध्य-एसियाके ध्वंसावशेषोंके बारेमें 'राजकीय भौगोलिक सभा' में कुछ लिखा था और १८७० ई० में भारत-सरकार द्वारा यारकंद भेजे गये फोरसेटने भी गोवी-मरुभूमिके भूगर्भित नगरोंके बारेमें लिखा था, किन्तु उनसे उतना ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। राजनीतिक और भौगोलिक दृष्टिसे भेज गये रूसी और अंग्रेजी विद्वानोंने भी अपने गर्भमें संस्कृतके बहुमूल्य चित्रोंको छिपाये बैठी गोबी और तकलामकानकी मरुभूमिके बारेमें लिखा था, किन्तु अभी अनुकूल समय नहीं आया था।

अध्याय ४

खोतन

§१. इतिहास

तरिम्-उपत्यका केवल मध्य-एसियाके बौद्धधर्मके लिये ही महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखती थी, बल्कि चीनमें बौद्धधर्मके प्रचारमें भी इसका काफी हाथ था। तिब्बतमें बौद्ध-धर्मको—विशेषकर वहांकी लिपिको—भी इसने प्रभावित किया। खोतन, यारकंद, कूचा, काशगर, कराशहर, तुर्फान आदि वह स्थान हैं, जहां बौद्धोंके बहुत बड़े-बड़े विहार थे; सैकड़ों-हजारों भिक्षु रात-दिन शास्त्र-चर्चामें लगे रहते थे। स्वेन्-च्वाङने ६२९ ई०में अपनी यात्रामें इसका वर्णन किया है। तरिमके दक्षिणी भागमें खोतनका प्राचीन नगर है। संस्कृतमें इसे कुस्तन (पृथ्वीका स्तन) क्यों कहा गया, इसे नहीं कह सकते। ईरानी ख्वतन (स्वतन, स्वशरीर) से भी यह शब्द बन सकता है। इसके इतिहासके बारेमें पिछले हान-वंशका इतिहास बतलाता है, कि क्वान्-ऊ-तीके राज्य (२५-५७ ई०) के अन्तमें सो-चे (यारकंद)का राजा बहुत शक्तिशाली हुआ और उसने खोतन (यू-लिन) के राजाको परास्त कर दिया। कुस्तनके दो लड़के यू-लिन् और ये-वू-ला थे। ५७-७५ ई०में खोतनने कई बार विद्रोह किया। तिब्बती परंपराके अनुसार ये-वू-लाका पुत्र विजयसंभव खोतन-राज्यकी स्थापनाके १६५ वर्ष बाद तीसरी सदीके प्रारम्भमें पैदा हुआ था। विजयसंभवसे आगे खोतन-राज-वंशकी वंशावली तिब्बती ग्रन्थोंमें प्राप्य है। वंशावली लंबी है और इसमें सभी नामोंके साथ विजय लगा रहता है। चीनीमें वही विजय वे-यि-ची: हो गया है। संभवका खोतनी-भाषामें "हम्फो" बनेगा, जिसे चीनियोंने ह्यू-मो-पा बना दिया।

विजयसंभवके पाँचवें वर्षमें खोतनमें बौद्धधर्मकी स्थापना हुई। राजगुरु आर्यवैरोचनने खोतनी-भाषाके लिये एक लिपि तैयार की। यह लिपि ब्राह्मी-लिपिसे निकली। बौद्धधर्मने खोतनको साहित्य प्रदान किया और तभीसे राजाओंके नाम संस्कृतमें होने लगे। विजय-संभव-वंशकी स्थापनाके १६५ वर्ष बाद पैदा हुआ था, यदि हम क्वान्-ऊ-ती-कालमें—अर्थात् ५० ई० में—राज्यकी स्थापना मान लें, तो विजयसंभव २१५ ई० में मौजूद था। विजयसंभवके बाद ग्यारह पीढ़ियाँ और बीतीं, अर्थात् प्रति पीढ़ी बीस साल लेनेपर संभवसे २२० वर्ष बाद ४३५ ई० में हम विजयसंभवकी बारहवीं पीढ़ीपर पहुँचते हैं। पीछेकी पीढ़ियोंका नाम चीनी इतिहासमें दिया गया है, उन्हें नीयामें प्राप्त शिलालेखमें उल्लिखित अंकुव् और वर्मनसे मिलाया जा सकता है। आठवें राजा विजयवीर्यके गुरु भारतीय भिक्षु बुद्धदूत थे, जिनके तत्त्वावधानमें एक विहार बनवाया गया था। बुद्धदूतने एक विहार गोशृङ्ग पर्वतपर भी बनवाया था, जिसे चीनकी राजकुमारी पुण्येश्वरीका नाम दिया गया था। कहते हैं, इसी राजकुमारीने पहले-पहल खोतनमें

चीनके रेशमी वस्त्रका प्रचार किया था। राजा विजयवीर्यने संघघोषको बुलाकर उन्हें अपना गुरु (गे-शे=अध्यापक) बनाया और कई स्तूपोंका भी निर्माण कराया। राजाके तीन लड़के थे। इनमें जेठा भारत चला गया, दूसरा भी बंदे (भिक्षु, नेपाली बंडा) हो धर्मानन्द नाम धारणकर भारत चला गया, तीसरा विजयधर्म था, जो बापके स्थानपर राजा बना। तिब्बती परम्पराके अनुसार सबसे ज्येष्ठ पुत्र दोन्ऽद्रो भारतसे लौटते वक्त अपने साथ भदन्त समन्तसिद्धिको ले आया, जिन्होंने ली-यूल् (तरिम-उपत्यका) में सर्वास्तिवादका प्रचार किया। विजयधर्मके पुत्र विजयसिंहने गा-जगके राजासे युद्ध किया और उसे बौद्ध बनाया। बौद्ध बननेपर उसका नाम आनन्दसेन पड़ा। आनन्दसेनकी लड़कीका ब्याह आ-ल्योऽ-जासे हुआ, जिसने काशगरमें बौद्धधर्मके प्रचारमें सहायता की और वहां एक विहार बनवाया। विजयसिंहके बाद विजयकीर्ति राजा हुआ। भिन्न-भिन्न परंपराओंमें उलझा इतिहासकार लिखता है—विजयकीर्तिने भारतमें जाकर युद्ध किया और साकेत तथा उसके राजा कनिका (कुषाण राजा) के राज्यको जीत लिया। अगली दस-ग्यारह पीढियोंमें कोई ऐतिहासिक जानकारीकी बात नहीं दी गई है। हाँ, यह जान पड़ता है, खोतनपर शत्रुने कई बार आक्रमण किया था। द्रुग्गूके राजा आ-नो-शरने खोतनपर आक्रमण करके गे-ऊ-तो-शाङ तकके सारे विहारोंको नष्ट कर दिया। द्रुग्गू शायद तुर्की शब्द है। खोतनमें यह राजवंश उस वक्त शासन कर रहा था, जब कि उस देशपर ता-यू-हू (४४३ ई०), ज्वान-ज्वान् (अवार ४७० ई०), हेफ़्ताल (५००-५६) और पश्चिमी तुर्क (५५६-६३) का आक्रमण चल रहा था। राजा विजयसंग्रामके समय खोतनकी शक्ति फिर बढ़ी। उसने द्रुग्गू और अपने दूसरे शत्रुओंके देशमें जाकर लड़ाई की। पश्चिमी तुर्क (द्रुग्गू) का साम्राज्य ६३०-३२ के बीच भग्न हो गया। विजयसिंह विजयसंग्रामके बाद राजा हुआ और उसने एक विहार बनवाया। इसी समय अर्हत् धर्मपाल खोतन आये। विजयसिंहने अपने पुत्रको ६४८ ई० में चीन भेजा। खोतन अब चीनके अधीन हो गया और उसे चार चीनी छावनियों (काशगर, कूचा, कराशहर, खोतन) में गिना जाने लगा। विजयसिंह स्वयं भी चीन-दरबारमें गया था। इसीके शासन-कालमें ६४४ ई० में स्वेन्-चाङ भारतसे लौटते खोतन आया था।

अगले तीन राजाओंके समय कोई खास बात नहीं हुई। हाँ, अगले राजा विजयकीर्तिके समय खोतनपर भोटवालोंने आक्रमण किया। इसका पुत्र विजयसंग्राम भी चीन-दरबारमें गया था। उसे द्रुग्गू (तुर्क) ने मार डाला। उसके शासन-काल (७०५-६ ई०) में तुर्कोंके साथ झगड़ा हुआ और तुर्क सेनापतिने खोतनपर आक्रमण किया था। विजयसंग्राम चीनमें मरा। उसका लड़का विजयविक्रम नाबालिग था, इसलिये बारह साल तक शासनकी बागडोर आ-मला-केमेगके हाथमें रही। दोनोंने अपने राजमें बहुत-से विहार और स्तूप बनवाये, जिनमेंसे एक राजगुरु अर्हत् देवेन्द्रके लिये बनवाया गया था। अब चीनी खोतनके भीतरी शासन-प्रबंधमें बहुत दखल देने लगे थे। ७३६ ई० में राजा विजयधर्मका मंत्री चीनी थेर्-थेसी था। दोनोंने मैत्र नामक विहार बनवाया। अगले राजा विजयसंभव और उसके चीनी मंत्री का-थेसीने वू-द्रेन्-द्रा-रोद्-ची और धर्मानन्द नामक दो अर्हतोंके लिये एक विहार बनवाया। अगला राजा विजयवाहन था। शायद यही विश्ववाहन है, जिसके बहुत-से अभिलेख स्टाइनको खोतनमें मिले। आठवीं शताब्दीके अंत होने तक चीनी प्रभाव खतम हो गया और ७९० ई० में मध्य-एसियापर भोटका अधिकार हो गया। इस समयके बहुत-से तिब्बती अभिलेख और हस्तलेख नीयाके पास इन्द्रेमें मिले हैं। चीनी इतिहास इन १५० वर्षों तक खोतनके बारेमें मौन है, और ९३८ ई० में जाकर चीनमें

खोतनके दूतमंडल जाने का पता लगता है। चीन-दरबारने उनका स्वागत किया और बदलेमें अपना दूतमंडल खोतन भेजा। दसवीं शताब्दीमें खोतनके कम-से-कम आठ दूतमंडल चीन गये थे, जिनमें से तीनके साथ बौद्धभिक्षुओंके जानेका पता लगता है। इस समय तक समरकंद और बुखारापर इस्लामकी ध्वजा फहराये दो शताब्दियाँ हो चुकी थीं। संभव है, खोतनी दूत-भिक्षु अरबोंसे रक्षा पानेके लिये बारबार चीनसे प्रार्थना करने गये। ९७० और १००९ ई० में बड़े संघर्षके बाद इस्लाम खोतनपर विजयी हुआ और उसने वहांसे बौद्धधर्मका नाम मिटा दिया।

§२. लोग

खोतनके इतिहासकी एक झलक हमें फा-शि-यान् और स्वेन्-चाङके वर्णनसे मिलती है। फा-शीन् कूचासे चलकर थका-माँदा ४०० ई० में खोतन पहुँचा। बौद्धधर्म उस समय वहाँ खूब फूल-फल रहा था—"यह बड़ा सुखी और समृद्ध राज्य है। गाँव भी घने बसे और खुश-हाल हैं। लोग हमारे धर्मके अनुयायी हैं और बड़ी प्रसन्नतासे धार्मिक गीतोंमें शामिल होते हैं। भिक्षुओंकी संख्या हजारों है और अधिकतर महायानके माननेवाले हैं।" फा-शि-यान्ने संघारामोंमें आगंतुक भिक्षुओंके आतिथ्यकी बड़ी प्रशंसा की है। उस समय प्रत्येक परिवारके घरके सामने एक छोटा-सा स्तूप होता था। घर भी लोगोंके अलग-अलग हटकर होते थे। फा-शि-यान् गोमती विहारमें ठहरा था, जिसमें तीन हजार महायानी भिक्षु रहते थे। वह देशका सबसे बड़ा विहार था। भिक्षुओंमें अनुशासन और विनयके पालनकी चीनी यात्रीने प्रशंसा की है। खोतनमें बुद्धकी मूर्त्तिका हर साल बड़े धूमधामसे जुलूस निकलता था। यह मेला वसंतमें होता था, जबकि १४ महान् विहारोंकी मूर्त्तियोंका नगरमें जुलूस निकाला जाता था। मूर्त्तियोंके रखनेके सुसज्जित रथ तीस-तीस हाथ तक ऊँचे, विहारकी महाशाला-जैसे दीख पड़ते थे। वह जब नगरके द्वारपर पहुँचते, तो राजा सिरसे मुकुट हटाकर नंगे पैर जा फूल एवं धूपसे पूजा करता, रानी और अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियां नगरद्वारके ऊपरसे रथके चलनेपर पुष्पवर्षा करती थीं। चौदह महाविहारोंके चौदह रथ बारी-बारीसे चौदह दिन आते थे। इस प्रकार यह रथ-यात्रा दो सप्ताह बनी रहती थी।

स्वेन्-चाङ् (६४४ ई०)—फा-शीन् से २५० वर्ष बाद स्वेन-चाङ खोतन आया था और एक सर्वास्तिवादी विहारमें सात-आठ महीने ठहरा था। वह भारतसे लौटते वक्त ६४४ ई०में फिर खोतन आया। उस समय तक पश्चिमी तुर्कोंकी शक्तिको चीनने तोड़ दिया था और वहां चीनी प्रभाव बढ़ने लगा था। स्वेन्-चाङकी ख्याति पहिले ही हो चुकी थी। खोतनके बौद्ध राजाने अपने राज्यकी सीमापर स्वेन्-चाङका स्वागत किया। राजाके पुत्रने उसे अपने साथ राजधानीमें पहुँचाया, जहां दोबारा स्वागत हुआ। स्वेन्-चाङ लिखता है—"यहांके लोगोंका बर्ताव और रीति-रिवाज अच्छा और व्यवहार न्यायपूर्ण होता है। लोग स्वभावतः ही कोमल और सम्मानपूर्ण स्वभावके हैं।...साहित्यसे उन्हें बहुत प्रेम है। वे बहुत खुले दिलके हैं, मेला-उत्सवसे प्रेम रखते हैं और अपनी अवस्थासे संतुष्ट रहते हैं। संगीतका यहां बड़ा प्रचार है, लोग संगीत और नृत्यके बहुत प्रेमी हैं। उनका वस्त्र अधिकतर सफेद कपास और हल्के रेशमका होता है। ऊन और समूरकी पोशाक कोई-कोई पहनते हैं। उनकी सूरत-शकलमें बड़ी ताजगी और चाल-ढालमें बहुत नियमानुसारितारण होती है। उनके लिखनेके अक्षर (तथा साहित्य और कानून भी) भारत-जैसे हैं। आकृतिमें थोड़ा-सा अंतर है, पर वह अंतर बहुत हल्का है। दूसरे

प्रदेशोंसे यहांकी भाषा भेद रखती है। बौद्धधर्मका यहां बहुत मान है यहां सौ संघाराम तथा पाँच हजार भिक्षु रहते हैं, जिनमें से अधिकांश महायानके अनुयायी हैं।"

स्टाइनके उत्खननने स्वेन्-चाङकी बातोंकी सचाईको सिद्ध किया है। दंदान-बिलिक और दूसरे स्थानोंमें बहुत-से अभिलेख मिले हैं, जो भारतीय लिपिके समान ही लिपिमें लिखे हुए हैं।

खोतन बहुत पहिलेसे बौद्ध रहा है। ईसाकी दूसरी शताब्दीके चीनी बौद्ध माउ-चेन् ने "खोतनमें बड़ी संख्यामें भिक्षुओंको देखा" था।

खोतनी विहारोंमें संस्कृत और खोतनी-भाषाके ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह रहता था। चीनको बौद्धधर्मके कुछ दुर्लभ ग्रंथ खोतनसे ही मिले थे, जिनमें "अवतंसक" सूत्र समूह भी था, जिसे शिक्षानंदने ७१० ई० में ले जाकर चीनी भाषामें अनुवादित किया।

§३. खरोष्टी-लिपिमें प्राकृत अभिलेख

पश्चिमोत्तर प्रदेश (पाकिस्तान)के मनसहरा और शाहबाजगढ़ीमें खरोष्ठी-लिपिमें अशोकके शिलालेख मिले हैं, जिससे सिद्ध है कि वह हमारे देशकी दो प्राचीनतम लिपियोंमें एक है, और उसका प्रयोग उस समय गंधारमें होता था। यह लिपि अरबीकी भाँति दाहिनेसे बायें लिखी जाती है। बक्त्रिया, सोग्द और मध्य-एसियाके कुछ और भागोंमें इसका उपयोग होता था, इसीलिये ग्रीक, शक, पार्थिव, कुषाण क्षत्रप अपने सिक्कोंपर इसका प्रयोग करते थे। मध्य-एसियामें उसमें लिखे अभिलेख मासी-मज़ार (खोतनसे १३ मील), नीया, लोन्लन् तथा दूसरे स्थानोंमें मिले हैं। जिन काष्ठपट्टिकाओंमें ये खरोष्टी अभिलेख लिखे हैं, उनकी लम्बाई ७½ से १५ इंच और चौड़ाई १½ से २½ इंच है। कुछ चौकोर पट्टिकायें भी मिली हैं। इन पट्टिकाओंको पत्रकी तरह भेजते समय लिफाफेकी तरह दूसरी पट्टियोंसे ढँककर मुहर लगा दी जाती थी। मुहरोंमें से कुछमें "पलस् अथने" जैसे ग्रीक वाक्य लिखे हैं। लिफाफेकी जगह काम करनेवाली पट्टियोंपर पता लिखा रहता—एक तरफ पानेवालेका नाम एवं पता और दूसरी तरफ पत्रदूतका नाम रहता था। खरोष्ठी-लिपिके कुछ पत्र चमड़ेपर भी मिले हैं। नीयासे खोदकर निकाले इन चर्मपत्रोंमेंसे कितने ही पूर्ण और सुरक्षित अवस्थामें हैं। इनमें भेंड़का चमड़ा इस्तेमाल किया गया है, जिसकी लम्बाई ६ इंचसे १ फीट तक और चौड़ाई २से ६ इंच तक है। अक्षर चर्मपत्रके एक ही ओर लिखे गये हैं। कश्मीरमें भी मुस्लिम-कालसे पहिले चमड़ेपर लिखना बुरा नहीं माना जाता था। खरोष्टी-लिपिके अभिलेख सभी प्राकृतमें हैं, जो धर्मपदकी प्राकृत भाषासे मिलती है। अभिलेख अधिकतर सरकारी लिखा-पढ़ीके कागज हैं—किसी-किसीमें सरकारी अधिकारियोंको प्रबंध और पुलिस-सम्बन्धी आज्ञा दी गई है, किसीमें अभियोग-निवेदन, समन, रसद, बार-बरदारी तथा सरकारी कामसे जाने-वाले आदमियोंके बारेमें लिखा गया है। सरकारी अभिलेखोंको "किलमुद्रा" कहा जाता था, "महनुअव महरय" (महानुभाव महाराज) से अभिप्रेत स्थानीय उच्चाधिकारी या सामंतराज था।

अभिलेखोंमें भारतीय और विदेशी दोनों तरहके नाम आये हैं। भारतीयोंकी भी यहां बस्ती थी, किन्तु यह आवश्यक नहीं है, कि भारतीय नामवाले आदमी सभी भारतीय ही हों। शकों और तुखारोंके भी वैसे नाम हो सकते थे। इनमें उल्लिखित कुछ नाम इस प्रकार हैं:—

मुच शभिग[1]
बंगुसेन
नंदसेन
षमसेन
शितक
उपजिव
अंगच
चुवयलिन्
फुम्मसेव
पितेय
गिलि
संघिल
संजक
स्वोंजक
सुचम

सुधिय
लिपेय
ओपगेय
लिमिर
मङ्कय
पशास्प[2]
चिनफर
अनंदसेन[3]
भतिशस्रा
भिमया
बुधमित्र
भंत्रपल
कुमुदवति
पुंञदेव
चरक
सत्र

सुजद
वसुदेव
चौलेप[4]
चुवलयिन
कयूगेय
कल्पिश्
किपूष
कित्सयित्
लंपुर्त्त
पोर्भय
पुलकय
सिगनूय
तसुच
तमेच्

लोन्-लन् और नीया दोनोंके अभिलेखोंमें सरकारी उपाधियाँ 'चोभ्‌बो, गुसुर, कोरि, वसु' एक समान मालूम होती हैं। नीयामें 'षोढंघ' और 'कल' की भी उपाधियाँ मिली हैं। ये मध्य-एसियाकी उपाधियाँ हैं। भारतीय उपाधियोंमें से भी कुछ हैं—दिविर (लिपिक), चर या चरक (खुफिया), रयद्वरपुरस्थिता (राज दरबार-अध्यक्ष), दुतिय (दूत)।

बड़े पत्रोंमें कुछ निजी-सी लिखा-पढ़ी मिलती है। एक पत्रमें ओगूचिनकर और चोभ्‌बो, चिन्यशशने अपने प्यारे भाई चोभ्‌वो संगञसेनको किसी अप्रिय बातकी सूचना दी है। क्या बात थी, इसे स्पष्ट नहीं किया गया, किन्तु अपने भाईको हिदायत दी "उसे हाथमें लेना होगा और यहां रयद्वर (राजद्वार) में बदलवा देना होगा।" एक दूसरे पत्रमें काल कुषन्सेनने महा चोभ्‌बो शितकको बहुत आग्रहपूर्वक तुरंत समाचार भेजनेके लिये कहा है जिसे थोड़ेसे परिवर्तनके साथ एकसे अधिक बार दुहराया गया है। श्रमण बंगुसेन और पोच्गयसेनने अपने प्रिय मित्र चोभ्‌बो नंदसेन और चतरोययेसे "शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके बारेमें" बहुत बार और निरंतर पूछा है।

सरकारी पत्र चतुष्कोण पट्टिकाओंपर थे, जिनमें कुछ रिकार्डमें रखनेके लिये भी थे। एक पट्टिकामें विक्रेता कोंअञ और क्रेता दिविर (क्लर्क) रम्षोत्सके बीचका बेचीनामा लिखित है जो राजा जितुघ अंगबकके १७वें वर्ष बारहवें महीनेके आठवें दिनको लिखा गया था। मूल्य ७० खी था, जिसकी जमानतके तौरपर रम्षोत्सने एक दो वर्षका ऊँट दिया था।

---

[1] यहाँ पहिले २० नाम भारतीय मालूम होते हैं।

[2] ईरानी नाम हैं।

[3] आगे दस नाम भारतीय हैं।

[4] आगे तेरह नाम स्थानीय मालूम होते हैं।

दो पट्टिकायें किसी साहित्य ग्रंथ से संबंध रखती मालूम होतीं हैं, जिनमें एक ओर चार संस्कृत श्लोक हैं और दूसरी तरफ प्राप्तिका उल्लेख है। खरोष्ठीमें संस्कृत भाषाका प्रयोग, यह अभूत-पूर्व-सी बात है। दूसरी पट्टिकामें प्राकृत-पद्यकी ८ पंक्तियाँ दोनों ओर हैं। एक ओरकी दी हुई अभूतगाथाओंमें कितने ही पाठभेद दिखाये गये हैं।

दक्षिणी तरिम-उपत्यकाके निया और लोन्-लन् (क्रोरयिन्)में साधारण कामकाजके लिये प्राकृत भाषाका प्रयोग यही सिद्ध करता है, कि वहां कभी शकोंके भीतर भारतीय औपनिवेशिक जाकर बस गये थे। नियामें कोई कागजपर लेख नहीं मिला है, किन्तु लोन्-लनमें खरोष्ठी और चीनी दोनोंके लेख कागजपर मिले हैं। स्टाइनका कहना है, कि नियाकी बस्ती शायद पहिले ही छोड़ दी गई और लो-लन्में भारतीय ४थी शताब्दी तक बसे रहे।

१०५ ई०से पहिले चीनमें रेशमपर लिखा जाता था, पीछे कागजका आविष्कार होनेसे उसका भी प्रयोग होने लगा।

तीन खरोष्ठी अभिलेख रेशमपर भी लिखे हुए तुन्-ह्वाङ और लोन-लन् दोनों जगहोंसे मिले हैं और रेशमपत्रके सिर्फ यही नमूने हैं।

इन अभिलेखोंके कालके बारेमें निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है, क्योंकि इनमें उल्लिखित संवत्सर अ-परिचितसे नहीं मालूम होते हैं। संभवतः नियाके अभिलेख ईसाकी पहिली तीन शताब्दियोंमें लिखे गये, क्योंकि उनके साथ मिले चीनी अभिलेखमें जो काल दिया गया है, वह २६९ ई० का मालूम होता है। स्टाइनका अनुमान है, कि बालुका-वृष्टिसे नियाको तीसरी सदीमें छोड़ देना पड़ा। काफी समय तक वहां बस्ती रही, इसका पता वहां मिले हान्-काल (२०२ ई० पू०-९ ई०) के लेखोंसे लगता है।

नियाके कई अभिलेखोंमें तीन राजाओंका उल्लख मिलता है—बष्मन्, अंक्वग (अंगुवक या अगोक) और महिरीय (मइरिरीय, मइरी या मयिरि)। तीनोंके नामके साथ "जिटुघ" (चितुघि)की उपाधि लगी हुई है। और उपाधियोंमें से प्रायः सभीके नामके साथ देवपुत्र लगा है, तथा "महनुप महरय" अथवा "महरपतिरय महनुव महरय" (महाराजाधिराज महानुभाव महाराज), और "महरजरजतिरज" (महाराज-राजाधिराज)-जैसी उपधियाँ भी लगी हुई हैं।

ये उपाधियाँ पश्चिमोत्तर सीमान्तमें मिले खरोष्ठी-अभिलेखोंकी उन उपाधियोंसे मिलती हैं, जिन्हें कि कुषाण धारण करते थे। डाक्टर स्तेन कोनोने राजाओंमेंसे किन्हीं-किन्हींके नामोंको चीनी इतिहासमें उल्लिखित खोतनी राजाओंके नामोंसे मिलानेका प्रयत्न किया है, जैसे—

बष्मन—फङ-चियन्, १२९-३२ ई० में मौजूद था।

अंक्वग=अन्-कुओ, १५२-७५ई०।

§४. शक-साहित्य

पूर्वी मध्य-एसिया (तरिम्-उपत्यका)के उत्तरी भागमें तुखारी (क) और तुखारी (ख) दो भाषायें थीं, जिनका सम्बन्ध केन्तमसे है। दक्षिणी भागमें जो भाषा बोली जाती थी, उसे शक-भाषा माना जाता है। यह गुप्त अक्षरमें लिखी जाती थी, किन्तु इस लिपिके कई रूप थे—(१) सीधी रेखावाली लिपि भारतसे आये हस्तलेखोंमें पाई जाती है, (२) तिर्छी और (३) घसीट (Cursive) अक्षर पूर्वी तुर्किस्तानके अपने थे। गाडफ्रे-हस्तलेख शक-भाषाका था, जो गुप्ताक्षरमें लिखा गया था। स्टाइनके प्रथम अभियानमें इस भाषाके और बहुत-से हस्तलेख

मिले हैं। इन हस्तलखोंके पढ़नका काम बर्लिन-विश्वविद्यालयके अध्यापक लेन्मानको दिया गया था। उस समय जापानी विद्वान् डाक्टर वतनबे भी जर्मनीमें थे और उन्होंने इसे पढ़नेमें लेन्मानको सहायता दी। अपने दूसरे अभियानमें स्टाइनको तुन्ह्वाङमें इस भाषाकी बहुत-सी पुस्तक-कुण्डलियाँ मिलीं। प्रोफेसर स्तेनकोनोने सिद्ध किया है, कि यह भाषा ईरानी समुदायकी है, जिसे जातिके ख्यालसे शक-भाषा कहना चाहिए। भाषाके पढ़नेमें तुन्ह्वाङसे मिले सुरक्षित तथा प्रायः पूर्ण ग्रन्थोंसे बड़ी सहायता मिली, क्योंकि उनमें संस्कृत और शक दोनों भाषाओंमें "वज्रच्छेदिका" एवं "अपरिमितायुःसूत्र" लिखे मिले। इस भाषाको उस समय कुइ-सन् भी कहते थे, यह एक उइगुर पुस्तककी पुष्पिकामें लिखा है। कुछ उइगुर पुस्तकोंकी पुष्पिकाओंमें लिखा है, कि वह पुस्तक तुखारीसे उइगुरमें अनुवादित हुई और तुख़ारीमें कुइ-सन्से तथा कुइ-सन्में भारतीय भाषासे। इस प्रकार जान पड़ता है, कि भारतीय भाषासे मध्य-एसियाई भाषाओं में अनुवाद कुइ-सन् द्वारा होता था। कुशान (यूची) इसी भाषाका अपने कारबारमें प्रयोग करते थे। जान पड़ता है, दक्षिणी तरिम-उपत्यका (खोतन-मिरन-यारकन्द आदि) में शक-साहित्यका बहुत प्रचार था। खोतनमें भी बौद्धधर्मका खूब प्रचार था। हाँ, जहाँ उत्तरमें सर्वास्तिवादकी प्रधानता थी, वहाँ दक्षिणमें महायानकी। खोतनके आसपास बहुत-से विहार थे, जिनके पुस्तकालयोंमें संस्कृतकी बहुत सी पुस्तकें थीं, जिनसे जान पड़ता है, वहाँ संस्कृतका अच्छा प्रचार था। संस्कृतकी बहुत-सी पुस्तकोंका शक-भाषामें अनुवाद भी हुआ था—सारे त्रिपिटकका अनुवाद हुआ था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। शक-भाषामें अनुवादित ग्रन्थोंकी एक खंडित सूची मिली है, जिसमें ६१से ७०वें ग्रन्थोंके नाम मौजूद हैं,—

संस्कृत-भाषा	शक-भाषा
६१. सुमतिदारिकापृच्छा	सुमतिधाकपृच्छ
६२. सूर्यगर्भत्रिशतिका	सूर्यगर्भत्रृशतिय
६३. ....चनः, अक्षयमतिपृच्छा	....चन अक्मयमतपृच्छ
६४. गगनगंजविमलकीर्तिनिर्देश	गगनगंजविमलकीर्तिनिर्देश
६५. शालिस्तम्भः, अवैवर्त्तचक्रः	....लिस्तम्भ अवैव....
६६. रत्नदारिकापृच्छा	रत्नधाक....पृच्छ
६७. सुस्थितमतिपृच्छा	उसुस्थतमतपृच्छ
६८. तत्त्वदर्शनसूत्रं	त्तविदर्शनासूत्र
६९. सुवर्णोत्तमपृच्छा	स्वर्णोत्तमपृच्छ
७०. ....रः मारडम्बरपृच्छा	रा मारदंभरपृच्छ

इन सूत्रोंमें कुछ ही अब संस्कृतमें मिलते हैं, बाकीमें से कुछ चीनी-तिब्बती दोनोंमें, कुछ केवल तिब्बतीमें और कुछ केवल शक (खोतनी) में ही प्राप्य हैं। स्वर्णोत्तमपृच्छका संस्कृत मूल "सुवर्णोत्तमप्रभासपृच्छासूत्र" नामसे नेपालमें मिला है।

'वज्रच्छेदिका'का अनुवाद शक-भाषामें 'वज्रच्छेकत्तृशय प्रज्ञापारम्मसमास्ये' नामसे किया गया था। शक-भाषानुवादमें एक लम्बी भूमिका लगी है, जो मूलमें नहीं है। 'शतसाहस्रिकाप्रज्ञा-पारमिता'के शकानुवादका भी कुछ अंश मिला है। 'अध्यर्धशतिकाप्रज्ञापारमिता'का भी अनुवाद हुआ था, जिसके दोनों भाषाओंके नमूने देखिये—

संस्कृत	शक-भाषा
स वै प्रथमस्य प्रै. . . . प. . . . नयस्य	षं वा पडमस्य पज्यपारमितानयं
सम्बन्धीप्रभावः पुण्यराशिस्तथागुणः	हिव्यहौवपञिनैहंविशंऊवुजसा

खादलिक, मीरन्, तुङ्ह्वान और दूसरी जगहोंमें शक-भाषाके अभिलेखोंके बहुत-से टुकड़े मिले हैं। "मैत्रीसमिति" नाटकके बारेमें हम अन्यत्र (पृष्ठ २५३) करेंगे, जिसका कि तुखारी-भाषामें भी अनुवाद हुआ था।

दूसरे ग्रन्थोंमें सुरंगम-समाधि, संघातसूत्र, विमलकीर्त्तिनिर्देश, सुवर्णप्रयास आदि हैं, जिनका अनुवाद शक-भाषामें हुआ था। इनालोकधारिणीके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"सरियञिवचक्षुर्दद् चक्षुप्रभधुलमेथ कलथ, इथिथमस सूरट सूरट, सूथास इतिथमस वेलु वेलु वेलापनि चारु-मूर्त्तनि आरणिकालापणि कालापणि, तुरुधुसि तुरुतुरुधुसि : धासुति धासुति धरधर धिरिधिरि धुरुधुरु धूरधूर कालकाल सथास गीलगील गीलापय गीलापय धसु धसु सूंद्धु।"

"तथागतोष्णीश सितातपत्रानाम-अपराजिता महाप्रत्यंगिरा"को शक-भाषामें "तथागतोष्णीश सिधांतपत्रं नामा पराजितमहाप्रत्यगिरा" लिखा गया है।

बुद्धपिटक भद्रकल्पसूत्र—"बुद्धपिटै भद्रकल्प्यसुन्त्र"।

तिथि संवत् लिखनेके कुछ नमूने देखिये—"सी-सुंञि पुहये मास्ति २° म्ये हडै—(यह सूत्र पञ्चम मास बीसवें दिनमें) सहैचि सल्य दसम्ये मास्ते ८ हडै पूर्वभरिपनक्षत्रि (सहैची साल, दसवें मास, आठवें दिन पूर्वभाद्रनक्षत्रमें)।

सिद्धसारशास्त्र (रविगुप्तकृत) वैद्यक ग्रन्थ है, जिसमें अर्श, भगन्दर, पाण्डुरोग, हिक्का श्वास, काश, मूत्रकृच्छ्र, उदावर्त्त, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, विसर्प, कृमि, नेत्ररोग आदिकी चिकित्साके बारेमें लिखा गया है। इसकी पुष्पिकामें लिखा है—"हि द्रां ग्ये बिञे उक् ते हीपि सिंधसारं नामशास्त्रं कृषय"।

शक-भाषाके हस्तलेखोंमेंसे कितनोंमें संवत्, मास और तिथि दी हुई है, किन्तु संवतोंके बारेमें पता नहीं लगता। मडल और सहैची वर्षका नाम था, और बारह मासोंके नाम थे—

१. स्कईवार (स्कीइवारि)	७. तेरि
२. च्वभज (चुवाभज)	८. कञ
३. मूञ्ञ	९. पाञिञ (माञिज, या मारिञ)
४. रवः साज (रवः सा)	१०. . . . .खञ. . . . (चञ)
५. इनद्यञ	११. . . . .इज
६. ञाइञ (ञाइ)	१२. वारज

अध्याय ५

काशगर

काशगर पुराने रेशम-पथपर ऐसे स्थानमें है, जहाँसे फर्गाना और वक्षु (सुर्खाब) दोनों तरफ जानेवाले पथ अलग होते हैं। चाङ-क्याङके लौटनेके बाद (ई० पू० दूसरी सदी में) सोग्द और बाख्तरके साथ चीनका व्यापार बड़ी तेजीसे बढ़ा। दोनों ओर जानेवाले रास्ते काशगर ही से फूटते थे। इसीलिए ईसापूर्व प्रथम शताब्दीमें चीनने इसे अपने प्रभावमें ले लिया। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें जब चीनकी शक्ति कुछ निर्बल हुई, तो इसे खोतनने अपने राज्यमें मिला लिया। बादमें कुछ समयके लिए चीनने फिर काशगरको ले लिया, किन्तु यूचियोंने यहाँके मामलेमें दखल देकर अपनी रुचिके राजाको गद्दीपर बैठा दिया। इसी समय यहाँ बौद्धधर्म आया। मालूम है, कनिष्कने काशगर और खोतनपर अधिकार किया था और उस समय तो बौद्धधर्म यहां जरुर था। स्वेन्-चाङ भी लिखता है कि कनिष्कका राज्य चुङलिन् (पामीर) के पूरब तक था। खोतन जिलेमें कनिष्क के सिक्के भी मिले हैं, यह भी उसीकी पुष्टि करते हैं। फा-शीन् ४०० ई०में जब काशगर आया था, तो यहाँ पंचवार्षिक महोत्सव मनाया जा रहा था, जिसमें बुद्धकी धातु (अस्थि) का दर्शन होता था। यहाँ एक विहार था, जिसमें १००० महायानी भिक्षु रहते थे। ४६० ई०में यहाँके राजाने चीन-दरबारमें यहाँसे बुद्धका एक चीवर भेजा था। इसके कुछ समय बाद काशगर श्वेत-हूणोंके हाथमें चला गया, जिनके बाद पश्चिमी तुर्क यहाँके शासक बने। स्वेन्-चाङ भी कहता है, कि यहाँ हजारसे अधिक सर्वास्तिवादी (हीनयानी) भिक्षु रहते हैं। भिक्षु पाठके शौकीन थे, पर बिना अर्थ समझे तोतारटन किया करते थे। कुछ थोड़ा-सा अन्तरके साथ यहाँकी लिपि भारतीय थी। स्वेन्-चाङके समय काशगर-कूचा-कोश, बलख (बाख्तर) और बामियामें भी हीनयानी विहार थे और यारकन्द तथा खोतनमें महायानी। बौद्ध विहार और भिक्षु तथा बुद्धमूर्तियोंका जुलूस—इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि पाँचवीं-सातवीं सदियोंमें वहाँ दूसरे धर्म नहीं थे। थाङ-वंशके इतिहाससे पता लगता है कि वहाँ (काशगर और खोतनमें) जर्तुश्ती रहते थे; नेस्तोरीय ईसाई साधुओंके भी होनेकी सम्भावना है।

अध्याय ६

कूचा

§१. इतिहास

पुरातत्व-गवेषकोंने मध्य-एसियाकी खुदाइयोंमें ऐसे बहुत से चित्र पाये हैं, जिनमें स्त्री-पुरुषोंके बालोंको भूरा एवं नेत्रोंको नीला चित्रित किया गया है। उनकी पोशाकोंमें भी ऐसी स्वतंत्रता दीख पड़ी, जिससे लेकाक जैसे विद्वानोंने अपने यहाँके मध्य-युगके वेशसे उनका सम्बन्ध जोड़ना चाहा। सचमुच ही कोई-कोई उनके उल्टे कालरके लम्बे कोट तो आजकलके लम्बे कोट[1] जैसे मालूम पड़ते हैं, फर्क इतना ही है, कि उनके किनारोंपर फूल-पत्तेवाले गोटे लगे रहते थे। इनकी आकृतिको देखकर जितना विद्वानोंको आश्चर्य हुआ, उससे कम आश्चर्य उनकी भाषा-को देखकर नहीं हुआ, जिसके बारेमें हम आगे कहेंगे। यह थे कूचाके लोग, जो उतरी तरिम-उपत्यकामें रहते थे।

पुराणोंमें कुशद्वीपका नाम आया है। वृहत्संहितामें बराहमिहिरने शक, पह्लव, शूलिक, चीन आदिके साथ कुशिक जातिका भी उल्लेख किया है। एक संस्कृत चीनी कोशमें इसका नाम "कूचिन्" दिया गया है। आजकल चीनी-भाषामें इसे कूची कहते हैं। कूचा एक बहुत पुराना राज्य था, जिसका पता ईसापूर्व पहली शताब्दीमें मिलता है—पहिले सैराम भी कूचा प्रदेश ही में सम्मिलित था। अशोकावदानके चीनी अनुवादमें लिखा है, कि कूचा अशोक राजाके राज्यमें था और वह उसे अपने पुत्र कुणालको देना चाहता था। प्राक्तनहान इतिहास (१४०-८७ ई० पू०)में लिखा है कि कूचाकी जनसंख्या ८१ हजार थी, जिसमें २१ हजारसे अधिक हथियारबन्द हो सकते थे। पहिला राजा क्याङयिन ई० पू० ६५के आसपास हुआ था। उसने एक वूसुन् राजकुमारीसे ब्याह किया था। वूसुन् शकोंकी ही एक शाखा में थे, जो इली-उपत्यकामें रहते थे और जिनकी आँखें कूचियोंकी भाँति नीली और बाल लाल होते थे[2]।

कुछ विद्वानोंका मत है, कि कुशाण शब्द भी कुशा अर्थात् कूचासे निकला है और कुषाण राजा उसकी उपाधि "कोशानो सौनानो साव"=कुशानोंके शाहोंका शाह और "कुशान-शाह" भी (कुशानो साहः) अर्थात् कुशोंका शाह है। मत्स्यपुराणका उद्धरण देते हुए अल्बेरूनी ने शकद्वीपके पास कुशद्वीपका उल्लेख किया है। सूत्रालङ्कारके चीनी अनुवादमें कनिष्कको कुश (कु-श) जातिका राजा बतलाया गया है। "महाराजकनिकलेख"के तिब्बती अनुवादमें कनिष्कको कुश-जाति (कु-शयि-रिक्स-सु) में उत्पन्न बतलाया गया है। इस प्रकार कुषाण

---

[1] Le Coq वहीं p. 116 और plate 36.

[2] देखा मेर "मध्य एसियाका इतिहास (?)"

शकोंका मूल स्थान कूचा मालूम होता है—ज़रफ़शाँके तटपर (उज्बेकिस्तानमें) कोशानियाँ नामकी एक पुरानी बस्ती आज भी है।

कूचा चीनसे पश्चिम जानेवाले रेशम-पथपर पड़ता था, जहाँसे एक रास्ता इस्सिक्-कुल महासरोवर होकर भी पश्चिमकी ओर निकलता था। हान-कालमें उत्तरकी ओरसे जानेवाला यही रास्ता था। चीनी यात्री तुर्फानसे कूचा होकर काशगर गये थे।

४६ ई० पू०में चीनके आनुवंशिकमित्रने यारकन्दके राजा कूचापर आक्रमण किया और अपने पुत्र चो-लोको गद्दीपर बैठाया। कूचावालोंने इस जबर्दस्तीको हटानेके लिए हूणोंसे सहायता माँगी। हूणोंने हस्तक्षेप किया और चो-लोको मार भगाया, फिर लोगोंकी रायके अनुसार चेङ-तोन्को कूचाका राजा बनाया। इस समय कूचा हूणोंके अधीन था। उनका वरदहस्त पाकर कूचाके राजा कियानने काशगरको जीतके वहाँ कूचाके एक आदमी योन्-लितोको बैठाकर राज्याधिकार दे दिया। लेकिन वह ज्यादा दिन नहीं ठहर सका और चीनी सेनापति पाङ-चान्ने आक्रमणकर सो-लेपर अधिकार कर लिया। योन्-लितोको उसने कूचाकी गद्दीसे उतार दिया और कियानके पुत्र पोको गद्दीपर बैठाया, जिसकी शिक्षा-दीक्षा चीनमें हुई थी। इसके बाद कूचाके जितने राजा हुए, उनके पहिले पो लगता रहा। चीनी इतिहासमें कूचाका नाम बहुत आता है।

ईसाकी तीसरी सदीमें कूचा बौद्धधर्मका एक बहुत बड़ा केन्द्र था। वहाँ एक हजार मन्दिर और विहार थे। ३८३ ई०में यहाँके राजाका नाम पो-च्वेन् था, जो बड़ा श्रद्धालु बौद्ध था। कूचाके विहार सुन्दर कलाके निधान थ। वहाँ विद्याका बहुत सम्मान था। वहाँके विद्यार्थी विद्याध्ययनके लिए भारत तककी दौड़ लगाते थे। उसके वैभवको नष्ट करनेके लिए पूर्वतन् छिन-वंश (३५०-९४ ई०)के समय ७० हजार चीनी सेनाने कूचापर धावा किया और राजाको हराकर कैसे वह कुमारजीवको ले गई, फिर कुमारजीवने कैसे भारतीय ग्रन्थोंका चीनीमें अनुवाद किया, इसे हम आगे कहेंगे। अब चीनियोंने पो-चेन्को गद्दीपर बैठाया। तभीसे राजवंशकी छोटी शाखा आरम्भ हुई। इतना होनेपर भी कूचावालोंकी हिम्मतको तोड़ा नहीं जा सका तथा हार और हत्याने कूचावालोंके स्वातन्त्र्य-प्रेमको नहीं दबाया। इसीलिए ४४० ई०में चीनको दूसरा अभियान भेजना पड़ा, जिसमें कूचाकी हार हुई। तबसे कूचाने कई दूतमंडल चीन भेजे। चीनी लेखकोंके अनुसार कूचाका संगीत भारतसे निकला था, किन्तु कूचियोंने उसे अपनी मौलिकतासे समृद्ध किया था। कूचाका राजा सू-ची-पो (सुजीव) अपने दलके साथ चीन गया था। जिस समय पश्चिमी तुर्क बहुत शक्तिशाली हो गये और उन्होंने कूचापर दबाव डालना शुरू किया; तो कूचाके लिए मुश्किल हो गया। वह दो भेड़ियोंके बीचमें पड़ा था। तुर्कोंसे बचनेके लिए चीनसे मदद लेनी आवश्यक थी और इसके लिए कूचाने ५२१, ५८१, ६१५, ६१८, ६२७ ई०में चीनमें कई दूतमंडल भेजे; लेकिन शायद उधर आशा न देखी, तो स्वेन्-चाङके वक्त कूचाके राजाने चीनके आधिपत्यको छोड़कर तुर्कोंसे मेल कर लिया।

दक्षिणमें इसी समय भोट(तिब्बत)की एक और नई शक्ति उठ रही थी। स्रोङ-चन्-गम्बोने ६४८ ई०में कूचापर आक्रमण किया। आठवीं-नवीं सदीमें उइगुर तुर्कोंका जोर बढ़ा। अब तक कूचामें भूरे बालों और भूरे चेहरोंका आधिक्य था, लेकिन अब वह तुर्क-समुद्रमें डूबने लगा। आगे राजाकी उपाधि भी पोसे हटकर कागान (खाकान) हो गई। कूचाके प्राप्त अभिलेखोंमें "स्वर्णबुस्पे" (स्वर्णपुष्प) राजाका नाम आया है, जो स्वेन्-चाङकी यात्राके समय मौजूद था।

एक दूसरे अभिलेखमें "दानपति कूचीश्वर, कूचिमहाराजा...." आया है।....स्वर्ण-बुस्पे नाम तुखारी भाषाका है। क़िज़िल स्थानमें लेकाक्को 'संघकर्म'का एक हस्तलेख मिला है, उसमें एक राजाका नाम वसुयश आया है। संस्कृत हस्तलेखोंमें कूचाके राजाओंको 'कूचीश्वर', 'कूचिमहाराजा', 'कौचेय', 'कौचेय-नरेन्द्र' लिखा है। दूसरी शताब्दी ईसवीमें वहाँ बौद्धधर्म प्रचलित था और तीसरी शताब्दीमें तो वह मध्य-एसियामें बौद्धधर्मका बहुत बड़ा केन्द्र था। छिन्-वंश् (२६५-३१६ ई०)के इतिहासमें लिखा है: "कूचाका राज्य लोयाङसे ८२८० ली दूर है। लोग नगरोंमें रहते हैं। राजधानीके चारों तरफ तेहरे प्राकार हैं। वहाँ एक हजारके करीब बौद्ध विहार और मन्दिर हैं। लोग कृषि और पशु-पालन करते हैं।....राजाके महल अपने वैभवमें देवप्रासाद-से हैं।"

§२. पाँचवीं-सातवीं सदीके यात्री

फा-शीन ४०० ई०में तुन्-ह्वाङसे आगे चलकर कूचा पहुँचा। रास्तेमें उसे दूसरी भाषा बोलने वाले घुमन्तू मिले, यद्यपि उनमें भी बौद्धधर्मके अनुयायी एवं भिक्षु थे, जो भारतीय भाषा (संस्कृत) पढ़ सकते थे। कराशरके उक्त इलाकेसे वह ऊ-ई (कूची) पहुँचा। वहाँ हीन-यानानुयायी ४ हज़ार भिक्षु रहते थे। यहाँके लोग सहवासियोंके साथ अपने कर्तव्यको नहीं समझते। अतिथि-सत्कारमें भी बहुत हल्के होते हैं।...." सत्रह वर्ष ही पहिले चीनी सेनाने कूचावालोंपर जो जुल्म ढाया था और उनके मान्य गुरु कुमारजीवको बन्दी बनाकर ले गई थी; उसकी कड़ुवाहट यदि अब भी कुछ बची हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं। फा-शीन्के बीस साल बाद किपिन् (काबुल)के भिक्षु धर्ममित्र २० साल कूचामें रहे। यदि कूचावाले इतने निष्ठुर होते, तो वह कैसे रह सकते थे? धर्ममित्र ४२४ ई०में कूचासे तुन्ह्वाङ चले गये।

कूचामें पहिले हीनयानकी प्रधानता थी, लेकिन कुमारजीवके कारण वह महायानका गढ़ बन गया। चन्द्रगर्भसूत्र (अनुवादक नरेन्द्रयश, ५६६ ई०)की व्याख्या कुमारजीवने कूचाकी रानी अ-किये यी-मो-तीके लिए करते हुए कहा है कि बुद्धोंका जो भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्राकट्य हुआ है, उनमें ९९ बुद्ध कूचामें हुए, २५ बालुका (अवसू), ६० वाराणसी, २० कपिलवस्तु, २२५ चीन....२६ उद्यान, १०० पुरुषपुर, १० गन्धार, १८० भोट....में।

स्वेन्-चाङ ६३० ई०में कूचासे गुजरा था। उसने कूचाकी लम्बाई पूरब-पश्चिम १००० ली और चौड़ाई उत्तर-दक्खिन ६०० ली बताई है। राजधानी १७-१८ लीमें थी। लिपि थोड़ेसे अन्तरके साथ भारतीय थी। गीत-वाद्यमें कूची बड़े चतुर थे। उसके समयमें यहाँके १०० विहारोंमें ५००० भिक्षु रहते थे, जो सभी सर्वास्तिवादी (हीनयानी) थे (लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह महायानसूत्रोंको नहीं मानते थे)। कूचाके भिक्षु अपनी धर्म-पुस्तकोंको भारतीय भाषामें पढ़ते थे। 'वहाँके भिक्षु त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस ग्रहण कर लेते थे, किन्तु अपने प्रातिमोक्षके नियमोंको बड़ी कड़ाईसे पालन करते थे। राजधानीसे ४० ली उत्तर दो विहार थे, जिनमें दो अत्यन्त सुन्दर बुद्धमूर्त्तियाँ थीं, वह मनुष्यकी शिल्पचातुरीकी पहुँचसे बाहर की थीं।—(बुद्धकी मूर्त्तियाँ नब्बे फीटसे अधिक ऊँची थीं।) स्वेन्-चाङ यहां भी पंचवार्षिक मेलेके होनेकी बात लिखता है। यह मेला दस दिनका था, जिसमें देशके कोने-कोनेसे आकर लोग शामिल होते थे। मेलेके वक्त राजा-प्रजा पूरी छुट्टी मनाते थे, कोई काम नहीं करता था और लोग उपोसथ रखकर धर्मोपदेश सुनते थे। प्रत्येक विहार अपनी बुद्धमूर्त्तियोंको मोती और रेशमी गोटेसे अलंकृत

करके रथपर चढ़ा शोभायात्रा निकालता था । आरंभमें हजारकी भीड़ मिलन-स्थानमें जाकर असंख्य बन जाती थी । मिलन-स्थानसे उत्तर-पश्चिम नदीके परले पार 'आश्चर्यविहार' था । वहां विशाल शालायें और अत्यन्त कलापूर्ण बुद्धमूर्त्तियां थीं । इस विहारके भिक्षु विनयपालनमें बड़े दृढ़, साथ ही बड़े विद्वान् और योग्य थे । भिन्न-भिन्न देशोंसे विद्याप्रेमी यहां पढ़नेके लिये आते थे । राजा, प्रजा और राजपुरुष सभी उनका आतिथ्य करते थे ।

स्वेन्-चाङकी जीवनीसे कूचाके बारेमें कुछ और भी बातें मालूम होती हैं : उस समय मोक्षगुप्त नामके सर्वास्तिवादी भिक्षु वहां रहते थे । उन्होंने भारतमें जाकर बीस साल अध्ययन किया था । व्याकरण और भाष्यटीकाओंके बारेमें उनके ज्ञानकी विशेष तौरसे प्रसिद्धि थी ।....

थाङ-वंशके इतिहाससे पता लगता है कि ७८७-७८८ ई० में चीनी भिक्षु ऊ-कुङ भारतसे लौटते वक्त कूचामें ठहरे थे । उस वक्त 'चार छावनियों' का शासक कूवो-हिन् था और राजाका नाम पो-ह्वान था । चीनी भिक्षु पुण्डरीक-विहारमें ठहरा था । वहांका नायक वू-नी-ती-सी-यू था, जिसका अर्थ है पुण्डरीकबल । ऊ-कुङ के पास "दशबलसूत्र" की पुस्तक थी, जिसका वह अनुवाद कराना चाहता था । विहार-नायक पंडित था । वह संस्कृत, कूची और चीनी तीनों भाषायें जानता था । उसने पुस्तकका अनुवाद कर दिया । इस प्रकार हम देख रहे हैं कि आठवीं शताब्दीके अन्तमें अभी भी कूचा बौद्धदेश था । भारतका उसके साथ अविच्छिन्न संबंध था । वहाँ शास्त्रों, महाभाष्य और व्याकरणका भी अच्छा पठन-पाठन होता था ।

ऊ-कुङके बाद कूचाका इतिहास अंधकारावृत्त हो जाता है, और फिर भारतीय बौद्ध संस्कृतिकी जगह इस्लाम लेता है । कूचाकी मुखमुद्रा मंगोलीय मुखमुद्रामें परिणत हो जाती है । चित्रकला और मूर्त्तिकलाके मनमोहक नमूने मिट्टीमें मिल जाते हैं । इस रोमांचकारी अंतका अनुमान लेकाकके निम्न वाक्योंसे कीजिये[१]—

"हमने एक रोमांचकारी आविष्कार किया । इस घरके बाहरी द्वारको दीवार बनाकर बंद कर दिया गया था । छत कितनी ही जगह गिर गई थी ।..हमने सब चीज देखनेके बाद फर्शको फोड़ दिया और वहां पुराने मेहराबी छतका अवशेष मिला । इसी समय एकाएक वहां कुछ सौ निहत पुरुषोंके शवोंका अस्तव्यस्त ढेर देखा । उनके कपड़ोंको देखनेसे वे बौद्धभिक्षु थे । (शवोंकी) ऊपरकी तह सुरक्षित थी—चमड़ा, केश, सूखी आँखें, भयंकर घाव, जिनके कारण उनकी मृत्यु हुई थी, सब मौजूद थे और पहचानने लायक थे; एक खोपड़ीको खास तौरसे देखा, वह सिरसे दाँत तक भयंकर रूपसे तलवारसे काट दी गई थी ।"

धार्मिक असहिष्णुताका यह परिणाम था, जो मानवको पशु बना देती है । मध्य-एसियामें ईसाई, मानीपंथी, बौद्ध सब बड़े प्रेमसे एक साथ रहते[२] थे, इसे सभी अनुसंधानकर्ताओंने एक स्वरसे स्वीकार किया है । फिर इस दानवताको कौन धर्म लाया, इसे समझना कठिन नहीं है ।

---

[१]Buried Treasures of Chinese Turkistan (A. Von Le Coq) p. 62.

[२]"It must also be mentioned that documents belonging to all four of the religions practise in the country were diseovered in the same shrine; hence Buddhist, Christions, Manichaeans, with isolated Zoroastrians, appear to have used the same places of worship." वहीं p. 77.

§ ३. कूची भाषा और साहित्य

मध्य-एसियामें अनेक भाषाओंमें लिखे अभिलेखोंमें एकका नाम इस सदीके आरंभमें लेन्मानने तुखारी (१) और तुखारी (२) रख दिया था। उस वक्त तुखारियोंके बारेमें यही जाना जाता था, कि उन्होंने ही बक्त्रियाके ग्रीकोंके राज्यको ध्वस्त किया और उनका शकोंसे कुछ संबंध था। इनमें तुखारी (२) वही खोतनी या शक-भाषा है, जो कि तरिम-उपत्यकाके दक्षिणी भाग (खोतन-प्रदेश) में बोली जाती थी और जो भाषा कनिष्क और दूसरे कुषाण राजाओंके सिक्कोंपर पाई जाती है। आगेकी खोजोंसे पता लगा, कि तुखारी (१) भी (क) और (ख) दो शाखाओंमें विभक्त हैं। 'मैत्रेय-समिति' नामक ग्रंथकी भाषाके विश्लेषण करनेसे यह पता लगा, कि वह तुखारी (क) है और 'शतम्' नहीं, 'केन्तम'-भाषासे संबंध रखती है। इसी ग्रंथका 'मैत्रि-समिति' के नामसे उइगुर-भाषामें अनुवाद मिला है, जिसकी पुष्पिकासे पता लगा, कि इस ग्रंथको वैभाषिक आर्यचन्द्रने भारतीय भाषासे तोख्रीमें अनुवादित किया और आचार्य प्रज्ञारक्षितने उसे तोख्रीसे उइगुर-भाषामें किया। यह भाषा वही थी, जिसे लेन्मानने तुखारी (१) कहा था। प्रोफेसर सिल्वँन् लेवीने दिखलाया कि तुखारी (ख) कूचाकी सरकारी भाषा थी, जिसे कूची कह सकते हैं और तुखारी (क) का मूलस्थान कराशहर था। जर्मन विद्वान् ज़ीगने यह भी पता लगाया कि तुखारी (१) का स्थानीय नाम आर्शी था। आर्शी और तुखारी पीछे पर्यायवाची शब्द मालूम हुए। स्त्राबोने बतलाया था, कि दोनों तुखारियोंके राजा आर्शी शासकवर्गके थे, इसीलिये तुखारी लोग अपनी भाषाको राजाके नामपर आर्शी कहते थे। पीछे एक हस्तलेखमें (क) और (ख) दोनों ही भाषाओंमें कितने ही पर्यायवाची शब्द मिले, जिससे पता लगा कि तुखारी (ख) तुर्किस्तानके कुछ भागकी बोलचालकी भाषा थी और (क) साहित्यके साथ वहाँ आई—शायद बौद्धधर्मके साहित्यिक माध्यमके तौरपर लाई गई।

ये हस्तलेख प्रायः बौद्धधर्मसे संबंध रखते हैं, अतएव इनमें कितने ही संस्कृत शब्द तुखारी उच्चारणके साथ मिलते हैं, जैसे—

संस्कृत	तुखारी	संस्कृत	तुखारी
अवीचि	अविश	१ (एक)	श
द्वीप	द्विप्	२ (द्वे)	वे
कलियुग	कलियुक्	३ (त्री)	त्रि
रूप	रूप्	४ (चत्वारि)	च्वर
अञ्जलि	अंचलीयि	५ (पञ्च)	पञ
अमात्य	आमाश्	६ (षट्)	षक्
चक्र	चक्कर	७ (सप्त)	श्पद्ध
गंगा	गंक्	८ (अष्ट)	ओकध्
मार्गफल	मार्कपल	९ (नव)	ञू
राम	रामे	१० (दश)	शक्
लक्ष्मण	ल्याक्स्मं	११ (एकादश)	शक्शपि
दसग्रीव	दशग्रीवे	१२ (द्वादश)	शक्वेपि
लंका	लांक		

संस्कृत	तुखारी	संस्कृत	तुखारी
२० (विंशति)	विकी	८० (अशीति)	ओक्तुक्
३० (त्रिंशत)	तरियाक्	९० (नवति)	नूवुक्
४० (चत्वारिंशत्)	प्त्वराक्	१०० (शत)	कन्ध्
५० पञ्चाशत्	प्याञ्नक्	१००० (सहस्र)	वल्त्
६० (षष्ठि)	शक्शक्	१०००० (दशसहस्र)	त्मां
७० (सप्तति)	शक्तुक्	कोटि	कोरि

प्रोफेसर सिल्वेन् लेवीने तुखारी-भाषाका संबंध शतम् नहीं, बल्कि केन्तमीय पश्चिमी योरोपीय भाषाओंसे देखकर लिखा था—"किसको विश्वास हो सकता था, कि चीनी और तुर्किस्तानी इलाकोंकी बिल्कुल सीमापर, चीनी तुर्किस्तानक गर्भमें एक आर्यनगरी थी—जहां तक कि भाषासे जातिका अनुमान होता है ? वहां पितर (बाप) के लिये 'पातर' और माताके लिये 'मातर', अश्वके लिये 'याक्वे' (लातिन्—एकवस्), आठके लिये 'ओक्ट' (लातिन् और ग्रीक—ओक्तो), अस्ति (है) के लिये 'स्ते' बोला जाता था।"

(१) तुखारी (ख) साहित्य—

तुखारी-भाषामें कराशहर और तुर्फानमें जो साहित्य मिला है, उसकी भाषा अर्थात् पूर्वी तुखारीको तुखारी (क) कहते हैं और कूचामें मिलनेवाले हस्तलेखोंकी भाषा है तुखारी (ख)।

रूसी विद्वान् वेरोजोव्स्कीको कूचामें धर्मपदके कुछ पन्ने मिले, जिसमें संस्कृतके प्रत्येक शब्दका पर्याय तुखारी (ख) में दिया हुआ था।

कूचा और पूर्वी तुर्किस्तानमें सर्वास्तिवादकी प्रधानता थी और उसके धर्मसूत्रोंके अनुवाद तुखारी-भाषामें हुए थे। जर्मन अभियानको इसी भाषामें **जातकों और अवदानोंसे** संबंध रखनेवाले बहुत-से खंडित पत्र मिले थे। इन खंडित पत्रोंमें तुखारी (ख) के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। 'बुद्ध कपिलवस्तुमें थे'—का तुखारीमें अनुवाद हुआ था—"पञक्ते कपिलवस्तु ने मसकिञि।"

प्रातिमोक्षसूत्र—इसके भी कितने ही खंडित पत्र कूचाकी भाषामें मिले हैं, जिसमें 'पाचित्तिय' (तुखारी पेग्ती), पाटिदेशनीयके कितने ही भाग हैं।

आयुर्वेद—कूचामें भारतीय आयुर्वेदका प्रचार था। वहांके खंडहरोंसे मिले हस्तलेखोंमें आयुर्वेदकी किसी पुस्तकके कुछ पन्ने हैं, जिनमें संस्कृतके साथ कूची-भाषा भी दी हुई है। ये ग्रन्थ उपजाति, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित छंदोंमें लिखा हुआ था और इसके सिद्धान्त चरक-सुश्रुतसे मिलते हैं। इसमें उपयुक्त संस्कृत शब्दोंके तुखारीपर्याय देखिये—

अश्वगंधा (अश्वकंता), अपामार्ग (अपमार्क), तगर (तकरू), विडंग (वीरंक), तेजवती (तेचवती), मधु (मतू)।

नगरोपमसूत्र—इस सूत्रका भी कूची-भाषामें अनुवाद हुआ था, जिसके कुछ भाग लेनिनग्राद-संग्रहालयमें मौजूद हैं। जापानी धर्माचार्य काउन्ट ओतानीके पास भी एक खंडित आयुर्वेद-ग्रंथके कुछ पन्ने हैं।

अन्यग्रन्थ—कूची-भाषामें और जो ग्रन्थ मिल हैं, उनमेंसे कुछ हैं—प्रतीत्यसमुत्पाद, स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, उदानालंकार (उदानकी टीका), अवदान, करुणापुण्डरीक।

(२) तुखारी (क) साहित्य—

इस भाषामें जो हस्तलेख मिले हैं, उनमें प्रायः सभी सर्वास्तिवादी त्रिपिटकक ग्रन्थोंके अनुवाद हैं, साथ ही कुछ काव्य, नाटक, उदानवर्ग, स्तोत्र (जैसे मातृचेटका "अध्यर्धशतक") भी हैं। इस भाषामें स्वतंत्र जो कुछ लिखा गया है, वह भूमिका या पुष्पिका—अनुवादक, लिपिक, दायकके नामोंके निर्देश—के रूपमें है। अनुवादित ग्रन्थोंमें कुछ हैं—पुण्यवन्तजातक, इस कथाको "महावस्तु" और "भद्रकल्पावदान" में भी देखा जाता है, किन्तु अनुवाद उनसे स्वतंत्र हुआ है। खंडित पन्नोंको देखनेसे पता लगता है, कि तिब्बती और चीनीकी भाँति तुखारी(क) में भी इन ग्रंथोंके बहुत-से अनुवाद हुए थे। जान पड़ता है, आर्यशूरकी "जातकमाला" सारी इस भाषामें अनुवादित कर दी गई थी—उसके "उन्मादयन्ती जातक" के कुछ पन्ने मिले हैं। दिव्यावदानके अनुवादके भी कुछ भाग मिले हैं। "षड्दन्तजातक" का तुखारी-अनुवाद पाली, छद्दन्त-जातकसे भिन्न है, और जातकमालाके "हस्तिजातक" से भी भेद रखता है। "मुगपक्खजातक" का अनुवाद "मुकफल्क्" के नामसे हुआ है।. . . . . .

काव्योंमें अश्वघोषकृत **सौन्दरनंदक** पाँचवें-छठे सर्गके कुछ भाग इस भाषामें मिले हैं।

तुखारी लोग नृत्य और गीतके लिये अपने समयमें शायद एसियामें सानी नहीं रखते थे। कूचाके राजा कलाकारोंकी मंडली लेकर चीन-सम्राट्के दरबारमें बहुधा जाया करते थे। उनके यहां रंगमंचका अच्छा विकास हुआ था, इसका पता **नंदप्रभराजन्**—'नंदप्रव्रज्या' नाटकके तुखारी-भाषामें लिखे खंडित ग्रंथोंके पत्रोंसे मालूम होता है। एक दूसरा खंडित ग्रंथ मिला है **(न)न्दविहारपालनं,** इसमें बुद्धके अनुज नंद और उसकी पत्नी सुन्दरीकी कथा आई है। बुद्ध-जीवनके संबंधके भी कुछ खडित पन्ने मिले हैं और **मैत्रयसमिति नाटकके** तुखारी-अनुवादका भी कुछ भाग मिला है। जैसा कि अन्यत्र बता चुके हैं, इसके लेखक वैभाषिक आर्यचन्द्र थे। इसमें 'प्रवेशकः समाप्तः' का अनुवाद 'प्रवेशक्क आर्' और "निष्क्रान्ताः" के लिये 'लचार्पोञों' किया गया है। पुष्पिकामें लिखा है—"वैभाषिक्याय् आर्यचन्द्रेस् ररित्बुन्ध् मैत्रैयसमितिनाटकं अनिरुद्धवदां ओमा त्रिध् निपांत् आर्।"

लेकिन, वैभाषिक आर्यचन्द्र नाटकका लेखक नहीं, तुखारी-अनुवादक था। सारा नाटक सत्ताईस अंकोंमें था। इसके भिन्न-भिन्न अंकोंमें निम्नप्रकारका कथानक था—

पहले नव अंकोंमें मैत्रेयका पूर्ण इतिहास (पहले चार अंकोंमें बुद्ध शाक्यमुनिके सामने मैत्रेय का बादाबरी या वावरि ब्राह्मणके शिष्यके तौरपर आना) है; . . दसवें अंकमें अंतिम बुद्धका अभिनय आरंभ होता है। दसवें-ग्यारहवें-अंकोंमें मैत्रेय तुषित स्वर्गसे उतरकर माताके कुक्षिमें प्रवेश करते हैं, केतुमती नगरमें ब्राह्मण ब्रह्मायु और ब्राह्मणी ब्रह्मावतीके यहां जन्म लेते हैं, और राजा शंखको अपना गुण दिखलाकर उसका गुरु बनते हैं। फिर ब्याह करके अपनी स्त्री सुमनाके साथ केतुमती जाते हैं, जहां उनको सुमन नामका एक पुत्र पैदा होता है। फिर केतुमती छोड़ते हैं और सुपुष्पित बोधिवनमें नागपुष्पके नीचे बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। सोलहवें अंकमें मैत्रेय बुद्धके राजा शंख, ब्रह्मायु, सुमना रानी यशोवती आदि अनुयायी होते हैं। १७-१८ अंकोंमें उइगुर-अनुवादके अनुसार और भी बहुत-से लोग शिष्य बनते हैं। १९ वें अंकमें मैत्रेय गौतम-बुद्धके कालसे प्रतीक्षा करते महाकाश्यपके शरीरके पास पहुँचत हैं। बीसवेंसे २५ वें अंकोंमें भिन्न-भिन्न नरकोंमें मैत्रेयके धर्मोपदेशका चमत्कार दिखलाया गया है। २६ वें अंकमें शंखका पुत्र सिंह मैत्रेय भगवानका उपदेश सुन राज्यको अपने पुत्र उद्रायनके हाथ में दे विरागी हो जाता

है और मैत्रेय उसके संबंधमें भविष्यद्वाणी (व्याकरण) करते हैं। २७ वें अंकमें माता ब्रह्मावतीको त्रायस्त्रिंश स्वर्गसे मुक्ति दिलाकर उइगुरु-अनुवादके अनुसार मैत्रेय निर्वाण प्राप्त करते हैं।

अन्य ग्रंथ—अन्य ग्रन्थोंमें रामायण, ज्योतिष, वैशेषिक, न्याय, कर-शास्त्र तथा आयुर्वेदके खंडित अनुवाद मिले हैं।

षट्सूत्रपोस्तक् नामका एक ग्रंथ भी तुखारी-भाषामें प्रचलित था, जो पद्यमय था और मैत्रयके नामके आनेसे पता चलता है कि मैत्रेय-सम्प्रदायसे संबंध रखता था।

सूत्रपिटकके संयुक्तागमके तुखारी-अनुवादके कुछ नमूने देखिये—

न विद्यते तव—त्वाच्कें शुक् श्कं ना कल्पनात्र त्वा।

द्वीपं कुरुत त्वं आत्मनो--प्र-ता..म आर् तु आल्य्मेस्।

वीर्यं संश्रय पण्डितं भज—त्रष्पुने सेम् मृत्सर् क्नान्-मां नां ञ्चेस् पातर्।

निर्धान्तमलो निरंगनो—व्ल्यल्यित् कु वर्से स्ने नाकम्

न पुनर्जातिजरामुपेष्यसि.............

भृतं धनं—कुच् शुरमष् ने क्रोपत् अकात्सुने।

ते मे देवेन स्वां निष्क्राम्यं गृहात्—त्रञि प्रे त्सकर ञि व पिञ् मा ते तस्मां चेष्।

ताता तातेति वादिना—पाचन् पा......

तुखारीमें व्याख्या करनेका ढंग (प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रसे)———

क्लेशास् त्रीणि--क्लेश् सञ्जुमस् त्रे पाकञ् नम् अविष् नम् संस्कार भव।

मातृचेटके मूल "अध्यर्धशतकस्तोत्र" तुखारी-भाषाके अनुवादके साथ खंडित रूपमें मिला है। बौद्ध-परिभाषाओंका कोश भी बनाया गया था, जिसमें समन्वागम, प्रत्यय, फल, लक्षण, वितर्क, संकल्प, औदारिक, पञ्चविज्ञान आदि पारिभाषिक शब्दोंका पर्याय दिया हुआ था।

मध्य-एसियाके इन खंडहरोंमें कई हजार अभिलेख हमारी कृतियोंके मिले हैं, जिनके बारेमें हममेंसे कितनोंको साधारण-सा भी ज्ञान है? कितने भारतीयोंने उनके उद्धार और पठनमें समय लगाया है? यदि इसका उत्तर अभी तक नहींमें है, तो कम-से-कम ऐसा उत्तर स्वतंत्र भारतके लिये क्षम्य नहीं हो सकता।

अध्याय ७

तुर्फान

कूचासे पूर्व तुर्फान एक मरुद्वीप है, जिसमें बहुतसे नगरोंके ध्वंसावशेष हैं। ये नगर भिन्न-भिन्न समयमें यहांकी राजधानियाँ रहे हैं। मिङ (१३६८-१६४४ ई०)-इतिहासमें लिखा है कि यह नगर प्राचीन चे-शी (कू-शी) में अवस्थित है। इसे सुइ-काल (५८१-६१८ ई०) में काउ-चाङ कहा जाता था। थाङ-वंशमें यह नाम बंद कर दिया गया, किन्तु सुङ-वंशने उसे पुनः स्थापित कर दिया। प्रधान कस्बा आजकल चोसचोके नामसे प्रसिद्ध है। यही पुराना काउसाङ और इदिकुत् (उइगुर) शहर है। मुसलमान आजकल इसे अफसुस (साथ सोनेवाले) कहते हैं। इस मरुद्वीपमें भी संस्कृत, चीनी, ईरानी और तुर्कीके बहुतसे हस्तलेख मिले हैं। इसके अतिरिक्त तुखारी (क) और तुखारी (ख) के भी अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ध्वंसावशेषोंकी दीवारोंपर नीली आँख, लाल बाल, लाल दाढ़ीवाले आदमियोंके चित्र बहुधा मिलते हैं।

ये कौन थे ? आजके तुर्फानके वाशिंदोंमें ऐसे शरीर-लक्षणवाले आदमी नहीं मिलते।

हान्-काल (२०२ ई० पू० ९ ई०) में यहाँ कू-शी या क्यूशी नामकी दो राजधानियाँ थीं, जिसे चीनी सेनापति चेङ-चीने ६० ई० पू०में ध्वस्त कर उसकी जगह आठ छोटी-छोटी सरदारियाँ स्थापित कीं। ४थी-५वीं शताब्दीमें कंसूके हू-लियाङ और पेलियाङ राज्योंके साथ तुर्फानका सम्बन्ध था। हू-लियाङका संस्थापक वही सेनापति लू-क्वाङ था, जो कूचा पर विजय प्राप्त कर कुमारजीवको ले गया था। हूणी कबीले चू-चूने लूक्वाङको खतम कर दिया। चू-चूका राजा मेङ्सुन् पीछे बौद्धधर्म और साहित्यका बहुत भक्त हो गया। इस कबीलेने हू-लियाङके राज्यमेंसे और कान्सूमें से भी बहुत सी भूमि लेकर पे-लियाङके नामसे अपना राज स्थापित किया। वेई-राजवंशने ४३९ ई०में इस राज्यको जीत लिया। इस राज्यके दो आदमी भागकर तुर्फान चले आये और उन्होंने एकके बाद एक बीस साल तक राज्य किया। उनमें से दूसरा राजा चाउ ४८० ई० में मरा। उसने एक मैत्रेयका मन्दिर बनवा कर एक लम्बा अभिलेख खुदवाया।

५०७ई० में काउ-चाङमें च्यू-वंशके एक राजाने अपनी राजधानी बनाई और एक चीनी राजकुमारीसे शादी की। लेकिन पीछे ६४० ई० में पश्चिमी तुर्कोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके दोषमें चीनी सेनाने इस राज्यको नष्ट कर दिया। स्वेन्-चाङने जाते वक्त इस राज्यको देखा था; लेकिन लौटती यात्रामें वह इसका कोई जिक्र नहीं करता।

पीछे तुर्फानपर उइगुरोंका अधिकार हो गया, जो आठवींसे नवीं शताब्दी तक रहा। ७५० ई० में उइगुर खानने मानी-धर्मको राजधर्म स्वीकार किया। इस धर्मके सोग्दी और ईरानी भाषाओंमें बहुतसे अभिलेख मिले हैं. जिनसे मालूम होता है कि तुर्फानका पश्चिमके साथ बहुत पुराना और नजदीकी सम्बन्ध था। यह सम्भव है कि मानीने स्वयं मध्य-एसियामें धर्म-प्रचार किया हो, लेकिन सासौसे पहिले शायद ही उसके धर्मको इतनी सफलता मिली हो। नेस्तोरीय

ग्रंथोंके मिलनेसे यहां उनके धर्मके अस्तित्वका पता लगता है। तुर्फानमें आठवीं-नवीं सदीके बहुतसे तिब्बती अभिलेख मिले हैं। लेकिन तुर्फान तिब्बत-राज्यके बाहर उइगुर-राज्यमें था। ८४३ ई० में किरगिजोंने उइगुर-राज्यको नष्ट कर दिया।

तुर्फानके पास बौद्ध भिक्षुओंकी लाशोंका ढेर जो मिला था, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि बौद्धधर्म उसी समय यहांसे नष्ट हो गया। १४५० ई० में भी बौद्ध यहां रहते थे और मिङ-इतिहासमें लिखा है—"कूचू (कराखोजा) में बौद्ध मन्दिरोंसे घरोंकी संख्या कम है।"

अध्याय ८

इतिहासकी निधियां

§ १. अभियानोंकी होड़

हस्तलेख कैसे प्रकाशमें आये, उन्हें कैसे पढ़ा गया, कैसे जिज्ञासा बढ़ी, यह हम कह आये हैं। अब उनकी खोजके लिये भेजे जानेवाले अभियानोंकी बारी आई। सबसे पहिले रूस मैदानमें आया। रोकोसोव्स्की और कज़लोफ़के अधीन पहिला अभियान १८९४ ई० में मध्य-एसिया गया, जिसने १८९६ ई० में अपना विवरण प्रकाशित कराया। इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा जर्मन और इङ्गलिश पत्रोंमें हुई। यह पहिला रूसी अभियान वहांकी भौगोलिक सभाकी तरफसे गया था। अब रूसी अकदमीने रद्लोफ़ और ज़ाल्मानके नेतृत्वमें एक बड़ा अभियान भेजा।

अंग्रेजों और रूसियोंकी एसियामें राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता पुरानी है, और अंग्रेज सदा पिछ-लग्गू रहे हैं। अब भी वे पीछे रहे। ब्रिटिश सरकारके संकेतपर भारत-सरकारने हुंगरीमें उत्पन्न डाक्टर ऑरेल स्टाइनको १९०० ई० में अभियान ले जानेके लिये कहा। भारत-सरकारने डा० स्टाइनकी सेवाओंके अतिरिक्त ११ हज़ार रुपया अभियानके लिये देना स्वीकार किया। स्टाइनने प्रथम अभियान ले १९००-१९०१ में तरिम्-उपत्यका और खोतनकी जाँच-पड़ताल की, और ब्रिटिश रॉयल एसियाटिक सोसाइटीके जर्नल (१९०१) में अपने अनुसंधानका प्राथमिक विवरण प्रकाशित कराया। जब उन्होंने वहां प्राप्त हुई वस्तुओंके वर्णनके साथ सितंबर १९०२ ई० में हाम्बर्गमें होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या कांग्रेसमें अपनी यात्रा और उत्खननके बारेमें बतलाया, तो विद्वानोंने बहुत सम्मान किया और वह प्राप्त वस्तुओंके प्रकाशनकी बड़ी अधीरताके साथ प्रतीक्षा करने लगे। इतना ही नहीं, अब रूस और इंग्लैण्डसे बाहरके देश जर्मनी, फ़ांस, हालैंड, इताली और जापानमें भी—"मध्य-एसिया चलो" का नारा लगा। १९०३ ई० में रूसने मंगोल कबीलोंमें बोलियोंके अनुसंधानके लिये रूदनेफ़-अभियान भेजा। दूसरे विद्वान वोल्गा-तटके कल्मखों और अफगानिस्तानके मंगोलों (हज़ारा) की बोलियोंका अनुसंधान करने लगे। निकोला प्राविनने नोगाइ तातारोंकी भाषा, बेलूयेफने कराकल्पककी बोलीका अनुसंधान किया। ब्यात्किन्ने समरकंद इलाकेमें, चेर्कासोफने अतरारके ध्वंसावशेष (जहां तीमूर १४०५ ई० में मरा) का अविष्कार किया।

रूसी अकदमीके ल्कीमेंत-अभियानने १८९८ ई० में कई स्थानोंकी जाँच-पड़ताल की। १९०२ ई०में जर्मन अभियान ग्रुन्वेडलके नायकत्वमें मध्य-एसिया पहुँचा। उसने कूचाके पश्चिमोत्तर कुम्-तुराके पास मिङ-ओईके ध्वंसावशेषकी जाँच-पड़ताल की। ग्रुनवेडलने अपना प्रधान उत्खनन तुर्फानके पूरब 'इदिकुत-सरी' के ध्वंसावशेषमें किया। वहांसे प्राप्त सामग्री तथा हस्त-लेखोंका महत्त्व बहुत बड़ा सिद्ध हुआ। हस्तलेखोंमें मानी-धर्मका कितना ही साहित्य मिला,

जिसका कि अब तक लोग नाम-भर पढ़ते थे, या जिसकी चित्रकला और सूक्ष्मदर्शनका बखान-भर सुन पाये थे। तुर्फानके हस्तलेखोंमें विलुप्त बौद्ध संस्कृत त्रिपिटकके भी कितने ही अंश मिले।

प्रथम जर्मन अभियानकी इस सफलतासे और भी जिज्ञासा तथा अभिरुचि बढ़ी। बहुतसे विद्वान् वहां उपलब्ध-ग्रन्थोंके पढ़ने और संपादित करनेमें लगे। जमनीने फान ले-काकके नेतृत्वमें दूसरा अभियान भेजा, जिसने नवम्बर १९०९ ई० से 'इदिकुत्-सारी' (कउ-चियान्= खो-चो)में उत्खनन शुरू किया। इस उत्खननकी महत्त्वपूर्ण चीजोंमें मानी-पंथी भित्तिचित्रके कुछ खंड थे, जिसमें एक मानीपंथी धर्माचार्य दूसरे आचार्योंसे परिवारित बैठा दिखाया गया था। वहां प्रत्येक चित्रके नीचे उइगुर-अक्षरोंमें उनके नाम लिखे हुए थ। साथ ही वहां पीतल और लकड़ीकी बौद्धमूर्तियां, छोटे-छोटे बौद्धचित्र, बोधिसत्वोंके चूनेके मुंड, गंधारशैलीके कारुकार्य, चीनी-ईरानी सिक्के, अज्ञात सिक्के, जूते, कंचुक, भिन्न-भिन्न प्रकारके परिधान और मृत्पात्र मिले। अभियानने लगातार तीन महीने प्रतिदिन बारह घरके हिसाबसे खुदाई की। फिर ले-काक सैं-गीनके दुर्गम दर्रेमें गया, जहां बहुतसे गुहाविहार तथा स्तूपावशेष थे। वहां अधिकतर ब्राह्मी और उइगुरमें तथा कुछ चीनीमें भी बड़ी संख्यामें हस्तलेख मिले। एक स्तूपमें कितने ही मानीपंथी पुस्तकोंके पत्रे मिले। बजालिक विहारमें बड़े सुंदर भित्तिचित्र प्राप्त हुए। वहीं एक बरामदेमें १२ चीनी बौद्धभिक्षुओंके पुरुषपरिमाणी चित्र मिले, जिनमें हरेकके ऊपर उइगुर-लिपिमें नाम लिखे हुए थे। दूसरी जगह १२ भारतीय भिक्षुओंके ब्राह्मीमें नामांकित चित्र थे। सभी चित्र अच्छी अवस्थामें थे और नवीं शताब्दीके बौद्धविहारोंके जीवनका अच्छा परिचय देते थे।

कोमुल् (हामी) के उत्खननके बाद तुन-ह्वाङ जानेकी तैयारी करके भी ले-काकको जर्मनी लौटना पड़ा (१९०७ ई०)। अपने प्राप्त हस्तलेखोंका वर्गीकरण ले-काकने निम्न प्रकार किया है:

(१) अज्ञात (तुखारी) भाषाके हस्तलेख;
(२) मध्य-एसियाकी ब्राह्मीके हस्तलेख (जिसे पीछे तुखारी कहा गया);
(३) मानी-वर्णमालामें मध्य तथा नवीन ईरानी भाषाके ग्रन्थ;
(४) मानी, उइगुर और नेस्तोरीय (सिरियन) लिपियोंमें सोग्दी-भाषाके ग्रन्थ;
(५) पांचवीं शताब्दीके सासानी सिक्कोंवाली लिपमें लिखी छोटी पुस्तक;
(६) सिरियन भाषा और लिपिमें कुछ ईसाई पुस्तकें;
(७) मध्य-एसियाकी ब्राह्मी तथा भारतकी दूसरी लिपियोंमें लिखे संस्कृतके बहुतसे हस्तलेख;
(८) चीनी और तिब्बती भाषाके कितने ही हस्तलेख;
(९) तंगुत् (अम्दो) भाषा और लिपिमें ब्लाकसे छपे ग्रन्थोंके खण्डांश, जो 'इदिकुत्-सारी' और तोयोक्में मिले;
(१०) उइगुर-लिपिमें मानीपंथी और बौद्ध ग्रन्थ-खंड;
(११) १४वीं शताब्दीकी लिपिमें मंगोल भाषाके चार पत्र।

मध्य-एसियामें चार आकारकी पुस्तकें मिली हैं—कुछ खुले (सांची) पत्रेवाली पोथीकी तरह, कुछ पश्चिमी ढंगकी सिली, कुछ कुंडलीकी तरह और कुछ पंखी मोड़नेकी तरह। पश्चिमी ढंगकी पुस्तकें सिली और दफ्ती लगाकर चमड़ेमें मढ़ी हुई थीं। इतनी सामग्रीके पढ़नेमें वर्षोंसे जर्मन, फ्रेञ्च, रूसी आदि विद्वान् लगे हुए हैं, किन्तु अब भी कितने ही हस्तलेख पड़े हुए हैं। भारतमें तो अभी उनकी तरफ ध्यान भी नहीं गया है, यद्यपि भारतीय संस्कृतिके सांगो-

पांग अध्ययनके लिय इस सारी सामग्रीको फोटोचित्र-सहित नागरीमें मूलभाषा तथा हिन्दी अनुवादके साथ छापना अत्यावश्यक है।

ले-काकके अभियानने बतला दिया, कि अभी मध्य-एसियाका खजाना खाली नहीं हुआ है। डाक्टर स्टाइन १९०६ और १९०८ ई० में दूसरा अभियान लेकर गये और ढाई वर्ष अनुसंधान-कार्यमें लगे रहे। स्टाइनने अपने इस अभियानके बारेमें लिखा[1] है—"खोतनके पास तकला-मकान मरुभूमिके ध्वस्त स्थानमें १९००-१९०१ में मैंने पहिली बार जो उत्खनन किया था, उसने चीनी तुर्किस्तानमें पहिले फैली उस प्राचीन संस्कृतिके सम्बन्धमें भारी ऐतिहासिक दिलचस्पी पैदा की, जिस संस्कृतिको कि भारतीय, चीनी तथा ग्रीक लोगोंने मिलकर पैदा किया। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया, कि बालूके नीचे पड़ी लुप्त सभ्यताकी छोटी-छोटी निशानियां भी लंबी शताब्दियोंके बाद सुरक्षित रहीं—इस प्रदेशका जलवायु चरम सूखेपनमें मिस्रका भी कान काटता है। दूसरी बारके सुव्यवस्थित उत्खननमें मैंने अपने कार्यको पूरबकी ओर एक हजार मील और आगे बढ़ाया। मध्य और पश्चिमी एसियाके राज्यों तथा यूरोपको चीनसे जोड़नेवाला वणिक्पथ यहींसे जाता था। इसके किनारे फैले ध्वंसावशेषोमें ऐसी वस्तुयें बहुत मिलीं, जो इस प्रदेशके आरंभिक इतिहास, कला और प्रतिदिनके जीवनपर प्रकाश डालती हैं। यह ऐसी बात है, जिसपर कभी-कभी चीनी इतिहासमें थोड़ा-सा उल्लेख मिलता था।"

स्टाइनके अभियानने मध्य-एसियाके लिये ५४ नकशे (४ मील प्रति इंच) तैयार किये, १२ भाषाओंमें १४ हजारसे अधिक हस्तलेख और अभिलेख जमा किये। इनमेंसे दो हजार अन्-सीमें मिले, जो द्वितीय शताब्दीके वहांके चीनी सैनिक प्रबंधसे सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि यह अभियान भारत-सरकारकी ओरसे भेजा गया था, किन्तु पीछे इधर-उधर करके मध्य-एसिया से प्राप्त सामग्री लंदन (ब्रिटिश म्युजियम) भेज दी गई!

§ २. तुन्-ह्वाङ्की महान् निधियां

(१) इतिहास—

कूचासे पूरबकी ओर कराशहर, तुर्फान आदिको पारकर चीनकी सीमाके पास तुन-ह्वाङ आता है। तुन्-ह्वाङ तरिम-उपत्यकासे दूर चीनकी वास्तविक सीमाके पास है। यहां ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहिले यू-ची शकोंका निवास-स्थान था। फिर कभी हूणों, कभी तंगुतों, कभी अवारों और कभी उइगुर तुर्कोंकी राजधानी रहा। फिर कितनी शताब्दियों तक विस्मृत रहते-रहते वहां वर्तमान शताब्दीमें यकायक सारे विश्वके प्राच्य-विद्याके पण्डितोंमें विख्यात हो गया, जब कि वहाँ बहुमूल्य पुस्तकोंका एक विस्मृत प्राचीन पुस्तकालय प्रकट हो गया। तुन्-ह्वाङका इतिहास कम पुराना नहीं है। सन् ९८ ई० पू०में लिखे जो अभिलेख मिले हैं, उनसे प्रमाणित होता है, कि वहाँ उस समय चीनी सैनिक छावनी थी। सम्राट् मिङ-तीका सेनापति पन्-चाउ केवल अपने सम्राट्के स्वप्नकी बुद्ध-मूर्त्ति ही नहीं लेने आया था, बल्कि उसने काशगर और खोतनको जीता और कुषाणों (कनिष्क) को उधर पैर नहीं फैलाने दिया। किस तरह मध्यएसियापर एकके बाद एक घुमन्तू जातियाँ शासन करती रहीं, इसे यहाँ फिर दुहरानेकी अवश्यकता नहीं है।

---

[1]Desert Cathey, Vol I., P. VIII.

तुर्कोंकी पूर्वी और पश्चिमी दो शाखाओंके पारस्परिक वैमनस्यसे फायदा उठाकर चीनियोंने तुर्फानको ६४० ई०में ले लिया। फिर उन्होंने अपने 'मित्र' पश्चिमी तुर्कोंको भी जीतकर तरिम-उपत्यकाकी चारों छावनियोंकी बुनियाद डाली। इस वक्त चीनकी प्रभुता बुखारा, ताशकन्द और अफगानिस्तान तक स्वीकृत थी, किन्तु इस प्रभुतासे ईर्ष्या करनेवाले भी पैदा हो गये थे। अरब ईरानमें पहुँच चुके थे और पड़ोसी तिब्बत एक बार चीन-कन्याके रूपमें विजयोपहार ले चुका था। ६७० ई०में फिर ल्हासाकी भोट सेना तरिम-उपत्यकामें घुसी और ६९२ ई० तक चारों छावनियोंको अपने हाथोंमें किये रही। इसलामने भी पैर आगे बढ़ाया और सेनापति कुतैब (७०५-१५ ई०) ने इस्लामिक राज्यकी सीमा फरगाना तक फैलाकर काशगरपर भी आक्रमण किया। चीनी सम्राट् स्वेन्-चुङको अरबों और तिब्बतियों—दोनोंसे भुगतना था और ७२१-५१ तक वह सफल भी रहा। इस समय चीनी सेना हिन्दूकुश पारकर गिलगित पहुँची थी, किन्तु ताशकन्दके पास तलसमें ७५१ ई०में अरबोंने चीनपर ऐतिहासिक विजय प्राप्त करके अपने भाग्यद्वारको खोल दिया, तो भी इसका तुरन्त लाभ अरबोंने नहीं, तिब्बतियोंने उठाया। तुर्फान छोड़ सारी तरिम-उपत्यका एक सौ वर्ष तक तिब्बती राज्यमें रही और चीनके कर देनेसे इन्कार करनेपर भोट सेनाने ७६३ ई०में राजधानी चाङ-अनको भी लूट लिया। चीनने तिब्बत के साथ अपमानजनक सन्धि स्वीकार की, तथा उइगुरोंसे भी सन्धि करके तुर्फानको उनके हाथोंमें जाने दिया। तुर्फान ७५०-८४३ तक उइगुरोंकी समृद्ध राजधानी रहा, और यहाँ मानीके धर्मको राजधर्मका पद प्राप्त हुआ था। ८४३ ई०में उत्तरके घुमन्तू किरगिजोंने तुर्फानको लूटा और उइगुर कुछ न कर सके, लेकिन उइगुरोंका बल दूसरी जगहोंपर कम नहीं हुआ। उन्होंने तिब्बतके शासनको तरिम-उपत्यकासे खतमकर अपना एक नया राज्य (८६०-९१७) स्थापित किया, जिसमें काशगर, उरुम्ची और कूचा सम्मिलित थे, किन्तु खोतन नहीं था। ९४५ ई०में काशगरके शासकने इस्लाम स्वीकार किया। कुछ समय बाद खोतन और तुर्फानने उसका अनुसरण किया।

तुन्-ह्वाङ कन्सू-प्रान्तका नगर है, जो कि चीनका एक छोड़ सबसे पश्चिमी प्रान्त है। चीन की महादीवार इसके उत्तरसे जाती है। किसी समय उसे और पश्चिममें बढ़ानेकी कोशिश की गई थी। १०१ ई० पू०में तुन्-ह्वाङसे पश्चिम लोब्नोर (नमककी झील) तक सैनिक छावनियाँ बैठाई गई थीं। तुन्-ह्वाङसे पश्चिमवाला रास्ता लोब्के भीषण रेगिस्तानसे जाता था, जिसका पार करना बहुत कठिन था, अतएव देश उधरसे मनुष्यके आक्रमणसे भी सुरक्षित था। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें पन्-चाउने हूणोंकी शक्ति ध्वस्त करके तरिम-उपत्यकाको सुरक्षित कर दिया, यह हम बता चुके हैं। इस नगरके बाद ही तकलामकानकी विशाल मरुभूमि शुरू होती है। इसलिए पश्चिम तथा भारतके भी व्यापारियों और यात्रियोंको तकलामकानमें विश्राम लेना आवश्यक था। इस प्रकार वह वणिक्पथका मुख्य नगर बन गया, फिर उसे समृद्ध होना ही चाहिए।

(२) सहस्रबुद्ध-गुहाविहार

नगरसे दक्षिण-पश्चिम नदीके पास नंगी पहाड़ोंकी पंक्तियाँ हैं, जो खोदकर बनाई गुफाओंके कारण मधुछत्र-सी मालूम होती हैं और इसीलिए उसे चियेन्-फो-तुङ या सहस्रबुद्ध-गुहा कहते हैं। तुन्-ह्वाङकी पहिली गुफायें चौथी शताब्दीके मध्यमें खोदी गई थीं अर्थात् जिस समय समुद्रगुप्त दिग्विजय कर रहा था। उस समय तक चीनके लिए बौद्धधर्म अति सुपरिचित था,

लेकिन बौद्ध कलाका परिचय चीनमें पाँचवीं सदीसे आरम्भ हुआ, जब कि तुर्कोंके पूर्वज वेई वहाँ शासन कर रहे थे। उन्होंने बौद्धधर्मको स्वीकार किया और फिर बड़े उत्साहके साथ बौद्धकला और साहित्यके विकासमें हाथ बँटाया। फ्रेंच विद्वान् पेलियोकी सम्मति है कि वेई-वंशकी बौद्धकला चीन-भूमिमें धार्मिक भावोंकी सबसे बड़ी सफलता है। युन्नान् और तुन्-ह्वाङमें इस वंशने बहुत-सी महत्वपूर्ण कृत्रिम गुफायें तैयार कराईं। यहाँकी बहुत-सी गुफायें छठी शताब्दीमें भी खोदी गईं। इन गुहासमूहोंमें कई जगह मूर्त्तियाँ देखनेमें आती हैं। पलास्तर तथा मूर्त्तियोंकी आकृतियाँ अधिकतर नष्ट हो गई हैं, लेकिन तुन्-ह्वाङ बहुत दूर एकान्त जगहमें है, वहाँका जलवायु अत्यन्त शुष्क है, इसलिए वहाँपर छठी सदीकी बहुत-सी मूलमूर्त्तियाँ ही नहीं देखनेको मिलती हैं, बल्कि तत्कालीन भित्तिचित्र भी बिल्कुल सुरक्षित मिलते हैं। वहाँकी सभी चीजें उसी कालकी नहीं हैं। कितनी ही थाङ-कालमें सातवींसे दसवीं शताब्दी तक बनती रहीं। भिन्न-भिन्न कालकी बनी होनेके कारण हम उनके द्वारा छठीसे दसवीं सदी तककी चीनी कलाके विकासको भलीभाँति समझ सकते हैं। तुन्-ह्वाङकी सबसे पुरानी कृतियोंपर ग्रीक प्रभावित गन्धार-कलाका भारी प्रभाव है। लेकिन पीछे जब भारत और चीनके बीच जल-थल दोनोंसे यातायात बहुत प्रचलित हो गया, तो चीनकी कलापर गुप्त-कलाका प्रभाव पड़ने लगा। सातवींसे दसवीं सदी तक (थाङ-कालमें) चीनी तीर्थाटक केवल कलाके स्वरूपका ज्ञान ही भारतसे नहीं लाये, बल्कि वह बहुत-सी मूर्त्तियाँ भी लाये, जिनका प्रभाव चीनी बौद्धकलापर बहुत जबर्दस्त पड़ा। तुन्-ह्वाङ उसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

सहस्रबुद्ध-गुहाविहार नगरसे करीब नौ मील दूर है। वहाँ गुहाओंके दो समुदाय हैं, जिनमें दक्षिणवाला मुख्य है। यह गुहायें क्रमशः उभड़ते-उठते पहाड़के मुखपर हजार गज तक फैली हुई हैं। चट्टानकी सारी लम्बाईपर लगातार गुहायें खुदी हुई हैं, जिनमें कुछ ऊँचेपर हैं और कुछ नीचे भी। वह एकके बाद एक खुदी हैं, जिससे एकके ऊपर एक लटकी-सी मालूम होती हैं। गुफाओंके ऊपरी कोठेपर लकड़ीकी सीढ़ियोंसे पहुँचा जाता था, जो अब टूट गई हैं, अतएव अगम्य हैं। वह भिन्न-भिन्न स्थानोंपर बहुत सन्तुलित रूपमें बनी हुई हैं। मुख्य गुहामन्दिरपर पहुँचनेके लिए एक उच्च प्रशस्त मार्ग था, जिसके ही रास्ते हवा और प्रकाश भी भीतर जाता था। इस भीतरी गुहामें ४५ फीट लम्बी एक चौकोर शाला सारी ठोस चट्टानमेंसे खोदकर निकाली गई है। शालाके बीचमें एक विशाल बुद्ध-मूर्त्ति है, जिसकी अगल-बगलमें क्रमपूर्वक छोटे देवताओंकी मूर्त्तियाँ हैं। पीछे की ओर थोड़ी-सी जगह प्रदक्षिणा करनेके लिए छोड़ी गई है। मूर्त्तियोंको उत्कीर्ण करके ऊपरसे गच की गई है। बड़े मन्दिरों और अधिकांश छोटे मन्दिरोंकी भी दीवारोंपर भित्तिचित्र बने हुए हैं। भित्तिचित्र बहुत सुरक्षित हैं और प्रायः सबके प्रतिचित्र पेलियोने ले लिये थे। मूर्त्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। उनमें बुद्ध, बोधिसत्व तथा देवता सभी हैं। सजानेके लिए फूल-पत्ते बनाये गये हैं। ये गुफायें और उनके चित्र अजन्ताके समकालिक हैं और उनसे कहीं अधिक सुरक्षित अवस्थामें हैं।

(३) चित्रशाला—

चित्रोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है: (१) बोधिसत्वों, अर्हतों और देवताओंकी मूर्त्तियोंसे घिरी बुद्धमूर्त्तियाँ—इन चित्रोंमें शायद अमिताभकी सुखावतीको चित्रित किया गया है। (२) दूसरे चित्रोंमें सांसारिक जीवनका चित्रण किया गया है। साधारण

दृश्योंमें चीनी शैली स्पष्ट देखनेमें आती है, लेकिन मुख्य-मुख्य देव-मूर्त्तियाँ या अर्हत-मूर्त्तियाँ भारतीय शैलीमें चित्रित की गई हैं। पलास्तरकी बनी मूर्त्तियोंकी ज्यादा क्षति हुई है, तो भी अभी इतना बाकी बचा है, कि मध्य-एसियाकी बौद्ध-कलाका विकास गन्धार-कलासे कैसे हुआ, यह समझा जा सकता है। यह मूर्त्तियाँ महायानसे सम्बन्ध रखती हैं, लेकिन तंत्रयानसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्त्तियाँ पहिले स्वर्णरंजित थीं, और उनमें कुछ पुरुष-परिमाण भी थीं। दो अतिवि-शाल मूर्त्तियोंमें एक ९० फीट ऊँची है। प्रकृतिकी निष्ठुरता और मानवकी पशुताने कई मूर्त्तियोंको तोड़ दिया है। पीछे श्रद्धालुओंने मरम्मत करनेकी कोशिश की, लेकिन उससे वह भद्दी और कुरूप बन गईं। तुन्-ह्वाङके लोगोंमें जो श्रद्धा है, उसीने वस्तुतः मूर्त्तियों-की रक्षा की, अन्यथा यह कबकी नष्ट हो गई होतीं। थाङ-कालकी कलाकी प्रशंसा हम बहुत सुना करते हैं, लेकिन उसके बहुत कम नमूने देखनेको मिलते हैं। यह सोचना गलत होगा, कि चीनमें होनेके कारण यह केवल चीनी कलाकी उपज हैं। तुन्-ह्वाङकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है, जिसने उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया है। यह उस विशाल व्यापार-पथपर अवस्थित है, जो चीनसे भूमध्यसागर तक गया था और दूसरी ओर एक और पथ उत्तरमें मंगोलियासे यहीं होता तिब्बत जाता था, फिर क्यों न यहाँकी कलापर चारों दिशाओंका प्रभाव पड़ता ?

भारतीय कलाकी नेपाली शैलीपर दस भित्तिचित्रोंमें बोधिसत्वके जीवनको अंकित किया गया है, यद्यपि यह चित्र कुछ भद्दे और मोटेसे हैं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तुन्-ह्वाङमें ग्रीक और भारतीय कलाओंके मिश्रणसे पूर्वी तुर्किस्तानकी कलाके रूपमें उसका परिणत होना अच्छी तरह दिखलाई पड़ता है। पश्चिमी कलाके प्रभावमें सिर्फ ग्रीक ही नहीं, ईरानी प्रभाव, विशेषकर दार्शनिक चित्रकार मानीका भी प्रभाव सम्मिलित है। लेकिन चीनी कलापर भारतीय कला और साहित्यका प्रभाव अत्यधिक है, इसमें सन्देह नहीं। इस कालमें बौद्धधर्मके साथ चीनका प्रेम असाधारण था, इसलिए उसके साथ आई भारतीय कला भी उनका अत्यन्त स्नेहभाजन थी और भारतीय कलाके नमूनोंका बहुत आदरके साथ अनुगमन किया जाता था। भारतीय कलाके प्रति यह प्रेम नष्टप्राय-से हो गये, तुन्-ह्वाङसे मिले रेशमी चित्रपट-से भी प्रकट होता है। बिनयनने इसके बारेमें लिखा है—"इसमें बुद्धों और बोधिसत्वोंकी बहुत-सी भारतीय मूर्त्तियाँ चित्रित की गई हैं। इसको देखकर हमें स्वेन्-चाङ जैसे चीनी तीर्थ-यात्रियोंका स्मरण आता है, जो भारतीय तीर्थोंसे जो भी बौद्ध कलाकी कृतियाँ चीनी मूर्त्तिकला और चित्रकला के लिए उपयोगी जान पड़ीं, उन्हें बड़ी मेहनतसे जमा करके ले गये। इस तरह चीनी कलाचार्यों ने भारतीय मूर्त्तियों, भारतीय मुद्रासंकेतों और भारतीय रूपादर्शोंको स्वीकार किया, इसीलिए उनके बौद्धचित्र धर्म-सम्बन्धित चित्रोंसे बिल्कुल भेद रखते हैं। साथ ही तुन्-ह्वाङके उदा-हरणसे पता लगता है, कि कैसे भारतीय सामग्रीको चीनी शैलीमें ढालनेसे बौद्धकलाके एक नये स्वरूपका प्रादुर्भाव हुआ।" लारेंस बिनयन्ने जापानकी चित्रकलामें भी मध्य-एसियाका प्रभाव बतलाया है।

जातक-कथाओंके दृश्य तुन्-ह्वाङ्के चित्रोंमें आये बिना कैसे रह सकते थे ? इनके अतिरिक्त दाताओंके भी बहुतसे चित्र हैं। कुछ चित्रोंमें काल भी अंकित हैं। देवताओंसे परिवारित बुद्धके एक चित्रमें जो चीनी काल-संकेत दिया है, उससे वह २९७ ई० का बना मालूम होता है। एक दूसरी चित्रावली ८६४ ई० की बनी है। दूसरे कितने ही चित्र नवीं और दसवीं सदीके हैं। अधिकांश चित्र नवीं सदीके हैं।

सहस्रबुद्ध-गुहाका इतिहास—यहांकी सबसे पुरानी गुहायें दो भिक्षुओंने ३६६ ई० में बनाई थीं, जिनका नाम लो-चुन् एवं फा-लिङ् था। कितने ही चीनी अभिलेख तुन्-ह्वाङ्में मिले हैं, जिनसे इन गुहाविहारोंके इतिहासपर और भी प्रकाश पड़ता है। इन अभिलेखोंमें सबसे पुराना ६९८ ई० का है, जिसमें ३६६ में स्थापित इस प्राचीन बौद्ध विहार और उसकी कुछ मूर्त्तियोंकी मरम्मतका उल्लेख है। ३६६ ई० में श्रमण लो-चुन् तीर्थयात्रीकी वैशाखी हाथमें लिये, जंगलों और मैदानोंमें चलते इस पहाड़ पर आये। यहां सुवर्ण-प्रकाशकी-सी चीज उनके सामने दिखाई पड़ी। उस प्रकाशमें हजारों बुद्ध दीख रहे थे। उन्होंने यहांपर एक गुहाविहार बनवाया। फिर ध्यान (सम्प्रदाय) का आचार्य फा-लियान् पूरबसे चलकर इस स्थानपर पहुँचा और उसने भी आचार्य लो-चुन्की गुहाके पास दूसरी गुहा बनवाई। इन्हीं दोनों भिक्षुओं द्वारा संघारामका निर्माण आरंभ हुआ। उसके बाद प्रान्तपति, सामंतराज चियेन्-पिङ् तथा वाङ्-हुइ और तुन्-ह्वाङ्-निवासी.....। पीछे सारे प्रान्तके लोगोंमें से बहुतसे आदमी आगे आये, जिन्होंने एकके बाद एक विहार बनवाये। ७७५ ई० से १४ वीं शताब्दीके मध्य तकके और भी अभिलेख मिले हैं, जिनमें सहस्रबुद्ध-संघारामके लिये दान, नवनिर्माण और पुनर्निर्माणकी बातोंका उल्लेख है। दाताओंमें एक मंगोल राजकुमार सुलेमानका भी नाम आया है।

(४) तुन्-ह्वाङ्की पुस्तक-निधि—

स्टाइनने नीयाके ध्वंसावशेषमें खरोष्ठी-लिपि और प्राकृत भाषाकी सैकड़ों पट्टियाँ पाईं। इनमें से कुछपर मोहरें भी लगी थीं। वहाँ गंधार-कलाके भी कई नमूने प्राप्त हुए, लेकिन युरोपीय अभियानोंका सबसे बड़ा आविष्कार था तुन्-ह्वाङ्में प्राप्त पुस्तकोंका भंडार—निनेवा (मेसोपोतामिया) में असुरवानीपलके पुस्तकालयके आविष्कारसे इसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। वहां ऐसे अभिलेख मिले, जो हूणोंके महादीवारपर आक्रमण करनेके समय लिखे गये थे। पहाड़ खोदकर तैयार किये सहस्रबुद्ध-संघाराम और उसके अद्भुत् भित्तिचित्रका परिचय हम करा चुके हैं। बीसवीं सदीके आरंभमें सहस्रबुद्ध-संघारामकी गुफाओंमें एक तावी साधुको एक तहखाना मिला। तहखाना ग्यारहवीं सदीसे बंद चला आया था। साधुने दीवार उठाकर बंद किये तहखानेको तोड़कर देखना चाहा, उसी समय वहां पुस्तकों और चित्रोंका ढेर मिला। इन पुस्तकोंमें से कुछ फ्रेञ्च प्रोफेसर पेलियोको १९०६-७ ई० वाले फ्रेञ्च-अभियानमें वहां जाते समय मिलीं। पेलियोने तुन्-ह्वाङ्के इन हस्तलेखोंके विषयमें लिखा है—

"पेरिससे प्रस्थान करते समय ही तुन्-ह्वाङ्में जानेका हमारा निश्चय हो चुका था। हमें यह मालूम था, कि नगरसे २० किलोमीतर दक्षिण-पूर्व दश सहस्रबुद्धकी गुहायें हैं, जिनकी दीवारें सुंदर भित्तिचित्रोंसे ढँकी हैं। इस्लाम उन्हें विरूपित नहीं कर सका है। हम इन चित्रोंका अध्ययन करना चाहते थे, जिन्हें कि उस वक्त तक किसी पुरातत्त्वज्ञने छुआ नहीं था। ......हमारी आशा विफल नहीं गई। हमने देखा कि तुङ्-ह्वाङ्की गुफाओंमें सातवींसे दसवीं शताब्दीकी चीनी बौद्धकलाकी कितनी ही अत्यन्त बहुमूल्य कृतियाँ सुरक्षित हैं, किन्तु यात्रामें एक और दिलचस्पी बढ़ गई। उरुम्चीमें मैंने सुना, कि सन् १९०० ई० में तुन्-ह्वाङ्की गुफाओंमें हस्तलिखित ग्रन्थ मिले।......धीरे-धीरे मुझे पता लगा कि कैसे ये हस्तलेख मिले। एक तावी साधु वङ्-ताउ एक बड़ी गुहामें कुछ खोद रहा था। उसी समय अकस्मात् एक छोटी गुफा निकल आई, जो हस्तलिखित ग्रन्थोंसे बिलकुल भरी हुई थी। यद्यपि स्टाइन कुछ

समय पहले तुन्-ह्वाङ्से गुजरे थे, तो भी हमें एक अप्रत्याशित लाभकी आशा थी। वहां पहुँचनेपर हमने वाङ्-ताउके बारेमें पूछ-ताछ की। वह आसानीसे मिल गया और गुफामें ले चलनेके लिये राजी हो गया। मेरे लिये उसने उसे खोल दिया। मैंने वहां एक मीतर (सवा गज) से भी कम विस्तृत एक छोटी गुफा देखी, जिसमें चारों ओर हस्तलिखित ग्रन्थ भरे हुए थे। वह कई तरहके थे, किन्तु अधिकांश कुंडलीके आकारके, थोड़े-से मुड़े पन्नोंके भी थे। वे सभी चीनी, तिब्बती, उइगुर और संस्कृतमें लिखे हुए थे। मेरे मनकी अवस्थाका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं। यहाँ मेरे सामने चीनी हस्तलेखोंका एक अद्वितीय आविष्कार हो रहा था, ऐसा आविष्कार, जैसा सुदूर-पूर्वके इतिहासमें कभी हुआ नहीं देखा गया। मैंने सोचा, क्या मुझे एक नजर देखकर ही संतोष कर लेना है और फिर खाली हाथ चल देना है? क्या यह अभागी निधि यहां धीरे-धीरे नष्ट हो जानेके लिये है? सौभाग्य समझिये, जो वाङ्-ताउ निरक्षर था और उसे मंदिरकी मरम्मतके लिये पैसोंकी अवश्यकता थी।......सब प्रबंध हो गया। फिर मैं भावोद्रेकमें मतवाला हो गुफामें बैठ गया और दो सप्ताह लगाकर मैंने उनकी सूची बनाईं। पंद्रह हजार कुंडलियाँ मेरे हाथसे गुजरीं। मैंने उन सभी ग्रन्थोंको ले लिया, जो काल और विषयके कारण मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम हुए—और वह सारी राशिके एक तिहाई थे। उनमें ब्राह्मी-लिपि और उइगुरके सारे ग्रन्थ, तिब्बतीके कुछ और चीनीके प्रायः सभी मेरे हाथमें आये। चीनविद्या-वेत्ताओंके लिये ये बहुत महत्त्वके थे। निश्चय ही इनमें अधिकांश बौद्धधर्मपर थे, लेकिन कितने ही दूसरे विषयोंपर भी थे।"

पेलियो-अभियानकी लाई चीजोंकी ठीकसे सूची आदि बनानेमें तीन साल लगे। पेलियोने फर्वरी १९०७ से मई १९०८ का एक-तिहाई समय तुन-ह्वाङ्में लगाया। पेलियोके अभियान-ने इन बहुमूल्य पुस्तकोंके संग्रहके अतिरिक्त सहस्रबुद्ध-विहारके भित्तिचित्रों और मूर्त्तियोंका भी सुव्यवस्थित रूपसे अनुसंधान किया।

पेलियोने जो साहित्यिक अभिलेख संग्रह किये थे, वह कलाकी चीजोंसे कम मूल्यवान् नहीं थे। पीछेके अनुसंधानोंने बतलाया, कि कितने ही कूची-भाषाके ग्रंथ ब्राह्मी-लिपिमें लिखे हुए थे। उइगुर-भाषाका एक मूल्यवान् ग्रंथ मिला। बहुतसे खंडित अंश और पोथीके सौ पन्ने, बीसियों दूसरे बौद्धधर्म संबंधी अभिलेख, पोथीके चालीस जुज, दो पोथियाँ और सात बड़ी कुंड-लियाँ, तिब्बती-भाषाके बहुसंख्यक लेख, चीनी बौद्धधर्मके हस्तलेख, जिनमें से चौथाई बारीक रेशमपर लिखे और सुरक्षित अवस्थामें थे। इन्हे पेलियोने संपादित करके जापानमें प्रकाशित कराया। नेस्तोरीय ईसाई धर्मके दो अनमोल अभिलेख मिले—नेस्तोरीय कभी चीनमें रहते थे। पेलियोको एक नये बौद्धयात्री का पता लगा, जो ई-चिङ् और ऊ-कुङ्के बीचमें भारत आया था। इसके साथ-साथ फ्रेंच अभियान-दलने ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र आदिके संबंधमें भी अनुसंधान किये।

× × ×

पेलिओके बाद स्टाइन फिर तुन-ह्वाङ् पहुँचा और उसने भी २४ संदूक हस्तलेख और चित्र-पटों, गोटों तथा दूसरी चीजोंसे भरी चार संदूकें पाँच हजार रुपयेमें प्राप्त कीं। स्टाइनके हस्त-लिखित ग्रंथोंके संपादनमें सारे योरोपीय विद्वानोंने सहयोग दिया। प्रोफेसर सिल्वेन् लेवीने इसके बारेमें लिखा था—"स्टाइनने जिस महान् ग्रंथराशिको जमा किया, उसपर काम करनेके लिये जातीयताके किसी झूठे अभियानने बाधा नहीं डाली। उनमें से कुछको डेन विद्वान

विल्हेल्म टामस्को दिया गया, जिसने कि ओर्खोन्के तुर्की शिलालेखको पढ़ा था; कुछ मध्य-एसियाके दूसरे परिगवेषक फान् ले-कॉकको दिया गया, जो जर्मन हैं। कुछ पूंसिनको, जो बेल्जियन हैं और महायान बौद्धके पारंगत माने जाते हैं।......पेलियोको चीनी ग्रंथोंकी सूची बनानेका काम दिया गया। हमारे युगके एक प्रसिद्ध चीन-विद्याविद्को ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंकी चीनी काष्ठ पट्टिकाओंको संपादित करनेका काम दिया गया। सेना (तँ) और बाबा वायरको......खरोष्टीमें लिखी पट्टिकाओंके अध्ययनमें भाग लेनेको कहा गया। प्रोफेसर गॉथियोको सोग्दी-पन्ने मिले और मुझे (लेवीको) तुखारी-भाषामें लिखे पन्ने।"

जापानी विद्वान भी यूरोपवालोंसे पीछे नहीं रहना चाहते थे। १९०२ में काउन्टर ओतानी एक अभियान लेकर मध्य-एसिया पहुँचे। १९०८ ई० में दूसरा अभियान ताचीबानाके नेतृत्वमें गया। कूचामें उसे कुछ हस्तलेख मिले। सूत्रोंकी बीस कुण्डली उइगुर-भाषामें मिली थी, जिसमेंसे एक कुण्डली १२ गज लंबी थी। इसमें एक बौद्धसूत्र लिखा था। दूसरी एक और बड़ी कुण्डलीमें एक ओर चीनी और दूसरी ओर मंगोल भाषा लिखी थी। काशगरमें उसे चीनी, उइगुर, कोक्तुर्क और ब्राह्मी लिपियोंमें एक मूल्यवान् संग्रह मिला। कुछ पट्टिकायें भी मिलीं, जो तिब्बती, ब्राह्मी और खरोष्टी लिपियोंमें थीं। लो-लन्में एक चीनी हस्तलेख मिला, जो ताचीबानाके कथनानुसार द्वितीय शताब्दीका है। यह एक पत्रकी नकल है, जिसे एक चीनी राजदूतने स्थानीय राजाको लिखा था। चीनी हस्तलेखोंके पढ़नेके लिये जापानियोंको बहुत सुभीता था, क्योंकि आज भी वे अपना लिखना उसी लिपि और उन्हीं अक्षर-संकेतोंमें करते हैं। उन्होंने दो जिल्दोंमें इन हस्तलेखोंका सूचीपत्र छापा है।

अध्याय ९

तुर्क और उइगुर

§१. इतिहास

इतिहास—उइगुर-भाषा तुर्की वंशकी भाषा है। यही तुर्की-भाषा ताजिकिस्तान छोड़ आज सारे पूर्वी एवं पश्चिमी तुर्किस्तानमें बोली जाती है—तुर्की-भाषा वर्तमान तुर्की राज्यकी भी भाषा है। कास्पियन-तटके पश्चिमी भागपर अवस्थित आजुर्बाइजान प्रजातंत्र और उसके पड़ोसी दागिस्तान प्रजातंत्रकी भाषा भी तुर्की है। कज़ान और ऊफ़ाके दो प्रजातंत्रोंकी भाषा भी तुर्की है। इस प्रकार तुन्-ह्वाङ्से लेकर कन्स्तंतिनोपल्, वोल्गा-तट और काकेशस पर्वतमाला तक तुर्की-भाषाका प्रसार है, यद्यपि कहीं-कहीं सूत्र टूटा हुआ है। तुर्की-भाषाकी कई उप-भाषायें हैं, जिनमें उज़बेकी और पश्चिमी तुर्कीका साहित्य उन्नत है; किन्तु तुर्की-भाषाका सबसे पुराना साहित्य उइगुर-साहित्यके ही रूपमें मिलता है, जिसमें भी बौद्धग्रंथोंके अनुवाद विशेष महत्त्व रखते हैं।

नवीन तुर्कीको जब अरबीके स्थानपर अपनी भाषाकी परिभाषायें अपनानेका ख्याल आया, उस वक्त इन बौद्धग्रन्थोंके अनुवादोंने उसकी सहायता की।

पुराने हूणोंके उस समय भी कई कबीले थे। इन्हीं कबीलोंने आगे तो-पा, अवार, तुर्क, उइगुर मंगोलका रूप लिया। हूणोंके अंतिम समयमें बौद्धधर्म उनमें पहुँच चुका था। अवारोंमें तो तंगुतोंकी भाँति उसने अधिक प्रभाव डाला था। तुर्कोंकी सभी शाखाओंपर बौद्धधर्म का सबसे अधिक प्रभाव देखा जाता था। तुर्कोंको हटाकर उनके भाई उइगुरोंने शासन सँभाला।

सातवीं शताब्दीमें उइगुर पश्चिमोत्तर मंगोलियामें रहते थे। आठवीं सदीमें उनके खानोंकी राजधानी वहीं थी, जहां तेरहवीं सदीमें मंगोलोंने अपनी राजधानी कराकोरम बनाई थी। बढ़ते-बढ़ते उनका राज्य सोग्दके पास तक पहुँच गया। ९ वीं सदीमें जब मंगोलियामें इनके राज्यको किरगिजोंने ध्वस्त कर दिया, तो ये वहांसे भागनेको मजबूर हुए और थोड़े दिन बाद कान्चाऊ, चीनके पश्चिमोत्तर सीमान्त और त्यान्शानके उत्तर और दक्षिणके देशों (इली और तरिमकी उपत्यकाओं) में एक विशाल उइगुर राज्य स्थापित हो गया। चिंगिस् खानके समयमें इन्हें उइगुर कहा जाता था और चीनी वै-उर लिखते थे। मुसलमान इतिहासकार इन्हें पूर्वी तुर्क कहकर पुकारते थे। तेरहवीं शताब्दीमें ही उइगुर और वै-उर दोनों नामोंको प्रयुक्त होते देखा जाता है, उससे पहले चीनी लोग इन्हें हुइ-हो कहते थे।

§२. उइगुर बौद्ध साहित्य

उइगुर-लिपिसे ही मंगोल-लिपि बनायी गयी, मंचू-लिपि भी उसीसे निकली। यह लिपि सिरियान (सुरियानी) लिपिसे निकली, जिसके निकालनेमें नेस्तोरीय साधुओंका हाथ रहा।

उइगुर लिपिमें बिल्कुल १४ अक्षर हैं, जिनके कारण शब्दोंका उच्चारण लिपिके भरोसे नहीं किया जा सकता—मंगोल लोग लिपि-परिवर्तनके बारेमें कितने दिनोंसे सोच रहे हैं। तुर्की-लिपिमें लिखा सबसे पुराना अभिलेख सिबेरियामें येनीसेइ और ओर्खन नदियोंके पास मिले हैं। बैकाल सरोवरके पास भी कुछ अभिलेख मिले हैं। येनीसेइवाले अक्षर ओर्खनसे पुराने हैं।

बौद्ध अनुवादोंमें भाषाको तुर्क कहा गया है और एक जगह बर्चुक् भी (कुइशानसे बर्चुक्में) तिब्बती भाषामें भी ब्रूजा, ब्रसा या ग्रूजा नाम आता है, जो शायद उइगुर-भाषा ही के लियं होता हो—बयसिक उइगुरोंके तेरह कबीलोंमें एकका नाम है।

उइगुर लोग कब बौद्ध हुए, इसके लिए सन्-शताब्दी बतलाना आसान नहीं, किन्तु इनके प्रतिद्वंद्वी जाति-भाई जब बौद्ध थे और हूणवंशीय सभी जातियोंमें ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दीसे बौद्ध प्रचारकोंने काम करना शुरू किया, तो हम कह सकते हैं कि जबसे उइगुरोंने होश सँभाला, इतिहास में पैर रक्खा, तभीसे उनका अधिक भाग बौद्धधर्मका अनुयायी था। चीनी इतिहाससे मालूम है कि ग्यारहवीं सदीमें उइगुर कूचाके शासक थे, और उससे पहले ही नवीं शताब्दीमें तिब्बतियोंको मध्य-एसियासे हटाकर उन्होंने अपना प्रभाव जमाया था।

उइगुर-भाषाके अनुवादोंको देखनेसे मालूम होता है, कि बहुतसे बौद्धग्रन्थ सीधे संस्कृतसे नहीं, बल्कि तुखारी या शक-भाषासे उइगुरमें अनुवादित हुए थे। कुछ पुस्तकें तिब्बती और चीनीसे भी अनुवादित हुई, किन्तु सोग्दीसे कोई बौद्धग्रन्थ अनुवादित नहीं हुआ। एक उइगुर अनुवाद की पुस्तिकामें लिखा है:—"षटतंत्रि काव्यधर वैभाषिक संघदासने कुइमन् भाषासे तुखारी भाषामें अनुवादित किया। और शीलसेनने तुखारी-भाषासे 'दशकर्म बुद्धावदानमाला' पवित्र ग्रन्थको तुर्क-भाषामें अनुवादित किया।" उइगुर अनुवादोंमें कितने ही भारतीय नाम आते हैं, जैसे—

"वैभाषिक कल्याणागम—(बिबजिकी क्लियान ज्ञिनी) आचार्यने कुइसन (शक) भाषासे बर्चुक भाषामें अनुवादित किया......"

तुखार (कूचा) की तरह उइगुरमें सर्वास्तिवाद विनयका प्रचार था, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं, कि वहां लोग महायानी नहीं, हीनयानी थे। हम बतला चुके हैं, कि घोर महायान ही नहीं, वज्रयान-कालमें भी नालंदा आदिके केन्द्रोंमें सर्वास्तिवादी विनय पिटक माना जाता था—उस समयके भिक्षु "अन्तः शाक्ता वहिः शैवा" की नीति बरतते थे।

तुर्फान राजधानी बनाते हुए उइगुर खानने मानीके धर्मको राजधर्म बनाया था। जान पड़ता है, यह बात बहुत दिनों तक नहीं चली, क्योंकि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियोंमें हम उइगुरोंको बौद्ध देखते हैं। जिस तरह अरबके अब्बासी खलीफोंने ईरानियोंको अपने वजीर और बड़े-बड़े पदाधिकारी बना रक्खे थे, उसी तरह मंगोलोंने उइगुरोंको स्वीकार किया। चिंगिस् खानने उइगुर-लिपिसे मंगोल-लिपि बनवाई और अपने बच्चोंकी शिक्षा भी उइगुरों द्वारा दिलवाई। उसके साम्राज्यमें रूस, समरकंद, ईरान, चीन सभी जगह दफ्तरका काम उइगुरोंने सँभाल रक्खा था। सरकारी नौकरीमें जो उइगुर थे, उनमें काफी संख्या भिक्षुओंकी थी। भिक्षुका ही उइगुर उच्चारण बख्शी है। इस प्रकार उइगुर बक्शियोंने यह नाम मंगोल साम्राज्य ही को नहीं दिया, बल्कि पीछे वह भारतमें चला आया। चिंगिस् खानके समय अब भी उइगुरोंकी काफी संख्या बौद्ध थी, किन्तु पीछे (और काफी देरसे) वे मुसलमान हो गये। आजकल वे अधिकतर दूसरी

तुर्क-जातियोंमें मिल गये है। हाँ, कजाकस्तानमें अब भी कुछ गाँव हैं, जिनमें उइगुर-भाषा जीवित है और सोवियतकी जातीय नीतिके कारण अब उसके साहित्यका विकास भी हो रहा है।

स्रोत-ग्रन्थ

1. Eliot, S.C. : Hinduism and Buddhism. Vols. I, II, III London 1921
2. Dandekar, R.N. : Progress of Indian Studies 1917-1942 Poona 1942
3. Sykes Percy. : A History of Afghanistan. Vol. I, II, London. 1940
4. Le Coq. A : Buried Treasure of Chinese Turkistan London 1928
5. Latourette. K. S. : The Chinese : their History and Culture. Newyork 1946
6. Mukherji. Probhat. K. : Notes on Central Asia. (MS.)

भाग ५

चीन

अध्याय १

प्रागैतिहासिक चीन

§१. साधारण विवरण

(१) भौगोलिक—

जनसंख्याके विचारसे चीन दुनियाका सबसे बड़ा देश है। भारतका नंबर उसके बाद आता है। चीनकी जनसंख्या ४७ करोड़से ऊपर है और क्षेत्रफल ५० लाख वर्गमील। यदि खास चीनके बीचोंबीच उत्तर-दक्खिन रेखा खींचकर दो टुकड़े किये जांय, तो पता लगेगा कि पश्चिमी भाग पहाड़ी और पूर्वी मैदान है। कृषिके लिये पूर्वी भाग बहुत अनुकूल है, इसलिये तीन-चौथाई जनता वहां बसती है। ज़ेचुवानको छोड़कर पश्चिमी भागका विकास अभी बहुत कम हुआ है। चीनकी बड़ी नदियां पश्चिमसे पूर्वकी ओर बहती हैं, और वह शताब्दियों तक भिन्न-भिन्न राज्योंकी सीमायें रही हैं।

(२) आरम्भिक इतिहास—

(क) प्रथम मानव—चीनका इतिहास पुराना है, संस्कृति भी पुरानी है। हमारे देशकी तरह वहां भी प्राचीनताके अभिमानमें अपने इतिहासको बहुत दूर तक ले जानेकी प्रवृत्ति रही है। यदि संस्कृति-संबंधी ऐतिहासिक कालको लिया जाय, तो उसका भी आरंभ हमारे ही इतिहासके आसपास होता है। वैसे मानव-इतिहासके तौरपर चीनका इतिहास बहुत पुराना है। पेकिङ्के पास जो मानव-खोपड़ी मिली है, वह एक लाख वर्षसे अधिक पुरानी है।

दक्षिणी उजबेकिस्तान, ओर्दू (ह्वाङ् हो), किरिन (आमूर नदी) में भी उसी जातिके मानव-की खोपड़ियाँ मिली हैं, किन्तु पेकिङ्-मानव बहुत पुराना था। वहां पाषाण, हड्डी और सींगके हजारों हथियार मिले हैं; जली हड्डी, जली राख और न खाये भोजनका थोड़ा अवशेष भी प्राप्त हुआ है। पेकिङ्-मानव अपने पैरोंपर इतमीनानके साथ खड़ा होकर चल सकता था, पत्थरके छिले हथियारोंको भी बना सकता था। हाँ, अभी उसकी खोपड़ी आजके मनुष्यकी खोपड़ी (१३५० घनसेंतीमीतर) जैसी नहीं थी, तो भी उसकी खोपड़ी (८५०–१२२० घ० से०) गोरिल्ला और चिम्पांजीसे दूनी थी। वह कुछ बोल भी सकता था। पेकिङ्-मानवके सिर और दाँतकी बनावटकी पाँच बातें केवल मंगोलायित जातियोंमें ही मिलती हैं, वह दूसरी जातियोंसे समानता नहीं रखतीं, अतः कहा जा सकता है कि पेकिङ्-मानव ही मंगोलायित जातियोंके पूर्वज थे।

(ख) हिमयुगानन्तर—आगे हिम-युग आये। यूरोपकी भूमिपर ६½ हजार फीट और ऊरालके पर्वतोंपर २३०० फीट मोटी बर्फ जम गई। यद्यपि आगे पूरबकी ओर वह घटते-घटते

मंगोलियामें पहुँचकर जमीनके बराबर हो गई थी, किन्तु यहां उस समय प्रचण्ड आँधी चल रही थी, जो अपने साथ तरिम और गोबीकी ऊपरी नरम मिट्टीको उड़ाकर कन्सूसे पूरब समुद्रके तट तक सारी ह्वाङ्हो-उपत्यकापर लाकर जमा करने लगी। ह्वाङ्होकी उपत्यका उस समय मनुष्यके रहने लायक नहीं रह गई थी और मानव वहांसे भागकर दक्षिण जानेको मजबूर हुआ था। हिम-युग बीता, ऋतुमें परिवर्त्तन हुआ, मनुष्य फिर अपने पत्थरके हथियारोंको लेकर उत्तरकी ओर बढ़ा और उत्तरी चीन ही नहीं, मंगोलिया, मंचूरिया और सिबेरिया तक घूमने लगा। यह आजसे बीस हजार वर्ष पहलेकी बात है। इसी घुमक्कड़ीके समय मनुष्य बेरिङ्-जलडमरू-मध्य पारकर अमेरिका पहुँचा और लाल इंडियनका पूर्वज बना। वह हड्डियोंकी सूइयां भी बना लेता था। वह अपने कामके हथियार बनानेके लिये दूर-दूरसे पत्थर लाता था। उसकी जीविका शिकार और मछुवाही थी, शिकारोंकी कमी नहीं थी; वह पत्तोंको भी खाता था।

(३) नवपाषाण

(क) जन—समय और बीता। आजसे छ-सात हजार वर्ष पहिलेका समय आया। अब गड्ढे खोद उसे घरकी तरह बनाकर एक मातासे पैदा हुए कई परिवार एक साथ रहते थे। सूअरको उसने पालतू बना लिया था। वह मोटे भद्दे बर्त्तन भी बनाना जान गया था, जो पेंदीकी ओर नुकीले होते थे। इन बर्त्तनोंके डेढ़-डेढ़ फुट लंबे टुकड़े मिले हैं। वह खेती भी करने लगा। घिसकर तेज किये गये पत्थरके टुकड़ोंको जोड़कर दँतीले हँसुये से वह खेत काटता था। पत्थरके कुठारोंके फिर धनुषबाण भी उसके हाथमें आ गया था। अब वह नवपाषाण-युगमें था।

समय बीतनेके साथ कुत्ता भी उसने पाल लिया। ज्वारकी फसल उसकी खेतीमें मुख्य थी। वह गेहूं और चावलकी भी खेती करने लगा था। ह्वाङ्हो-उपत्यकामें कहीं-कहींपर, विशेष-कर ऊपरी और मध्य-भागमें, मिट्टीके बर्त्तनोंका और विकास हुआ तथा कुम्हारके चाकका भी आविष्कार हो गया। बर्त्तन भी रँगे जाने लगे, एक रंगमें भी और अनेक रंगमें भी। इस युगमें चीनी मानव कौड़ीका भी उपयोग करने लगा, जो तावीज और आभूषणके अतिरिक्त विनिमयके लिये भी काम आती थी। कौड़ीका उद्गम सिंहलसे पश्चिम मालद्वीपके द्वीप हैं—अर्थात् कौड़ी वहांसे चीन पहुँचती थी।

(ख) कृषि-पशुपालन—भूख, प्राकृतिक उपद्रव और प्राकृतिक शत्रुओंसे अकाल मृत्यु होते रहनेके बाद भी मनुष्य संख्यामें कुछ बढ़ता ही जा रहा था। शान्तुङसे लेकर होनान् प्रदेश और हङ्चाउ तक उस समयकी सत्तरसे अधिक बस्तियोंके चिह्न मिल हैं। उनकी बस्तियां कच्ची दीवारोंसे घिरी रहती थीं। धरतीके भीतर खोदे हुए उनके वासगृह गोल थे, जिनके ऊपर मिट्टीकी चौरस छत होती थी। कोठरीके बीचमें चूल्हा रहता था। मुख्य जीविका इन लोगोंकी अब खेती हो गई थी, लेकिन मछुवाही और शिकार कम नहीं हुआ था, पशुपालन भी बहुत था।

भविष्यमें दुनियाको चीनी मिट्टीके बर्तन देनेवाले इन लोगोंने मिट्टीके सुंदर बर्तन भी बनाने शुरू किये, जो कि दसियों किस्मके होते थे। वह अपने मुर्दोंको अपनी बस्तीके बीचमें चौकोर गढ़ोंमें औंधे मुँह गाड़ देते थे।

(४) ताम्रयुग—

(क) आरंभिक—ईसापूर्व दो हजारका काल आ गया, किन्तु अभी लिखनेका कहीं पता नहीं था। रंग बनाना छोड़कर कहीं धातुका प्रयोग नहीं था। ह्वाङ्हो नदीके किनारे अब पीतलके हथियार भी आ गये। लोग रथपर चढ़के लड़ने लगे और पत्थरके हथियारोंकी जगह इन पीतलके हथियारोंका प्रयोग होने लगा। ह्वाङ्हो नदीके तटकी बस्तियोंमें अब काँसेके बर्त्तन ढलने लगे। रेशमके कीड़ोंको पाला जाने लगा। लिखनेके संकेत बन गये। इस प्रकार ये लोग अब सभ्यताके पथपर आरूढ़ हो गये थे। १५२३-१०२७ ई० पू० शाङ्-राज्यकाल कहा जाता है। चीनी पौराणिक परंपरा इस कालको भी ऐतिहासिक माननेका आग्रह करती है, लेकिन वह श्रद्धा-मात्र है। हाँ, समाज उस समय इस स्तरपर अवश्य पहुँच गया था कि कई कबीलोंको मिलाकर राज्यकी स्थापना हो सके। शाङ्के बाद चाऊ राज्य (१०२७-२५६) को भी प्रागैतिहासिक ही समझिये। असली इतिहास २२१ ई० पू० से शुरू होता है, जब कि छिन् राजवंशकी स्थापना हुई। यह समय हमारे यहां अशोकके राजशासनके कुछ पीछे पड़ता है। अब चीनी-लिपि बहुत विकसित रूपमें पहुँच चुकी थी। वह उच्चारणकी नहीं, अर्थकी प्रतीक थी। शायद बाँसकी पतली खपाचोंपर लिखी जानेके कारण ऊपरसे नीचेकी ओर लिखी जाती थी, जिसमें फिर दाहिनेसे बायें लिखना भी सम्मिलित कर लिया गया। पीछे यह लिपि कोरिया, अनाम और जापान तक फैली। ऊपरसे नीचे लिखना उइगुर, मंगोल और मंचू लोगोंने भी स्वीकार कर लिया, यद्यपि उनकी लिपि भूमध्यीय लोगोंके उच्चारणानुसार है।

(ख) नये आगन्तुक—१०२७ के करीब चाउ लोगोंने पश्चिमसे आकर देशको जीत लिया। आर्योंके गंगा-उपत्यकामें आनेके कुछ ही शताब्दियों बाद ये लोग ह्वाङ्हो-उपत्यकामें पहुँचे थे। यह कहना मुश्किल है कि ये लोग कौन जातिके थे। पश्चिमसे आनेसे संदेह होता है कि ये भी शायद आर्य-शक वंशके थे और उन्हें चीनी कहावतके अनुसार पास आई नदीको चीन समुद्रने खारा बना दिया। चीनमें भी भारत ही की तरह अनेक जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है। दक्षिणी चीनमें ऐतिहासिक कालमें नीग्रोयित बसते थे, जिन्हें चीनी समुद्रने अपना रूप दे दिया और वहाँ अब केवल रंग या घुँघराले बालोंमें कभी-कभी उसका परिचय मिलता है। चीनी रंग सचमुच बहुत पक्का होता है। रंगसे भी जबर्दस्त प्रभाव चीनी हड्डियाँ रखती हैं। फ्रांसके एक परिवारमें पाँच पीढ़ी पहिले एक बार जरा-सा चीनी रक्त आ गया था, किन्तु उनकी आँखें और गालकी हड्डियां अब भी चीनी ही बनी हुई हैं।

चाउ शेंन्सी प्रान्तमें आधुनिक सियनके पास आकर जम गये। चीनी-साहित्यकी पुरानी पुस्तकें चाउ-कालके ही अन्तमें संगृहीत हुई थीं। बुद्धके समकालीन कनफूसी और लाउत्स भी इसी राज्यकी अन्तिम शताब्दियोंमें पैदा हुए थे। ईरानका शाहंशाह दारयवहु (५२१-४८५ई० पू०) इसी कालमें यूनानकी सीमासे चीनकी सीमापर बसनेवाले घुमन्तू शकोंके देशतक शासन कर रहा था। अल्ताईकी सोनेकी खानोंका सोना शक घुमन्तुओं द्वारा चीन, भारत और ईरान तक पहुँचता था। भारतीय संस्कृत शब्द सिंह ई० पू० चौथी शताब्दीमें चीनी-भाषामें प्रयुक्त होने लगा था। क्या चीन और भारतके बीच उस समय भी अप्रत्यक्षरूपेण कोई सम्बन्ध था? भूमध्यसागरके पास बननेवाली काँचकी मणियां चीनमें ४०० ई० पू० की कब्रोंमें मिली हैं। साक्षात् न हो, तो भी अप्रत्यक्षरूपेण सम्बन्धकी सम्भावना है।

§२. इतिहासारंभ

(१) प्रथम प्रभात—

ई० पू० पाँचवीं-छठी शताब्दियोंमें जैसे ग्रीसमें बौद्धिक जागृति हुई थी, भारतमें बुद्ध, महावीर जैस विचारक प्रकट हुए, उसी तरह उस समय चीनमें भी नई प्रतिभाओंका विकास हुआ था। कन्फूसीने मनुष्यके प्रति मनुष्यके कर्तव्यपर जोर दिया था। मो-तीने परस्पर प्रेम, त्याग और साम्यवादकी शिक्षा देते हुए युद्धवाद एवं प्रभुवर्गकी घोर निन्दा की थी। लाउज़ने व्यक्तिवाद और रहस्यवादको आदर्श ठहराया था। ग्रीसमें प्रतिभाका वह मध्याह्न था, जिसके साथ ही वह दासताका भी मध्याह्न था और वहाँ आधेसे अधिक लोग दास थे,[1] चीनमें उस समय दास एक सैकड़ा थे। भारतमें दासोंकी संख्या दोनोंके बीच रही होगी।

(२) छिन्-वंश—

चाउ-वंशकी समाप्तिके बाद छिन् (चिन) केवल चौदह साल (२२१-२०७ ई० पू०) ही राज्य कर पाये, लेकिन उन्हींके कारण विदेशियोंने—जिसमें भारत पहला था—इस देशको चीन नाम दिया। यूनानी लोग चीनको सेर् कहते थे, जिसके कारण वहाँका रेशमी कपड़ा सेर्क या शेल्क कहा जाने लगा। संस्कृतमें कालिदास (ई० चौथी सदी) ने उसे चीनांशुक कहा है। रूसी लोग अरबोंकी भाँति चीनको खिताई कहते हैं, जो ग्यारहवीं-बारहवीं सदीमें चीनपर शासन करनेवाले कित्तन (खित्तन) वंशके कारण पड़ा। हम भी नानखताई कहकर जिस रोटी (बिस्कुट)को खाते हैं, उसका अर्थ खिताई या (चीन)की रोटी है। शान्सीमें एक छिन् नामक शक्तिशाली कबीला रहता था। २४७ ई० पू० में चेङ् उसका सर्दार बन गया। पहिलेका शासक-वंश चाउ बहुत निर्बल हो चुका था। अपनी शक्तिको दृढ़ करते हुए चेङने चाउ-वंशके राजाको पराजित किया और २२१ ई० पू० में वह शीः-वाङ्-ती (प्रथम सम्राट्)के नामसे गद्दीपर बैठा। चीनमें वाङ्-ती या सम्राट् पदवी धारण करनेवाला सबसे प्रथम वही था। तबसे यह पदवी १९११ ई० तक चली आई, जब कि राजतन्त्रको हटाकर चीनमें प्रजातन्त्रकी घोषणा की गई।

चेङ्ने सामन्ती एवं जागीरदारीको उठाकर देशको प्रान्तोंमें बाँटके शासन-प्रबन्ध किया। इसी समय नाप-तोल लिपि और गाड़ीके धुरे जैसी बहुत-सी चीजोंमें प्रान्तीय भेद हटाकर एकता स्थापित की गई।

इरानी ककुरव और दारयवहु, यूनानी सिकंदर तथा भारतीय चन्द्रगुप्त (३२१-२९७ ई० पू०)ने अपने राज्यके एक छोरसे दूसरे छोर तक सड़कें तथा घोड़े द्वारा डाकका प्रबन्ध किया था। चीन-सम्राट् भी इन बातोंसे अपरिचित नहीं था। उसने अपने यहाँ भी डाक, सड़कों तथा सरायका प्रबंध किया। सियन्याङ् राजधानी में पचास पग चौड़ी सड़कें थीं, जिनके दोनों ओर वृक्ष लगाये गये थे। उत्तरके घुमंतू हूण, देशके लिये भारी खतरेके कारण थे, जिनसे बचाव करनेके लिये उत्तरमें ऊँचे प्राकार पहिलेसे भी जहाँ-तहाँ बनाये गये थे। शीः-वाङ्-तीने

---

[1] L. Crrington Goodrich: A Short History of the Chinese People. (New York. 1943.) p. 41 f. n.

उन टुकड़ियोंको मिलाकर बड़ी दीवार बनाई, जो आज भी १५०० मील लम्बी चीनकी दीवारके नामसे प्रसिद्ध है। हूण (ह्यू ङ्-नू) ह्वाङ्हो नदीके विशाल चक्कर—ओर्दू प्रदेश—में अपने तम्बू और पशुओंको लेकर जमे रहते थे। सम्राट्ने उनको वहाँसे निकाल बाहर किया। उसने कई नहरें निकालीं और २२१-२१४ में दक्षिणमें दिग्विजय करते फूकियेन्, क्वान्तुङ्, क्वाङ्सी ले कम्बुजकी ओर तोङकिङ् ले लिया। इसके लिये सम्राट्ने याङ्सी नदीकी शाखाको एक बड़ी नहर द्वारा पश्चिम नदीसे जोड़ दिया, जिससे सैनिकोंके यातायातमें सुभीता हो गया। अपने काम एवं वंशके लिये आवश्यक या अहानिकारक समझी जानेवाली पुस्तकोंको रखकर उसने बाकीको जलवा दिया। उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई कुछ भी सोचनेका साहस नहीं रखता था। एक बार उसने ४६० शिक्षितोंको मरवा डाला। वह कितनी बार वेश बदलकर राज्य-व्यवस्था देखनेके लिये घूमता था। २१२ ई० पू० में उसका प्रासाद बनकर तैयार हुआ। "यह पूरबसे पश्चिम २५०० फीट लम्बा और उत्तरसे दक्षिण ५०० फीट चौड़ा था। इसके भीतर दस हजार व्यक्ति बैठ सकते थे। साठ मीलके भीतर सम्राट्के लिये २७० और प्रासाद बन गये थे, जिनको पत्थर बिछाई सड़कोंसे मिलाकर किनारे पर दीवारें खड़ीकी गई थीं।" "इन सभी महलोंमें (सम्राट्के लिये) तम्बू, चन्दवे, घंटे, ढोल और सुन्दरियाँ सदा तैयार रहती थीं।"

शीः-ह्वाङ-तीके दिमागसे यह सारी चीजें नहीं निकली थीं, इसमें शक नहीं, किन्तु उसीने सबको आकार दिया। शीः-ह्वाङ-ती (मृत्यु २१० ई० पू०) ने अपने ग्यारह सालके राज्यकालमें चीनकी कायापलट कर दी, किन्तु इसके लिये लोगोंको इतना दबाया और चूसा गया, कि उसका पुत्र तीन साल भी राज्य नहीं कर पाया और छिन्-वंशसे राजलक्ष्मी रूठ गई। छिन्-वंश बिजली-की तरह चमककर चौदह सालके भीतर बुझ गया, किन्तु उसने चीनको कुछ ऐसी चीजें दीं, जो सदाके लिये स्थायी हो गईं। उनमें से एक है देशकी एकताका विचार। समय-समयपर निजी स्वार्थके लिये राजाओंने चीनको खंड-खंड किया, किन्तु एकताकी इच्छा इतनी प्रबल थी, कि बार-बार उसने फिर चीनको एकताके सूत्रमें बद्ध किया। छिन्-वंशके शासनके बाद २२०-२६५ ई० और ९०७-१२६० ई० ऐसे समय थे, जब कि चीनमें एकसे अधिक राज्य रहे। भारतकी एकताका समय मौर्योंके बाद दासताके ही रूपमें देखनेको मिला था।

§३. पश्चिमी हान् (२०२ ई० पू०-९ ई०)

(१) **हूणोंसे संघर्ष**—छिन्-वंशका स्थान अब पश्चिमी हान् (२०२-ई० पू०-९ ई०) ने लिया, यद्यपि पाँच सालकी अराजकताके बाद हान्-वंशका संस्थापक काउ-शू गद्दीपर बैठा। काउ-शूके लिये अभी शासन करना आसान नहीं था। शीः-ह्वाङ-तीने महाप्राकारके बाहरके घुमन्तुओंको बलपूर्वक खदेड़ दिया था, लेकिन अब साम्राज्यको निर्बल देख कन्सूकी ओर यू-ची (शक), मंगोलियाकी ओरसे हूण और मंचूरियासे तुंगुस् उसे दबाने लगे। चाउ-वंशने इन घुमन्तुओंको राजकीय परामर्श-सभाओंमें भाग लेनेका अधिकार दे रक्खा था, किन्तु शीः-ह्वाङ-तीने उन्हें बर्बर घोषितकर उक्त अधिकारसे वंचित कर दिया था। जिस समय छिन्-वंश अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, उसी समय हूण भी अपने कबीलोंको एकतावद्धकर अपनेको बलवान् बनानेमें लगे थे।

नये राजवंशके लिये हूण सबसे बड़े खतरेकी चीज थे। हूणोंका प्रथम राजा अपनी सारी जातिको एक करके चीनके ऊपर पड़नेकी जगह यूचियों (शकों) के ऊपर आक्रमण करके उन्हें

पश्चिमकी ओर खदेड़ दिया। फिर वह अपने कबीलेको ले ह्वाङहोके चक्करपर (ओर्दुस्‌में) पहुँच गया, जहाँसे कि कुछ साल पहले ह्वाङ-तीने हूणोंको मार भगाया था।

अब उसने चीनसे छेड़खानी शुरू की। हान-वंश उससे सन्धि करनेको विवश हुआ। हान-राजने बहुत-सा रेशमी वस्त्र, मदिरा, अन्नादि ही नहीं, अपनी कन्या भी देकर हूणोंसे प्राण बचाया। इसके बाद हूणोंने कई बार हानोंको अपमानजनक सन्धि करनेके लिये बाध्य किया। काउ-शू १९५ ई० पू० में मरा। फिर उसका उत्तराधिकारी ऊ-ती (१४०-८७ ई० पू०) गद्दीपर बैठा। यू-चियोंको हूणोंने कन्सूसे खदेड़कर ही दम लिया। १७६ ई० पू० में यू-ची हूणोंसे बहुत बुरी तरह हारकर भागे, फिर भागते यू-ची घुमन्तुओंकी पीठपर हूण घुमन्तू पड़े। हान-वंशने अकेले हूणोंको दबानेमें असमर्थ हो पश्चिममें भगे यूचियोंसे सहायता लेनी चाही। लेकिन जिस समय ऊ-ती यूचियोंसे मेल करके हूणोंपर प्रहार करनेकी बात सोच रहा था, उस समय तक वे बहुत दूर भाग गये थे। अन्तमें हान राजाने स्वयं भारी तैयारी करके हूणोंपर आक्रमण किया और चीनी सेनाने उनके देशमें घुसकर हूणोंको हराके अपनी धाक जमा ली।

(२) **चाङ् क्याङ् शकोंके पास (१३८-१२६ ई० पू०)**—ऊ-तीने गद्दीपर बैठनेके एक साल बाद ही अपने एक विश्वास पात्र जेनरल चाङ्-क्याङ्को यूचियोंके पास हूणोंके विरुद्ध करनेके लिये भेजा था। चाङ् दस साल हूणोंका बन्दी रह बाख्तरमें यूचियोंके पास पहुँचा। किन्तु यूचियोंको देश छोड़े दो पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं और बाख्तरके ग्रीक शासकोंको हराकर अब वह वहाँके स्वामी भी बन चुके थे। उनके लिये अपनी मूल जन्मभूमि (शकभूमि—खोतन्-लोब्नोर-कन्सू) के लिये न कोई आकर्षण था और न उत्साह। चाङ्-क्याङ् बारह वर्ष बाद १२८ ई० पू० में लौटकर चीन पहुँचा और सम्राट्‌को दूसरी सूचनाओंको देते हुये बतलाया कि चीनकी कितनी ही पण्य-वस्तुयें जेचुआन और युन्-नन् के रास्ते भारत हो बराबर वहाँ पहुँचती हैं। उसने अपने देखे देशोंके लोगोंके रहन-सहन और देशकी उपजका भी विवरण दिया, जिससे उस समयके उन देशोंके जीवनपर बहुत प्रकाश पडता है। चीनके यशस्वी पर्यटकोंमें वह पहला था। उसीके दिखलाये रास्तेको फा-शि-यान्, स्वेन् चाङ्, ई-चिङ् तथा दूसरोंने पकड़कर इतिहास-समुद्रमें दीपस्तम्भ बननेका सौभाग्य प्राप्त किया।

ऊ-तीने हूणोंको हरानेके थोड़े समय बाद (११५ ई० पू०) अपना दूत फरगाना (सोवियत मध्य-एसिया) भेजा, जिसने बहाना बना साथ की सेना द्वारा उस ओर साम्राज्य-विस्तार शुरू करके १०१ ई० पू० में अपनी राज्य-सीमा पामीर तक पहुँचा दी।

अध्याय २

प्रथम बौद्ध धर्मदूत

§१. पूर्वी हान-वंश

(१) **राज्य-विस्तार**—पूर्वी हान-वंशने २५-२२० ई० तक शासन किया। इसी वंशके राजा मिङ्-तीने बौद्धधर्मको स्वीकार किया। सम्राट ऊ-तीने जहाँ पश्चिममें फरगाना तक अपने राज्यका विस्तार किया, वहाँ दक्षिणमें १११ ई० पू० में उसकी सेनाने नन्-युवे राज्यको खतमकर उसे अपने अधिकारमें कर लिया। अब तक वहाँ चीनियोंसे भिन्न किसी और जातिका शासक था, जिसने पहले कभी-कभी चीनकी अधीनता भी स्वीकार की थी। इस राज्यके केन्द्रमें कान्तन था। यहाँसे चम्पा और कम्बुजका रास्ता जाता था, जहाँसे समुद्र द्वारा भारतका सम्बन्ध पहिलेसे ही स्थापित था। इस प्रकार हान-वंशने जहाँ एक ओर फरगानापर अधिकार करके वहाँसे यू-ची और पार्थियाके राज्योंसे होते यूरोपकी ओर चीनके रेशमके व्यवसायका मार्ग खोल दिया, वहाँ अब दक्षिणमें कान्तनसे भी सामुद्रिक मार्ग खुल गया। उस समयसे आगे डेढ़ हजार वर्षों तक चीनी रेशम चीन और बाहरवालोंके लिये भी महत्त्व रखता था। राजाओं और सामन्तोंमें सभी जगह चीनांशुक, सेर्ककी बड़ी मांग थी। चीनसे मध्य-एसिया होकर यूरोपकी तरफ जानेवाला मार्ग रेशम-पथके नामसे प्रसिद्ध था जिसके ऊपर पड़नेवाले पहलेके गुमनाम छोटे-छोटे गांव कुछ ही दिनोंमें समृद्ध नगर बन गये। इसी रेशमपथको सुरक्षित रखनेके लिये सम्राट् ऊ-तीने काशगरको अपने हाथमें किया। तबसे चीनका सदा यह प्रयत्न रहा कि काशगर उसके हाथसे न जाये। यद्यपि अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दीमें सामुद्रिक मार्ग अधिक सस्ता और सुरक्षित हो गया था, तो भी काशगरको चीनने अपने हाथमें रखना जरूरी समझा।

सन् ९ ई० में पश्चिमी हान-वंश समाप्त हुआ। फिर बीचके १४ वर्ष छोड़कर पूर्वी हान-वंशने दो शताब्दियोंके लिये चीनपर एकाधिपत्य किया। सन् २ ई० में समुद्री मार्गसे भी चीनी व्यापारी भारत पहुँचे और अपने रेशम तथा स्वर्णके बदले वहाँसे मोती, रत्न, काँच, दुर्लभ पशु-पक्षी आदि ले गये। बीचमें शिन्-वंशके एकमात्र सम्राट् वाङ-माङने हर तरहसे धन बटोरनेकी कोशिश की, धनवानों और जागीरदारों सबके ऊपर टैक्सका बोझ लादा। राज-कोष सोनेसे भर गया। वाङ-माङ चीनके पण्यके बदले सोना चाहता था। अपने राज्यसे सोनेको इतनी शीघ्रतासे निकलते देख रोमन सम्राट् (तिबेरियस् १४-३२ ई०) में रेशम पहिनना निषिद्ध कर दिया था। वाङ-माङकी मृत्युके समय राजकोषमें डेढ़ करोड़ तोला सोना मौजूद था। यह सम्राट् इतना अप्रिय हो चुका था कि जब एक व्यापारी उसे मारने लगा, तो कोई उसकी सहायताके लिये नहीं आया।

नये वंशका संस्थापक पूर्वी हान-वंशके सम्राट्का चचेरा भाई था। वह छाङ-आन्से राज-

धानी हटाकर चाङ राजाओंकी पुरानी राजधानी लोयाङमें ले गया। नये वंशने ४० और फिर ४२-४३ ई० में सेना भेज तोङ-किङ, अनाम और हैनाम-द्वीपपर अधिकार किया, तथा वहाँके राजाओंकी अधीनतामात्रसे सन्तुष्ट न हो उन्हें सीधे चीनमें मिला लिया। अब इसी रास्तेसे अरब और सिरिया (शाम)के व्यापारी आने लगे। कोरियाका कुछ भाग और दक्षिणी मन्चूरिया भी सारे हान-काल तक चीनके हाथमें रहा। ५७ ई० तक जापानसे भी व्यापारिक सम्बन्ध हो गया था। मध्य-एसियाके पतले गलियारेपर उत्तरके घुमन्तू हूणोंका हर समय भय बना रहता था, किन्तु वहाँपर चीनने जगह-जगह सैनिक चौकियां और सैनिक किसान-बस्तियाँ स्थापितकर हूणोंको रोकनेका प्रबन्ध किया। यह बस्तियाँ पीछे अराजकताके कारण नहरोंके ध्वंस होनेसे नष्ट होकर मरुभूमिकी बालुकाराशिके भीतर दब गईं, जिन्हें वर्त्तमान शताब्दीके कई अभियानों द्वारा खोदकर निकाला गया। पश्चिमी हान-वंश तरिम-उपत्यकापर ही अधिकार करके सन्तुष्ट नहीं हुआ, बल्कि यू-ची शकोंके उत्तराधिकारियों—कुषाणों—से भी ९० ई० से कर वसूलना शुरू किया। कनिष्क और हुविष्कका कुषाण-राज्य कोई छोटा-मोटा या निर्बल राज्य नहीं था, कनिष्कका शासन वंग समुद्रसे अराल समुद्र तक था।

(२) भारतसे सम्बन्ध—

चाङ-क्याङने अपने यात्रा-वर्णनमें बौद्धोंका भी जिक्र किया है। फरगाना-विजयी सेनापतिने बुद्धकी एक मूर्ति सम्राट्के पास भेजी थी। मध्य-एसियामें पहलेसे ही बौद्धधर्म पहुँच चुका था, इसलिये यह कोई आश्चर्यकी बात न थी। चाङ-क्याङने भारतके लिये शेन्-तू शब्दका प्रयोग किया है, जो सिन्धुका ही शब्दानुकरण है। यही शेन्-तु पीछे बिगड़कर शियेन्-तू, ह्येन्-तू, तियेन्-चू, तियेन्-तू और पिन-तू जैसे रूपोंमें परिणत हुआ। स्वेन-चाङने सातवीं शताब्दीमें चिन-तूको इन्दु (चन्द्र) से निकालनेकी कोशिश की है।

लियाङ-वंशके इतिहासमें लिखा है, कि सम्राट् हो (८९-१०५ ई०) के कालमें भारतसे कई दूत मध्य-एसिया होते चीन गये थे और पीछे ह्वाङ-तीके समय (१४७-१६७ ई०) और भी भारतीय दूत चीन गये।

यद्यपि श्रद्धावश चीनके बौद्धोंने बहुत पहले ही बौद्धधर्मके चीन जानेकी बात कही है, तथा कुछ बौद्धोंका पहले भी चीन जाना सम्भव है, किन्तु चीनमें सर्वप्रथम बौद्ध-प्रचारक ६७ ई० में ही पहुँचा।

(३) बौद्धधर्मका प्रथम प्रचार—

कहावत है, पूर्वी हान्-वंश (२० ई०-२२१ ई०) के सम्राट् मिङ (५८-७५ ई०) ने स्वप्नमें एक स्वर्णमय पुरुष देखा। दरबारियोंमें से एकने बतलाया कि यह पश्चिमके ऋषिका रूप है, जिसे फो या फो-तो (बुद्ध) कहते हैं। सम्राट्ने तुरन्त बौद्ध भिक्षुओं एवं बौद्ध पुस्तकें लानेके लिये तीन दूत भारत भेजे। उस वक्त संस्कृति और धर्म तथा कितने ही हद तक भाषामें भी काशगरका प्रदेश भारतका ही अंग था—वस्तुतः कश्-गर और कश-मीर दोनोंके ये नाम कश् या खश् (खस्) जातिके निवासके कारण पड़े। खस् विशाल शक-वंशके ही एक अंग थे और यूची शकोंके भारत आनेसे बहुत पहिले पहाड़ोंके रास्ते हिमालयमें फैल गये थे। गिलगितसे दार्जिलिंग तक आज भी खस्-कुरा (खस् भाषा) बोली जाती है।

(क) काश्यप मातङ्ग—

सम्राट्के दूत अपने साथ काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न[1] दो भिक्षुओं तथा बहुत-सी धर्म-पुस्तकोंको ले गये। भिक्षु सफेद घोड़ोंपर चढ़कर राजधानी लोयाङ्ग पहुँचे थे, इसीलिये सम्राट्ने जो विहार उनके लिये बनवाया था, उसका नाम श्वेताश्व (पइ-मा-स्से) विहार पड़ा। काश्यप मातङ्गने "द्वाचत्वारिंशत-सूत्र" का चीनी-भाषामें अनुवाद किया। यह पहला बौद्ध (और भारतीय भी) ग्रन्थ है, जिसका चीनी-भाषामें अनुवाद हुआ। काश्यप मातङ्गके बारेमें कहा गया है, कि वह मध्यमंडल (उत्तरप्रदेश-विहार) के रहनेवाले थे और हीनयान-साहित्यके पारंगत थे। वह दक्षिण-भारतमें भी धर्म-प्रचारके लिये गये थे। उनके साथी धर्मरत्न भी विद्वान् और मध्यमंडलके निवासी थे। दोनों भिक्षुओंने चार और ग्रन्थों का अनुवाद किया था, किन्तु अब वे प्राप्य नहीं हैं।

(ख) प्रथम अनुवादित सूत्र—काश्यपका अनुवाद किया हुआ सूत्र कोई एक सूत्र न होकर कई सूत्रोंका सार है। इसमें वर्णित विषय निम्न प्रकार है—

"बुद्धने कहा : 'जिसने धर्मका अनुसरण करनेके लिये अपना घर छोड़ा, उसे श्रमण कहते हैं। वह २५० (विनय) नियमोंका पालन करता है। वीर्य और विशुद्धि जैसी हो, उसीके अनुसार पुरुष उच्च भूमियोंपर पहुँच सकता है: सबसे श्रेष्ठ भूमि अर्हत्की है, जिससे वह हवामें उड़ सकता है और इच्छानुसार रूप-परिवर्तन कर सकता है। दूसरी भूमि अनागामीकी है : मृत्युके बाद अनागामी उन्नीस स्वर्गोंमें से एकमें जाता है और वहां जाकर अर्हत्पदको प्राप्त करता है। तीसरी भूमि सकृदागामीकी है: मरनेके बाद सकृदागामी किसी एक स्वर्गमें जाता है, फिर एक बार संसारमें आकर उत्पन्न होता है, और पृथ्वीपर आ उसी एक जीवनमें अर्हत् हो जाता है। चौथी भूमि स्रोत्-आपन्नकी हैं, जिसमें पहुँचकर जीव सात जन्म और सात मरणके बाद अर्हत् होता है।

"श्रमण शिर मुँडाके सारी सम्पति त्याग देता है और अपने रोज-रोजके भोजनके लिये भिक्षाटन करता है, किसी वृक्षके नीचे रात बिताता है और दो रात भी एक ही जगह नहीं रहता। वह यह सब राग और मोहको नष्ट करनेके लिये करता है, क्योंकि वे मानवको बन्धनमें डालते हैं। धर्मानुसार सदाचार (शील) के लिये दस व्रतोंको पालन करना चाहिये।.... (दसों व्रतोंको बतलानेके बाद पाप-पुण्यके बारेमें कहा गया है) सभी किये हुए दोष पाप हो जाते हैं, यदि मनुष्य उन्हें न त्याग उनका स्वागत करता है। फिर पाप उसपर ऋणकी तरह चढ़ता है। जिस तरह जल-विन्दु जमा होकर समुद्र बनते हैं, उसी तरह पाप एक दूसरेसे जुड़कर बढ़ते हैं। जो भी आगे बढ़ना चाहता है, उसे प्रतिदिन सुकर्म करके पापोंको धोनेके लिये अपने-आपको धोना चाहिए। (पापियोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, इसके बारेमें कहनेके बाद) पापीको दुष्ट नहीं अज्ञानी समझना चाहिए और उसका हित करना चाहिए। बुद्ध ने कहा है : 'सबके लिये महामैत्री और करुणा, सदा दूसरोंकी भलाई करना, उसीमें आनन्द मानना और उसीकी प्रशंसा करना, यह उपाय है जिससे दूसरोंके पुण्यमें भागी बना जाता है।' पाँच वस्तुयें वहाँपर दुष्कर बताई गई हैं : "(१) दरिद्रके लिये दान देना दुष्कर है;

(२) धनी और सबलके लिये धर्मपालन दुष्कर है;

(३) प्राणोंका मोह छोड़कर निश्चित मृत्युके लिये आगे बढ़ना दुष्कर है।

---

[1] चू-फालन=धर्मारण्य (शांतिभिक्षु)

(४) बहुत थोड़े ऐसे भाग्यवान् हैं, जिन्हें किसी बौद्धसूत्रके जाननेका अवसर मिलता है।

(५) अपनी आँखोंसे जीते-जी बुद्धका दर्शन दुष्कर है।" दूसरी जगह संसारकी अनित्यता का वर्णन है और एक जगह स्त्रियोंसे मिलनेके विरुद्ध भिक्षुओंको चेतावनी दी गई है।

मातङ्गका यह अनुवाद बौद्धधर्मसे अपरिचित चीनी जनताके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ या नहीं, इसके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है वह श्वेताश्व-विहार ही तक उस समय सीमित रहा हो।

(४) पार्थियाके प्रचारक—मातङ्गके बाद ८१ साल और बीते, तब हमें अनुवादोंका निरन्तर क्रम आरम्भ होता दिखलाई पड़ता है।

यू-ची (ऋचीक) और कुषाण एक ही शाक-वंशकी शाखायें थीं। पार्थिव (पार्थियन) या पहलव भी उसी विशाल शक-वंशकी शाखा थी। १७६ ई० पू०के आसपास जब ह्वाङ-होके चक्करके पास (कन्सू) से हूणों द्वारा शक भगाये गये, तब तक महाशक जाति ह्वाङ-होसे पश्चिममें कर्पाथी पर्वतमाला (चेकोस्लावाकिया सीमान्त) तक फैली हुई थी। इतने दूर तक फैले इन घुमन्तुओंमें अनेक कबीले रहे होंगे और उनकी बोलियोंमें भी कुछ अन्तर रहा होगा, साथ ही पिछले दो हजार वर्षोंमें पूरबसे पश्चिमकी तरफ दौड़नेवाले हूणों-तुर्कों-मंगोलों और पश्चिमसे पूरबकी ओर बढ़नेवाले जर्मानिक जातियों एवं दक्षिणसे रोमकों-ग्रीकोंकी भी बाढ़ शकोंकी ओर हुई थी। इस प्रकार शक शुद्ध शक-रूपमें नहीं रह सकते थे; तो भी यह निश्चित है, कि वोल्गाके पूरबके शक-पार्थिव हूणोंके प्रहारसे दक्षिणकी ओर भागनेके लिये मजबूर हुए। वोल्गाके पश्चिममें बच रहे शक पीछे दो सहस्राब्दियोंके संघर्ष एवं संम्मिश्रणके बाद आज स्लाव जातियोंके रूपमें दिखलाई पड़ते हैं।

चाङ-क्याङ जिस समय बाख्तर (वाह्लीक) पहुँचा था, उस समय वहाँ यूचियोंका राज्य था और उनसे पश्चिम पार्थिया (पार्थिव) देश था। पार्थियाको चीनी लोग अन्-शीके नामसे पुकारते थे, जो अर-सी और अर-शकका ही रूपान्तर है। पार्थियन लोग पह्लव, अर्शक और अश्कानी भी कहे जाते थे। चीनी रेशम पार्थियासे होकर रोमक-साम्राज्यमें पहुँचता था। इस प्रकार चीनी और पार्थिव दोनों एक दूसरेसे भलीभांति परिचित थे। काश्यप मातङ्गके बाद जो बौद्ध-प्रचारक चीनमें गये, उनमें कई पार्थिव थे। इससे स्पष्ट है कि पार्थिव लोग भी कुषाणोंकी भांति बौद्धधर्मके प्रति बड़े श्रद्धावान् थे।

(क) अन्-शी-काउ—

(१४८-७० ई०) अन् या अन्-शी (पार्थिया) का संक्षेप है। सीकाउ नाम था। शी-काउकी जीवनीके बारेमें लिखा है: उन्होंने राज्य छोड़कर भिक्षु-दीक्षा ली। वह १४८ई० में चीन आये और लोयाङके श्वेताश्व-विहारमें रहने लगे। बीस साल तक चीनमें रहते सी-काउ ने अपना सारा समय चीनमें धर्म-प्रचारमें लगाया। काश्यप मातङ्गका कार्य ऊपर ही ऊपर रहा, किन्तु चीनमें बौद्धधर्मकी नींव दृढ़ करनेका श्रेय इसी पार्थिव राजकुमारको है। कहा जाता है, उन्होंने ९५ बौद्धग्रन्थोंका चीनी-भाषामें अनुवाद किया था, किन्तु नन्-जियोके सूचीपत्रसे पता चलता है, कि अब उनमें ५५ ही बच रहे हैं। सी-काउके अनुवादोंमें अधिकांश सूत्रपिटकके आगमों (निकायों) के अंश हैं। उन्होंने बिना किसी यान या निकायका भेद-भाव किये जिन ग्रन्थोंको चीनी लोगोंके लिए अधिक उपयोगी समझा, उनका अनुवाद किया। आरंभिक अनुवाद

होनेपर भी अन्-शीके अनुवाद अच्छे हैं। उनकी अनुवाद-प्रक्रिया थी—पहले वह एक-एक शब्दका चीनी प्रतिशब्द बोलते जाते थे, जिसे लिपिक चीनी-अक्षरोंमें लिखता जाता था। फिर वह उनके भावको किसी चीनी विद्वान्को समझाते, जिसे वह उतार लेता और अन्तमें अनुवादको उसके अनुसार ठीक कर देता।

अन्-शीके अनुवादोंमें हीनयानी ग्रन्थोंके अनुवाद साधारण भक्तोंकी दृष्टिसे किये गये हैं और महायानिक ग्रन्थोंका भिक्षुओंके उपयोगके लिए। इसमें विद्वानोंको काफी सन्देह है, कि अन्-शीके नामसे जिन ग्रन्थोंको अनुवादित बताया जाता है, वे सभी उन्हींके हैं—विशेषकर महायान-ग्रन्थोंके अनुवादोंका उनके साथ संबंध जोड़ना बहुत संदिग्ध है।

अन्-शी-काउ केवल कुशल अनुवादक ही नहीं थे, बल्कि उनके शिष्यों एवं विद्यार्थियोंने चीनमें बौद्धधर्मकी स्थापनामें भारी काम किया था। चीनी बौद्धधर्ममें अन्-शी-काउका वही स्थान है, जो सिंहलमें महेन्द्रका।

(ख) लोकक्षेम—अन्-शी-काउके एक ही दो वर्ष बाद लोकक्षेम (ची-लू-क्या-चङ्) चीन पहुँचे और शी-काउके साथ लोयाङ्के विहारमें रहने लगे। लोकक्षेम (१४९-८६) यूची (शक) जातिके थे। शी-काउकी मृत्युके बाद उनके कामको दो चीनी भिक्षुओंकी सहायतासे लोकक्षेमने आगे बढ़ाया। लोकक्षेमके २३ अनुवादित ग्रन्थोंमें १२ ही अब उपलभ्य हैं। "दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता"का अनुवादक लोकक्षेम ही का बताया जाता है, किन्तु महायानके इस ग्रन्थका दूसरी शताब्दीमें अनुवाद होना संदिग्ध है। पिछले हान-वंशके समयके निम्न अनुवादकोंके अनुवाद आज भी चीनी त्रिपिटकमें सुरक्षित हैं—

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ
अन्-ह्वेन्	१२१	२
ची-याउ	१८५	५
येन-फो-थियन	१८८	१
खङ्-मोङ्-सियाङ्	१९४	२
चू-त-ली	१९७	१
धर्मफल	२०७	१
अज्ञात		१६

(ग) दूसरे अनुवादक भिक्षु—लोकक्षेमके बाद चू-फो-चो—भारतीय-बोधिसत्व—चीन पहुँचे। इन्होंने शी-काउ और लोकक्षेमके साथ काम किया था। इनका अनुवादित ग्रन्थ कोई नहीं मिलता। हान-वंशके अधिकांश अनुवादक तरिम्-उपत्यकासे आये थे, किन्तु अन्-ह्वेन सी-काउकी भाँति पार्थियाके रहनेवाले थे। वह भिक्षु नहीं, गृहस्थ थे और चीनमें सवार सेनाके अधिकारी बनाये गये थे, किन्तु उनमें बौद्धधर्म-प्रचारकी बहुत लगन थी। उन्होंने चीनी विद्वानोंकी सहायतासे परिपृच्छा-सूत्रका अनुवाद किया। यह महायानके रत्नकूट-सूत्रसमुदायका एक भाग है, और महायान-साहित्यमें ऊँचा स्थान रखता है। शान्तिदेवने अपने "शिक्षा-समुच्चय"में इसके बीस उदाहरण दिये हैं। ह्वेनने "निदान-सूत्र" (आगमोक्त द्वादश-निदान-सूत्र)का अनुवाद किया। पाली सूत्रपिटकमें भी महानिदानसूत्र (दीघनिकाय) बहुत प्रसिद्ध है और इसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त'के जाननेके लिए बहुत उपयोगी समझा जाता है। **"प्रतीत्यसमुत्पाद"** और **मध्यमाप्रतिपद्** बुद्धके ये ही मुख्य सिद्धान्त थे, जिन्होंने दार्शनिक

नागार्जुन[1]को बहुत प्रभावित किया।

यू-ची भिक्षु चि-यउ (१८४–८९ ई०) मध्य-एसियाकी किसी बस्तीसे आये थे। उन्होंने कई ग्रन्थोंका अनुवाद किया था, जिनमें अब पाँच बच रहे हैं। इनके किये हुए दो सूत्र संयुक्त-आगम (निकाय)के हैं।

इस कालके दूसरे अनुवादकोंमें चू-त-ली (भारतीय महाबल) और तन्-कुओ (धर्मफल) भारतीय थे। खङ्-किउ और खङ्-मोङ्-सियाङ् सोग्द (ज़रफ़शाँ-उपत्यका)के निवासी थे। मोङ्-सियाङ्ने भारतीय पंडित धर्मफलको सर्वास्तिवादी दीर्घागमके एक सूत्रका अनुवाद करनेमें सहायता दी थी, जो कि कपिलवस्तुसे लाया गया था।

पूर्वी हान्-वंशमें सब मिलाकर ४३४ ग्रन्थोंका अनुवाद हुआ था, जिनमें २०७के अनुवादकों-का नाम नहीं मिलता। इनमें से १००के करीब ही अब उपलभ्य हैं। आरंभमें ही इतने ग्रन्थों-का अनुवाद कम नहीं है। लोयाङ्का श्वेताश्व-विहार उस समय चित्रोंसे अलंकृत था। इतने विद्वान् भिक्षुओंके रहनेके कारण उसकी प्रतिष्ठाके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

§२. तीन राजवंश

(१) नये वंशोंकी स्थापना—

हान्-वंशके अन्तिम राजाकी अयोग्यताका लाभ उसके दरबारी उठाने लगे। सेनापति तुङ्चो जैसे क्रूर व्यक्तिने उसके पतनमें और सहायता की। उसके बर्तावसे लोग अत्यन्त असन्तुष्ट हो गये। उसने नगर छोड़नेका निश्चय कर लिया था, किन्तु छोड़नेसे पहिले लोयाङ्में उसने आग लगा दी। लोयाङ दो शताब्दियों तक चीनी सभ्यताका केन्द्र रहा, इसलिए उसके जलनेसे जो क्षति हुई उसके बारेमें कहनेकी अवश्यकता नहीं। इस अराजकतामें लोयाङ्के पुराने सम्राटोंकी समाधियाँ तक नहीं बच पाईं।

हान-कालमें चीनने सभी दिशाओंमें बड़ी उन्नति की थी। दूर-दूर तक चीनका विस्तार हुआ था। साहित्य, कला, नवीन आविष्कार—सभी दिशाओंमें चीनने इस कालमें बड़ी प्रगति की। हान-वंश बौद्ध था। बौद्धधर्मने भी इस प्रगतिमें हाथ बँटाया था। यही काल था, जब कि बौद्धधर्मकी नींव चीनमें सुदृढ़ हुई। इसी समय कई तल्लोंका एक स्तूप उत्तर क्याङ्-सीके आधुनिक सू-चाऊमें बनाया गया। पहिला चीनी भिक्षु अन्-ह्वी प्रान्तका रहनेवाला था।

यद्यपि हान-वंशके नाश होनेके बाद शू (२२१-६४ ई०), वेई (२२०-६५ ई०) और ऊ (२२२-८० ई०) इन तीन राजवंशोंने चीनको बाँट लिया और अगले चालीस-पचास साल तक चीन राजनीतिक दृष्टिसे आगे न बढ़, निर्बल हो गया, किन्तु इस समय बौद्धधर्मकी प्रगति रुकी नहीं।

तृतीय शताब्दीमें चीनके उत्तर और दक्षिण दोनों भागोंमें हुई प्रगति बतलाती है, कि अब वहाँ बौद्धधर्म राजवंशोंकी कृपापर निर्भर नहीं था। चीनांशुककी खानि और कुषाण जैसे राजाओंका अधिराज चीन कहाँ नहीं प्रसिद्ध था? चीनमें धर्म-प्रचारकी प्रगतिने सारे बौद्ध-जगतके ध्यानको अपनी ओर आकृष्ट किया और खोतन, सोग्द, भारत और सिंहल सभी

---

[1] 'विग्रह-व्यावर्त्तनी' के अन्तमें।

जगहके उत्साही, धर्म-प्रेमी, विद्वान् धर्म-प्रचारार्थ चीनकी ओर जाने लगे। देशकी अशान्ति और अराजकताने चीनी जनताको भी शान्तिके लिए लालायित कर दिया था। कन्फूसीकी शिक्षा शान्त और सुव्यवस्थित राज्यमें अधिक प्रभावशाली हो सकती है; किन्तु जिस परिस्थितिमें उस समय चीनके लोग थे, उसमें शान्ति मिलनेकी कन्फूसीवादसे आशा नहीं थी।

"वह सत्ताके गम्भीरतम प्रश्नोंका कोई उत्तर नहीं दे सकता था। वह न जीवन-संग्राममें शक्ति दे सकता और न मृत्यु-समयमें सान्त्वना।"

एक पश्चिमी विद्वान्ने बौद्धधर्मके बारेमें लिखा है—"बौद्धधर्म साधारण जनताके लिए एक श्रद्धा है, भक्तके लिए जीवनका नियम और संस्कृत जनोंके लिए दर्शनसे भी यह अधिक सान्त्वना देता है।" बौद्धधर्मने कुछ बातोंमें चीनी धार्मिक विचारोंका समर्थन किया और कुछमें उसमें जोड़कर पूरा किया। यह इसीलिए लोगोंको अपनी ओर खींचनेमें सफल हुआ, क्योंकि इसने भाग्यवाद और पाप-पुण्यके फल-सम्बन्धी पुराने विचारोंकी जगह कर्म और जन्मान्तरका सिद्धान्त बताया। इसने विचारोंको मिट्टी और पत्थरमें साकार बनाकर पूजाके लिए ऐसी प्रतीक प्रदान की, जो कि सौन्दर्यकी अमूल्य निधि थी। उसने बुद्धत्व, अर्हत्-पद और बोधिसत्त्वके कर्तव्य जैसे उच्च आदर्शोंको लोगोंके सामने रक्खा। भारत और दूसरे बौद्ध देशोंके पास जो भी अच्छी वस्तु थी, उसे उन्होंने चीनको दिया और एक चीनी विचारक[1]के कथनानुसार कुछ बुरी चीजें भी दीं, जैसे: "संसार अनित्य है, जीवन दुखपूर्ण और निस्सार है, स्त्री-पुरुषसे सम्बन्ध अशुद्ध है। अध्यात्मिक उन्नतिके लिए परिवार बाधक है, बौद्धधर्म-पालनके लिए ब्रह्म-चर्य और भिक्षाटन आवश्यक है, अन्नदान पुण्यार्जनका सर्वोत्तम रूप है, प्राणिमात्र पर करुणा करनी चाहिए। इनके अतिरिक्त कठोर तपस्या, मन्त्रों और शब्दोंमें दिव्यशक्तिका विश्वास।"

(२) **वेई-कालमें अनुवाद**—तीन वंशोंमें से 'वेई' उत्तर और केन्द्रीय चीनमें राज्य करता था, जिसकी राजधानी भी लोयाङ रही। 'ऊ' राज्यमें याङची नदीके दक्षिणका भाग था और राजधानी नानकिंग थी। तीसरा राज्य 'शू'-वंशका था, जो पश्चिमी चीनमें अवस्थित था। इसकी राजधानी चेङ-तू थी। शू राजवंश हानकी शाखा थी, इसलिए वह सारे चीनके सम्राट् होनेका अपनेको अधिकारी समझता था।

लोयाङ अब भी राजधानी था। श्वेताश्व-विहारसे अब भी शान्तिपूर्वक बौद्धधर्मका प्रचार हो रहा था। राज्यक्रान्ति और अशान्तिने धर्मदूतोंको आतंकित नहीं किया। वेई-वंशके राजकालमें पाँच अनुवादकोंने बारह ग्रन्थोंका अनुवाद किया था, जिनमेंसे अब दस ही बच रहे हैं। धर्मफल मध्यमण्डलके बहुत धनाढ्य परिवारके पुत्र थे। इन्होंने बचपनमें चारों वेदों और दूसरे ब्राह्मणशास्त्रोंका अध्ययन किया था, पीछे बौद्धधर्ममें दीक्षित हो हीनयान और महायानके सूत्रों तथा बहुत-से विनयोंको पढ़ा, फिर धर्म-प्रचारके लिए निकले और २२२ ई० में लोयाङ पहुँचे। सोग्दी संघवर्म्मा इस समयके दूसरे विद्वान् थे। ये धर्मपालके समकालीन थे और २५२ ई०में लोयाङ पहुँचे। धर्मसत्य (२५४ ई०में) और पो-यङ (२५६-२६० ई०)ने भी श्वेताश्व-विहारमें रहकर काम किया। धर्मसत्यने 'धर्मगुप्तिकनिकाय'के विनय-का अनुवाद किया था। पो-यङ के अनुवादोंमें 'सुखावती-व्यूह' भी था।

---

[1] हू-शी:

धर्मभद्र पर्थिया निवासी थे।.....

दक्षिणमें ऊ-वंशका राज्य था, जिसकी राजधानी नानकिङ उस समय भी बहुत महत्त्व रखती थी। दक्षिणी चीन एक तरहसे भारत और भारतसे दक्षिणवाले बौद्ध देशोंके धर्मदूतोंका कार्यक्षेत्र था। दक्षिणी चीनमें समुद्रके रास्ते वहाँसे पहुँचा जा सकता था और आसामसे स्थल-का मार्ग भी उस समय चालू था; इसीलिए भारत और दक्षिणके धर्म-प्रचारक दक्षिणमें अधिक पहुँचते रहे। दक्षिणमें दूसरी ही सदीमें एक चीनी विद्वान्ने अपनी प्रतिभासे प्रतिद्वंद्वियोंमें तहलका मचा दिया था। इसका नाम मू-चू था। मू-चूका जन्म १७० ई०के आसपास हुआ था। वह ताङ-किङमें रहने लगा, जहाँ उसका बौद्धधर्मसे परिचय हुआ। खुङ-फु-जू (कन्फूसी) और लाउ-जूके सिद्धांतसे भी वह पूर्ण परिचित था।

वह सोचता था कि खुङ्-फू-च धर्म राजधर्म हो सकता है और बौद्धधर्म जनताका धर्म। मू-चूने प्रश्नोंके रूपमें दूसरे सिद्धान्तोंका खंडन करते हुए बौद्धधर्मका मंडन किया। उसने कन्फूसियोंके आक्षेप—"बुद्धका त्यागमय जीवन मानवताके विरुद्ध है" और लावजूके आक्षेप : अमरता बौद्ध शिक्षासे नहीं, केवल ताउ-वादके ही अभ्याससे हो सकती है"—का खंडन किया था। मू-चूने अपनी पुस्तिकामें बतलाया था, कि बुद्ध दुनियाके केन्द्र भारतमें पैदा हुए। उन्होंने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिए धर्मोपदेश दिया। उन्होंने दुनिया छोड़ते समय अपने पीछे एक संघ छोड़ा, जो सबकी मुक्तिके लिए प्रयत्न करता है। बुद्धकी शिक्षा चीनके पुराने धार्मिक विचारोंके विरुद्ध नहीं है। दोनोंके विचार एक ही हैं। एक ही व्यक्ति दोनोंका पालन कर सकता है। खुङ्-फू-जूने उसे नहीं समझ पाया था, यही समझके बौद्धधर्मका प्रत्याख्यान करना अच्छा नहीं है। खुङ्-फू-जूके साथ एक और भी सिद्धान्त मान लिया जाय तो अच्छा है। बुद्धिमान् व्यक्ति जहाँ भी पाता है, वहाँसे अच्छी चीजोंका संग्रह करता है। वह दूसरोंसे शिक्षा लेनेके लिए तैयार रहता है। प्रतिवादियोंके आक्षेप "यदि बौद्धधर्ममें इतनी अच्छी युक्तियाँ हैं, तो उन्हें क्यों नहीं सामने रखते और क्यों खुङ्-फू-जूके उद्धरण हर जगह देते हो?" का उत्तर देते हुए मू-चूने कहा—"इसीलिए कि बैल अपने ही जैसेको हुँकाड़ और मच्छर अपनी ही जातिवालोंके गीतको पसन्द करते हैं, उसी तरह तुम भी इतना ही समझ पाते हो।"

मू-चू (मू० शू)ने इस तरह बड़ी योग्यतासे खंडन-मंडन-साहित्यका प्रारम्भ किया।

(३) ऊ-काल—

हान्के पतनके बाद कियन्-ये (आधुनिक नानकिङ्)में ऊ-वंश शासन करने लगा। यह वही समय था, जब कि लोयाङमें वेई-वंशका शासन था।

हिन्दीचीन और इन्दोनेसियाका सम्बन्ध दक्षिणी चीनसे पहले ही से था। ऊ-सम्राट् स्वेन्-कुयेन् (२२२-५१ ई०)ने फूनानके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए खाङ्-थाई और चू-इङ्को भेजा। इन राजदूतोंने अपनी यात्राका विवरण लिखा था, जिसका उद्धरण-मात्र लियाङवंशके इतिहासमें रह गया है।

उन्होंने फूनानमें चेन्-सोङ नामके भारतीयसे भेंट होनेपर उससे भारतके रीति-रिवाजके बारेमें बहुत कुछ पूछा। चेन-सोङ्का उत्तर उक्त इतिहासमें सुरक्षित है।

ऊ-वंशके शासन-कालमें पाँच अनुवादकोंने भारतीय ग्रन्थोंके अनुवाद किये थे, जिनमें ची-चियेन् दक्षिणी चीनके सबसे बड़े अनुवादक थे।

(क) **ची-चियेन** (२२३-२५३ ई०)—ची-चियेन यू-ची शक थे। वह भिक्षु नहीं, उपासक (गृहस्थ) बौद्ध थे, और हान-वंशके अन्तिम कालमें चीन आये थे। उन्होंने लोकक्षेमके पास विद्याध्ययन किया था। राजविप्लवके बाद वह ऊ-राज्यमें चले गये और उन्हें युवराजका अध्यापक बनाया गया। दरबारमें उनका बहुत मान था। प्रथम ऊ-सम्राट्ने उन्हें "पो-शी" (विद्वत्-पुरुष) की उपाधि दी थी। ची-चियेन् मध्य-एसिया-निवासी होनेसे छ राज्योंकी भाषायें जानते थे। उन्होंने १२७ ग्रन्थोंका अनुवाद किया था, जिनमें ४९ अब भी मौजूद हैं। उन्होंने अधिकतर सूत्र-ग्रन्थोंका अनुवाद किया। ची-चियेन्के अनुवादोंमें सबसे जनप्रिय हैं 'अवदान-शतक'।

ची-चियेन का दूसरा अनुवाद है **मातंगी-सूत्र**। यह भी चीनमें बहुत जनप्रिय है और इसके एकसे अधिक अनुवाद हुए हैं। अन्-सी-काउका अनुवाद अपूर्ण था, किन्तु ची-चियेन्का पूर्ण है।

ची-चियेन्के अनुवादोंमें **विमलकीर्तिनिर्देश, वत्ससूत्र, शालिस्तम्भसूत्र, ब्रह्मजालसूत्र** भी सम्मिलित हैं।

(ख) विघ्न—२२४ ई०में सम्भवतः सामुद्रिक मार्गसे दो भारतीय विद्वान् विघ्न और लिउ-येन् चीन पहुँचे। विघ्न श्रोत्रिय-ब्राह्मण-कुलमें पैदा हुए थे और शास्त्रोंके अध्ययनके बाद बौद्ध बने थे। बहुत देशोंके पर्यटनके बाद वह चीन पहुँचे। उन्होंने **धम्मपदका** चीनीमें अनुवाद किया। विघ्नके साथीने चार पुस्तकोंका अनुवाद किया, जिनमें तीन अब भी मौजूद हैं।

(ग) खाङ्-सेङ-ह्वी, सोग्द (मध्य-एसिया)के निवासी थे। सेङ्-ह्वीके पिता व्यापारी थे और क्याङ्-चे (आधुनिक तोङ्किङ्)में व्यापारके सम्बन्धसे रहते थे। सेङ्-ह्वीका जन्म तोङ्किङमें हुआ था। दस सालकी अवस्थामें ही उनके माता-पिता मर गये, सेङ्-ह्वी भिक्षु हो गये। उन्हें चीनी-साहित्यके पढ़नेका भी बड़ा अवसर मिला था। वह २४७ ई०में धर्म-प्रचारार्थ चीन गये। ऊ-सम्राट्ने उन्हें कियेन-चूमें विहार बनानेकी आज्ञा दी। यह विहार फो-तो-ली या बुद्धग्रामके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उनके चौदह अनुवादोंमें अब चार बच रहे हैं, जिनमें 'संयुक्तावदान' भी एक है—इसकी जातक जैसी कथाओंमें एक कल्माषपादकी भी है।

ऊ-कालमें अज्ञात अनुवादकोंके कितने ही ग्रन्थोंमें भदन्त घोषका **अभिधर्मामृतशास्त्र, एकोत्तरागम** और **संयुक्तागमके** भी कितने ही सूत्र हैं।

(घ) चायका अविष्कार—इस युगकी एक महत्त्वपूर्ण देन है चाय, जिसका सबसे पहले उल्लेख ज़ेचुआनमें जन्मे तथा २७३ ई०में मरे एक अफसरके जीवनचरितमें आया है—"उन्होंने मदिराकी जगह उसे चायकी पत्तियोंकी भेंट दी।" दक्षिणी और केन्द्रीय प्रान्तोंमें कुछ सदियों पहिले चाय प्रचलित हो चुकी थी, किन्तु उत्तरमें वह आठवींसे दसवीं सदी तक बहुत कम फैली। इसी समय यह तिब्बत भी पहुँची। जापानमें १२०० ई०में एक बौद्धभिक्षुने इसका प्रचार किया था—मांसत्यागी चीनी भिक्षुओंने जैसे निरामिष भोजनके अनेक प्रकारोंका आविष्कार और प्रचार किया, उसी तरह उन्हीं मदिरात्यागी भिक्षुओंने चायसेवनको अधिक फैलाया। मंगोल, आजकल सबसे अधिक चायके शौकीन हैं, किन्तु तेरहवीं-चौदहवीं सदीमें समस्त चीनपर

राज्य करते हुए भी उन्होंने चायकी एक घूँट गलेसे नीचे नहीं उतारी। यही बात खिताई जाने-वाले मध्यकालके सभी यूरोपीय यात्रियोंकी है। अरब व्यापारियोंमें से एकने ८५१ ई०में इसका उल्लेख किया है। यूरोपमें सत्रहवीं सदीके अन्तमें चायके प्रति अनुराग बढ़ने लगा। चायकी पत्तियोंके गुण-दोष ७८० ई०में ही लिखे जाने लगे थे। चाय और चीनी-मिट्टीके बर्त्तनका उत्कर्ष साथ-ही-साथ हुआ। यह भी याद रखनेकी बात है, कि दोनोंकी उपजके केन्द्र वही क्याङ्-सी और चेकियाङ् प्रान्त हैं।

अध्याय ३

नाना घुमन्तू जातियोंका राज्य

तीन राज्योंमें विभक्त होनेपर भी अभी चीन चीनियोंका था, किन्तु अब उत्तरके घुमन्तूओंने फिर जोर बाँधा, जिनमें आजके तुर्कों, मंगोलों और तुंगूसोंके पूर्वजोंके रक्त शामिल थे। इन जातियोंके विवरण निम्न प्रकार हैं—

शासक-समूह	जाति	शासनभूमि	शासन-काल	विशेष
चाउ				
पहिले चाउ या उत्तरी हान	हूण	शान्सी	३०४-२९	उत्तरी चाउकी स्थापनापर समाप्त
पिछले चाउ	,,	होपे	३१९-५२	छिन्में विलीन
लियाङ्				
पहले लियाङ	चीनी	कन्सूसे तुर्फान, तक	३१३-७६	पहिले छिन् द्वारा समापित
पिछले लियाङ	तुर्क या मंगोल	कन्सू	३८६-४०३	छिन् द्वारा विजित
दक्षिणी लियाङ	सीयन्-पी या तुर्की	कन्सू	३९७-४०४, ४०८-४१४	पश्चिमी छिन्में लुप्त
उत्तरी लियाङ	हूण	पश्चिमी कन्सूसे काउ-साङ (म० ए०)	३९७-४३९	वेई द्वारा पराजित
पश्चिमी लियाङ	चीनी (?)	पश्चिमी कन्सू	४०१।५-४२१	उत्तरी लियाङ द्वारा समापित
येन्				
पहले येन्	सी-यन्-पी या मंगोल	होपे और होनान	३४९-७०	पहिले छिन्में विलीन
पिछले येन्	सी-यन्-पी	होपे	३८४-४०२	उत्तरी यन् द्वारा समापित
पश्चिमी येन्	सी-यन्-पी		३८४-३९६	
दक्षिणी येन्	,,	शान्तुंङ	३९८-४१०	ल्यू-सुङको आत्म-समर्पित

शासक-समूह	जाति	शासन भूमि	शासन-काल	विशेष
उत्तरी यन्	चीनी	उत्तरहोपे दक्षिण-मंचूरिया	४०९-३६	वेईमें हजम
छिन्				
पहिले छिन्	मंगोल	शेन्सी (कभी मध्य-एसियामें)	३५१-३९४	पश्चिमी छिन्में हजम
पिछले छिन्	मंगोल या भोट	शेन्सी	३८४-४१७	छिन् द्वारा विजित
पश्चिमी छिन्	तुर्की या मंगोल	कन्सू	३८५-३९०-४०९-४३१	सिया द्वारा ध्वस्त
वेई				
उत्तरी वेई	तुर्की	शेन्सी, ४९४के बाद लोयाङ	३८६-५३५	पश्चिमी वेई द्वारा विजित
सिया (हिया)	अम्दो भोट	शेन्सी	४०७-४३१	तू-यू हुन (मंगोल?) द्वारा विजित

घुमन्तुओंको चीनमें जहां शस्त्रके बलपर काबूमें रखनेकी कोशिश की जाती थी, वहाँ दान और विभेदकी रीतिसे कम सहायता नहीं ली जाती थी। वस्तुतः जब तक यह दोनों नीतियाँ सफल होती रहतीं, तब तक घुमन्तू काबूमें रहते। घुमन्तुओंके सर्दार चीन-सम्राट्के रेशम और सोने-चाँदीके उपहारोंसे शौकीन होते जाते, ऊपरसे चीन-सम्राट्का सैकड़ों-हजारोंका रनिवास ऐसी लड़कियोंको प्रस्तुत करनेके लिए तैयार था, जो इन घुमन्तू सर्दारोंकी पत्नी बन उनके ऊपर काबू रख सकें। घुमन्तू सर्दारोंके लड़के सम्राट्के दरबारमें सेवा या जमानतके तौरपर रहकर दरबारकी विलासिता सीख लेते थे। यद्यपि ऐसे विलासियोंके लिए हूण घुमन्तुओंका जीवन सह्य नहीं होता था, किन्तु कभी-कभी वे अपने कबीलेको भुलावेमें डालनेमें सफल होते थे, जिसका परिणाम होता कबीलोंके लड़ाकू-स्वभावमें कमी होना।

§१. राज वंश

(१) उत्तरी हान (३०४-५२९ ई०)—

पश्चिमी छिन्की २६५ ई०में स्थापन हुई थी। उसके शासनके अन्तिम दिनोंमें दरबारमें एक हूण सर्दारका पुत्र रहता था, जिसने चीनी शिक्षा और संस्कृतिका मोटा-मोटा ज्ञान प्राप्त किया था। धीरे-धीरे वह अपने कबीलेका प्रभावशाली नेता हो गया। ३०४में उसने शान्सी प्रान्तके थाई-युवेन् स्थानमें हान् नामसे अपने राज्यकी स्थापना की। यह पुराना नाम उसने इस लिए स्वीकार किया, कि लोगोंको मालूम हो कि वह हानवंशी है। ३०८में उसने अपनेको सम्राट् (वाङ्-ती) घोषित किया। ३१० ई० में उसके मरनेपर उसके पुत्रने पिताके कार्यको जारी रक्खा। उसने ३११में लोयाङ और ३१२में चाङ-अन्पर आक्रमण करके छिन् राजा वीको मार डाला। ३१६ ई० तक चीनियोंका विरोध भी खतम होकर सारा उत्तरी चीन इन हूणोंके हाथमें था। वी का उत्तराधिकारी हूणोंके हाथों मारा गया। किन्तु दो सौ वर्षोंके लिए उत्तरी चीनको हूणोंकी भिन्न-भिन्न जातियोंके हाथमें जानेसे नहीं रोका जा सका।

ये घुमन्तू यद्यपि आरंभमें अपनी भाषा और रीति-रिवाजके पक्के होते थे, किन्तु दो-तीन पीढ़ियोंमें चीनी समुद्र उन्हें खारा बना देता था। फिर वह चीनी नाम, चीनी भाषा-वेष और चीनी पूजा-पाठको स्वीकार करने लगते। चीनियोंने इन घुमन्तुओंसे भी एक चीज जरूर सीखी। चीनियोंका लम्बा-चोगा सैनिक सवारीके उपयुक्त नहीं था, चाहे वह रथोंके युगमें भले ही ठीक रहा हो। धीरे-धीरे चीनियोंने घुड़सवारीके लिए कमरबन्दवाले चोगे, पैजामे और लम्बे बूट इस्तेमाल करने शुरू किये। लेकिन इनका सार्वजनिक व्यवहार पाँचवीं सदी तक जाकर हो गया और थाङ्-काल (सातवींसे नवीं शताब्दी) में जाकर वह पूरी तौरसे प्रचलित हो गये। भारतमें भी घुमन्तू शकोंने सुत्थनके प्रचारमें बड़ी सहायता की, गुप्त राजाओंको भी हम सुत्थन पहने घोड़ेपर चढ़े देखते हैं।

(२) अवार—

चीनके महाप्राकारसे उत्तर उत्तर-कोरियासे लेकर बल्काश सरोवर तक पांचवीं-छठीं शताब्दी (४०३-५२० ई०) में एक शक्तिशाली हूण जाति शासन कर रही थी। ये हूण मंगोलोंसे सम्बद्ध अवार थे, जिन्हें ज्वान-ज्वान भी कहा जाता था। पूर्वी और उत्तरी मन्चूरियामें तुंगूसोंका राज्य था और कोकोनोर प्रान्त तू-यू-हुन के हाथमें था (मंगोल-भाषा में हुन्का शब्दार्थ आदमी है)। इस प्रकार उत्तरी घुमन्तुओंके लिये यह बड़ा ही सुन्दर समय था। उस समयके चीन और रोमके साम्राज्योंका इन्होंने छक्का छुड़ा दिया। उसी ४ थी शताब्दीके अन्तमें अतिला अपनी हूण सेनाको लेकर दनूब (डैन्यूब) विजय कर रहा था।

(३) बौद्धधर्मकी प्रगति—

(क) कोरियामें बौद्ध-प्रचारक—ताउ-वाद और बौद्धधर्मकी प्रतिद्वंद्विता यद्यपि इस समय बहुत अधिक थी, किन्तु बौद्धधर्म बढ़ता ही गया और अब तो चीनी बौद्ध अपने यहाँ आई भारत-ज्योतिको दूसरे देशोंमें फैलानेके लिये उत्सुक थे। उस समय कोरियोके तीन राज्योंमेंसे एकका नाम पैक्-चे था। ४थी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें बौद्ध-प्रचारक वहाँ पहुँचे। ३७४ ई० में कोरियाने चीनी-लिपि स्वीकार की। डेढ़ सौ वर्ष बाद कोरियन बौद्धोंने उस ज्योतिको जापानमें पहुँचाकर अपनेको ऋणमुक्त किया।

(ख) अमिताभ-सम्प्रदाय (३१४-३८५ ई०)—ताउ-आन् एक प्रभावशाली भिक्षु थे, जिनका याङ्सी और ह्वांङहो दोनों उपत्यकाओंमें बहुत सम्मान था। उन्हें धर्म-प्रचारकी धुन थी, जिसे वह अपने व्याख्यानों, विवादों, सदाचार तथा कष्टसहिष्णुताके जीवन द्वारा पूरा करते थे। उन्होंने प्रचारके लिये अपने शिष्योंको भिन्न-भिन्न दिशाओंमें भेजा। उनके प्रमुख शिष्य हुइ-युवेनको सुखावती, पुंडरीक या अमिताभ सम्प्रदायका प्रतिष्ठापक माना जाता है।

(ग) ध्यान-सम्प्रदाय—इसी कालमें एक दूसरा प्रभावशाली सम्प्रदाय छान (संस्कृत ध्यान, जापानी ज़ेन्) स्थापित हुआ, जिसने शिक्षित एवं उच्चवर्गको बहुत आकृष्ट किया। इसके स्थापक चू-ताउ-सेङ (३९७-४३४ ई०) नामक चीनी भिक्षु थे, जो कुमारजीव (३४४-४१३ ई०) की शिक्षासे प्रभावित हुए थे। इस सम्प्रदायकी शिक्षा थी :

(क) "बुद्ध-स्वभाव ही एकमात्र सद्वस्तु है, और वह हरेक व्यक्तिके हृदयमें मौजूद है।

(ख) उसके साक्षात्कारके लिये आदमीको बस इतना ही करना है, कि दृष्टि अन्तर्मुखी करके अपने हृदयमें बुद्धको देखे—पूजा-प्रार्थना, तपस्या, सुकर्म सभी व्यर्थ हैं।

(ग) अन्तिम सत्यका साक्षात्कार एक क्षणमें स्फुरित हो जाता है, उसे सीखा-सिखलाया नहीं जा सकता। शिक्षा उसके लिये केवल मार्गदर्शनका काम करती है।" ध्यान-सम्प्रदायने चीनके विचारकों एवं कलाकारोंपर बहुत प्रभाव डाला।

उस समयके धर्माचार्यों और अनुवादकोंमें प्रसिद्ध विद्वान् कुमारजीव भी थे। उनके बारेमें हम अभी कहनेवाले हैं।

(४) चिकित्सक बौद्ध—

बौद्धोंने अब एक और क्षेत्रमें भी काम करना शुरू किया था, जिसने उनके धर्म-प्रचारमें कम सहायता नहीं की, यह था चिकित्सा और रोगि-सुश्रूषा। ताउ-वादी अमृत-रसायनके फेरमें पड़े हुए बहुत-सी जड़ी-बूटियोंपर परीक्षण कर रहे थे; अमृत संजीवनी तो उन्हें नहीं मिली, किन्तु इस परीक्षणमें उन्हें कई उपयोगी औषधियोंका पता लगा। बौद्ध तो अपनेको भैषज्यगुरु (बुद्ध) का अनुयायी मानते थे., इसलिये वह चिकित्सामें कैसे पीछे रहते? दूसरी शताब्दीमें अन्-सी-काउ (१४८-७०) को एक चिकित्सा-ग्रन्थका अनुवादक होनेकी बात कही जाती है, जिसमें ४०४ बीमारियोंका वर्णन था। एक शताब्दी बाद शकवंशी भिक्षु धर्मरक्षने आँख, कान, पैर आदिकी बीमारियोंकी चिकित्साके बारेमें लिखा। धर्मरक्षने गर्मस्नान द्वारा सर्दी, बात आदि रोगोंके दूर करनेकी विधि बतलाई थी। ३०० ई० के आसपास वैद्य जीवकने अपनी चिकित्साके कई चमत्कार दिखाये थे। उसका शिष्य यू-चा वासी भिक्षु (३१०-४०) लोयाङमें चिकित्साका काम करता था। उसने एक महामारीको रोक दिया था। उसका एक भारतीय शिष्य स्त्रियोंकी बीमारियोंकी भी चिकित्सा करता था।

यू-फ-खाई एक प्रख्यात चीनी बौद्ध चिकित्सक था। उसकी प्रसिद्धि सुनकर छिन्-सम्राट्ने उसे ३६१ ई० में नानकिङ बुलवाया था। यूने देखनेके बाद रोगको असाध्य कहा और चिकित्सा करनेसे इन्कार कर दिया। एक समकालीन विद्वान्का कहना है, कि यूने अपनी चिकित्साकी प्रतिभासे बौद्धधर्मके प्रचारमें बहुत भारी काम किया था।

(५) पत्थरका कोयला—

यही काल है जब कि पत्थरके कोयलेका व्यवहार निश्चित रूपसे होने लगा था। इसका उपयोग धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। तेरहवीं सदीमें उसे देखकर मारकोपोलोने बड़े आश्चर्यके साथ लिखा था—"लोग पहाड़ोंमें चट्टानकी तरह बड़े-बड़े काले पत्थर खोदते हैं, जिन्हें लकड़ीके कुन्दोंकी तरह जलाते हैं और लकड़ीके कोयलेकी भाँति ही वह जलकर राख हो जाता है।....तुम्हें यह भी समझना चाहिए, कि ये पत्थर ईंधनके लिये इतने अच्छे हैं, कि खिताई (उत्तरी चीन) के सभी प्रान्तोंमें, जहांपर काफी ईंधन भी है, उसे छोड़कर कोई दूसरा ईंधन नहीं जलाया जाता।" चीनमें चौथी शताब्दीमें पत्थरका कोयला जलाया जाने लगा था, किन्तु यूरोपमें इसके लिये सत्रहवीं और भारतमें अठारहवीं सदी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

§२. अनुवाद-कार्य

पश्चिमी छिन् और पूर्वी छिन्के १५५ वर्षोंमें बौद्धधर्मकी जो प्रगति हुई, उसके बारेमें कहनेसे कुछ पहिले यहां प्रमुख आचार्यों-भाषान्तरकारोंकी तालिका दे देना अच्छा होगा—

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रंथ
पश्चिमी छिन् (२१५-३१६) लोयङ्—		
धर्मरक्ष	२८४-३१३	९२
अन-फा-खिन्	२८१-३०६	२
मो-व-सल	२९१	१
नियें-चेङ-यू-अन्	२९०-३०६	२
नियें-तव-चेङ	२८६-३१२	४
ओ-फा-थू	२९०-३०६	५
सी:-फा-ली	२९०-३०६	३
सी:फा-च्यू	३०७	२३
ची-फा-तू	३०१	२
नारायण		१
पूर्वी छिन् (३१७-४२० ई०) नान्किङ		
पोश्रीमित्र	३०७-३४२	३
धर्मरत्न	३८१-३९५	२९
गौतम संघदेव	३९१-३९८	३
कालोदक	३९२	१
बुद्धभद्र	३९८-४२१	७
विमलाक्ष	४०६,	१
फा-शीन्	३९९-४१४	४
जीवमित्र	३९७-४१८	२
नन्दी	४१९	१
अज्ञात		३५
प्राक्तन छिन् (३५०-९४ ई०) छङ-अन्		
कुमारबोधि	३८२	१
संघभूति	३८१	३
धर्मप्रिय	४००	१
धर्मनन्दी	३८४-९१	२
गौतमसंघदेव	३९१-९८	१
तौ-अन्		४०
पश्चात्तन छिन् (३८४-४१७ ई०) छङ-अन्		
चू-फो-नियन्	३७४	७
धर्मयश	४०७	२
पुण्यतर	४०४	१
कुमारजीव	४०१-१२	५०
बुद्धयश	४०३	४

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ
सेङ-चउ	४१४	३
सेङ-जुइ		१०
पश्चिमी छिन् (३८५-४३१) वङ-चू-श्रान्		
शेङ-कियेन्	३८८-४०७	१०
अज्ञात		१७
प्राक्तन्–लियाङ (३०२–३७६ ई०) कू-चङ		
ची-शू-लन्	३७३	१
पश्चिमी लियाङ (३९७–४३९) कू-चङ		
शीः तउ-कुङ्	४०२	१
शीः फ़ा-चुङ्	४०२	१
धर्मक्षेम	४१४–३५	१२
शीः तव-थाइ	४२४	२
शीः हुइ-क्यो	४३०–४३७	१
अज्ञात		२

(१) **अनुवादक पंडित—**

(क) **धर्मरक्ष**—तीनों राज्योंके नष्ट होनेके बाद पश्चिमी छिन्-वंशके सम्राटोंने थोड़े समयके लिये चीनके बहुतसे भागोंको एकताबद्ध किया था। इस समय छाङ-श्रानमें १५ विद्वानोंने ४४४ ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें अब बहुत थोड़े प्राप्य हैं। धर्मरक्षका अनुवादकोंमें प्रथम स्थान था। इन्होंने २११ ग्रन्थोंका अनुवाद किया था,[1] किन्तु उनमें से अब ९२ ही बच रहे हैं। यह शकवंशी थे। इनका खान्दान पुराने समयसे तुन्-ह्वाङ्में रहता था। आठ वर्षकी उमरमें वह एक भारतीय भिक्षुके पास श्रामणेर हुए। बुद्धि तीव्र थी, अतः थोड़े समयमें शास्त्रोंमें निष्णात हो गये। फिर वह विदेशोंमें घूमते भारत गये और वहांसे कितने ही ग्रंथ प्राप्त किये। धर्मरक्ष ३६ भाषायें जानते थे। २८४ ई० में वे छङ्-अन् आये और वहां उन्होंने एक विहार बनवाया। हजारों विद्यार्थी उनके यहां बौद्धधर्मका अध्ययन करते थे। २९ वर्ष (२८४–३१३) तक छङ्-अन्में रहकर उन्होंने धर्म-प्रचार और बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

अवलोकित सम्प्रदाय—उनके शिष्योंमें नीये-चेङ-योन् तथा उसके पुत्र नीये-ताव-छेन् और दूसरोंने भी अपने गुरुके कार्यमें बड़ी सहायता की। राजनीतिक उथल-पुथलके कारण धर्मरक्ष अपने शिष्यों-सहित चाङ्-चन् (शान्तुङ प्रान्त) की ओर जानेके लिये बाध्य हुए और ३१७–८ ई० में ७८ वर्षकी आयुमें वहीं इनका देहान्त हुआ। **प्रज्ञापारमिता, दशभूमिकसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तार** जैसे ग्रन्थ इन्होंने अनुवादित किये थे। **सद्धर्मपुण्डरीकका** इन्होंने अनुवाद हीं नहीं किया, बल्कि उसी द्वारा क्वन्-इन् (अवलोकितेश्वर) की महिमाका प्रचार किया। धर्मरक्ष बड़े भक्तिभावसे उपदेश देते:—

---

[1]Le Canon Bouddhique en Chine, Tome I, p. 86-114

आदमीपर चाहें कैसी ही आपत्ति आये, यदि वह क्वन-सी-इन (अवलोकितेश्वर) को पुकारे, तो वह तुरंत उसकी प्रार्थना सुनकर आपत्तिसे बचायेंगे। वह अग्नि, जल, चोर, भूतके आक्रमणसे बचाते हैं। यदि वंध्य पुकारे, तो तलवार उसकी गरदनपर पड़ते ही टूट जायेगी। बंदी यदि पुकारे, तो वह श्रृंखालासे मुक्त हो जायेगा। यदि यात्री या व्यापारीके सार्थका एक आदमी क्वन्-इन् को पुकारे, तो वह सार्थ साफ खतरेसे बाहर हो जायगा। क्वन्सी-अन्को द्रवित करनेके लिये बहुत विनयोंकी आवश्यकता नहीं हैं। "हें क्वान्-सी-इन! तुम्हें नमस्कार करता हूँ" कहना पर्याप्त है और उसे तुरंत सहायता मिलेगी। जो कोई अवलोकितेश्वरको पुकारता है, वह दुर्विचारों, घृणाके गर्त्तों, मूढ़ता और अविवेकसे मुक्त हो जाता है। जो स्त्री संतान माँगती है, उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है। अवलोकितेश्वर को इसीमें आनन्द मिलता है, कि वह सारे प्राणियोंका उद्धार करे। वह इसके लिये बुद्ध, बोधिसत्त्व, ब्रह्मा, इन्द्र, वैश्रवण, वज्रपाणि, राजा, ब्राह्मण, भिक्षु, साधारण स्त्री-पुरुष, भिक्षुणी या बालक जैसे नाना रूप धारण करते हैं।"

(ख) अन्-फा-किङ्—यह पार्थियाके रहनेवाले थे, २८१ ई० में चीनमें आये और ३०६ ई० तक धर्मका काम करते रहे। इन्होंने अशोकावदानका चीनीमें अनुवाद किया था। अशोकावदान बहुत-सी बौद्धकथाओंका संग्रह है।

चू-शीः हिङ्—आधुनिक ह्यू-च्यूके निवासी थे, थोड़ी ही उम्रमें श्रामणेर हो गये और लोयाङ्में बौद्धग्रन्थ पढ़ने लगे। फिर और अध्ययनके लिये चीनके दूसरे प्रान्तोंमें होते वह खोतन पहुँचे। खोतन उस समय संस्कृत और भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। वहां उन्होंने **पञ्चविंशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता** पुस्तक प्राप्तकर अपने शिष्य फू-जू-तूके साथ जब भेजना चाहा, तो खोतनके भिक्षुओं (हीनयानी) ने आपत्ति की। फिर राजाकी आज्ञासे पुण्यधन पुस्तकको चीन लाये। इसी हस्तलेखसे मो-व-सल् और चू-श्-लन्ने २९१ ई० में चीनी अनुवाद किया।

§३. पूर्वी चिन्-वंश (३१७-४२० ई०)

हूण-जातियोंका आतंक उत्तरी चीनमें बहुत था। याङसीके दक्षिणमें छाङ्-अन्से आगे एक राजकुमारने नानकिङमें एक नये राजवंशकी स्थापना की। धीरे-धीरे इस वंशने अपनी राज्यसीमा दक्षिणमें तोङ्-किङ् तक फैलाई और कभी-कभी उत्तरमें ह्वाङ्हो तक भी पहुँचाई।

(१) उत्तरके शरणार्थी—

हूणोंके आतंक और अत्याचारसे भागकर बहुतसे चीनी इस समय दक्षिण चले गये। २८०–४६४ ई० के बीच ह्वांङ्हो-उपत्यकासे भागे लोगोंके कारण दक्षिणी चीनकी जनसंख्या चौगुनी हो गई। उन्होंने अपने कई जिले और इलाके बसा लिये, जिन्हें वह अपने पुराने ग्रामों, नगरोंके नामपर पुकारने लगे। भगदड़के समय वहां कैसी अवस्था हुई होगी, इसका अनुमान हम हालमें भारतमें इसी तरह भागे लोगोंकी अवस्थासे कर सकते हैं। छिन्-साम्राज्यने अपने यहां बस गई सभी जातियोंका एकीकरण किया। याङसीसे दक्षिण पहाड़ी इलाकोंमें बसे काले बौनों (नीग्रो) को लोगोंने हज़म कर लिया, और भी भूली-भटकी जातियाँ, जो कोनोंमें पड़ी थीं, उन्होंने भी बड़ी तेजीसे मंगोल मुखमुद्रा स्वीकार की। थाई (स्यामी) भी, जो उस समय बहुत उत्तरमें रहते थे, चीनी संस्कृति और रक्तसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

इस रक्त-सम्मिश्रणको रोकनेकी भी कोशिश की गई। कितने ही पुराने खान्दानोंने अपने रक्तको शुद्ध रखनेके लिये वंशावलियाँ बनाईं, जो उनके पूर्वज ह्वांङ्हो-तटवासी किसी सामंत तक पहुंचती थीं। वह आपसमें ही व्याह करते थे। सुइ-वंशके इतिहासमें ऐसी कितनी ही पुस्तकोंका नाम आता है, जिनमें सबसे बड़ी वंशावली ६९० प्रकरणोंमें थी और जिसे तीसरी-चौथी सदीमें तैयार किया गया था। सुइ-वंशका इतिहास ६२९–६३६ में तैयार हुआ था। इस तरहकी और भी वंशावलियां रही होंगी, इसमें संदेह नहीं। किन्तु, इससे क्या अन्तर्जातिक विवाह रुक सकता था। उपपत्नियोंके रिवाजने रक्त-सम्मिश्रणको निश्चित कर दिया और छिपे हुए उपपतियोंको भी कौन रोक सकता था। इस समय दक्षिणी चीनमें वही इतिहास दुहराया जा रहा था, जो आर्योंके भारत आनेपर दूसरोंके साथ वर्ण-व्यवस्थाके नामपर लगाये विवाह-प्रतिबंधके समय हुआ था।

(२) **अनुवाद-कार्य—**

पूर्वी छिन्-वंशने दक्षिण-चीनमें नानकिङ (खिन्-ये) को राजधानी बनाकर राज्य किया। पूर्वी छिन्-वंशके सभी राजा बौद्धधर्मसे सहानुभूति रखते थे, लेकिन नवां राजा ह्याउ-ऊ-ती पहला चीन-सम्राट् था, जिसने बौद्धधर्मको स्वीकार किया। नानकिङ् पहले ही से बौद्ध-धर्मका प्रचार-केन्द्र बन चुका था। १७ अनुवादकोंने इस वंशके कालमें कार्य किया। श्री मित्रने सबसे पहले तांत्रिक ग्रन्थोंका अनुवाद किया। वह धारणियोंके शुद्ध उच्चारणपर बहुत जोर देते थे। इसी कालमें धर्मरत्नने ११० संस्कृत-ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें से अधिकतर सूत्र-पिटकके आगम (निकाय) थे। दीर्घ-मध्यम-संयुक्त और एकोत्तर आगमोंको उन्होंने अनुवाद के लिये चुना। धर्मरत्नने ३८१-३९५ के बीच ह्याउ-ऊ-तीके राज्यमें याङ्-तू में सी-चेन्के विहारमें रहकर अपने कार्यको पूरा किया।

(क) अनुवाद-ग्रंथ—इस कालमें कितने ही ऐसे ग्रन्थ भी अनुवादित किये गये हैं, जिनके अनुवादकोंका नाम ज्ञात नहीं है। **'मिलिन्दप्रश्न'** ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसमें भिक्षु नागसेन और ग्रीक राजा मिनांदरके दर्शन-संबंधी प्रश्नोत्तर उल्लिखित हैं।

त्रिपिटक भारतीय वाङ्मयकी एक बहुमूल्य निधि है। इसमें बुद्धके मूल विचार ही नहीं मिलते, बल्कि बुद्ध हमारी आँखोंके सामने चलते-फिरते दिखाई देते हैं। कालान्तरमें बौद्धोंके हुये——हीनयान सम्प्रदायमें ही १८ सम्प्रदाय हो गये। इन सभी सम्प्रदायोंके अपने-अपने त्रिपिटक थे, जो कितनी ही समानता रखते हुए भी आपसमें कुछ भेद रखते थे। आज हमारे पास मूल भाषामें सिर्फ स्थविरवादका पाली त्रिपिटक मौजूद है, दूसरा कोई त्रिपिटक भारतीय भाषामें उपलभ्य नहीं है; लेकिन हमारे बंधुओंने चीनी भाषान्तरके रूपमें दूसरोंके कितने ही पिटकको सुरक्षित कर दिया है। ये अनुवाद छङ्-अन् और लोयाङ्में किये गये थे।

(ख) अनुवादक पंडित कुमारबोधि—यह मध्य-एसियाके रहनेवाले थे, और तुर्फान-राजा के राज-गुरु (कुंवो-सी) थे। ३८२ ई० में चीन आये। इन्होंने आगमोंका अनुवाद आरंभ किया, जिसे गौतमसंघभूतिने पूरा किया। इस कालके सबसे बड़े विद्वान धर्मनन्दी तुखारी थे। सूत्रपिटकके आगमोंपर उनका असाधारण अधिकार था। ३८४ ई० में वे छङ्-अन् पहुँचे थे। एक बड़े सर्कारी अफसरने उनसे अनुवाद करनेकी प्रार्थना की। धर्मनन्दीने मध्यम-आगम और एकोत्तर आगमको दो वर्षोंमें अनुवादित किया। इसी समय चाउ-चाङ्ने राजधानीपर

आक्रमण किया, लोगोंमें भगदड़ मच गई, धर्मनंदी भी कहीं चले गये। अनुवाद नष्ट हो गये होते, किन्तु चाङ-यङ्ने उनको बचाया, तो भी उनका अनुवादित मध्यम-आगम नहीं मिलता। कहते हैं गौतमसंघदेवने उस अनुवादका उपयोग अपने काममें किया। धर्मनन्दीका एक दूसरा अनुवाद अब "अशोक राजपुत्र चक्षुर्भेदनिदान" चीनी-भाषामें उपलभ्य है।

संघदेव और संघभूति धर्मनंदीके समकालीन थे। संघभूति वैभाषिक सर्वास्तिवादियोंके बहुतसे ग्रंथोंको लिये कश्मीरसे राजधानी छङ्-अन् पहुँचे थे। उन पुस्तकोंमें से सर्वास्तिवाद के अभिधर्म पिटककी टीका 'विभाषा'का अनुवाद उन्होंने चीनीमें किया। उन्होंने आर्य वसु-मित्रके संगीतिशास्त्रका भी अनुवाद किया था, जिसमें धर्मनंदी और संघदेवने भी सहायता की थी।

धर्मनंदी और संघभूतिके मित्र और सहकारी गौतमसंघदेव थे। कितने ही ग्रन्थोंका अनु-वाद तीनोंने साथ मिलकर किया था। संघदेव ३८३ में छङ्-अन्में आये और फिर लोयाङ्में जाकर उन्होंने बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया। मध्यम-आगम (मज्झिमनिकाय) इनके अनु-वादोंमें से एक है और अपनी सुंदरता तथा पूर्णताके लिये बहुत प्रसिद्ध है। उनके दूसरे कितने ही अनुवादोंका पीछे फिरसे अनुवाद हुआ, इसलिये "सबसे पीछे सबसे अच्छा" की कहावतके अनु-सार उन्हींको बाकी बच रहनेका अधिकार दिया गया।

तिब्बतमें अनुवादोंका युग इससे तीन सौ साल बाद शुरू होता है। वहां भी सातवीं सदीके अत्यन्त आरंभिक अनुवाद पहला प्रयत्न होनेसे परित्यक्त होकर लुप्त हो गये। आठवीं सदीसे जब सुव्यवस्थित अनुवाद होने लगे, तो दूसरोंके किये हुए अनुवादकोंको लुप्त करनेकी कोशिश नहीं की गई। किसी-किसी ग्रन्थके अनुवादको दो-दो तीन-तीन बार सुधारा गया। संशो-धकोंका भी नाम रक्खा गया, पर अनुवाद मूल अनुवादकके नामसे ही प्रसिद्ध हुआ।

§४. कुमारजीव युग

(१) **कुमारजीवके लानेका उद्योग**—अनुवादका यह महान् काम नहीं हो सकता था, यदि चीनी बुद्ध-भक्तोंने हर तरहसे सहायता न पहुँचाई होती। यह राजनीतिक अशांतियोंका समय था, किन्तु भक्तोंमें चाङ्-चेङ् फू-क्याङका एक उच्च पदाधिकारी था। उसने कई बौद्ध भिक्षुओंको अनुवादके लिये राजधानीमें बुलवाया। एक दूसरा भक्त था ताङ्-अन्। वह कन्फूसी परिवारमें पैदा हुआ था। उसने अनुवादके काममें प्रोत्साहन ही नहीं दिया, बल्कि स्वयं दुभाषिया और अनुवादकके तौरपर उसमें भाग लिया। उसने मुख्य-मुख्य अनुवादोंकी भूमिका लिखी हैं। भूमिकाके अतिरिक्त उसने कितने ही बौद्धग्रन्थोंपर टीकायें लिखीं हैं। ताउ-अन्ने ३७४ ई० में अब तक अनुवादित हुए बौद्धग्रन्थोंका एक सूचीपत्र तैयार किया। ३८५ ई० में ताउ-अन् का देहांत हुआ।

जिस साल ताउ-अन मरा, उसी साल छिन् सम्राट फू-की-येन् मार डाला गया। फू-की-येन् बौद्धधर्मका बड़ा समर्थक और विद्याप्रेमी था। संस्कृत-ग्रन्थोंके चीनी-अनुवादोंको बहुत दोषपूर्ण देखकर ताउ-अन् उन्हें अच्छा बनानेकी चिन्तामें था, उसी समय उसने मध्य-एसियामें चीनके पड़ोसी कूचाके राज्यमें रहनेवाले विद्वान भिक्षु कुमारजीवका नाम सुना। उसने सम्राट् से उन्हें बुलवानेके लिये कहा। फू-की-येन्ने कुमारजीवको बुलवानेके लिये कूचाके राजा पो-च्वाके पास दूत भेजा; लेकिन कूचाके राजाने अपने यहांके तीस वर्षसे चले आते संघराज कुमार-

जीवको नहीं देना चाहा। सम्राट्ने इसे अपनी प्रतिष्ठाके विरुद्ध समझा और सेनापति लुई-कुवाङ्को कूचा, कराशर, ओच, तुर्फानकी सम्मिलित सेनाओंको हराके भी कुमारजीवको लाने के लिये भेजा। विजयी सेनापति अभी राजधानी छाङ्-अन् नहीं लौटने पाया था, कि याङ-चाङ द्वारा सम्राटकी हत्याकी बात उसने सुन ली। राजधानी जानेका ख्याल छोड़ अब उसने फु-चाङ (कन्सू पांत)में एक स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया और १६ वर्षों तक(३८५-४०१) कुमारजीवको अपनी राजधानीमें रक्खा। छाङ्-अन्का नया वंश पिछला छिन्-वंश कहलाता है। याङ्-चाङ् इस वंशका प्रथम सम्राट (३८४-९५ ई० तक) था, फिर उसकी जगह याङ्-हिङ (३९४-४१७ ई०) शासक हुआ। ये दोनों सम्राट् बौद्ध थ। इनके शासन-कालमें बौद्ध साहित्यका निर्माण बहुत ऊँचे तलपर पहुँचा। इन अनुवादकोंमें कूचाके कुमारजीव भी थे। बुद्धयश कुमारजीवके गुरु थे। उन्होंने भी इस समयके कार्यमें भाग लिया था।

(१) बुद्धयश—

बुद्धयश कश्मीरके एक ब्राह्मण-परिवारमें पैदा हुए। लड़कपनसे ही उनमें बुद्धकी शिक्षाके साथ प्रेम था। ब्राह्मणोंके ग्रंथोंको पढ़नेके बाद वह महायान एवं हीनयान दोनों-के ग्रंथोंका अध्ययन कर भिक्षु बन गये। भिक्षु बनके एक जगह बैठना विनयके विरुद्ध होता है, इसलिये बुद्धयश कश्मीरसे निकलकर घूमते-घामते धर्म-प्रचार करते काशगर पहुँचे। काशगरके बौद्ध राजाने उनका बहुत सम्मान किया। इसी समय तरुण कुमारजीव कश्मीरसे कूचा लौटते काशगरसे गुजरे। बुद्धयशके मिलनेपर वह वहां कुछ समय ठहरकर उनसे पढ़ने लगे। ३८३ ई० में जब चीनी सेनाने कूचापर आक्रमण किया था, काशगरके राजाने अपने युवराजको बुद्ध-यशके हाथमें सौंप कूचाकी सहायताके लिये प्रस्थान किया; लेकिन उसके कूचा पहुँचनेसे पहले ही चीनी सेनापति कुमारजीवको बंदी बनाके चला गया। दस वर्ष बाद ३९३ ई०, बुद्धयश अपने शिष्य कुमारजीवसे मिलने कू-चङ् पहुँचे, लेकिन तब तक कुमारजीव वहांसे राजधानी छाङ्-अन् की ओर रवाना हो गये थे। कुमारजीवको जब अपने गुरुके कू-चङ् आनेकी बात मालूम हुई, तो उसने सम्राट्को उन्हें राजधानीमें बुलानेके लिये कहा।

बुद्धयश बड़े वीतराग पुरुष थे। उन्होंने राजाकी भेंट लेनेसे इन्कार कर दिया, किन्तु जाना स्वीकार कर लिया। सम्राट्ने उनके लिये एक विहार बनवाया, जिसमें कि वह वहां रहकर धर्मोपदेश करें। बुद्धयश बड़े गंभीर विद्वान् थे। ६० वर्षके कुमारजीव भी कितनी ही बार संदेह-निवृत्तिके लिये उनके पास जाया करते थे। बुद्धयशने बहुतसे ग्रंथोंका अनुवाद नहीं किया। उनके अनुवाद-कार्यमें फो-नी-येन्ने सहायता की—फो-नी-येन्का अर्थ है बुद्धस्मृति। बुद्धस्मृति भी बड़े गंभीर विद्वान्, बहुश्रुत, बहुदृष्ट और बहुपर्यटित थे। वह कई भाषायें जानते थे। चीनी इतिहासकारोंने आन्-सी-काउ और चेन-ची-चेन्के बाद फो-नी-येनको बहुत ऊँचे दर्जेका अनुवादक कहा है। फो-नीं-येनके अधिकांश अनुवाद बोधिसत्व या महायानके संबंधके हैं। उन्होंने ३६५ से ३८४ ई० तक अनुवाद-कार्य किया था। बुद्धयशने फो-नी-येन्की सहायतासे सर्वास्तिवादी सूत्रपिटकके दीर्घ-आगमका अनुवाद किया।

दीर्घागमकी ही भाँति बुद्धयशका दूसरा महत्वपूर्ण अनुवाद विनय है। चीनी बौद्ध चाहते थे कि चीनी भिक्षुसंघको भी भारतीय भिक्षुसंघके ढाँचेमें ढाला जाय, किन्तु विनयग्रन्थ उस समय चीनी-भाषामें अनुवादित नहीं हुए थे।

पांचवीं सदीके प्रथम पादमें बुद्धयश और कुमारजीवने उत्तरी चीनमें तथा फा-शि-यान् और बुद्धभद्रने दक्षिणी चीनमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका अनुवाद किया। बुद्धभद्र और फा-शि-यान्ने महासांघिक विनयका अनुवाद किया, पुण्यतरने सर्वास्तिवादी विनय, कुमारजीवने महायान विनय, बुद्धयशने धर्मगुप्तीय विनय और धर्मगुप्तीय प्रतिमोक्षके अनुवाद किये। धर्मगुप्त-विनय कई शताब्दियों तक चीनी भिक्षुसंघमें प्रचलित रहा। सातवीं शताब्दीमें ई-चिङ्ने नालंदासे लाकर मूल सर्वास्तिवाद-विनयका प्रचार किया, तबसे वही अधिक जनप्रिय हो गया।

सर्वास्तिवाद-विनयको भी बुद्धयश और कुमारजीवके समसामयिक कश्मीर-निवासी पुण्यतर, पुण्यत्रात और धर्मयशने लाकर फैलाया। धर्मयश विभाषाके भी बहुत अच्छे पंडित थे। उन्होंने ४०७ ई० में सारिपुत्र-अभिधर्मशास्त्रका अनुवाद किया। छिन्-वंशके पतनके बाद धर्मयश उत्तरी चीन छोड़ दक्षिणी चीनमें चले गये, जहां सुङ्-वंशका शासन था। पीछे वह वहां से पश्चिमकी ओर चले गये।

(२) कुमारजीव (३३२–४१३ ई०)—

कुमारजीव भारतीय ग्रन्थोंके चीनी-अनुवादकोंमें अद्वितीय हैं। उनके अनुवादके नजदीक स्वेन्-चाङ्का अनुवाद ही पहुँचता है। कुमारजीवके पिता कुमारायन एक भारतीय भिक्षु थे। नीली आंखों, भूरे बालवाली सुंदरियोंके देश कूचामें जाकर उन्होंने वहांके राजाकी बहन जीवासे ब्याह कर लिया। कुमारजीवके पैदा होनेपर माँ बच्चेकी अच्छी शिक्षाके लिये उसे कश्मीर ले गई, जहां अध्ययन करनेके बाद बीस वर्षकी उम्रमें माँके साथ कुमारजीव कूचा लौट आये। भिक्षु बनकर तीस साल तक कुमारजीवने महायानका प्रचार किया। कुमारजीवकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। किस तरह उन्हें पानेके लिये चीनने सेना भेजी, यह हम पहले कह आये हैं। कुमारजीव पहले आकर कू-चाङ्में रहे, किन्तु सम्राट्के बार-बार आग्रहपर कुमारजीवको भेजना ही पड़ा। वह ४०१ में छाङ्-अन् पहुँचे। सम्राट्ने उन्हें तुरंत ऊ-वो-शी (राजगुरु) बनाया।

कुमारजीवकी मातृभाषा कूचामें बोली जानेवाली भाषा तुखारी (ख) थी। कश्मीरमें चिरकाल तक रहनेके कारण वहांकी भाषापर भी उनका अधिकार था। संस्कृत तो उनके पठन-पाठन और शास्त्रार्थकी भाषा थी। कूचामें चीनियों और तुर्कोंकी सीमापर रहनेके कारण उनका इन दोनों भाषाओंपर भी अधिकार था। साहित्यिक चीनी लिखनेमें ऐसी ख्याति शायद ही किसी विदेशीने पाई हो। उन्होंने पहिलेके अनुवादोंको अस्पष्ट, शिथिल और कितनी ही बार उल्टा पाया। उनमें कला एवं सौन्दर्यकी बहुत कमी थी। अनुवादकी भाषा सुंदर न होनेसे पढ़नेवालों पर उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। कुमारजीवके आनेसे पहिले, मध्य-एसिया और चीनसे आनेवाले अ-चीनी बौद्धभिक्षु अनुवाद-कार्य कर रहे थे। उनकी सहायताके लिये चीनी बौद्ध होते थे, किन्तु वह भारतीय शब्दों एवं वाक्य-शैलीको समझ नहीं पाते थे, इसीलिये अच्छे अनुवाद नहीं हो पाते थे और कितनी ही बार तो पाठकोंको अनुवादका अर्थ भी समझमें नहीं आता था। सम्राट् याउ-हिङ्की प्रार्थनापर कुमारजीवने इस दोषको दूर करनेका बीड़ा उठाया। उनकी सहायताके लिये आठ सौ विद्वान् दिये गये (स्मरण रखिये, हमें भी एक समय अपनी पुरानी साहित्य-निधिको फिरसे देशवासियोंको सुलभ करनेके लिये इन ग्रंथोंको अपनी भाषामें लाना होगा)। उनका काम था नये संस्कृत ग्रन्थोंके अनुवाद करने और पुराने अनुवादोंके

संशोधनमें कुमारजीवको सहायता देना। जिस समय यह काम चलता होता, उस समय राजा भी कितनी ही बार स्वयं बैठकमें उपस्थित रहता था। कुमारजीव द्वारा १०६ अनुवाद किये ग्रन्थोंमें अब ५६ ही प्राप्य हैं।

छाङ्-अन् में १२ वर्ष काम करनेके बाद ७१ वर्षकी आयुमें ४१३ ई० में कुमारजीवने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की—उनका जीवन बहुत सफल और गौरवमय था, इसमें किसे संदेह है।

जीवनी-लेखकोंने बतलाया है, कि कुमारजीव पहले पक्के सर्वास्तिवादी थे। उस समय कूचा और आसपासके प्रदेशोंमें सर्वास्तिवाद ही का अधिक प्रचार था। कश्मीरसे शिक्षा प्राप्त करके लौटनेके बाद जब कुमारजीव काशगरमें ठहरे थे, उसी समय वहांके महायानी भिक्षु सूर्यसोमसे परिचय हुआ। उस समय वह आचार्य नागार्जुनको माध्यमिक कारिका तथा **द्वादशनिकाय** और आर्यदेवके **चतुःशतकशास्त्र**पर व्याख्यान दे रहे थे। कुमारजीव उन व्याख्यानों को सुनने जाते थे और इस प्रकार वह महायानी बन गये। हम पहिले इस बातपर कुछ लिख चुके हैं, कि कैसे बुद्ध-धर्ममें १८ निकाय पैदा हुए। उन्हीं १८ निकायोंमें एक चैत्यवाद भी था, जो धान्यकटकके आसपासवाले प्रदेशमें प्रबल था और वहांके महाचैत्यके नामसे चैत्यवादी निकाय कहा जाने लगा था। चैत्यवादी-निकायका केन्द्र धान्यकटकके ही निकट, उसके आस पास पूर्वशैल, अपरशैल, राजगिरि आदि स्थानोंमें राजगिरिक, सिद्धार्थगिरिक, पूर्व-शैलीय, अपरशैलीय जैसे आन्ध्र देशीय निकाय प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त हैमवतिक निकाय भी हिमालयमें कहीं प्रचलित हुआ था। इन्हीं निकायोंने कितनी ही नई बातें बुद्ध-धर्ममें पैदा कीं, कितने ही नये सूत्र बनाये, जो प्रज्ञापारमिता, वैपुल्य, रत्नकूट, अवतंसक आदि महायान-सूत्रोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। ई० सन् के आरंभके आसपास वह संधिकाल है, जब कि हीनयानसे यह नया वृक्ष फूट निकला। शिलालेखोंसे इस बातकी पुष्टि नहीं मिलती, कि पहली-दूसरी शता-ब्दियोंमें भारतके किसी भी भागमें अठारह निकायोंसे बाहरके किसी निकायकी प्रधानता रही हो। शिलालेखोंसे हमें ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें अठारह निकायोंके विस्तारका कुछ पता लगता है और चीनी यात्रियोंने पांचवी-सातवीं शताब्दियोंमें इनके प्रचार-क्षेत्रोंका वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त पुराने हस्तलेख भी इस विषयपर कुछ प्रकाश डालते हैं। सब देखनेसे इनमें से कुछका विस्तार निम्न प्रकार मालूम होता है:—

महासांघिक	मगध, लाट, सिन्धु, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिमी भारतके कुछ भाग, मथुरा (ई० पू० २ री सदी), कार्ला (ई० पू० २ री सदी), अफगानिस्तान-अन्दराब (द्वितीय शताब्दी)
स्थविरवाद	मध्यमंडल (ई० पू० तृतीय शताब्दी), उज्जयिनी (ई० पू० दूसरी शताब्दी), पूर्वी भारत—सूरत-भरुकक्ष-लाट-सिन्धु (४थी सदी)
सर्वास्तिवाद	मध्य-एसिया, मथुरा (ई० पू० २ सदी), कश्मीर-गंधार (ई० पू० प्रथम सदी), सारनाथ (ई० ३ सदी), पाटलिपुत्र-चीन (३१९-४१४), काशगर-उद्यान-उत्तर सीमांत-

	मतिपुर-कान्यकुब्ज-राजगृह-ईरान (स्वेन्‌चाङ्), लाट-सिन्धु-दक्षिण और पूर्व भारत तथा सुमात्रा-जावा-हिंदीचीन, चीन-मध्यएसिया-(ईचिङ्)
सम्मितीय	सारनाथ (ई० ४ सदी), अहिच्छत्र-संकाश्य-हयमुख-विशोक-सारनाथ, कर्णसुवर्ण-अवन्ती-सिन्धु-आनंदपुर (६८९-६४५ ई०)

चीनी-भाषामें महासांघिक, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तीय, मूलसर्वास्तिवाद निकायके विनय अनुवादि हुए हैं। अन्‌-सी-काउके अनुवाद ऐसे समयमें हुए हैं, जो महायान-हीनयान-संधि-कालके बहुत समीप हैं। संभव है इन अनुवादों और कनिष्कके समय (१ सदी) में लिखे गये विभाषा-ग्रन्थोंके अध्ययनसे महायानके उद्‌गमपर कुछ प्रकाश पड़े। कुमारजीवकी कृतियोंके देखने और समकालीन विवरणोंके पढ़नेसे स्पष्ट है कि उस समय चीनके समीपवाले बौद्धदेशोंमें महायान बहुत प्रबल था। कुमारजीवने कई मौलिक महायान-ग्रंथोंका अनुवाद किया। नागार्जुन-आर्यदेवका माध्यमिक (शून्यवाद) दर्शन तो उनका अपना सिद्धान्त था, इसीलिये उन्होंने प्रज्ञापारमिता-संबंधी ग्रन्थों (पञ्चविंशतसाहस्त्रिका, दश-साहस्त्रिका, वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिता-हृदय, प्रज्ञापारमिता-सूत्र) का अनुवाद किया। इन माध्यमिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त उन्होंने नागार्जुनकी माध्यमककारिका और उसपर आर्यदेवकी टीका तथा आर्यदेवके शतशास्त्रका भी अनुवाद किया। हरिवर्म्माके 'सत्यसिद्धिशास्त्र'का भी उन्होंने अनुवाद किया, जो कि शून्यवादका ही समर्थन करता है। कुमारजीवके अनुवादोंमें विमल-कीर्तिनिर्देश, सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावती-व्यूह भी हैं। विमलकीर्तिनिर्देश बड़ा ही महत्त्वपूर्ण महायानी सूत्र है। इसमें प्राणिमात्रके प्रति महाकरुणाका उच्च आदर्श स्थापित किया गया है। एक अर्हत् या प्रत्येकबुद्ध केवल अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, वैयक्तिक निर्वाण प्राप्त करना ही उसके जीवनका उद्देश्य है; किन्तु बोधिसत्त्व हाथमें आये निर्वाणको इसलिये त्याग देता है, कि वह दूसरे प्राणियोंको दुखित और उत्तप्त छोड़कर सुखधाममें जाना नहीं चाहता। उसका उद्देश्य है प्राणिमात्रकी मुक्तिका प्रयत्न। इस सूत्रमें अनासक्ति या वैराग्यपर भी जोर दिया गया है, किन्तु साथ ही अनाशक्तिके प्रति आशक्ति भी त्याज्य बतलाई गई है। यही विमलकीर्ति-सूत्र था, जिसने जापानके अशोक उपराज शो-तो-कू-ऊ-मै-दो (५७४-६२३ ई०) को बहुत प्रभावित किया और उसने स्वयं इसपर टीका लिखी थी। विमलकीर्त्ति वैशाली नगर का एक धनी गृहस्थ था, जो बोधिसत्वके उच्च आदर्शका पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। कुमारजीवके अनुवादमें इस आदर्शके बारेमें कहा गया है—

"यद्यपि वह साधारण गृही है, किन्तु शुद्ध भिक्षु-शीलका पालन करता है; यद्यपि वह घरमें रहता है, किन्तु कभी किसी चीजकी आकांक्षा नहीं रखता; स्त्री-बच्चे रखते भी सदा शुद्ध शीलका पालन करता है; अपने परिवारसे परिवारित रहते भी संसारसे निर्लेप रहता है,......; खाते-पीते भी समाधि-सुखका रस लेता है; द्यूतगृहमें बहुधा जाते भी सच्चे पथपर जुआरियोंको लाता है; मिथ्यामतोंके सम्पर्कमें आकर भी अपने सच्चे विश्वासको अक्षुण्ण रखता है; सांसारिक विद्याओंका भारी ज्ञान रखते हुए भी बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्मोंमें आनन्द अनुभव करता है;......।"

कुमारजीवका **सद्धर्मपुण्डरीकका** अनुवाद भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। चीन और जापान दोनोंमें इस सूत्रके आधारपर सम्प्रदाय बने हैं। **सुखावती-व्यूहमें** अमिताभकी अनन्य भक्ति और केवल भक्तिके आधारपर प्राणिके निस्तारका उपदेश है। अभिताभ-सम्प्रदाय चीन और जापानमें बहुत जनप्रिय है। इस तरह उन सभी महत्त्वपूर्ण महायान सूत्रोंका कुमारजीवने सुन्दर अनुवाद कर दिया, जो आगे चलकर महायानिक देशोंमें सबसे अधिक मान्य हुए। कुमारजीवने कुमारलाभके **कल्पना-मण्डितिकाके** रूपान्तर सूत्रालंकारका भी अनुवाद किया है, जिसे भूलसे अश्वघोषकी कृति समझा जाता है। पाली सूत्रपिटकके ब्रह्मजालसुत्त (दीघनिकाय) से भिन्न एक महायान ब्रह्मजाल-सूत्रका कुमारजीवने अनुवाद किया। कुमारजीवका जीवन भारतीय विचारधारा और भारतीय संस्कृतिके प्रसारमें कितना उपयोगी हुआ, यह कहनेकी अवश्यकता नहीं। वह उन पुरुषोंमें हैं, जिनके सम्मानमें प्रत्येक भारतीय संस्कृति-प्रेमीके हृदयमें स्थिर रहेगा। (लेखकने जापानके सम्भ्रान्त घरोंमें कुमारजीवके सुंदर चित्र लटकते देखे हैं।)

§५. फा-शीन

अब तक बौद्धधर्मके बहुतसे ग्रन्थ अनुवादित हो चुके थे, किन्तु विनयपिटक (भिक्षु-नियम) के अनुवादकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया था। फा-शीनका ध्यान इस ओर गया और वह विनय-ग्रन्थोंके संग्रहके लिये ही भारत आया। ४थी शताब्दीके अंत तक चीनियोंका भारतके साथ विशेष संबंध नहीं स्थापित हुआ था। यद्यपि उन्हें चीन, मध्य-एसिया, पार्थिया, खोतन (शक) और कू-चाके बौद्धोंसे मिलनेका बराबर मौका मिलता था, किन्तु फा-शीन् (फा-हि-यान) से पहले कोई चीनी भिक्षु भारत नहीं आया था। ३९९ ई० में पहले-पहल चीनी तरुणोंकी एक टोलीने अपनी संस्कृति और धर्मके केन्द्र भारतकी ओर प्रस्थान किया। इस नये अभियानका अगुवा फा-शीन् था। ३९९ में देश छोड़ १५ वर्ष बाद (३४४ में) वह स्वदेश लौटा। फा-शीन्का जन्म आधुनिक शान्सी-प्रान्तमें हुआ था। वचपनमें ही उसके माता-पिताने उसे एक विहारमें ले जाकर श्रामणेर बना दिया। माता-पिताके मरनेके बाद उसने भिक्षु-दीक्षा ली। भिक्षु-नियमों (विनय) को पढ़नेका उसे बड़ा शौक था, किन्तु विनयकी पुस्तकें उस समय चीनमें दुर्लभ सी थीं। उसने विनयपिटकको सुलभ करनेका निश्चय किया। ३९९ में उसने छाङ्-अन् छोड़ा। गोबी पार हो तुर्फान पहुँचा और वहां उसे किसी साधुके साथ आगेकी यात्रा करनेके लिये रुकना पड़ा। ३५ दिनमें तकलामकानके रेगिस्तानको बड़ी कठिनाईसे पारकर वह खोतन पहुँचा। खोतन चार सदियों पहलेसे ही बौद्ध देश था। फा-शीन्ने यहां भिक्षुओंको विनय-अनुपालन करते देखा। यहांके भिक्षुओंके संयम और अनुशासनको देख फा-शीन् बहुत प्रभावित हुआ—अब तक उसने भिक्षु नहीं, भिखमंगे देखे थे।

खोतनसे ५४ दिन चलनेके बाद वह कश्मीर पहुँचा और फिर पंजाब। उसने भारतके पवित्र स्थानोंके दर्शन किये, भिन्न-भिन्न निकायोंके विनयोंका अध्ययन किया, विहारोंमें उनकी पुस्तकोंको पढ़ा और नियमोंको लिखा। फिर वह गंगासे नीचेकी ओर चला और कुछ समय तक बंगालमें रहकर पढ़ा। ताम्रलिपि (तमलुक) से उसे सिंहल जानेके लिये जहाज मिला। सिंहलमें स्थविरवादके **महाविहारनिकायका** सदासे जोर रहा, किन्तु फा-शीन्के समय महाविहारमें तीन हजार और अभयगिरिमें चार हजार भिक्षु रहते थे। अभयगिरि धर्मरुचि-सम्प्रदायका केन्द्र था। फा-शीन्ने महाविहारवालोंको महायानका विरोधी पाया, जब कि

अभयगिरिवाले महायान और हीनयान दोनोंके ग्रन्थोंको पढ़ते थे। फा-शीन्ने वहांसे महीशासकों-के विनयपिटक तथा संस्कृतमें दीर्घागम, संयुक्तागम और संयुक्त-संचय-पिटकको प्राप्त किया। पन्द्रह साल तक इस तरह देश-देशान्तरमें घूमते वह चीन लौटनेके लिये जावा पहुँचा और पाँच महीने जावामें बिता चीन लौट गया। राजा और प्रजा सबने उसका बड़ा सम्मान किया। पूर्वी छिन्की राजधानी नानकिङ्में राजाकी ओरसे उसका स्वागत किया गया। फिर शेष जीवन उसने दक्षिणी चीनके विहारोंमें विनयपिटकका प्रचार करते बिताया। उसका देहान्त ८६ वर्षकी आयुमें हुआ। उसके अनुवादित ग्रंथोंमें महापरिनिर्वाण-सूत्र और **संयुक्त-सूत्र** हैं। फा-शीन् अपने अनुवादोंसे भी अधिक अपने यात्रा-विवरणसे अमर हुआ। उसने मध्य-एसियाके तुर्कों, कास्पियन समुद्रके पास बसनेवाली जातियों और अफगानिस्तानमें बौद्धधर्मको बड़ी समृद्ध अवस्थामें देखा। फा-शीन्की यात्रा और साहसके बारे में लिखते हुए उसके अंग्रेजी अनुवादक गाइलने लिखा है—"उसकी यात्राके प्रकाशमें सन्त पालकी यात्रा बिल्कुल धुँधली पड़ जाती है।" अपने यात्रा-विवरणके अंतमें फा-शीन्ने लिखा है—"जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, कि मैं कैसी-कैसी स्थितियोंसे गुजरा, तो मेरा हृदय स्वतः विचलित होने लगता है और पसीना आने लगता है। मैंने इतने खतरोंका सामना किया, बिना आगे-पीछे सोचे, बिना अपने लिये ख्याल किये अत्यन्त भयानक स्थानोंको पार किया। यह सब इसीलिये कि मेरे सामने एक निश्चित उद्देश्य था।......मैंने अपने जीवनको ऐसी जगह ला रक्खा था, जहां मृत्यु निश्चित-सी मालूम होती थी, किन्तु मैं इस सबके लिये तैयार था, यदि अपने उद्देश्यका दश हजारवाँ अंश भी पूरा कर पाता।" फा-शीन्का साहस महान् था। उसका नाम सदा बड़े सम्मान और कृतज्ञताके साथ लिया जायेगा, इसमें भी संदेह नहीं। लेकिन साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना है कि हमारे भी फा-शीन् थे। चीनमें जानेवाले काश्यप मातङ, धर्मफल, संघवर्मा, धर्मरक्ष, संघदेव, धर्मरत्न, कुमारजीव, गुणवर्मा, गुणभद्र, परमार्थ, गौतमप्रज्ञारुचि, नरेन्द्रयश जिनगुप्त, दिवाकर, शिक्षानद, बोधिरुचि, अमोघवज्र, धर्मदेव, दानपाल और तिब्बतमें जानेवाले जिनमित्र, दानशील, शांत-रक्षित, कमलशील, दीपंकरश्रीज्ञान, गयाधर, शाक्यश्रीभद्रने क्या कम कष्ट उठाया था? क्या उनका कार्य कम महत्वपूर्ण था; जिन्होंने हमारे हजारों अनमोल ग्रन्थरत्नोंको चीनी-तिब्बती भाषाओंमें अनुवादित करके कालके गालमें जानेसे सुरक्षित कर दिया? हाँ, उन्होंने अपने संकटों, दुःखों तथा आँखोंसे देखी वस्तुओंका विवरण हमारे लिये नहीं रख छोड़ा, शायद इसमें उस समय हमारे देशकी ऐसी बातोंके प्रति उदासीनताका कारण हो; किन्तु क्या लोयाङ्, छाङ्-अन् और नानकिङ्में बिखरी उनकी हड्डियाँ हमारे हृदयमें कोई भाव नहीं पैदा करतीं?

अध्याय ४

उत्तरी चीन

§१. छोटे राज्य (४२०-५८६ ई०)

४२० ई० में दक्षिणी चीनमें पूर्वी छिन्-वंशका पतन हुआ और ४३९ ई० में वेई ने उत्तरी छिन् राजवंशको ध्वस्त किया। इस समय उत्तरमें अनेक हूणी (तुर्की) राज्योंके होते भी दक्षिणी चीनमें चीनियोंका राज्य था। पश्चिमोत्तरमें ह्वाङ्हो महानदीके परे अवारों (ज्वान्-ज्वानों) का राज्य था, यह हम पहले कह चुके हैं। एक बार फिर चीनके सीमांतके इन घुमंतुओंका स्थान निर्देश कर देना अनुचित न होगा। चीनके पश्चिमी सीमांतपर थू-यू-हुन थे और पूर्वोत्तरमें ल्याव नदीके परे कोरियाके तीन राज्य कोकुथी, पैक्चे तथा सिल्ला थे। दक्षिण में अनामका राज्य था, जो ५४१–४७ में थोड़ी देरके लिये स्वतंत्र होकर बराबर चीन-साम्राज्य का भाग बना रहा। यद्यपि दक्षिणी चीनमें राजनीतिक स्थिरता नहीं थी और एकके बाद एक (ल्यू) शुङ् (४२०–७९), छिन् (४७९–५०२), लियाङ् (५०२–५७), छन् (५५७–८९) राजवंश बदलते रहे, तो भी उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक बनावट एक थी।

इस सारे कालके अनुवादक निम्न प्रकार थे—

१: सुङ्-वंश (४२०–४७९ ई०) नान्किङ्

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रंथ
बुद्धजीव	४२३	२
शीः-ची-येन्	४२२-२७	४
पाउ-यून्	××	१
गुणवर्म्मा	४३१	५
संघवर्म्मा	४३३	४
च्यू-क्यू-किङ्-सेङ्	४३३	१६
गुणभद्र	४३५-६८	२८
धर्ममित्र	४२४-४२	६
कालयश	४२४	२
शीः-फा-युङ्	४५८	१
कुङ्-तो-ची	४६२	२
शीः: ह्वी-कियेन्	४५७	४
शीः-शेङ्-चू	४६३	१

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ
शीः-फा-यिङ्	४५२	१
शीः-शियेन-कुङ्		१
अज्ञात		९

छि-वंश (४७९-५०२ ई०) नान्किङ्

धर्मकृतयश	४८१-८५	१
गुणवृद्धि	४८३-९३	२
शीः-तान्-किङ्		२

लियाङ्-वंश (५०२-५७ ई०) नान्किङ्

मंद्रसेन	५०३	३
संघभर	५०६-२०	९
उपशून्य	५३८	१
परमार्थ	५४८-५७	३
सेङ्-यिन्	५२०	३
पाउ-चाङ्	५१६-२०	२
ह्वी-चाउ	५१३	१
मिङ्-ह्वी	५२२	१
अज्ञात		१३

छन-वंश (५५७-८९ ई०) नान्किङ्

परमार्थ	५५७-६९	२९
उपशून्य		१
हुइ-शू	५५७	४

उत्तरी वेई या युआन् वेइ (३८६-५३५ ई०) लोयाङ्

शीः-तान्-याउ	४६२	१
की-की-ये	४७२	५
धर्मरुचि	५०१-७	२
शीः-फा-चाङ्	५०१-१५	१
रत्नमति	५०८	२
बुद्धशांत	५२०	९
बोधिरुचि	५००-३५	३०

पूर्वी वेई (५३४-५५० ई०) येः

गौतम प्रज्ञारुचि	५३८-५३	१३
उपशून्य		२

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ
विमोक्षसेन	५४१	६
धर्मबोधि		१
याङ्-ह्यून्-ची	×	१
	उत्तरी छि (५५०-५५७ ई०) ये-ह्	
नरेन्द्रयश	५५८-६८	७
वाङ्-नियेन्-यी	५६२-९४	१
	उत्तरी चउ (५५७-८१ ई०) छाङ-आन्	
जिनयश	५५६-७२	२
यशःगुप्त	५६१-७७	१
जिनगुप्त		२

§२. तोपा-वंश

उत्तरमें ह्वाङहो-उपत्यका अधिकांशतः चीनी-भिन्न जातियोंके हाथ में थी। ५३५ ई० में वेईका पूर्व और पश्चिममें विभाजन, ५५०-७७ ई० में उत्तरी छि, ५५७-८१ ई० में उत्तरी चउ, ५५५-८७ में पिछले लियाङ् राज्य कर रहे थे। यह हम कह चुके हैं, कि गैरचीनी होते भी इन्होंने चीनीपनको स्वीकार कर लिया था। वेईका जातीय नाम तो-पा था। वह ईस्वी दूसरी सदीमें शान्सीमें आ बसे थे। उनके बारेमें उनके दुश्मन तुर्कोंके खाकान्ने रोमन सम्राट् मौरिसके पास लिखा था—"ये लोग मूर्त्तिपूजक हैं, लेकिन इनके कानून न्याययुक्त, जीवन कोमल और बुद्धिपूर्ण है।"

तो-पा चाहें कितने ही नरम हों, लेकिन जहाँ तक उत्तरी चीनको अपने शत्रुओंसे अकंटक करनेका संबंध है, उसमें उन्होंने नरमी नहीं दिखलाई। ४०२ ई० में अवारोंके भयको दूर करने के लिये उनकी सेना गोबी पार गई। द्वितीय वेई सम्राट् तो-पा-ताउ (४२४-५२ ई०) ने ४२५ में गोबी पारकर शत्रुओंकी भूमिमें जा उनपर प्रहार किया, जिसे उसने ४२९, ४४३ और ४४९ ई० में भी दुहराया। उत्तरसे अवारोंके हमलेसे रक्षाके लिये ४२३-४० में महादीवारकी मरम्मत कराके उसे मजबूत किया गया। ४४५ और ४४८ ई० में उसकी सेनाने मध्य-एसियामें कूचा तक धावा मारा। इस वंशकी सैनिक सफलताओंका इनना प्रभाव पड़ा, कि वंशके पतनके बाद भी कितने ही समय तक रोमक, तुर्क और अरब उत्तरी चीनको तोपाके बिगड़े हुए नामसे पुकारते थे। तो-पा सवार-सेनाके धनी थे, जिसके बलपर कि पीछे मंगोलोंने आधी दुनियाको अपने हाथमें कर लिया। तो-पाको अपनी सेनाके लिये बीस लाख घोड़ोंकी अवश्यकता होती थी। उन्होंने कन्सू और ओर्दुस्में उनके लिये भारी चरभूमि सुरक्षित रक्खी थी। चीनियों के हिसाबसे प्रत्येक घोड़ेके चरनेके लिये ५० मू (७ एकड़) जमीनकी अवश्यकता होती है।

(१) तुर्कों द्वारा अवार-ध्वंस—

तो-पा अपने सैनिक प्रभुत्वको पाँचवीं सदीके बाद सुरक्षित रख नहीं सके। ४९४ ई० में

उन्होंने शान्सीके पहाड़ी इलाकेसे राजधानीको लो-उपत्यका (आधुनिक होनान्)में परिवर्तित किया, ५०७ ई० में दक्षिणी चीनको जीतनेका असफल प्रयत्न किया। ५३४ ई० में राजवंश पश्चिमी और पूर्वी दो भागोंमें बँट गया। उधर उनके शत्रु अवार भी निर्बल हो गये और अपने ही अर्धदास तुर्कोंसे ५५१ ई० में पराजित हो कितने ही पश्चिमकी ओर ऊराल पार करते सात वर्षके बाद ५५८ में दन्यूब तटपर पहुँचे। उनका बाकी भाग चीनमें भागा, जहां वह उत्तरी चीनके लोगोंमें विलीन हो गया।

(२) तुर्क

अवार-विजेता अर्धदास तुर्कुत् (बहुवचन तुर्क) कहे गये। चीनियोंने इन्हींको तू-चुइ नाम दिया। इतिहासमें छठी शताब्दीके मध्यमें पहले-पहल यह नाम सुननेमें आया। अवारोंका साम्राज्य उन्हींने खतम किया था। उन्हींके नमूनेपर इन्होंने अगले १५ सालोंमें अपना साम्राज्य स्थापित किया, जो मंगोलिया, चीनी तुर्कीस्तानके कुछ भाग, रूसी तुर्किस्तानको लिये उत्तरी अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। इनका विजन्तिन्, ईरान और चीनके साथ दौत्य-संबंध था। इस विशाल साम्राज्यको तुर्क सुरक्षित और सुप्रबंधित नहीं रख सके और तीस ही वर्ष बाद ५८२ ई० में पूर्वी और पश्चिमी तुर्कोंके नामसे इनके दो टुकड़े हो गये। इनमें पूर्वी तुर्क ७४५ ई० तक अपने अस्तित्वको कायम रख सके। उनका राज्य मंचूरियाकी सीमासे चीनी दीवारके साथ-साथ लगा पश्चिममें हामी तक हुआ था। मंगोलियाकी ओर्खोन नदी उनकी सीमा थी, जहांसे वह चीनकी समय-समय पर गोशमाली किया करते थे, जिसकी ही वजहसे चीनी-साहित्यमें सबसे अधिक तुर्कोंके इतिहासकी सामग्री मिलती है।

(३) सामाजिक अशान्ति—

चीनके पड़ोसियोंके बारेमें इतना कहनेके बाद अब हम उस समयके चीनकी व्यवस्थाके संबंधमें कुछ कहना चाहते हैं। ४२०-४८९ के बीचके समयमें चीनमें राजनीतिक अशांति ही नहीं, बल्कि सामाजिक अशांति भी फैली हुई थी, जिसके मुख्य कारण थे: भूमि और कर। राजनीतिक उपद्रव या अकालके कारण छोटे-छोटे किन्तु धनी एवं शक्तिशाली जमींदारोंको मजबूर होकर अपनी भूमिको बलवान् धनियोंके हाथ सस्ते दाममें बेंच देना पड़ता था। भारी करके भारसे बचनेके लिये ये लोग अपनी भूमिको किसी बौद्ध मंदिर या तावी मठके हाथमें दे देते और अपने परिवारके एक व्यक्तिको वहाँ महंत बना देते।

(४) तोपाका निर्माण-कार्य—

तो-पा वंशपर चीनी भिक्षु शी-तान्-याउका बहुत प्रभाव था। उसने वेई (तो-पा) सम्राट् (४६०-६५) को प्रेरित करके शिला खोदकर पाँच गुफायें बनवाईं। ये गुफायें उत्तरी शान्सीमें युवान-कङ् की गुफाके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनमें कितनी ही बुद्धकी मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं, जिनमें सबसे बड़ी ७० फीट ऊँची है। तो-पा-हुङ् या सीयेन्-वेन्-ती (४६६-७१) ने ४७१ ई० में ४३ फीट ऊँची एक बुद्ध-मूर्त्ति बनवाई, जिसके लिये १८० पिकल काँसा और ६ पिकल सोनेकी अवश्यकता पड़ी। यही वह तो-पा सम्राट् था, जिसने धर्ममें सारा समय देनेके लिये राज्य छोड़ दिया था। उसका पुत्र स्याङ्-वेन्-ती (४७१-९९ ई०) जबर्दस्त कन्फूसी था। वह राजधानीको लोयाङ्से पिङ्-चेङ् ले गया, वंशका नाम तो-पासे युवान कर दिया और अपने

वंधु तातारोंको चीनी-भाषा और चीनी-वेशमें ढालनेका प्रयत्न किया—ब्याह-शादी द्वारा वह उन्हें चीनी समुद्रमें एक कर देना चाहता था।

× × ×

(५) अनुवाद कार्य : (क) **धर्मरुचि**—

तो-पा-कालमें सात विद्वानोंने अनुवाद-कार्य किया था, जिनमें धर्मरुचि दक्षिणी भारतके भिक्षु थे। उन्होंने तीन ग्रंथोंका अनुवाद किया। रत्नमति मध्यमंडलके श्रमण थे और ५०८ ई० में चीन गये तथा बोधिरुचि और बोधिशांतिके साथ मिलकर अनुवाद-कार्य करते रहे। रत्नमतिके अनुवादोंमें योगाचार-दर्शनका प्रामाणिक ग्रंथ **महायानोत्तर-तंत्र** भी है।

(ख) बुद्धशांत उत्तर-भारतीय भिक्षु थे। वह चीनमें आकर ५२०-५३९ तक काम करते रहे। ५३४ तक वह लोयाङ्के श्वेताश्व-विहारमें रहे और बाकी समय येः में। उनके अनुवादोंमें ९ ग्रन्थ बच रहे हैं, जिनमें एक असंगका **महायानसमपरिग्रहशास्त्र है।**

(ग) बोधिरुचि उत्तरी भारतके त्रिपिटकाचार्य भिक्षु थे। वह लोयाङ्में ५०८-३५ तक अनुवाद-कार्य करते रहे। उनके ३९ अनुवादित ग्रंथोंमें अब १० बँच रहे हैं। धर्म-प्रचारकी धुन में वह भारतसे चलके कश्मीर और आगेके तुषाराच्छादित पर्वतोंको पारकर मध्य-एसिया तथा वहांसे ५०८ में लोयाङ् पहुँचे। सम्राट् **स्वेन-ऊ** ने उनकी सहायताके लिये सात सौ संस्कृतज्ञ भिक्षु रख दिये। इस समय वेई-कालमें तीन हजार भारतीय उत्तरी चीनमें रहते थे, अतः सात सौ संस्कृतज्ञोंका होना असंभव नहीं था। सम्राट्ने बोधिरुचिके लिये एक खास विहार बनवाया था। जब राजधानी लोयाङ्से येः गई, तो बोधिरुचि भी वहां चले गये। अपने ५०८-३५ के निवासमें उन्होंने ३९ ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें ३० अब भी बचे हुए हैं। इनके अनुवादित ग्रंथोंमें **विशेषचिन्ता, दशभूमिक, गयाशीर्ष, लंकावतार, धर्मसंगीति** विशेष महत्त्व रखते हैं

(घ) की-क्या-ये मध्य-एसिया या पश्चिमी भारतके रहनेवाले थे। इनके अनुवादित पाँचों ग्रन्थ मौजूद हैं और बहुत ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। **'संयुक्तरत्नपिटक'** १२१ कहानियोंका संग्रह है, जिसमें एक दशरथ-जातकका संस्करण भी है। धर्मपिटकके इतिहास (फू-ता-चाङ्-यिन्-य्वान्-च्वाङ) में महाकाश्यपसे लेकर भिक्षु शिष्य तकके २३ स्थविरोंका इतिहास दिया हुआ है। **महायान-परंपरामें** स्थविरोंकी संख्या २८ है। इस ग्रन्थमें सातवें (वसुमित्र) और अंतिम चारको छोड़ दिया गया है। किसी-किसी परंपरामें स्थविरोंकी संख्या २४ बतलाई गई है। अंतिम स्थविर सिंहको श्वेत हूणोंके राजा मिहिरकुल (५१०-४०)ने कश्मीरमें मार डाला—इस पुस्तकके प्रमाणित होनेमें संदेह किया जाता है। बुद्धके बाद भिक्षुसंघके जो प्रधान बने थे, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. महाकाश्यप
२. आनंद
३. शाणवास
४. उपगुप्त (ई० पू० २५०)
५. धृतक (धर्मगुप्त ?)
६. मेचक

७. वसुमित्र (?)
८. बुद्धनंदी
९. बुद्धमित्र
१०. पार्श्व
११. पूर्णयश
१२. अश्वघोष (१ सदी ई०)
१३. वीर (या कविमल)
१४. नागार्जुन (२ सदी)
१५. कानदेव (आर्यदेव)
१६. राहुल
१७. संघनंदी
१८. संघयक्ष
१९. कुमारलात
२०. चो-ये-तो (जयंत)
२१. वसुबंधु
२२. मो-नो-लो
२३. हो-ले-हो
२४. सिंह
२५. ब-सि-या-सि-ता
२६. पू-तो-नो-मि-तो
२७. प्रज्ञातर
२८. बोधिधर्म (५२० ई० चीनके प्रथम संघस्थविर)
२९. हुइ-के (४८६-५९३)
३०. सेङ्-चम् (मृ० ६०६)
३१. ताउ-सिन् (५८०-६५१)
३२. हुङ्-जिन् (६०५-७५)
३३. हुइ-नेङ् (६३१-७१३)

सिंहके बादके ९ नाम स्थविरोंकी चीन परंपराके हैं।

(ङ) बोधिधर्म—(मृत्यु ५२०) बोधिधर्मने किसी ग्रन्थका अनुवाद नहीं किया, लेकिन चीन और जापानके बौद्ध इतिहासमें उनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वह ध्यान-सम्प्रदायके संस्थापक थे, जिसे चीनी-भाषामें चान् और जापानीमें जेन कहते हैं। दोनों ही देशोंमें कलाकारों, विचारकों और संस्कृत सामंतोंकी इस धर्मपर विशेष आस्था रही है। एक पुराने चीनी तथा समसामयिक लेखके अनुसार बोधिधर्म चीनमें पैदा हुये थे, किन्तु प्रबल परंपरा उन्हें दक्षिण-भारतके किसी राजाका पुत्र बताती है। बोधिधर्म (५२० या ५२६ ई० में) क्वान्-तन्में उतरे। नान्किङ्में उनकी सम्राट् ऊ से भेंट हुई। ऊ बहुत श्रद्धालु बौद्ध था। उसने अपने धर्मके बहुत बड़े-बड़े कार्योंको बतलाते हुए बोधिधर्मकी राय पूछी। स्थविरने दोटूक जवाब दिया—

मंदिरोंका निर्माण और संस्कृत-पुस्तकोंके अनुवाद कराकर तुमने कोई पुण्य नहीं कमाया।

सम्राट्ने पूछा—पवित्र धर्ममें कौन सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है?

बोधिधर्मने जवाब दिया—जहां सब शून्यता है, वहां किसीको पवित्र नहीं कहा जा सकता।

सम्राट्ने आश्चर्यके साथ पूछा—कौन मेरे साथ बात कर रहा है?

बोधिधर्मने उत्तर दिया—मैं नहीं जानता। ऊ-ती से संतुष्ट न हो बोधिधर्म दक्षिण छोड़ उत्तरकी ओर चले गये। लोयाङ्के श्वा-लिन् विहारमें वह ९ साल रहे। वहां वह बराबर एक दीवारकी ओर मुँह करके कितने ही साल बैठे रहे, इसीलिये उनका नाम दीवार-देखू पड़ गया। बोधिधर्मके जीवनके बारेमें पचासों तरहकी कथायें हैं। चीन और जापानके अत्यन्त प्रतिभाशाली चित्रकारोंने उनकी शिक्षासे प्रभावित होकर कितने ही अनुपम चित्र बनाये।

§३. उत्तरी वेई (लोयाङ्)

उत्तरी वेईने ५३४ ई० तक लोयाङ्में शासन करके अपनी राजधानी येः में बदल दी। इन १७ सालोंमें कई अनुवादक काम करते रहे, जिनमें से कुछ हैं—

गौतम प्रज्ञारुचि—वह बनारसके एक ब्राह्मण-परिवारमें पैदा हुए थे। उन्होंने बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थोंका गंभीर अध्ययन किया था। ५१६ ई० में वह लोयाङ् गये और फिर राजधानी-परिवर्तनके साथ येः चले गये। उनके अनुवादित २३ ग्रंथोंमें १३ मौजूद हैं। **सद्धर्मस्मृति-उपस्थान**, नागार्जुनके **मध्यान्तानुगम** और **एकश्लोकशास्त्रका** भी इन्होंने अनुवाद किया है।

प्रज्ञारुचिके सहकारी विमोक्षसेनने नागार्जुनके एक और ग्रन्थ **विग्रहव्यावर्त्तनी**[1] का अनुवाद किया है। विमोक्षसेन पश्चिमोत्तर भारतके उद्यान (स्वात्-उपत्यका) की शक-संतान थे। वह महायान अभिधर्मके अच्छे विद्वान् थे और अपने गुरु गौतम प्रज्ञारुचिके साथ चीन गये थे।

× × × ×

(१) संघकी निर्बलतायें—

४३४ ई० में चीनी स्त्रियोंको भिक्षुणी बननेकी अनुज्ञा मिली। सूत्रों एवं धार्मिक ग्रन्थोंका अनुवाद जितनी तत्परतासे हुआ, इसके बारेमें हम कह चुके हैं।

उत्तरी तो-पा सम्राट् चुन् (४५२–६६) के पुत्र तो-पा हुङ्ने ४७१ ई० में राज्य त्याग कर बौद्धधर्मके अध्ययन एवं आचरणमें जीवन लगाया। दक्षिणी चीनमें भी प्रत्येक राजवंश बौद्ध धर्माचार्योंके हाथोंमें खेलता रहा। वेईकी राजधानी लोयाङ्में ५००-१५ ई० के बीच तीन हजार विदेशी भिक्षु रहते रहे। ल्यू-सुङ् सम्राटोंके शासन-कालमें हजारों स्तूप और बौद्ध विहार बनते रहे। भूमिवंचित लोगोंमेंसे कितने ही दरिद्रता, सैनिक-सेवा या बेगारसे बचनेके लिये भिक्षु बन जाते थे। चीनी इतिहास वेइ-शू (५०६-७२ ई०) में ५५४ ई० में उत्तरी चीनकी अवस्थाके बारेमें लिखा है—"५२०-२५ के बाद साम्राज्य बड़ी चिन्तामें था। लोगोंसे जो सेवायें ली जाती थीं, वह लगातार अधिक असह्य होती जा रही थीं, इसलिये चारों ओर लोग श्रमणोंसे प्रेम होनेका बहाना करके मठोंमें दाखिल हो जाते थे, जिससे उनका अभिप्राय होता था सैनिक-सेवासे पिंड छुड़ाना। बौद्धधर्मके प्रभावके बादसे चीनमें इतना दोष एवं अतिचार कभी नहीं हुआ था।

---

[1] **यही इसका नाम है, विवादशमन ठीक नहीं है।**

मोटी संख्यामें गिनने पर भिक्षु और भिक्षुणी २० लाखके करीब थे और उनके मठ ३० हजारसे अधिक।"

यद्यपि उत्तरमें विशेषतया तावियोंसे कड़ा संघर्ष ४३८–४६ ई० तक रहा और ५७४ ई० में पूर्वोत्तरमें विशेषकर कन्फूजी विद्वानोंसे प्रतिद्वन्द्विता थी, तो भी बौद्धधर्म फलता-फूलता ही नहीं रहा, बल्कि यह युग उसका स्वर्ण युग कहा गया है। अवश्यकताओंके अनुसार कई सम्प्रदाय पैदा हुए। बड़ी-बड़ी मूर्त्तियां बनाई गईं। दक्षिणी छि-वंशके शासनमें राजपरिषद्में बौद्ध धर्माचार्योंका अत्यन्त प्राबल्य था। प्रथम लियाङ्-सम्राट ऊ (५०२–४९ ई०) तरुणाईमें ताउवादी होते हुए भी पीछे बौद्धधर्मका इतना समर्थक और सहायक हो गया, कि उसे चीनी अशोक कहा जाने लगा। पिछले विद्रोहमें जो सात हजार बौद्ध विहार नष्ट हो गये थे, उन्हें ५४७ ई० में फिर बनवा दिया गया। इस वंशके दो सम्राटों एवं एक युवराजने भिक्षु-दीक्षा ली।

(२) **बौद्धधर्मका निर्माण-कार्य**—

बौद्धधर्मका यह व्यापक प्रभाव सिर्फ साहित्य और राज-संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि कलापर भी इसका भारी प्रभाव पड़ा। तत्कालीन चित्र चीनमें सभी नष्ट हो चुके हैं, लेकिन तुन्–ह्वाङ् की गुफाओंमें जो बौद्ध चित्र मिले हैं, उनसे पता लगता है, कि चीनमें मूर्त्तिकलासे वह पीछे नहीं थे। **शान्सी, होपे, शान्तुङ, होनान, शेन्सी** और **कन्सू** सभी जगह उस समयकी मूर्तिकलाके सुंदर अवशेष मिले हैं। संसारका शायद ही कोई बड़ा संग्रहालय हो, जहां इन जगहोंसे प्राप्त कोई वस्तु न रक्खी हो। उत्तरी सम्राट् तो-पा-चुन् और उसके उत्तराधिकारियोंने मूर्त्तिकला और वस्तुकलाके संरक्षणका इतना अच्छा प्रबन्ध किया था, कि मनुष्यकी ध्वंसलीलाके बाद भी उनमें से कितनी ही बच रही हैं। ४१४-५२०के बीच तो-पाने पहले वेई राजधानीके पास फिर आधुनिक ता-तुङ (शान्सी) के पास कितने ही पर्वतगात्र काटकर उसी तरह विहार बनवाये, जैसे वह उन्हीं वर्षोंमें अजन्तामें बनाये जा रहे थे। इन गुहा-विहारोंको सुन्दर मूर्तियोंसे अलंकृत किया गया था। तो-पा एवं दूसरे राजवंशोंने और कई जगह गुहा-विहार बनवाये, जिनमें शान्सीमें तियान्-युङ, शान्तुङमें ली-चेङ, लोयाङके पास लुङमेन् और तुन-ह्वाङ्के गुहा-विहार विशेष महत्व रखते हैं। यहांकी कलापर तक्षशिला, पेशावर, मथुरा और दूसरे कितने ही पश्चिमी एसियाई देशोंकी कलाका प्रभाव पड़ा है। यह बिल्कुल सम्भव है कि इनके बनानेके लिये कितने ही कलाकार बाहरसे लाये गये हों। भारतसे जिस तरह विद्वान् पहुँचकर चीनमें नये साहित्यका सृजन कर रहे थे, उसको देखते हुए यह स्वाभाविक था, कि हमारे कलाकार भी वहांकी कलाके निर्माणमें सहयोग देते। बाहरी प्रभाव होनेपर भी इसका पूरा ध्यान रक्खा गया कि कला मुख्यत: चीनी रहे।

वास्तु और मूर्तिकला—१९१३-१४ ई० में कुछ विद्वानोंकी टोली मध्य-एसिया और चीनकी ओर गई थी। जर्मन-अभियानका नेता लकॉक था, ब्रिटिश भारतीय दलका स्ताइन (१९१४ ई०), फ्रेञ्चके वा-सी आदि। रूसी अकदमीने गाथियोके नेतृत्वमें अपना दल भेजा। सभी दलों ने अच्छी तरह अनुसन्धान किया। इन्हींमें से फ्रेञ्च दल १९१४ ई० में जेचुवान-प्रान्त में भी गया, जहां उसे थाङसे पहलेकी पुरातात्विक सामग्री मिली। यहांके गुहा-विहार तुन्-ह्वाङसे कम महत्त्वके नहीं हैं। यहांकी कलापर भी भारतीय कलाका प्रभाव है। यहांके सबसे अधिक महत्वपूर्ण अवशेष फो-कान् (बुद्ध-गवाक्ष) और च्यान्-फोयेन् (सहस्रबुद्ध-शिखर)

हैं। सहस्रबुद्ध-शिखर, क्वाङ-युवेन्के पास एक पर्वतपर है, जिसमें सात-आठ सौ गवाक्ष हैं। इन्हें एक चीनी अधिकारी वेई-काङ्ने बनवाया था। इनमें से कुछ गवाक्षोंमें बुद्ध, बोधिसत्त्वों और भिक्षुओंकी मूर्तियां हैं। इन गुफाओंमें सुङ्, युवान, मिङ् और चेङ् (मंचू) कालके भी बहुतसे शिलालेख हैं। काङ्-यूवानसे कुछ मील दूर हटकर ह्वाङ्-चो-से में कितनी ही गुफायें हैं, जिन्हें बड़े सुन्दर चित्रोंसे सजाया गया है। इसी पर्वतपर १६ फीट लम्बी ध्यानावस्थित बुद्धकी मूर्ति उत्कीर्ण है। यहांकी मूर्तियोंमें गन्धार-कलाका प्रभाव दिखाई पड़ता है।

× × ×

(४) संगीत—

चीनका अपना एक अलग ही संगीत था, जिसका दूसरे देशोंसे बहुत ही कम सादृश्य था। भारतमें संगीत वीणा और बाँसुरी-जैसे वाद्ययन्त्रोंके सहारे होता था, किन्तु चीनमें वह सिर्फ वाचिक था, जैसा कि आज भी अक्सर देखा जाता है। ६ठी शताब्दीके इन उत्कीर्ण दृश्योंसे पता लगता है, कि वहां कुछ तन्तु और वायुपूरक वाद्ययन्त्रोंका प्रयोग होने लगा था, यद्यपि इन यन्त्रोंका प्रयोग कुछ ही शताब्दियों तक रहकर खतम हो गया।

प्रारम्भिक धर्म-प्रचारकोंके लिये यह सबसे बड़ी समस्या थी : कैसे अपनी स्तुतियोंको चीनी-भाषामें रूपान्तरित किया जाय। एकवर्णक चीनी-भाषाको बहुवर्णक संस्कृतके स्वरमें कोई नहीं पढ़ सकता था। वहां एक ऐसे स्वर-संगीतकी अवश्यकता थी, जिसमें विदेशी और स्वदेशी दोनों बौद्धभक्त सम्मिलित हो सकें। कहा जाता है, एक वेई राजकुमार चाउ-चीः (१९२-२३२) ने ४२ गीत बनाये थे, जिनमें छ सातवीं सदीमें भी मौजूद थे। कूचा और सोंग्दके धर्म-प्रचारकोंने और भी कितने ही गीत बनाये थे। पांचवीं सदीके अन्तमें दक्षिणी चीनके भी एक सम्राट् और राजकुमारने कुछ गीत बनाये थे। उस वंशके इतिहासमें लिखा है, कि ४८७ ई० में राजकुमारने कितने ही भिक्षुओंको बौद्धधर्म और धार्मिक गाथाओंके गायनके लिये नया राग तैयार करनेके बारेमें विचार करनेके लिये बुलाया था। तीन शताब्दी बाद जापानी तीर्थ-यात्रियोंको इस संगीतने बहुत प्रभावित किया था।

(५) भिक्षु-आदर्श—

५१९ ई० में भिक्षु हुइ-च्यावने काउ-सेङ्-च्वाङ् (प्रमुख भिक्षुओंकी जीवनियां) नामकी एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमें हान्से लियाङ्(२५-५१९ई०)तकके देशी-विदेशी ५०० भिक्षुओंका जीवन-चरित्र संग्रहीत है। इनमें कितने ही उपदेशक और अनुवादक थे, और कुछ सिद्ध और योगी। कितने ही ऐसे भी थे, जिन्होंने आत्मबलिदान किया था। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रमें कहा गया है कि आत्मबलि सबसे बड़ी बलि है। उसी अध्यायमें कहा गया है, कि "भैषज्यराजने अपने सारे शरीरमें गन्ध और सुगन्धित तेल लगाया, सारे वस्त्रोंको तेलमें भिगोया और अन्तमें अपनेको जलाकर बुद्धके सामने बलिदान कर दिया।" इस सूत्रका उपदेश बेकार नहीं गया। कितने ही भिक्षुओंने भैषज्यराजका पदानुसरण किया और बहुधा सार्वजनिक स्थानोंमें जनताकी भीड़के सामने। ४६३ ई० में भिक्षु हुइ-वी नानकिङ्में राज-प्रासादके सामने एक बड़े कड़ाहमें घुस गया। उसने अपने सिरपर तेल डालकर आग लगा दी और भैषज्यराजकी कथा दुहराते हुए शरीर छोड़ दिया।

(६) तीर्थयात्रा—

अब बाहर तीर्थयात्रायें भी होने लगीं। ५११ ई० में लियाङ-सम्राट ऊ ने बड़े उत्साह और उत्सवके साथ भारतसे लौटे एक चीनी दलका स्वागत किया। इस दलको राजाकी विशेष आज्ञासे चन्दन-काष्ठकी एक बुद्धमूर्ति बनवाकर लानेके लिये भेजा गया था। ५१६ ई० में जो भिक्षु तीर्थयात्राके लिये भारत गये थे, उनमें वेई-वंशकी भूतपूर्व सम्राज्ञी भी थी। उपासक सुङ-यून बहुतसे साथियों तथा भिक्षु हुइ-शेङ्के साथ ५१८ ई० में मध्य-एसियाके रास्ते गन्धारमें तीर्थयात्राके लिये गया और ५२२ ई० में १७० महायानसूत्रों और दूसरे ग्रन्थोंको लेकर लौटा। इस यात्रीका लिखा विवरण यद्यपि मूलरूपमें नहीं मिलता, लेकिन ५४७में उसके बहुतसे उद्धृत अंश मिलते हैं, जिनसे शक राजाओंके अधीन उद्यान और गन्धारकी समृद्धिका पता लगता है। इस कालमें पूर्वोत्तर चे-क्याङ्की एक पर्वतमाला त्यान-ताइके नामसे प्रसिद्ध थी और ५७५ ई०में स्थापित वहाँके थ्यान-ताई बौद्ध सम्प्रदायका बहुत बड़ा महत्व था। इसके दो संस्थापकोंमें एक था चीः-ई या चीः-काई (५३८-९७ ई०)। यह महाभिक्षु हुइ-शू (मृत्यु ५७७ ई०) का शिष्य था, जो कि हेङ्-शान् (आधुनिक हूनान)से धर्म-प्रचारके लिये आया था। उसने धर्मपर बहुत-सी टीकायें और निबन्ध लिखे, ५० त्रिपिटक-प्रतियोंके लिखानेके लिये धन जमा किया, ३५ विहार बनवाये। सुखावती और ध्यान-सम्प्रदायोंकी अपेक्षा थ्यान्-ताई ज्यादा सक्रिय रहा। उसमें ध्यान, पूजा-पाठ, आत्म-संयम, सहिष्णुता आदि सभी बातोंकी गुंजाइश थी, किन्तु पीछे ध्यान-सम्प्रदाय अधिक शक्तिशाली हो उठा। पांचवीं शताब्दीके बीतते-बीतते ताउ-वादियों और बौद्धोंमें समन्वयकी प्रवृत्ति भी देखी जाने लगी। दक्षिणी चीःके दरबारके एक सम्मानित दरबारी तथा एक समय अनामका दूत बनकर गये च्याङ्-यूङ् (४४४-४९७) ने मृत्युशय्यापर पड़े-पड़े कहा था—मेरे बायें हाथमें कन्फूजीके ग्रन्थ और दाहिनेमें बौद्धसूत्र दे दो। एक दूसरा प्रसिद्ध प्रतिभाशाली व्यक्ति फू-शी (४९७-५६९ ई०), जो घूमनेवाली पुस्तकधानीका आविष्कर्ता था, सदा तावी टोपी, कन्फूसी जूता और बौद्ध गलेकी चादर पहिने रहता था।

(७) धर्माचार्य और अनुवादक—

(क) शी-चे-मोङ (४०४-५३) बड़ा ही श्रद्धालु बौद्ध था। ४०४ ई० में वह १४ साथियोंके साथ भारतकी तीर्थयात्राके लिये निकला। वह तुन्-ह्वाङ्-ओ होते लोबनोर सरोवरके दक्षिण-पश्चिम साङ्-सानमें गया, फिर कूचा और खोतनके बौद्धविहारोंका दर्शन करते पामीर पहुँचा। पामीरकी चढ़ाईसे घबराकर ९ तीर्थयात्री चीन लौट गये। बाकी आगे बढ़े, किन्तु रास्तेमें ही उनका भारतीय साथी ताउ-लोङ् मर गया। चे-मोङ् हिम्मत हारनेवाला आदमी नहीं था। वह अपने चार मित्रोंके साथ आगे बढ़ा और सिन्धु पार हो तीर्थस्थानोंका दर्शन करते कपिलवस्तु होते कुसुमपुर (पटना) गया। कुसुमपुरमें उसने रेवत नामके एक बड़े ब्राह्मण पण्डितसे भेंट की। रेवत बौद्ध था। राजा (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य?) उसको बहुत मानता था। उसने ३० फीट ऊँचा चाँदीका एक विशाल स्तूप बनवाया था। रेवतको बहुत आश्चर्य हुआ, जब उसने सुना, कि सुदूर चीनमें बौद्धधर्म बहुत फूला-फला है। उसने चीनी उपासकको महासांघिक-विनय, महापरिनिर्वाणसूत्र तथा दूसरे ग्रन्थ दिये। कुछ ही साल पहिले फा-शीन भी पटनेमें रेवतसे मिला था। रेवतने उसे भी पुस्तकें दी थीं। चे-मोङने ४२४ ई० में भारत छोड़ा। रास्तेमें उसके और तीन मित्र जाते रहे और वह तथा

उनका एक दोस्त दो ही जने ल्याङ:-चू लौटे। चे-मोङने महापरिनिर्वाणसूत्रका अनुवाद किया था, पर पीछे वह लुप्त हो गया। ४३४ ई० में वह सू-च्याङ गया, जहां ४३९में उसने अपना विवरण लिखा। वह ४५२ ई०में मर गया। चे-मोङ तथा उसके मित्रोंके अतिरिक्त दो और भिक्षु संस्कृत-पुस्तकोंकी खोजमें भारत गये थे।

(ख) काउ-चाङ(तू-फाङ)-निवासी सीः-फा-शेङ तीर्थयात्राके लिये बाहर जाकर उत्तरी लियाङ-वंशके शासन-कालमें लौटा। भूखे व्याघ्रके सामने अपना शरीर दान देकर जिस स्थानपर बोधिसत्वने दुष्कर कृत्य किया था, वहां बन चैत्यके सम्बन्धकी कथावाले सूत्रका उसने अनुवाद किया। दूसरे भिक्षु **'शीः-ताऊ-ताई'** हिमालयसे पश्चिम गया और वहां (कश्मीर)से विभाषा, कितने ही सूत्र और शास्त्र प्राप्त किये।

(ग) अनुवादकोंमें बुद्धवर्मा सम्भवतः एक भारतीय भिक्षु थे, जिन्होंने ताउ-ताई और दूसरे भिक्षुओंकी सहायतासे महाविभाषाका अनुवाद किया। ४३९ ई०के राजविप्लवके समय इस अनुवादके ६० ही बचाये जा सके, ४० अध्याय नष्ट हो गये और पीछे स्वेन्-चाङने पूरी महाविभाषाका अनुवाद किया।

(घ) इस समयके बहुत बड़े अनुवादक **धर्मक्षेम** एक भारतीय भिक्षु थे। वह भारतके मध्यमंडल (उत्तर-प्रदेश, बिहार) के रहनेवाल थे। उनका पिता ६ वर्षकी ही उम्रमें मर गया था। माँने अपने पुत्रको शिक्षाके लिये आचार्य धर्मयशके पास रख दिया। धर्मक्षेमने पहले हीनयान और फिर महायानके ग्रन्थोंको पढ़ा—महायानको पहले खंडन करनेकी इच्छासे पढ़ा—२० साल तक वह दोनों यानोंके ग्रन्थ पढ़ते रहे। स्थानीय राजासे कुछ वैमनस्य हो जानेपर वह देश छोड़ कश्मीर चले गये। कश्मीरमें कुछ समय रहनेके बाद वह पर्वतोंको पार करते मध्य-एसिया होते कू-चङ (कन्सू) पहुँचे। उस समय हूण राजा **चिन्-किन्-मोङश्-येन** ने ल्याङ-चाउ प्रदेशपर अधिकार करके अपनेको राजा घोषित किया था। उसने क्षेमकी प्रशंसा सुन अपने यहां बुलाकर उन्हें अपना गुरु बनाया और अपने राज्यमें बौद्धधर्मका उपदेश करने के लिये कहा। धर्मग्रन्थोंके चीनी-भाषामें अनुवाद करनेकी भी उसने प्रार्थना की। क्षेमने इस बातको मानकर तीन वर्षों तक चीनी-भाषा पढ़ी, फिर अनुवादका काम शुरू किया। कई आदमियोंकी सहायतासे उन्होंने **महानिर्वाणसूत्रका** अनुवाद किया, फिर हूणराजाकी प्रार्थना पर **महासन्निपातसूत्र, करुणापुण्डरीकसूत्र, बोधिसत्वचर्यानिर्देशकसूत्र, उपासकशीलसूत्र, सुवर्णप्रभाससूत्र** तथा दूसरे ग्रन्थोंके अनुवाद किये। **निर्वाण-सूत्रकी** प्रति उनके पास पूरी नहीं थी, इसलिये उसे प्राप्त करनेके लिये वह खोतन गये और अवशिष्ट भागको भी वहांसे कूचामें लाकर सात वर्षों (४१४-२१) में सारे अनुवादको समाप्त किया।

हूण राजा मोङ-शू-येन्का धर्म-प्रेम बहुत हल्का था, लड़ाई और लूट उसके लिये आवश्यक चीज थी। किसी लड़ाईमें भारी हानि खानी पड़ी, जिसपर बहुत गुस्सा होकर उसने हुक्म दिया, कि ५० वर्षके नीचेके सभी भिक्षु गृहस्थ बन जायँ, किन्तु पीछे उसने हुक्मको लौटा लिया। क्षेमकी प्रशंसा वेई सम्राट्ने सुनकर उनसे मिलना चाहा और तातार (आवार) राजाको भेजनेके लिये सन्देश भेजा। हूण राजा अपने प्रतिद्वन्द्वीके पास भिक्षुको भेजना नहीं चाहता था। क्षेम किसी राजाकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं थे। वह कू-चङ (कन्सू) को छोड़ पश्चिम तरफ चल पड़े। हूण राजाको सन्देह हुआ, कि वह वेई सम्राट्के पास जा रहे हैं। इसपर नाराज हो

उसने बधिक भेजके क्षेमको मरवा डाला—यह ४३४ ई० की बात है। राजा उसी साल बीमार होके मर गया और राजवंश भी छ वर्ष बाद ४३९ ई० में उच्छिन्न हो गया।

क्षेमके अनुवादित ग्रन्थोंमें एक **सुवर्णप्रभाससूत्र** भी था। यह ग्रन्थ मध्य-एशियाकी बहुत-सी पुरानी भाषाओंमें अनुवादित हुआ था। इसका मूल संस्कृत भी प्राप्य है। चीन और जापानमें इसका बहुत प्रचार है तथा इसपर कई टीकायें लिखी गई हैं। इसमें राजाके कर्तव्यके बारेमें कुछ वचन हैं, इसलिये जापानी राजपरिवारका इसकी ओर विशेष ध्यान गया था। जापानके उपराज शोतो-कूने ५८७ ई० में ओ-शा-कामें शित्तेन-जी मन्दिरको इसी सूत्रके सम्मानमें बनवाया तथा मन्दिरका नाम इसी सूत्रके एक अध्यायमें आये चारलोकपाल देवताओंके सम्बन्धसे रक्खा। पीछे जब जापान-सम्राट् शो-मूने राष्ट्र-कल्याणके लिये प्रत्येक प्रदेशमें एक-एक मन्दिर बनवाया, तो हरएकमें इस सूत्रकी एक-एक प्रति रखवाई।

धर्मक्षेमका एक सबसे महत्वपूर्ण कार्य है अश्वघोष-रचित **बुद्धचरितका** अनुवाद। इसमें बुद्धके जन्मसे निर्वाण-प्राप्ति तथा धातु-वितरण तकका वृतान्त लिखा है। यह चीनी-अनुवाद ४१४-८१ ई० में किया गया था।

अध्याय ५

दक्षिणी चीन

§ १–दक्षिणी चीनमें बौद्धधर्म

यह कह चुके हैं, कि उत्तरी चीन जहाँ अनेक हूण-जातिक उर्दों (सेनाओं) से पददलित हो रहा था, वहाँ दक्षिणी चीन एक था, यद्यपि राजवंश बदलते रहे। ४२० ई० में लिङ-यू नामक सेनापतिने नानकिङमें एक नये राजवंशकी स्थापना की, जिसका नाम लिङ-शुङ पड़ा। राजगद्दीपर बैठ ऊ-तीकी उपाधि ले उसने तीन वर्ष तक राज्य किया। भारत और सिंहलसे बहुतसे दूतमंडल उसके पास आये थे। उसकी बौद्धधर्मके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। ४५८ ई० में सम्राट् वेङ-ती के शासन-कालमें एक षड्यन्त्र पकड़ा गया, जिसमें एक बौद्धभिक्षु भी शामिल था। बौद्ध-विरोधी दरबारियोंको मौका मिल गया। सम्राट् मिङ-ती (४६५-७३ ई०) बड़ा क्रूर था, साथ ही भक्त बौद्ध भी। मिङ-तीने मन्त्रियोंके विरोध करनेपर भी होनान्में एक विशाल विहार बनवाया।

(१) भारतके तीर्थयात्री—

ल्यू-सुङ-राजवंश-कालमें (४२०-६९ ई०) में बौद्धधर्म और संस्कृतिका दक्षिणी चीनमें बहुत प्रसार हुआ। उस समय वहाँ २१ अनुवादक काम कर रहे थे। फा-शीन्के लौटनेके बाद तीर्थयात्राके लिये भारत जानेका अधिक रिवाज हो गया। ४२० ई० में २५ भिक्षु बौद्ध तीर्थोंके दर्शनके लिये वहाँ गये। इस दलका मुखिया फा-योङ था, जिसने अपना भारतीय नाम धर्माकर रक्खा था। फा-शीन्की यात्राने उसे प्रेरणा दी थी। रास्तेमें कश्मीरमें उसे **अवलोकितेश्वर महास्थानप्राप्त व्याकरणसूत्र** मिल गया। दल उत्तरी भारतके सभी महत्वपूर्ण स्थानोंका दर्शनकर दक्षिण-कान्तनमें पहुँचा। वहाँसे फिर वह नान-किङ् आया। ४२३ ई० में बुद्धजीव नामक भारतीय भिक्षु भी नानकिङ आये। वह कश्मीरमें विनयके अध्यापक थे। जब बुद्धजीव नानकिङ पहुँचे, तो फा-शीन् अभी जीवित था। बुद्धजीवने दूसरे विद्वानोंके साथ मिलकर सारे पञ्चवर्गविनयका अनुवाद किया।

(२) गुणवर्मा—

बुद्धजीवके अतिरिक्त दो और भिक्षु दक्षिणी चीनमें पहुँचे थे—गुणवर्मा और गुणभद्र। गुणवर्मा जातितः कश्मीरके राजवंशके क्षत्रिय थे, जिनके पिता हरिभद्र अत्याचारके लिये देशसे बाहर निकाल दिये गये थे। उनकी बुद्धि प्रखर थी। उन्होंने बौद्ध-साहित्यके सभी अंगोंका अध्ययन करके **त्रिपिटकाचार्य**की उपाधि प्राप्ति की थी। कश्मीरके राजाके अपुत्रक मर जानपर दरबारी गुणवर्माको राजा बनाना चाहते थे, क्योंकि वही सबसे नजदीकी

उत्तराधिकारी थे, किन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। ४०० ई० में सारे भारतका भ्रमण करते वह सिंहल पहुँचे और वहाँसे फिर जावा, जहाँ ब्राह्मणोंका धर्म अब भी समृद्ध अवस्थामें था। वहाँसे फिर वह नान्किङ गये, फिर कान्तनमें जाके वहाँके एक विहारमें ठहरे।

(३) अन्य अनुवादक—

बौद्धधर्मका चीनमें शीघ्रतासे प्रचार हुआ और उसीके अनुसार चीनका बाहरी जगत्से सम्बन्ध भी बढ़ा। सम्राट् ऊ-तीके समय कोरियासे चीनमें बौद्ध धार्मिक ग्रन्थोंके लिये—विशेषकर महापरिनिर्वाणसूत्रके लिये—दूतमंडल आया।

५०३ ई० में फूनान्-निवासी श्रामणेर मन्द्रसेन नान्किङमें आया। वहाँ उसने तीन ग्रन्थोंका अनुवाद किया। उसका चीनी-अक्षरोंसे परिचय नहीं था, इसलिये उसका अनुवाद बहुत त्रुटिपूर्ण है। बुद्धघोष ४२० ई० में सिंहल पहुँचे थे। उस समय उन्होंने विसुद्धिमग्गके नामसे एक विचारपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। चीनी विमुत्तिमग्ग बुद्धघोषके विसुद्धिमग्गसे बहुत-कुछ समानता रखता है। विमुत्तिमग्गका अनुवाद संघभद्रने किया था, जिनका समय ५०६-२० ई० है। इसी समय उपशून्य और परमार्थ नामके दो भारतीय भिक्षु आये। उनका कार्य अगले वंशके राजकालमें हुआ। ऊ-ती (५०२-४९ ई०) लियाङ राजवंशका संस्थापक था। इसीके समय चीनी त्रिपिटकका प्रथम संग्रह हुआ था।

(त्रिपिटकधानी) इसी कालमें फू-ता-सी (महात्मा) फू-ही (ज० ४९७–मृ०५६९) नामक उपासकने एक घूमनेवाली त्रिपिटकधानी बनाई। फू-ही का कहना था, कि इस घूमनेवाली पुस्तकधानीके घुमा देनेसे सारी पुस्तकोंके पढ़नेका फल होता है। कई शताब्दियों बाद तिब्बतमें इसे मानीके नामसे स्वीकार किया गया और आज कई जगह मन्त्रोंको ढोल जैसे खोलमें बन्द करके उन्हें हाथसे ही नहीं, बल्कि पनचक्कीकी तरह चलते पानीसे भी घुमाया जाता है।

(४) ग्रन्थोंका ध्वंस—

सम्राट् ऊ-ती का पुत्र युवान्-यी (५५२-५५) सम्राट् बना। यह स्वयं विद्वान् और बहुत विद्या-प्रेमी था। उसके अपने पुस्तकालयमें एक लाख ४० हजार पुस्तकें थीं; लेकिन जब उसके उत्तरी शत्रु वेई नगरद्वारपर पहुँच गये, तो उसने आग लगाकर सबको जला दिया।

(५) ध्वस्त ग्रन्थ—

राजनीतिक उथल-पुथलमें इस तरह बहुत-सी कृतियाँ नष्ट हो गईं। अनुवादकोंके जो इतने कम ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उसका एक कारण समय-समयपर होती यही ध्वंस-लीलायें थीं। इनमें अनुवादित ग्रन्थ ही नहीं स्वाहा हुए, बल्कि उसी समय फा-शीन, स्वेन्-चाङ तथा भारतीय विद्वानोंके हाथकी हजारों ताल-पोथियाँ भी भस्मावशेष हो गईं। चीनमें भीषण युद्ध और अग्नि-लीलायें इतनी अधिक होती रही हैं, कि वहाँसे मूल संस्कृत-ग्रन्थोंके प्राप्त होनेकी हमारी इच्छा पूर्ण होनेकी बहुत कम सम्भावना है, वैसे तकलामकानकी मरुभूमिकी भाँति के शुष्क या बालुकामय प्रदेशोंमें जमीनके नीचे दबे ध्वंसावशेषों, भग्नस्तूपों या बच रही पुरानी मूर्त्तियोंके भीतरसे कोई तालपत्र या भोजपत्रकी पोथी निकल आवे, तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतने भी अपने युद्धों और राजनीतिक उथल-पुथल तथा धर्मांधताके कारण अपनी पोथियों और सांस्कृतिक निधियोंको खोया है; किन्तु धरतीमाता उसपर भी बड़ी दयालु रही है, जिससे

कितनी ही खोई निधियाँ परदेशोंसे उसे प्राप्त हुई हैं। मध्य-एसियाके रेगिस्तानों, तुन-ह्वाङ की गुफाओं, गिल्गितके स्तूपावशेषोंमें अप्रत्याशित निधियाँ हमें प्राप्त हुई हैं। बोर्नियो और सेलीबीज जैसे सुदूरवर्ती अज्ञात द्वीपोंसे हमारे सांस्कृतिक चिह्न उपलब्ध हुए हैं। अभी हालमें (फरवरी १९४९) पश्चिमी बोर्नियोमें सबसके पास भगवान बुद्ध, उनके शिष्य और बोधिसत्वोंकी सात सोनेकी मूर्त्तियाँ मिली हैं। इन्हें सुवर्णशिल्पका अद्भुत नमूना बताया जाता है और वह बड़ी सुरक्षित अवस्थामें हैं। तिब्बतमें भी चीनकी ही भाँति हजारों संस्कृत-पोथियाँ गई थीं। दीपंकर श्रीज्ञान भारत-सीमाके भीतर तिब्बत जाते समय अपनी पुस्तकोंको हाथीपर लादकर ले गये थे। सभी पुस्तकें तो नहीं, किन्तु कितनी ही अनमोल पुस्तकोंको तिब्बतने हमें दिया। यदि भारतसे हमारी साहित्य-निधियाँ वहाँ गईं, तो वह आज हमारे काम भी आ रही हैं। चीनमें तुन-ह्वाङने हमारी बड़ी सहायता की, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन सबसे बड़ी सहायता तब होगी, हमारे इतिहासके विस्तृत प्रश्नोंपर तब प्रकाश पड़ेगा, जब इन तिब्बती-चीनी अनुवादोंको हम फिरसे भारतीय रूप देंगे। एक बार हमारे पंडित सैकड़ोंकी तादादमें बाहर जाकर वहाँके विद्वानोंकी सहायतासे शताब्दियों तक हमारे ग्रन्थोंका भाषान्तर करते रहे। अब वे मूलग्रन्थ हमारे यहाँसे लुप्त हो चुके हैं। हमारे सांस्कृतिक इतिहासके ज्ञानके लिये उनकी अवश्यकता उतनी ही है, जितनी पुरातत्वके उत्खनन और पुरालिपिके रहस्योद्घाटनकी। शताब्दियों नहीं, कुछ दशाब्दियों तक चीनी-तिब्बती विद्वानोंकी सहायतासे हमें उन ग्रन्थोंका पुनः भाषान्तर करना चाहिये।

सम्राट् युवान-ई की यह पुस्तकोंकी होली हमारे लिये अप्रिय वस्तु है। जब यह होली खेली गई, उस समय परमार्थ चीनमें थे।

(५) परमार्थ (४९८–५६९ ई०)—

परमार्थका जन्म उज्जैनके एक शिक्षित ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। उनका दूसरा नाम **कुलनाथ** भी था। ब्राह्मण और बौद्धशास्त्रोंके गम्भीर अध्ययनके बाद उन्होंने विदेशके लिए प्रस्थान किया। साहस-यात्राका व्यसन उनके रक्तमें था। वह घूमते-घामते गुप्तोंकी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में पहुँचे और वहीं रह रहे थे। ५३९ ई० में संस्कृत-ग्रन्थों और किसी बड़े विद्वानकी खोजमें एक चीनी दूत-मंडल मगध पहुँचा। चीनी दूत-मंडलके साथ एक फू-नान (हिन्दचीन) का आदमी भी था। मगधराजने चीन-सम्राट्की आकांक्षाको स्वीकार करते बहुत-सी पुस्तकोंके साथ परमार्थको चीन जानेके लिये तैयार किया। वह समुद्र-मार्गसे (सम्भवतः सिंहल, जावा, हिन्दचीन होते) ५४६ ई० में नानकिङ पहुँचे। सम्राट्ने उनका बहुत स्वागत किया और पा-यून्के सुन्दर प्रासादको रहनेके लिये दे दिया। सम्राट् ऊ की बड़ी इच्छा थी, कि भारतीय ग्रन्थोंका अनुवाद तेजीसे हो, किन्तु वह राजनीतिक अशान्तिका समय था। बहुत समय नहीं बीता, कि युद्धके वातावरणने परमार्थको अपने ग्रन्थोंके साथ दक्षिण जानेको मजबूर किया। वहाँ फू-च्वेन् के श्रद्धालु प्रदेशपतिने उन्हें आश्रय ही नहीं दिया, बल्कि अनुवाद-कार्यके लिये कितने ही सहायक भी दिये। अभी वह (असंगकी) योगचर्या (सप्तदशभूमिशास्त्र) की पाँच ही भूमियोंका अनुवाद कर सके थे, कि क्रान्तिकी आग वहाँ भी पहुँच गयी—युद्ध, अकाल और उथल-पुथल यही चारों ओर दिखलाई पड़ती थी। इस उथल-पुथलमें चेन्-पा-सियेन् ने अपने प्रतिद्वन्द्वी विद्रोहीको मारकर

दक्षिण-चीनमें चेन्-वंशकी स्थापना की। परमार्थ राजधानी नान्किङमें चले आये और वहाँ अपने शिष्यों-सहित चेन्-क्वाङ-शू नामक विहारमें रहने लगे। सुवर्णप्रभाससूत्रको ५५७ ई० में उन्होंने समाप्त किया। उसी साल नया राजवंश स्थापित हुआ था। अगले साल परमार्थ कई जगहोंमें गये। अभी भी देशकी अवस्था पूर्णतया शान्त नहीं थी। परमार्थ बर्मा जाना चाहते थे, लेकिन उनके भिक्षु गृहस्थ शिष्योंका स्नेह और आग्रह इतना था, कि वह चीन नहीं छोड़ सके। वह नान्-यू-ये में ठहरकर अपने शिष्योंकी सहायतासे पुराने अनुवादोंका संशोधन करने लगे। ह्वेन-ती के शासन-कालमें कुछ भिक्षु एवं नागरिकोंने परमार्थसे नान्किङमें चलकर उपदेश करने के लिये कहा। परमार्थ कई साल तक वहाँ 'सम्परग्रिहसूत्र' का उपदेश करते रहे। परमार्थको जन्मभूमि बार-बार याद आ रही थी। वह जहाजपर चढ़कर किसी बन्दरगाहपर उतरे। वहाँ वालोंके आग्रहपर फिर कुछ दिनों रुक जाना पड़ा। जब वह दूसरे जहाजपर चढ़कर आगे चले, तो हवा प्रतिकूल हो गई और वह कान्तनके पास उतरनेके लिये मजबूर हुए। स्थानीय प्रदेशपतिके आग्रहसे वह कितने ही समय तक वहाँके भिक्षुओंको 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'महार्थ धर्मपर्याय' शास्त्रका उपदेश देते रहे। प्रदेशपतिके मरनेपर उसके उत्तराधिकारीने पूर्ववत् सहायता जारी रखनी चाही, किन्तु परमार्थ अपनेको असफल अनुभव करने लगे थे। दुनियाकी अशान्तिसे उनका अन्तस्तल अशान्त हो उठा था। आत्महत्या करके वह अपना जीवन समाप्त कर देना चाहते थे, किन्तु समयपर पता लग जानेसे उन्हें रोक लिया गया। प्रदेशपतिने फिर ऐसा न हो, इसके लिये उनकी देखभालके निमित्त आदमी नियुक्त कर दिया। सारी सावधानी और शिष्योंकी सेवाके होते भी परमार्थका स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ और वह ५६९ ई० में ७१ वर्षकी आयुमें मर गये। कान्तनमें उनके भस्मपर उनके शिष्योंने स्तूप बनाया और फिर अपने गुरुकी कृतियोंको लेकर वह दक्षिण-चीनसे उत्तरी चीनकी ओर चले गये।

परमार्थ कुमारजीवके बाद सबसे बड़े भारतीय अनुवादक थे। लियाङ-वंश (५४६-५७) के शासन-कालमें परमार्थने १९ ग्रन्थोंका अनुवाद किया था और चेन्-शासन (५५७-६९) में ५१। उनके ७० ग्रन्थोंमें आज ३२ ही उपलभ्य हैं। जापानी विद्वान् आचार्य तका[१]-कू-सू ने परमार्थके कार्योंका मूल्यांकन करते हुये लिखा है—

"लियाङ-वंश (५४८-५७) के पतनोन्मुख काल और चेन-वंश (५५७-६९) के आरम्भिक कालमें भारतीय अतिथि (परमार्थ) ने जो साहित्य-साधना और धार्मिक उत्साह प्रदर्शित किया था, उसकी ओर चीनी बौद्ध बहुत आकृष्ट जान पड़ते थे। वह उस समयके सभी राजनीतिक उपद्रवोंके होते भी इस नये उपदेष्टाका उपदेश सुननेके लिये भारी संख्यामें इकट्ठा होते थे। उनके उपदेश अनेक विषयोंपर होते थे, किन्तु सबमें बौद्धविज्ञानवाद, वसुबन्धु और असंगके सिद्धान्तोंपर बहुत जोर दिया जाता था। जान पड़ता है, वह इन सिद्धान्तोंके प्रति लोकरुचि पैदा करनेमें सफल हुए थे, क्योंकि एक बार उनके विज्ञानवादके प्रचारको जातिके लिये खतरनाक समझा गया था। शान्ति-उपदेशकके नाते वह अपने कार्यसे सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने एक बार अपने शिष्योंसे कहा था: 'मैं जिन विचारोंको लेकर यहाँ आया था, वह कभी पूरे नहीं होंगे। वर्तमानमें धर्मकी समृद्धि देखनेकी आशा हमें छोड़ देनी चाहिये।' किन्तु उनका अनुवाद-कार्य

[१]Takakusu, Pramarth's Life of Vasubandhu and the date of Vasubandhu JRAS. 1905 pp. 33.

अद्भुत और हर प्रकारसे सन्तोषप्रद था। विज्ञानवाद, वसुबन्धु और असंग, ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तथा उसकी टीका, साथ ही अश्वघोष, वसुमित्र, नागार्जुन और गुणमतिके कितने ही ग्रन्थों-जैसी बहुत-सी महत्वपूर्ण कृतियोंको(अनुवाद-रूपमें)सुरक्षित रखनेके लिये हम परमार्थके बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं। हम सबसे अधिक मूल्यवान् समझते हैं उनके रचे 'वसुबन्धु-चरित'को, जो कई अज्ञात बातोंका पता देता है और बौद्धधर्म, सांख्य-शास्त्र और साधारण भारतीय साहित्यके इतिहासके एक अन्धकारपूर्ण युगपर अप्रत्याशित रूपसे प्रकाश डालता है।"

परमार्थने **महायानश्रद्धोत्पादका** भी अनुवाद किया है, जिसे भ्रमसे अश्वघोषकी कृति समझा जाता है। इसमें भूततथता (अनात्मवाद या शून्यवाद) और आलय-विज्ञान (योगाचार)की भी व्याख्या है। परमार्थने भूततथता तथा विज्ञानवादका चीनमें पहिले-पहल प्रचार किया; इसका आधार वहीं महायानश्रद्धोत्पाद था। अपने 'वसुबन्धु-चरित' में परमार्थने वसुबन्धुके बड़े भाई असंगके बारेमें भी कितनी ही ज्ञातव्य बातें दी हैं। जो बातें उन्होंने बतलायी हैं, उनका संक्षेप निम्न प्रकार है:—

(असंग-वसुबन्धु)—"असंग और वसुबन्धु पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण-परिवारमें पैदा हुए थे। असंग तीन भाइयोंमें सबसे जेठे थे, फिर वसुबन्धु तथा सबसे छोटे विरञ्चिवत्स थे। विरञ्चिने कोई नयी विचारधारा नहीं चलाई। वह हीनयान (सर्वास्तिवाद) के एक अच्छे साधक-भर बनकर रह गये। असंग पहिले महीशासकनिकायमें भिक्षु बने थे, जो कि प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंमेंसे है, लेकिन पीछे वह महायानी हो गये और महायानके सम्बन्ध में कई गम्भीर ग्रन्थोंके प्रणेता बने। असंगको तुषित देवलोकमें रहनेवाले भावी बुद्ध मैत्रेयसे योगाचारदर्शन प्राप्त करनेकी किम्बदन्ती प्रसिद्ध है और असंगके कुछ ग्रन्थोंको मैत्रेयका बनाया बतलाया जाता है। यद्यपि योगाचारदर्शनका चीनमें पूरा प्रचार स्वेन्-चाङ् ने किया, किन्तु इस कार्यके आरम्भक परमार्थ थे। वसुबन्धु विक्रमादित्य और उसके पुत्रके समकालीन थे। उन्होंने सर्वास्तिवादनिकायमें भिक्षुदीक्षा ले आचार्य बुद्धमित्रके पास शिक्षा पायी थी। अपने निकायके त्रिपिटकका अध्ययन करनेके बाद उन्होंने सौत्रान्तिक सिद्धान्तोंका भी अध्ययन किया। सौत्रान्तिकोंकी कितनी ही बातोंको उन्होंने अधिक युक्तियुक्त समझा था। उन्होंने दोनों निकायोंके सिद्धान्तोंको मिलाकर एक ग्रन्थ लिखनेका विचार किया और इसके लिये अधिक अध्ययनके विचारसे वह कश्मीर गये। वहां उन्होंने वेश बदलकर आचार्य संघभद्रसे कई सालों तक सर्वास्तिवादी दर्शनका अध्ययन किया। संघभद्रके गुरु स्कंदिलको इस असाधारण मेधावी विद्यार्थीपर सन्देह हुआ और उन्होंने पता लगा लिया कि वह वसुबन्धु हैं। स्कंदिलने किसी सम्प्रदायवादीके कोपका भाजन न बननेके लिये चुपकेसे बुलाकर वसुबन्धुको आगाह कर दिया। वसुबन्धु पेशावर लौट गये और वहां उन्होंने अभिधर्म और अभिधर्ममहाविभाषाके विचारोंको संक्षिप्तकर ६०० कारिकाओंमें अभिधर्मकोश ग्रन्थ लिखा। पहिले लोग उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए, किन्तु स्कंदिलके सुझावपर वसुबन्धुने सात कारिकाओं और उनकी व्याख्याके साथ एक और अध्याय जोड़ दिया। वसुबन्धु पीछे अयोध्या गये। वहांसे लौटनेके बाद वह असंगके प्रभावमें आकर महायानी बने और उन्होंने महायानके सम्बन्धमें कई ग्रन्थ लिखे। वह ८० वर्षकी उम्रमें मरे।"

वसुबन्धुने २८ ग्रन्थ लिखे, जिनमें १९ महायानसे सम्बन्ध रखते हैं। अभिधर्मकोश बौद्ध-दर्शन जाननेके लिये सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ है। एक समय सारे बौद्ध-जगतमें इसका पठन-पाठन होता

था। वाणभट्टने भी अपने 'हर्ष-चरित'में "शुकैरपि कोशमुपदिशद्भिः" कहते हुए अभिधर्मकोशकी सर्वप्रियताको स्वीकार किया है। वसुबन्धुने तर्कशास्त्रपर **वादविधान** नामकी कोई पुस्तक लिखी थी, जिसका अनुवाद अब केवल चीनी-भाषामें उपलभ्य है। कोशका अनुवाद करके परमार्थने चीनमें बौद्ध-दर्शनके इस सुव्यवस्थित ग्रन्थके पठन-पाठनका रास्ता साफ कर दिया।

(६) उपशून्य—

परमार्थके समकालीन भारतीय भिक्षु उपशून्य थे, जिन्होंने लियाङ और चेन वंशोंके समयमें नानकिङमें और पूर्वी वेईकी राजधानी (५३४-५०) ये: में रहते कितने ही ग्रन्थोंका अनुवाद किया। उपशून्य उज्जैनके राजाके लड़के थे। वह उत्तर-पश्चिमके रास्ते चीन आये। पहिले ये: में रहकर ५३८-४० में उन्होंने तीन ग्रन्थोंका अनुवाद किया। ५४० ई० में वे नानकिङ चले गये और वहां रहते। एक ग्रन्थका अनुवाद लियाङ-कालमें किया। चेन-कालमें भी वह काम करते रहे।

फूनान्‌के भिक्षु सुभूति भी इसी समय नानकिंङ आये थे और उन्होंने भी एक ग्रन्थका अनुवाद किया था, पर वह पीछे लुप्त हो गया।

§२. उत्तरी ची-वंश

पूर्वी वेई-वंशके ध्वंसके बाद ५५० ई० में उत्तरी ची-वंशकी स्थापना हुई। इसकी राजधानी ये: थी, जहांसे वह २७ वर्ष (५५०-७७ ई०) तक राज्य करते रहे। इस वंशका प्रथम सम्राट् वेन्-हुवेन् (५५०-५८ ई०) था। उस समय बौद्धों और तावबादियोंमें घोर विवाद चल रहा था। सम्राट्ने दोनों पक्षोंको बुलाकर उनके विवादको सुना और अन्तमें बौद्धोंके पक्षमें निर्णय देकर तावबादियोंको बौद्ध-भिक्षु बननेके लिये मजबूर किया। चार तावियोंने इसे नहीं स्वीकार किया, जिसके लिये उन्हें प्राणदंड दिया गया। इसी समय भारतीय भिक्षु नरेन्द्रयश चीन आये।

नरेन्द्रयश (५१८-८९ ई०)—

उद्यान (स्वात)में नरेन्द्रयशका जन्म हुआ था। भिक्षु बननेके बाद वह विद्याध्ययन करते भारत और लंकाके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूमते रहे। कई वर्ष बाद स्वदेश आकर हमारे "विस्मृतयात्री"का विचार चीन जानेका हुआ। अपने पांच साथियोंके साथ वह दुर्गम तुषार पथकी ओर चले। कितने ही पर्वतों एवं रेगिस्तानोंको पारकर उत्तरकी ओर चलते-चलते वह ज्वान-ज्वान (अवार) लोगोंके देशमें पहुँचे। उस समय अवारों और तुर्कोंमें लड़ाई हो रही थी, इसलिये चीन जानेका विचार छोड़ नरेन्द्रयश अपने साथियों-सहित अवारोंमें रह गये। ५५२-५५के बीच तुर्कोंने अवारोंको पूरी तरह हरा दिया—इसके बारेमें हम कुछ पहिले कह चुके हैं। नरेन्द्रयश इस बीचमें लड़ाईके स्थानोंसे बचते तुर्क लोगोंके देशसे ७०००ली उत्तर नी (नील) नामके महासरोवरपर पहुँचे। विद्वानोंका मत है कि यह सरोवर सिबेरियाका बैकाल था। धन्य भारतीय घुमक्कड़! तुर्कोंके पूर्ण विजयके बाद ५५६ ई० में नरेन्द्रयश उत्तरी ची की राजधानी ये: में पहुँचे, और वहां तियेन्-पिङ विहारमें रहने लगे। नरेन्द्रयशका साधारण जनता एवं भिक्षुओंमें बड़ा सम्मान था। उन्होंने सात ग्रन्थोंका अनुवाद किया। ५७७ ई०में बौद्धधर्म फिर राजकीय कोपका भाजन हुआ।

§३. उत्तरी-च्यू

१०० वर्षोंके बाद **यु-वान्** परिवारने छाङ-अन् में उत्तरी **च्यू** (५५७-८१) के नामसे एक राजवंशकी स्थापना की और उसने उत्तरी **ची**-वंशको **येः** में नष्ट कर दिया। प्रथम **च्यू**-सम्राट्के समय ज्ञानभद्र, जिनयश, जिनगुप्त और यशोगुप्त नामके चार भारतीय भिक्षु **छङ-अन्** पहुँचे।

(१) ज्ञानभद्र—यह **पो-त्यु-मो** (पद्मा!) प्रदेशके निवासी थे। ज्ञानभद्रने विनयपिटकका विशेष रूपसे अध्ययन किया था। उन्होंने पञ्चविद्याशास्त्रका अनुवाद किया, जिसके पांच भाग थे—शब्दशास्त्र, भैषज्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र, मंत्र (नीति) शास्त्र और मुद्राशास्त्र। ये ग्रन्थ अब लभ्य नहीं हैं।

(२) उपाध्याय यश—मगध-निवासी थे। उन्होंने सम्राट् वू (५६१-७८) के समय जिनगुप्त और यशोगुप्तकी सहायतासे ६ ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें **महामेघ** और **अभिसमयसूत्र** अब भी उपलभ्य हैं।

(३) यशोगुप्त—**यू-पो**के निवासी थे। उनके अनुवादित तीन ग्रन्थोंमें एक बच रहा है।

(४) जिनगुप्तका काम चारोंमें सबसे अधिक महत्त्वका था। वह अपने साथियोंमें ही नहीं, बल्कि अपने समयके चीनके सभी भारतीय भिक्षुओंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। गन्धारके पुरुष-पुर (पेशावर) नगरमें उनका जन्म कंबु-क्षत्रिय-कुलमें हुआ था। उनके पिताका नाम वज्रसार था। सात वर्षकी अवस्थामें ही वह पिता-माताकी आज्ञासे श्रामणेर हो गये। उनके गुरुओंमें जिनभद्र और जिनयश अपने जीवनके अन्त तक उनके साथ रहे। जिनगुप्त २३ वर्षके थे, जब ९ दूसरे भिक्षुओंके साथ चीनके लिये रवाना हुए, जिनमें ६ रास्तेमें मर गये और अपनेको लेकर चार जने बहुत कष्ट उठाते चीन पहुँचे। प्रथम **च्यू**-सम्राट **मिङने** भारतीय भिक्षुओंके लिये एक नया विहर बनवा दिया। जिनगुप्तने अनुवाद-कार्य शुरू कर दिया। तीसरे सम्राट् ऊ (५६१-७७) ने तावबाद और बौद्धधर्म दोनोंको बन्द करनेकी घोषणा निकाली। मूर्तियों और पुस्तकें नष्ट कर दी गई। भिक्षुओंको गृहस्थ बननेके लिये मजबूर किया गया। जिनगुप्त तथा दूसरे भारतीय भिक्षु चीन छोड़ पश्चिममें तुर्कोंके देशमें चले गये। सम्राट् **ऊ**-तीने ५७७ ई० में येः को भी जीत लिया और उत्तरी ची-वंश नष्ट हो गया। वहांसे नरेन्द्रयश और उनके साथियोंको भी भागना पड़ा। थोड़े समय तक तो मालूम हुआ, कि बौद्धधर्मका चिह्न भी चीनमें नहीं रहेगा।

जिनगुप्त और उनके साथी तुर्क-राज्यमें शरणार्थी हुए थे। कागान (खान) तो-पोने उनका स्वागत किया। इससे कुछ पहिले **तो-पो-कागान्** (५६९-८० ई०) **ची**-राज्यसे **हुई-लिन्** नामक भिक्षुको बन्दी बनाकर ले गया था। **हुइने** तुर्कोंमें बौद्धधर्मका प्रचार किया। तो-पो कागान श्रद्धालु बौद्ध हो गया। वह अफसोस करता था, कि उसका जन्म बुद्धकी जन्मभूमिमें नहीं हुआ। कगान्ने जिनगुप्त और उनके साथियोंको बड़े आरामसे रक्खा। थोड़े समय बाद जिनगुप्तके साथी तुर्क देशमें ही मर गये। इसी समय भारतसे लौटे कुछ चीनी वहाँ आये। ये लोग ५७५ ई० में येः के ची-सम्राट द्वारा संस्कृत-ग्रन्थोंको लानेके लिये भारत भेजे गये थे। लौटते समय उन्हें पता लगा, कि चीनमें बौद्धोंपर बहुत अत्याचार हो रहा है। वे देश न लौटकर तुर्कोंमें ही रह गये। थोड़े समय बाद उन्हें जिनगुप्तका पता लगा। उनकी प्रार्थनापर जिनगुप्तने २६० छोटी-बड़ी पुस्तकोंके नामोंका अनुवाद किया। इसी बीच चीनमें भी नया **परिवर्तन हुआ, जो इतिहासके लिये भी भारी परिवर्तन था।**

अध्याय ६

सुइ-वंश (५८१-६१८ ई०)

§१. चीनका एकीकरण

सुइ-वंश द्वारा कई शताब्दियोंके बाद चीनमें फिर एकता स्थापित हुई, जिसका श्रेय चाउ-वंशके एक अधिकारी याङ-ची-येन् (५४१-६०४) को है। उसने ५८१ ई० में तरुण सम्राट्को हटाकर सुइ-वंशकी स्थापना की। कुछ वर्ष बद ५८७ ई० में उसने अन्तिम लियाङ-सम्राटको भी सिंहासन-वंचित किया, फिर ५८९ ई० में चेन्-राजवंशकी भी वही गति की। अब उसका राज्य महादीवारसे दक्षिणमें फू-कियाङ तक फैला था। अनाम ५४१ ई० से विद्रोही था, किन्तु ६०३में उसने भी सिर नवाया। ६०५ में चीनी सेनाने चम्पा राजधानीका ध्वंस किया और इस प्रकार राज-सीमा और दक्षिण बढ़ी।

इस राजवंशने शेरशाहके वंशकी तरह बहुत थोड़े समय ५८१–६१८ ई० तक ही शासन किया, लेकिन इसने चीनके उस वैभवकी आधारशिला रक्खी, जिसका लाभ उसके उत्तराधिकारी थाङ-वंशने उठाया। **याङ-ची-येन्** अपनी विजय-यात्राओं और चीनके एकीकरणका कार्य उस समय-से थोड़े ही पहिले कर रहा था, जब कि हर्षवर्द्धन शिलादित्य भारतके एकीकरणमें संलग्न था। **याङ-ची-येन**के वंशका प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि उसका उपयोग अगले राजवंशने किया, लेकिन वही बात हर्षवर्द्धनके बारेमें नहीं कही जा सकती।

§ २–तुर्कोंमें विभाजन

सुइ-वंशका दूसरा सम्राट् **याङ-क्वाङ** (जन्म ५६९, राज्य ६०५-१८) था। इसके पिताने चीनके एकीकरणसे पहिले ही ५८२ ई० में मध्य-एसियाकी ओर ध्यान दिया था। उस समय तुर्कोंमें आपसमें वैमनस्य चल रहा था। याङ-ची-यान्ने तुर्कोंके आपसी झगड़ेको और प्रोत्साहन दिया। पहिले उसने पश्चिमी तुर्कोंको बढ़ावा दिया, किन्तु जब उनके कागान तर्दू (दालोव्यान) ने आसानीसे पूर्वी तुर्कोंको दबा दिया, तो सुइ-सम्राट्को खतरा मालूम होने लगा और उसने अपने वचनको ताकपर रख तर्दूको पूर्वी तुर्क कागानके जीवित रहने तक आगे नहीं बढ़ने दिया। तर्दूने अब पूर्वी तुर्कोंको पराजित करके मंगोलियामें भी अपनी प्रधानता स्थापित कर ली। ६०१ ई० में छाङ-अन् पर भी उसने खतरा पैदा कर दिया और ओर्दुसमें बसती पूर्वी तुर्कोंकी एक शाखापर आक्रमण किया। चीनके सौभाग्यसे ये पश्चिमी घुमन्तू आपसमें ही लड़ पड़े और ६०३ में तर्दूकी शक्ति खतम हो गयी। चीनके चतुर दूत **पेइ-चू** (मृ ६३०) ने तर्दूके बँटे साम्राज्यके पश्चिमी भागका समर्थन किया, जिसकी राजधानी ताशकन्द थी। (पेइने पीछे पश्चिमी प्रदेशोंके सम्बन्धमें एक सचित्र विवरण दरबारमें भेजा और चीन तथा दूसरे राज्योंके

बीच व्यापारिक सम्बन्धको बढ़ाया।) बँटे तुर्क-साम्राज्यके पूर्वी भागकी राजधानी **इली** तटपर थी। इलीवाले तुर्कोंने परिणामको सोच अपनी महत्त्वाकांक्षायें छोड़ चीनकी अधीनता स्वीकार करने ही को अच्छा समझा। पूर्वी तुर्कोंके सरदारोंने अपने पश्चिमी भाइयोंके डरसे चीनसे सहायता माँगी और अपनी बड़े सामरिक महत्वकी हरितावलिका हामीको फिरसे चीनके हाथमें सौंप दिया। उसी साल **तेई-चूने कन्सू**के पासवाले मंगोल-भाषा-भाषी **तू-यू-हुन्**को तिब्बतमें खदेड़ दिया।

§३–सुइ-दिग्विजय

सुइ-सम्राट्की विजयाकांक्षा इतनेसे ही पूरी नहीं हुई। थाइ-वान् (फारमोसा) को चीनी लोग ईसापूर्व १ ली शताब्दीसे ही जानते थे और २३० ई० में वहाँ पहुँच भी चुके थे, किन्तु कितने ही समयसे थाइ-वान् स्वतन्त्र हो गया था। ६१० में क्वा-तुङसे एक बड़ी सेनाने थाइ-वानपर आक्रमण किया और कई हजार स्त्री-पुरुषोंको वहाँसे बन्दी बनाकर लाई। ६०७ में **याङ-क्वाङने** व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करनके लिये हिन्दी-द्वीप-समूहोंमें दूत भेजा। यह मंडल वहाँके दूतके साथ ६१० ई० में चीन लौटा। उत्तरमें सुइ-वंशको उतनी सफलता नहीं हुई थी। आजकलके कोरियाके दोतिहाई तथा मंचूरियाके कुछ भागमें कोकुली राज्यका शासन था। ५९८-६१४ के बीच सुइ-सम्राट्ने वहाँ कई अभियान भेजे, पर भारी क्षति उठाकर लौटना पड़ा। सुइकी धाक अपनी सैनिक सफलताके कारण जमी हुई थी। दरबारमें दूर-दूर देशोंके राजदूत रहा करते थे, जिनके ऊपर सैनिक विजयों तथा भेंट लेकर देशदेशान्तरसे आये राजप्रतिनिधियोंको देखकर धाक जमनी ही थी—जापानने ६००, ६०७ ६०९, ६१० ई० में भेंट भेजी। ६०९ ई० में दूसरे बहुतसे देशोंने उपायन भेजे। चीनी राजदूत भारत और तुर्किस्तानके राजदरबारोंमें गये। वहाँसे सम्राट्के पास बाघंबर, सिंहचर्म्म, स्फटिक-चषक, नर्त्तकियाँ, बौद्धधर्म-ग्रन्थ और दूसरी चीजें भेंटमें आयीं। हान्के समयसे लुप्त चीनकी साम्राज्य-लक्ष्मी पूरी चार शताब्दियोंके बाद फिर लौटने लगी।

§४. राज्य-प्रबंध

सुइ-वंशने बाहरी दिग्विजयों तक ही अपनी कार्यपरायणताको सीमित नहीं रक्खा। उसने देशके प्रबन्धमें कई सुधार किये। अकालसे रक्षा करनेके लिये पश्चिमी राजधानी छाङ-अन्के पास चार और पूर्वी राजधानी लोयाङके पास दो अन्नभंडार स्थापित किये। महादीवारके किनारे-किनारे सारी सीमाको दुर्गबद्ध किया। एक लेखकके अनुसार ६०७ के ग्रीष्मके १० दिनोंमें दस लाख कमकरोंमें से आधे मर गये। लेकिन ५७४ से बौद्धोंपर जो अत्या-चार हो रहा था, वह बन्द हुआ और बौद्धधर्म फिर सरकारी कृपाका पात्र बना।

(१) ठाट-बाट—

सुइ-सम्राटोंको ठाट-बाटका बड़ा शौक था। वह ह्वाङहो नदीके किनारेकी अद्‌भुत प्रासादों और उद्यानोंसे सजी दो राजधानियोंके पुनर्निर्माणसे उसे पूर्ण नहीं समझते थे और एक तीसरी राजधानी भी याङ-चा-ऊमें यांग्सी नदीकी एक शाखापर अन्तर्देशिक बन्दरगाहके रूपमें बनाना चाहते थे। उन्होंने पूर्वी चीनमें नहरोंका जाल बिछाकर नगरोंके बीच यातायात स्थापित किया। इनमें से कुछ चीजें केवल वैभव दिखलानेके लिये की गयी थीं, इसमें सन्देह नहीं।

साथ ही सारे देशको एक शासनके अधीन रख भीतरी-बाहरी शत्रुओंसे देशको उपद्रव-रहित रखनेके लिये उनकी अवश्यकता भी थी। युद्धके लिये बढ़ाये गये सैन्य-बलको शान्तिके समय सन्तुष्ट रखना बहुत मुश्किल काम है। इन सैनिकोंको काम देनेके लिये भी कितनी ही नहरोंके बनानेके काम हाथमें लिये गये। एक चीनी अमात्यने १६०० ई० में सुइके द्वितीय सम्राट्के बारेमें लिखा है—

"उसने अपने राजवंशकी आयुके कुछ वर्ष कम कर दिये, लेकिन आनेवाली दसियों हजार पीढ़ियोंको लाभान्वित किया।"

(२) नहर-निर्माण—

नहरोंका बनानेका काम जो ५४८ में आरम्भ हुआ, वह वस्तुतः आठवीं शताब्दी तक समाप्त नहीं हुआ ; तो भी ६१८ ई० तक उत्तरसे दक्षिणमें हृइ नदी और हाङ-चाउके बीच एवं पूरब-पश्चिममें छाङ-अन् और याङ-चाउ के बीच नहरोंका यातायात शुरू हो गया था। सुङ-कालीन एक इतिहासकारने इन नहरोंके बारेमें लिखा था[१]—

"**शङ-यान**से यांग्सी नदी तक नहरकी जलप्रणाली ४० पग चौड़ी थी। नहरके दोनों किनारों पर सड़कें बनी थीं, जिनके किनारे सफेदे और बीरीके वृक्ष लगे थे। पूर्वी राजधानी लोयाङसे च्याङ-तू (आधुनिक याङ-चाउ) तक रास्ता वृक्ष-छायासे ढँका था। प्रत्येक दो चौकियोंपर एक-एक राज-विश्रामागार बने थे, राजधानी छाङ-अन्से **च्यांग-तू** तक ४० से अधिक ऐसे प्रासाद थे।"

इन नहरोंके एक भागके बनानेके लिये ३६ लाख मजूर एकत्रित किये गये थे। आसपासके इलाकेके प्रत्येक परिवारको उनकी सहायता और भोजनके लिये एक लड़के, एक औरत और एक बूढ़ेको देना पड़ता था। सब मिलाकर ५४ लाख ३० हजार आदमी नहर बनानेके काममें लगे हुए थे।

सुइ-राजवंशको इंजीनियरीके इस विशाल और अद्भुत कार्यसे लाभ उठानेका समय नहीं मिला। इन नहरोंसे पीछे कितना फायदा हुआ, इसका अन्दाजा इसीसे लग सकता है, कि ७३५ ई० के नजदीकके केवल तीन वर्षोंमें ७० लाख टन अनाज इन नहरों द्वारा ढोया गया। आठवीं सदीके अन्त तक यह इलाका नहरोंके कारण इतना समृद्ध हो गया था, कि सरकारके भूमि-करका $\frac{9}{10}$ भाग यहाँसे आता था। मनुष्यके श्रमको बेकार न जाने देकर उसका जो इतना उपयोग हुआ, उसने आनेवाली सन्तानोंको मालामाल कर दिया। यह बहुत बड़ा काम था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह काम वहाँ कोड़ोंकी मार और गलेके तौकके बलपर कराया गया था। लोगोंने उससे कम आँसू नहीं बहाया होगा, जितना कि इन नहरोंके जारी होनेके पहिले क्षणमें बहा।

सुइ-वंशके कालमें चारों ओर काम या विजय-यात्राकी हलचल दिखाई पड़ती थी। कोरियामें कई बार सम्राट्की सेनाने हार खायी, जिससे राज्यकी धाक जाती रही, और उधर पूर्वी तुर्कोंके खानने भी चीनके उत्तरी भागपर हमला कर दिया। उन्होंने बहुतसे हरेभरे प्रदेशोंको उजाड़ दिया। **याङ-क्वाङ** रोकनेके लिये आगे बढ़ा, किन्तु वह पश्चिमोत्तर प्रदेशके येङ-मेङ स्थानपर ६१५ ई०

---

[१]Chi : Key Economic areas in Chinese History, P. 122

में घिर गया। देशमें विद्रोह आरम्भ हो गया। इसी समय तुर्क और थाङ दोनों राजवंशोंके सम्बन्धी महासामन्त **लीने** विद्रोह कर दिया। सुइ-वंशको अब कोई बचानेवाला नहीं रह गया। **ली-युवान** (ज०५६६; रा० ६१८-२६; मृ०६३५ ई०) और उसके पुत्र **ली-शीः-मिन्** (ज० ५९९; रा० ६२६–४९) ने ६१७ ई० में राजधानी छाङ-अनपर अधिकार कर लिया। ६२२ ई० तक ली पिता-पुत्रोंने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियोंको परास्त कर दिया। इस प्रकार सुइकी जगह थाङ-वंशने ली।

§५. सुइ-वंश और बौद्धधर्म

सुइ-वंश (५८१–६१८) ने सिर्फ दो पीढ़ी राज्य किया, किन्तु उसकी क्षमताको दो पीढ़ियों और २७ वर्षोंमें गिनना उचित नहीं होगा। सुइ-वंशका बौद्धधर्मके प्रति बहुत उदार और अच्छा बर्ताव था। चीनी बौद्धधर्मके इतिहासमें भी यह समय बहुत महत्वपूर्ण है। प्रथम सुइ सम्राट्ने बौद्ध या तावावादी मूर्त्तियों या मन्दिरोंके नष्ट-भ्रष्ट करनेको दंडनीय घोषित कर दिया, बौद्धधर्मके विरुद्ध निकली आज्ञायें हटा लीं। अब भारतसे आके तुर्कोंमें रुक गया चीनी बौद्ध दल छाङ-अन् पहुँचा। वह बहुत-सी संस्कृत-पुस्तकें साथ लाया था, लेकिन पिछले वंशके अत्याचारोंसे बहुत कम बौद्ध विद्वान् बच रहे थे।

(१) अनुवाद-कार्य—

पण्डितोंकी खोज करते नरेन्द्रयशपर नजर पड़ी। वह ५८२ ई० में छाङ-अन् बुलाये गये और उन्हें अनुवाद-कार्य सौंपा गया। **ता-हिङ-चन्** विहारमें रहते उन्होंने आठ ग्रन्थोंका अनुवाद किया। नरेन्द्रयशके अनुवादोंमें दोष देखा गया, फिर लोगोंकी दृष्टि जिनगुप्तकी ओर गई, जो दस वर्षसे तुर्कोंमें बैठे हुए थे। उन्हें बुलाकर सम्राट्ने ता-हिङ-चन्-में वास दे अनुवाद-समितिका अध्यक्ष बना दिया। ब्राह्मण धर्मगुप्त और दो चीनी भिक्षु जिनगुप्तकी सहायताके लिये दिये गये। इस अनुवादको फिरसे देखनेके लिये कुछ "महाशील भिक्षु" नियुक्त किये गये। फिर अनुवादकी भाषा और शैलीको पालिश करनेके लिये दो और भिक्षु नियुक्त हुए। जिनगुप्त और उनकी मंडलीने ३९ पुस्तकोंका अनुवाद किया, इनमें दो तो ७३० तक लुप्त हो चुकी थीं। इनके अतिरिक्त भिक्षु ज्ञानगत (?), ब्राह्मण **पी-शो-ता** और तीन दूसरे चीनी भिक्षुओंने ५९२ ई० तक भारतीय दर्शन और ज्योतिषके कई ग्रन्थोंके अनुवाद समाप्त किये। सुइ-वंशके राजकुमार तेङ ने जिनगुप्तको राजगुरु बनाया और उन्हें आदर्श भिक्षु माना। ७८ की आयुमें ६०० ई० में जिनगुप्तका देहान्त हुआ। भारतमें यही धर्मकीर्ति और वाणभट्टकी तरुणाईका समय था।

(२) अनुवादक

(क) गौतम धर्मज्ञान—ये जिनगुप्तके समकालीन थे तथा पूर्वी वेई-राजवंशके समयके प्रसिद्ध अनुवादक गौतम प्रज्ञारुचिके पुत्र और वाराणसीके उपासक थे। उत्तरी ची-वंशके विनाशके बाद ५७७ ई० में **च्यूने** धर्मज्ञानको योङ-सेन् जिलेका प्रधान अफसर बनाया था। प्रथम सुइ-सम्राट्ने ५८२ ई० में उन्हें राजधानीमें बुला लिया। इन्होंने सिर्फ एक ग्रन्थका अनुवाद किया। इस राजवंशके समयके मुख्य अनुवादक निम्न हैं:—

सुइ-वंश (५८१-६१८) छाङ्-अन

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ
गौतम धर्मज्ञान	५७७-८२	१
विनीतरुचि	५८२	२
नरेन्द्रयश	५८२-८५	६
जिनगुप्त	५८५-९०	३०
बोधिज्ञान		१
धर्मगुप्त	५९०-६१६	१०
फा-चिङ	५९४	१
ची-ई	५९७	२२
पाउ-कोइ	५९७	१

(ख) धर्मगुप्त—सुइ-वंशमें सबसे पीछे भिक्षु धर्मगुप्त आये। वह लो-लो (लाट या राढ़) देशके निवासी थे। मध्य-एसियाके रास्ते ५९० ई० में वह छाङ-अन्में पहुँचे। पहिले वह जिनगुप्तके सहायक थे, पर पीछे स्वतन्त्र अनुवाद करने लगे। उनके १८ ग्रन्थोंमें अब १० ही मिलते हैं। सुइ-वंशके ध्वंसके एक साल बाद (६१९ में) इनकी मृत्यु हुई।

सुइ-कालमें पाँच भारतीय अनुवादक चीन आये, जिनके ६० अनुवादित ग्रन्थोंमें ५८ अब भी प्राप्य हैं।

अध्याय ७

थाङ्-वंश (६१८-९०७)

§१. शक्ति-संचय

(१) आमुख—

थाङ्-काल सभी दृष्टियोंसे चीनका गुप्त-काल समझा जाता है। ११ अप्रैल ६१८ ई० में सुइ-सम्राट् याङ्-क्वाङ्की हत्या याङ्-चाउके भव्य प्रासादमें हुई थी। वही दिन थाङ्-वंशकी स्थापनाका माना जाता है। तबसे बारह साल कम तीन शताब्दियों तक इस वंशने चीनमें राज्य किया। अपने काल और कृतियाँ दोनोंमें यह वंश अद्वितीय था। थाङ्-वंशने सुइके कार्यको घर और बाहर सभी जगह आगे बढ़ाया, सारे देशमें शान्ति स्थापित की, जैसा कि उसी समय हर्षवर्द्धनने भारतके अधिक भागोंमें किया था। इस वंशने सरकारी तौरसे कन्फूसीके लिये मन्दिर बनवाकर अपने धार्मिक रुझानको बताया। थाङ्-वंशकी राजधानी छाङ्-अन् उस समय एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय नगरी-सी मालूम होती थी। वहाँ शामी (सिरियन), अरब, ईरानी, तातार, तिब्बती, कोरियन, जापानी, अनामी एवं दूसरे भिन्न-भिन्न देशों, धर्मों तथा जातियोंके लोग शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहते थे। इस समय नहरोंका और भी विस्तार हुआ, सुइके कठोर कानूनोंको नरम कर दिया गया। थाङ्-विधान ६५३ ई० में प्रकाशित हुआ, ७३७ ई० में उसमें और संशोधन किया गया। इस विधानका जापान और अनामके विधानोंपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है।

(२) दिग्विजयपर्व

(क) तुर्कोंपर विजय—राजके प्रथम वर्षमें तुर्कोंने आक्रमण करना चाहा। थाङ्-सेनाने उनका मुकाबला किया और ६३० ई० में तो वह उन्हें मंगोलिया तक खदेड़ ले गई। उनके दुश्मनोंसे मेल करके थाङ्-वंशने पूर्वी तुर्कोंको नतमस्तक किया। तबसे ६८२ ई० तक तुर्क छाङ्-अनके आधिपत्यको स्वीकार करते रहे। तुर्की कबीले थाङ्-सम्राट् ली-शीः-मिन्को महाकागान् (महाखान) कहते थे। आधुनिक मंगोलियामें पुरानी तुर्क राजधानीके ध्वंसावशेषसे प्रायः ३० मीलपर ओर्खोन नदीके दाहिने तटपर ७३२ ई० का मोगिल्यान (७१६-३३) का तुर्की शिला-लेख मिला है, जिसका कुछ अंश है—

"सर्दारोंके पुत्र चीनियोंके दास बन गये और उनकी शुद्ध कन्यायें लौड़ियाँ बनीं। तुर्की सर्दारोंने अपनी तुर्की उपाधियाँ छोड़ दीं और चीनसे चीनी उपाधियाँ लेने लगे। तुर्कोंने चीनी अधीनता स्वीकार की और ५० वर्ष तक वह अपनी सेवायें तथा शक्ति उसे देते रहे। जो आगे सूर्योदयकी ओर शक्तिशाली खानके राज्य तक धावा बोलते थे और पीछे (पश्चिम) की ओर

लौहद्वार[1] तक आक्रमण करते थे; उन्हीं तुर्कोंने चीनी खानको अपना साम्राज्य तथा अपनी मर्यादायें दे डालीं।"

ओर्खोन तक सर करके ली-शी:-मिन्ने पश्चिमी तुर्कों तथा दूसरे छोटे-छोटे राज्योंको ध्वस्त करनेके लिये ६४१-४८ ई० में अभियान भेज ईरान और भारतके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेका रास्ता साफ किया।

(३) बाहरसे सम्बन्ध--

(क) भोट-सम्राट्से ब्याह--भोट-सम्राट् स्रोङ-चन्-गम्-पो (६३०-९०)ने थाङ-सम्राट्के सामने सिर नहीं झुकाया। स्रोङ-चन्-गम्-पो की शक्ति ही थी, जो ६४१ ई० में भोट-सेनाके आक्रमणके बाद सम्राट् लीने राजकन्या ह्वेन्-चेङ (मृ० ६८०) को भोटराजके पास ब्याहके लिये भेजा। इससे पहिले ही नेपाल-राजकन्या स्रोङ-चनके पास पहुँच चुकी थी। तिब्बतमें सभ्यता एवं शिक्षाके प्रसारमें इन दोनों ब्याहोंका भी महत्त्व है। थाङ-राजकन्या अपने साथ एक बहुत सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा ले गई थी, जो ल्हासामें तिब्बतके सबसे पुराने मन्दिरमें आज भी वर्तमान है।

(ख) भारतमें सेनाभियान--थाङ-वंशके ही समय प्रसिद्ध चीनी पर्यटक **स्वेन्-चाङ** भारत गया, इसे हम आगे कहनेवाले हैं। ६४६ ई० में थाङ-सम्राट्ने हर्षवर्द्धनके पास अपना राजदूत भेजा, लेकिन तब तक हर्षवर्द्धनका देहान्त हो चुका था और अर्जुनने विद्रोह करके कान्यकुब्जके सिंहासनपर अधिकार कर लिया था। विद्रोहीने थाङ-राजदूतका भी अपमान किया उसके परिचारकोंको मार डाला। राजदूतने लौटकर तिब्बतराज एवं नेपालराजसे सहायता माँगी। तिब्बती एवं नेपाली सेनाओंने आकर अर्जुनको हराया और उसे बन्दी बनाकर छाङ-अन भेज दिया।

(ग) कोरियामें सफलता--किन्तु ली-शी:-मिन्ने **कोकुलीपर** अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें सफलता नहीं पाई। पेकिङ्का सबसे पुराना स्मृतिचिह्न फा-युवान्-शू उसी स्थानपर गड़ा है, जहाँ कोरियामें **पिङ-यन्** (केइ-जो) के पास ६४५ ई० में बुरी तरहसे हारकर लौटी थाङ-सेना ठहरी थी। कोरियाके तीनों राज्योंके आपसी वैमनस्यका लाभ लीके उत्तराधिकारीने ६६० ई० में उठाया और उनमें से एक एकका पक्ष लेते हुए अगले आठ वर्षोंमें प्रायः सभी कोरिया ही नहीं, बल्कि मंचूरियामें कोकुलीपर भी अधिकार जमा लिया। उसने एक दूसरे नम्बरकी भी राजधानी स्थापित की, जो पहिले **पिन्-याङमें** फिर **ल्याङ-तुङमें** हुई। कोरियाके भीतर अपनी इस राजधानीमें थाङने महाक्षत्रप तो अपना रक्खा, किन्तु दूसरे मुख्य-मुख्य पद कोरियनोंके हाथमें रहने दिये। एक सालके भीतर (६६९ में) ३८ हजार विद्रोही पकड़कर मध्य-चीन भेजे गये। कोरियापर चीनका आधिपत्य ९० वर्षों (७५८ तक) रहा। इस समयका व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध बड़े लाभका सिद्ध हुआ।

(घ) पश्चिमी तुर्कोंपर आक्रमण--६६३ ई० में **पैक्-चे** पर आधिपत्य जमानेसे पहिले ही उसी सेनापतिने ६५७ में पश्चिमी तुर्कोंपर आक्रमण करके उन्हें तितर-बितर कर दिया, तुर्क जान लेकर भगे। उनमें से कुछ भारत तक पहुँचे और कुछ रूस होते हंगरी तक। तुर्कोंके प्रदेशके शासनके लिये दो क्षत्रपियाँ स्थापित की गईं, जिनमें एक **ल्याङ-शान्**के उत्तर और दूसरी

---

[1] **दरबन्द (दक्षिणी उजबेकिस्तान)**

उक्त पर्वतके दक्षिण थी। सम्राट्ने पामीरके पश्चिमवाले राज्योंसे दौत्य-सम्बन्ध स्थापित किया और अन्तिम सासानी शाहंशाहके पुत्र फीरोज और पौत्रको शरण दी।

§२. असफलतायें

(१) खितनोंका विरोध—

इतनी सफलता होनेके बाद भी थाङ-वंशको कहीं-कहीं मुँहकी भी खानी पड़ी। भोट-सेनाने उसका मानमर्दन किया और उसी समय तुर्कों (६६३ से सातवीं सदीके मध्य तक) ने भी कई बार नीचा दिखलाया, तो भी थाङ-साम्राज्यका बल कम नहीं हुआ। ७१३ और ७५१ ई० के बीच बगदादी खलीफाने दस दूत-मंडल चीन भेजे, जिनके साथ स्फटिक-पर्यंक, महार्घ-दुशाला और नर्त्तक-मंडली भी थी। सिन्धु-उपत्यकाके ऊपरी भागके राजाओंने अपनेको चीनके अधीन माना। एसियाके दूसरे दरबारोंसे भी छाङ-अनमें भेंट और तोहफे पहुँचते थे। यह सब होते हुए भी सम्राट् स्वेन्-चुङके शासन-काल (७१२-५५) में खतरेके चिह्न प्रकट होने लगे। मंचूरियामें लाउ-उपत्यकापर खितन लोग चीनके प्रभावको निर्बल कर रहे थे। ७४५ ई० के बाद मंगोलियापर **उइगुर तुर्कोंका** अधिकार हो गया और थोड़े ही समयमें वह थाङके साथ बराबरी करने लगे।

(ख) अरब-विरोध—

अरब-विजेता बुखारा और समरकन्द पहुँच गये थे, वह तुर्कोंके ऊपर चीनके आधिपत्यको स्वीकार नहीं करना चाहते थे।

(२) गन्धारमें थाई-विरोध—

अपनी पुरानी भूमि (युन्नान) में रहते थाई राजाओंने भी एकताबद्ध हो ७५१ और ७५४ में दो चीनी सेनाओंको लड़ाईमें हरा दिया और एक शताब्दी बाद तो चीनको अपनी भूमिमें चेङ-तूमें आकर उन्होंने ललकारा। उधर तिब्बतियोंने भी पामीरकी महत्त्वपूर्ण जोतोंपर अधिकार करके चीन और ईरानके बीचके रास्तेको रोकना शुरू किया। स्वेन्-सुङने क्षत्रप काउ-सियन्-चीः और अपने एक कोरियन उच्चाधिकारीको तिब्बतियोंके विरुद्ध भेजा, जिन्होंने बड़े कौशलके साथ ७४७ ई० में भोट-सेनाको हराकर जोतके रास्तोंको मुक्त कराया।

§३. अरबोंसे पराजय

काउ-सियन्-चीःने भोटियोंके खिलाफ सफलता प्राप्त की, किन्तु ताशकन्दके शासकके ऊपर हमला करके समझदारीका काम नहीं किया। अरब उसकी मददके लिये आ गये और तलस् नदीके किनारे जुलाई ७५१ में एक जबर्दस्त लड़ाई हुई, जिसमें चीनी सेनाको भारी हार खानी पड़ी। इस हारका परिणाम सिर्फ राजनीतिक ही नहीं हुआ, बल्कि इसने **तरिम, चू** और **इली**की उपत्यकाओंसे भारतीय संस्कृतिको—जिसमें चीनी संस्कृतिका भी कम भाग न था—मृत्युके मुखमें डाल दिया। लड़ाईके बाद चीनी सेना हारकर पीछे मुड़ी और उधर इस्लामने स्थानीय संस्कृतिका रूप-रंग बदलना शुरू किया। तलसमें एक बहुत बड़ा पाषाणका विहार था, जो इसी वक्त ध्वस्त हुआ और आज भी उसके भव्य ध्वंसावशेष वहाँ मौजूद हैं। **बौद्ध मन्दिर ही नहीं, ईसाई मन्दिरोंके साथ भी यही बात हुई। ईसाई (नेस्तोरीय), बौद्ध,**

मनीखी और जर्तुश्ती इस प्रदेशमें सदियोंसे रहते आये थे। उनमें कभी-कभी विवाद भी होता, किन्तु ऐसी धर्मान्धता उन्होंने कभी नहीं देखी थी। इस भूमिमें अनेक संस्कृतियोंका सम्मिश्रण होता था। सभी संस्कृतियाँ एक दूसरेकी पूरक समझी जाती थीं, किन्तु अब उन सबके लिये मौतका वारंट कट गया। तलसका युद्ध भारी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, इसमें सन्देह नहीं।

(१) शक्ति-ह्रास—

एक शताब्दी तक थाङ्-साम्राज्य समकालीन जगत्‌में सबसे बड़ा और सबसे शक्तिशाली राज्य समझा जाता था, लेकिन अब उसके सामने अरब आ खड़े ही नहीं हुए थे, बल्कि उन्होंने एक शताब्दीके भीतर ही कन्सूकी सीमासे स्पेन और मरक्को तक अपना राज्य फैलाया, हिन्दमहासागरको भी अपने अधीन किया। थाङ् अरबोंसे मुकाबला करनेकी शक्ति कहाँसे संचित करते, जब कि पास ही पश्चिमोत्तरमें खित्तन और दक्षिणमें थाई उसे परेशान किये हुए थे। तलसकी पराजयने एक और भी गुल खिलाया। ७५५ ई० में एक मंगोल या तुंगुस साहसजीवीके नेतृत्वमें राजधानीमें विद्रोह हो गया और ७५६ ई० में सम्राट्‌को पुत्रको सिंहासन दे चेङ्-तू भाग जाना पड़ा।

(२) निर्बल चीन—

पुत्रने थिएन्-शान्‌के उत्तर और दक्षिणके दोनों राज्यों—उइगुरों और फरगाना तथा अरबोंकी मददसे भी छाङ्-अनको ७५७ ई० में फिर अपने हाथमें कर पाया। पर अब थाङ्-वंश और चीनकी पहिलेवाली धाक नहीं रही। ७६३ ई० तक गृह-युद्ध और विद्रोह चलते ही रहे, जिसमें चीनकी रही-सही प्रभुता, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा सभी समाप्त हो गई। चीनको जो यह आघात लगा, उससे दसवीं शताब्दी तक वह अपनेको सम्हाल नहीं सका और न एसियामें अपने पहिले स्थानको प्राप्त कर सका। उसने फिर जब अपनी शक्ति संचित की भी, तो वह एक विदेशी वंशके अधीन और सो भी बहुत थोड़े समयके लिये।

अगली डेढ़ शताब्दियोंमें चीनकी अवस्था दयनीय थी। सिल्लाने कोरियाके बाकी दो राज्योंको हजम कर लिया, मंचूरियाको खित्तन और पो-हाइने आपसमें बाँट लिया। उइगुर थाङ्‌के समकक्ष बन ८४० ई० तक पश्चिमोत्तर-वणिक्‌पथके संरक्षक बन गये। चीनके पश्चिमी पार्श्वपर भोटियोंका भय बराबर बना रहा। ७८७ ई० में चीनने भोटके विरुद्ध अरबोंसे सहायता माँगी थी, किन्तु ११ साल बाद हारूँ रशीदके तीन दूत साष्टांग दंडवत् करके भोटके विरुद्ध चीनके साथ सहायताकी सन्धि कर रहे थे! युन्नन्‌का थाई (गंधार)-राज्य कभी मित्र और कभी शत्रु बनकर चीनके दक्षिणी प्रादेश तोङ्-किङ्‌को ८३६-६६ तक आक्रांत रक्खा। चीनके समुद्र-तटपर सामुद्रिक डाकुओंका जोर था। जो थोड़ा बहुत सामुद्रिक वाणिज्य था भी, वह उत्तरमें कोरियनोंके और दक्षिणमें अरबों-ईरानियोंके हाथमें था। हाँ, जापान कोई-कोई चीनी व्यापारी अपने जहाजोंमें आते-जाते थे।

§४. थाङ्-वंशका अन्त

थाङ्-वंश पुराना हो चला था। उसमें बुढ़ापेके लक्षण चारों ओर दिखाई पड़ रहे थे। नीचेसे ऊपर तक चारों तरफ सारे शासन-यन्त्रमें भ्रष्टाचार ही भ्रष्टाचार दिखलाई पड़ता था, जिसके परिणाम-स्वरूप ८७५ ई० में शान्तुङ्‌में विद्रोह आरम्भ हुआ, जो धीरे-धीरे सारे चीनमें फैल गया।

ह्वाई-उपत्यका और होनान् ८७६ से ८७७ तक लूटके मैदान बन गये। ८७८ ई० में विद्रोही नेता **ह्वाङ-चाउ** फू-**कियेन** तक पहुँचा। उधर साम्राज्यके दूसरे छोर **शान्सी**में भी विद्रोह हो गया। ८७९ ई० में कान्तन उजड़ गया। इस घटनासे थोड़े ही समय बाद (९१६ ई०) एक अरब अबूजैदने लिखा है—

"विद्रोहियोंने नगरपर अधिकार करके वहाँके निवासियोंको तलवारके घाट उतारा। जानकारोंका कहना है, कि चीनियोंके अतिरिक्त १ लाख २० हजार मुसलमान, यहूदी, ईसाई और जर्तुश्ती व्यापारियोंको उन्होंने मार डाला।" इसके बाद ह्वाङने उत्तरकी ओर जा **लोयाङ** और **छाङ-अन**को लूटा। उसने अपनेको थोड़े समयके लिये सम्राट् घोषित किया था, जब कि असली सम्राट् तिब्बती सीमाके पास **जेचुआनमें** भाग गया था।

विद्रोह ८८४ ई० में दबा दिया गया, लेकिन वह साम्राज्यको लेकर ही दबा। ८८३ ई० में क्याङसू निकल गया, ८९१ ई० में जेचुआन जाता रहा, राजधानीका प्रदेश ९०६ में निकल गया। दो सेनापतियोंके उत्तराधिकारके आपसी झगड़ेने ९०६ में थाङ-वंशका नाम शेष कर दिया।

§५. धर्मोंपर अत्याचार

(१) **बौद्धोंपर अत्याचार**—

थाङ-कालमें बौद्ध और ताव धर्म समृद्धिकी चरम सीमापर पहुँचे। कन्फूसी-शिक्षा भी राजनीतिका धर्मशास्त्र होनेके कारण राजकर्मचारियोंमें समादृत रही। किन्तु धार्मिक असहिष्णुताका बाँध टूट गया, जब ८४२-८४५ में बहुत भारी संख्यामें गैरचीनी धर्मोंके भिक्षु-भिक्षुणियोंको मार डाला गया, उनके विहारोंको नष्ट कर दिया गया, उनके ग्रन्थोंको सरेआम जला दिया गया। यद्यपि इसके कारण बौद्धधर्मका उच्छेद नहीं हुआ, किन्तु उसकी प्रगतिमें बाधा जरूर हुई। हाँ, दूसरे विदेशी धर्म कुछ ही दिनों बाद समाप्त हो गये।

थाङ-वंशकी स्थापनाके बाद ही भय होने लगा था, कि राज बौद्धधर्मको बन्द कर देगा। ६२४ ई० में प्रथम थाङ सम्राटके दरबारमें बहस करते वक्त कन्फूसी इतिहासकार फू-ई(५५९-६३९) ने कहा:—

"ये भिक्षु लोगोंको विश्वास दिलाते हैं कि जीवन और मृत्यु, सौभाग्य और दुर्भाग्य, धन और निर्धनताका विधाता केवल बुद्ध है; मानो ये चीजें प्रकृति, सम्राट और प्रत्येक व्यक्तिके निजी श्रमपर निर्भर नहीं करतीं। वह जनताको शिक्षित करनेका अधिकार केवल अपने लिये रखना चाहते हैं। जो अधिकार कि वस्तुतः सम्राटका है, उसे वह छीनना चाहते हैं और इस प्रकार सम्राट् के अधिकार और सम्मानको क्षीण करते हैं।...आजकल एक लाखसे अधिक भिक्षु-भिक्षुणियाँ हैं। इन्होंने अति सुन्दर कमखाबी रेशमसे अपनी मिट्टीकी मूर्त्तियोंको ढाँककर लाखों साधारण जनोंको मंत्रमुग्ध और मूर्ख बना रखा है। मेरी सलाह है, कि परमभट्टारक आज्ञा घोषित करें, कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियोंको ब्याह करना होगा। इससे एक लाख परिवार तैयार हो जायेंगे, जो दस सालके भीतर लड़के-लड़कियाँ पैदा करेंगे, जो सम्राट्के उपयोगके लिये सैनिक बनेंगे।"

यह सुन बौद्ध बहुत घबड़ा उठे और उन्होंने **फू-ई**का उत्तर दस अध्यायोंकी एक पुस्तिका लिखकर दिया, जो आज भी चीनी त्रिपिटकमें मौजूद है। दो साल बाद सचमुच ही द्वितीय थाङ सम्राट्ने फू की कितनी ही बातोंको लेते हुए भिक्षु-भिक्षुणी होनेके कारण राज्यकी आर्थिक हानि

बताते घोषणा निकाली—"आलसी और छड़े (अकेले) व्यक्ति अनिवार्य श्रमिक सेवासे बचनेके लिये बौद्धधर्मका आश्रय लेते हैं, किन्तु तो भी वे सांसारिक स्वार्थोंमें लिप्त और धनके लोभी होते हैं। गाँवोंमें घूमते, बाजारमें चलते-फिरते उन्होंने ढेरकी ढेर सम्पत्ति जमा कर ली है, तथा खेती, बुनाई और व्यापारसे जीविका करते हैं। उनका पेशा, उनका चाल-व्यवहार दूसरे साधारणजनों-जैसा है। उनका आचरण न तो धार्मिक नियमोंके अनुसार है और न वे गृहस्थोंके आचारको पालन करते हैं।"

(क) स्वन्-चाङ् भागा भारतकी ओर—इस घोषणाके बाद जो आतंक छाया, उसके ही कारण प्रसिद्ध बौद्ध यात्री स्वेन्-चाङ सितम्बर ६२९ में चुपकेसे छाङ-अन छोड़कर भाग निकला। अप्रैल ६४५ में जब वह लौटा, तो विरोध समाप्त हो चुका था। सम्राट् ली-मी-सिन् अब घर और बाहर अपनेको सुदृढ़ कर चुका था, अतः सभी धर्मोंके साथ सहिष्णुता रखना चाहता था। छाङ-अन लौटनेपर स्वेङ-चाङका पहिले क्षत्रपने स्वागत किया और अगस्त ६४६ में लोयाङमें पहुँचनेपर सम्राट्ने स्वयं उसे दान और सत्कारसे सम्मानित किया और स्वेन् चाङकी साहसपूर्ण यात्रा की प्रसंशाका उल्लेख अपने पत्रमें किया।

(ख) भिक्षु-भिक्षुणियोंपर प्रतिबन्ध—अगली शताब्दीमें बौद्धधर्मपर कोई बड़ी बाधा नहीं डाली गई, यद्यपि बीच-बीचमें राज्यके बर्तावमें कुछ हेर-फेर होता रहा। युद्ध-मन्त्री याङ-चुङ (६५१-७२१ ई) के घोर विरोध प्रकट करनेपर भी ७१४ ई० में बारह हजार भिक्षु-भिक्षुणियोंको गृहस्थ बना दिया गया। नये विहारोंका बनाना, नई मूर्त्तियोंको स्थापित करना तथा बौद्ध-ग्रन्थोंका लिखना दण्डनीय घोषित कर दिया गया और आज्ञा दी गई कि कुलीन घरका व्यक्ति बौद्ध या ताव साधुसे सम्पर्क न रक्खे। इतनी रोक होनेपर भी तत्कालीन साहित्य स्वदेशी और विदेशी—विशेषतः जापानी—दोनों एवं पुरातत्व भी इस बातको प्रमाणित करते हैं, कि उस समय बौद्ध संघ तथा बौद्धधर्म काफी जनप्रिय और सबल थे।

(३) ई-चिङ्की यात्रा—

तीर्थयात्री अब भी स्थल और जलसे बौद्धतीर्थोंके दर्शनके लिये भारत आते थे, जिनमें प्रसिद्ध यात्री ई-चिङ भी था, जिसने १९ साल (६७१-९० ई०) भारत, गन्धार और कश्मीरमें बिताये। अब भी भारतसे धर्मदूत आते थे, साथ ही चीनमें भी संस्कृतज्ञ भिक्षुओंका अभाव नहीं था। स्वैन्-चाङने अनुवादके शब्दोंके चुनावकी सरल शैली तैयार कर दी थी। ई-चिङने बारह सौ महत्त्वपूर्ण संस्कृत शब्दोंका एक कोश बना दिया।

(३) दमनसे बौद्धधर्म परास्त नहीं हुआ—

कोरिया और जापानसे अब बौद्धधर्मकी शिक्षा लेनेके लिये विद्यार्थी चीनी गुरुओंके पास आने लगे और कभी-कभी चीनी विद्वान भिक्षु भी समुद्र पार जाने लगे। विहारोंका निर्माण, शालाओंका अलंकरण, धर्मग्रन्थोंके अनुवाद या प्रतिलिपिका काम सारे चीनमें पहले ही जैसा चल रहा था, जिसके लिये दान कभी देशी भक्त और तीर्थाटक देते और कभी विदेशी यात्री तथा व्यापारी। एक जापानी तीर्थयात्रीने लिखा है कि८३९ ई० में याङ-चाउमें एक विहारकी मरम्मतके लिये मुझसे कहा गया। ..इस कामके लिये एक करोड़की अवश्यकता है। राज-मन्त्री और नगरकी ईरानी सेनामें से हरएकने दस-दस लाख दान दिये हैं। चम्पाके एक भक्तने दो लाख दिया है। क्या जापानी मन्त्री ५० हजार दे सकते हैं?

(क) भारतीय ज्योतिष और वैद्यक—भारतीय आचार्योंकी प्रेरणासे चीनमें ज्योतिष और गणितमें नई प्रगति हुई। ६१८ ई० में एक भारतीयने प्रथम थाङ-सम्राटके लिये एक नया पञ्चाङ्ग बनाया। एक शताब्दी पीछे भारतीय पण्डित शुभाकरसिंह और वज्रबोधिके शिष्य चीनी भिक्षु ई-शिङ (६८३-७४७) ने गणित करके बतलाया, कि सौर वर्ष ३६५.२४४ दिन और चान्द्र मास २९.५३०५९ दिनोंका होता है। ७२१ ई० में राज्यने इस सुधरे पञ्चाङ्गको स्वीकार कर लिया। हम पहिले बतला चुके हैं, कि चिकित्साशास्त्रने बौद्धधर्मके प्रचारमें बड़ी सहायता की। हर बौद्ध विहारमें आमतौरसे एक औषधिशाला होती थी, और चुने हुए तरुण भिक्षुओंको चिकित्सा-अध्ययनके लिये छाङ-अन् भेजा जाता था। विशाल भिक्षु-समुदायमें दोष भी होने स्वाभाविक थे, किन्तु वहाँकी राजशक्तिको भिक्षुसंघसे ईर्ष्या दूसरे ही कारणोंसे होती थी। एक साम्राज्यके भीतर यह एक दूसरा ही संगठित साम्राज्य था, जिससे हर समय अधिकारियोंको भय बना रहता था, और वह इसके लिये बराबर शिकायत करते रहते थे। ८४५ के चौथे चान्द्र मासमें सरकारकी ओरसे गणना की गई। पता लगा कि सब मिलकर ४६०० विहार (मठ) ४० हजार मन्दिर और २ लाख ६० हजार पाँच सौ भिक्षु-भिक्षुणियाँ हैं।

(ख) विहार जब्त, घोर दमन—८४८ ई० में बौद्ध विहारोंकी सारी सम्पत्ति सरकारने जब्त कर ली। मन्त्रिमंडलने सम्राट्से प्रार्थना की कि —"प्रत्येक पर्गनेके नगरमें एक विहार छोड़ दिया जाय और पवित्र तथा सौम्य मुखमंडलवाली मूर्त्तियाँ उस मन्दिरके अन्दर रक्खी जायँ तथा पर्गनेके नगरसे नीचेवाले कसबेके सभी बौद्धमन्दिरोंको नष्ट कर दिया जाय और दोनों राजधानियों (छाङ-अन्, लोयाङ) के बीचके राजपथपर केवल १० विहार और प्रत्येकमें १० भिक्षु तक ही रहनेकी अनुमति दी जाय।" इसपर सम्राट्ने उत्तर दिया—"यदि किसी पर्गनावाले नगरमें कोई सुन्दर कलापूर्ण विहार है, तो उसे रहने दिया जाय, नहीं तो उसे नष्ट कर दिया जाय। आजसे त्यौहारोंके दिन राजपुरुषोंको अपनी बलिपूजा तावी मन्दिरोंमें करनी चाहिए।..." इसके बाद मन्त्रिमंडलने फिर निवेदनपत्र पेश किया—"उजड़े हुए मन्दिरोंकी पीतल मूर्त्तियोंको सोना-लोहा संरक्षक अधिकारीको दे दिया जाय, जिसमें वह उन्हें गलाकर सिक्के ढाले, लोहेकी मूर्त्तियाँ पर्गना-अधिकारीको दे दी जायँ, जिसमें वह खेतीके हथियार बनवायें, सोना-चाँदी, जेड और इस तरहके दूसरे बहुमूल्य पदार्थोंकी मूर्त्तियाँ राजकोष-प्रबन्धिका समितिको दी जायें। धनी-मानी लोगोंको एक महीनेकी अवधि दी जाये, जिसमें वह अपने घरोंकी सभी प्रकारकी मूर्त्तियोंको राजकर्मचारियोंके हाथमें दे दें। जो अवधिके भीतर आज्ञापालन न करें, उन्हें लवण-लोह अध्यक्ष उसी तरहका दण्ड दे, जो कि अवैध पीतल रखनेवालोंको दिया जाता है। मिट्टी, लकड़ी और पत्थरकी मूर्त्तियोंको उनके विहारोंमें सुरक्षित रहने दिया जाय।"

अन्तमें आठवें चान्द्र मासमें सम्राट्ने घोषित किया—

"हम आज्ञा देते हैं, कि ४६०० विहार नष्ट कर दिये जायँ, २ लाख ६० हजार पाँच सौ भिक्षु भिक्षुणी गृहस्थ बना दिये जायँ और वह अबसे प्रति दूसरे वर्ष कर दिया करें, ४० हजार मन्दिर नष्ट कर दिये जायँ, दस लाख एकड़ खेतकी जमीन जब्त कर ली जाय, डेढ़ लाख दास-दासियोंको मुक्त कर दिया जाय और वह आजसे प्रति दूसरे वर्ष कर दिया करें। विदेश-विभागकी समितिका भिक्षु-भिक्षुणियोंपर नियन्त्रण हो, नेस्तोरीय और जर्तुश्ती जैसे धर्मानुयायियोंको—जो खुले तौरसे विदेशी धर्मका प्रचार करते हैं—गृहस्थ-जीवनमें लौटनेके लिये बाध्य किया जाय, जिसमें कि वह फिर चीनके आचार-विचारको दूषित न कर सकें।"

(४) **विदेशी धर्मोंपर भी दमन—**

यद्यपि इस घोषणाने विदेशी धर्मोंका खात्मा कर दिया, किन्तु बौद्धधर्म नष्ट नहीं हुआ; क्योंकि अब वह विदेशी धर्म नहीं था। ८४५ में इस राजाज्ञाके निकलनेके थोड़े ही समय बाद ८५७ ई० में शान्सीके प्रसिद्ध तीर्थ **वू-तइ-शान्**में एक मन्दिरका पुनर्निर्माण हुआ था।

(क) जर्तुश्ती धर्म—दूसरे विदेशी धर्मोंमें जर्तुश्ती धर्म मध्य-एसियाके रास्ते ६ ठीं शताब्दी-के आरम्भमें चीन पहुँचा और वहां राजकीय कृपाका पात्र भी हुआ था। **ची** और **चू** राजवंशोंके कितने ही शासक इस धर्मके पक्षपाती थे और उनके धार्मिक नृत्यमें भाग भी लेते थे। ६३२ के एक लेखसे उनके एक धर्माचार्यका पता लगता है, जो उस साल चीन आया था। चीनमें रहनेवाले विदेशी इस धर्मको पीछे भी मान सकते थे। ८४५ ई० की निषेधाज्ञाने इसपर भारी प्रहार किया, तो भी **चिङ-क्याङ** और **कै-फेङ्में** बारहवीं सदीके आसपास तक इसके अस्तित्वका पता लगता है।

(ख) नेस्तोरी ईसाई—ईसाई धर्मका नेस्तोरीय सम्प्रदाय मध्य-एसियाके रास्ते चीन गया था। इसका पहला प्रचारक ६३५ ई० में सिरिया या ईरानसे आके राजधानीमें रहने लगा। तीन साल बाद उसे दर्बारका आशीर्वाद मिला। राजाज्ञामें यह भी कहा गया—"स्थानीय राजकर्मचारियोंको चाहिए, कि वे इनिङ महल्लेमें २१ नियमित साधुओंके लिये मठ बनायें।" यह धर्म धीरे-धीरे राजधानीसे बाहर लोयाङ, चेङ-तू, कान्तन और दूसरे स्थानोंमें फैला। ६९८-९९ और ७१३ में उसे कठिनाईका सामना करना पड़ा था, तो भी एक चर्च इतना धनी था, कि उसने ७२१ ई० में सिरिया और चीनी भाषाके अभिलेखोंके साथ एक सुन्दर पट्टिका स्थापित की, जो अब भी बच रही है। **तुन्-ह्वाङ** के बन्द पुस्तकालयसे आठवीं सदीकी 'पवित्रत्रय' की एक भजन-पुस्तिका मिली है। ८४५ ई० में इस धर्मको भी दबा दिया गया था, तो भी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियोंमें कहीं-कहीं अब भी बच रहा था।

(ग) मानी धर्म—मानी (२१६–७६) का धर्म मध्य-एसियाके रास्ते ईरानियों द्वारा ६९४ ई० में चीन पहुँचा था, लेकिन तब तक बहुत बढ़नेका मौका नहीं मिला, जब तक उइगुर कगान ने इसे स्वीकार नहीं कर लिया। चीनी राज्यके दोस्तके तौरपर कगानने ७६३ ई० में विद्रोहियोंके हाथसे लोयाङको छीन लिया। इसी समय उसने मानी धर्मको अपनी जातिका धर्म घोषित किया। मानी धर्मके महाधर्माचार्यने बाबुलसे बुलाकर मंगोलियामें धर्म-प्रचारार्थ भिक्षु-भिक्षुणी भेजे। उइगुरोंकी सहायतासे वह दोनों राजधानियोंसे बाहर **याङसी**के नगरोंमें भी फैला। ईरानमें जब (७८५-८०९) अब्बासी खलीफोंने घोर दमन शुरू किया, तो वहाँसे भगे मानी साधुओंने मध्य-एसिया और चीनको अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उइगुर राज्यकी जब थाङके साथकी समता नष्ट हो गई, तो मानी-धर्मको भी क्षति पहुँची। ८४३ ई० में चीनी सेनाने उइगुर कगानको हराया, उसी समय मानी धर्मके विरुद्ध राजाज्ञा निकाली गई। फिर यह धर्म कुछ दिनों तक अन्तर्हित रूपसे रहते नष्ट हो गया।

(घ) यहूदी—यहूदी धर्म चीनमें बहुत नहीं फूला-फला और इस्लाम तो इस कालमें चीनके भीतर आ बसे मुस्लिम व्यापारियों तक ही सीमित रहा। कन्फूसी धर्मपर थाङ-वंशकी विशेष कृपा थी। कृपापात्र होनेके कारण इसी समय वह कोरिया और जापानमें फैला। तावपर भी सरकारी कृपा थी।

(५) वाणिज्य-व्यवसाय—

यह कहनेकी अवश्यकता नहीं, कि थाङ-कालमें चीनका सम्बन्ध दूसरे देशोंसे अधिक घनिष्ट हुआ, और चीनी रेशम, बर्तन तथा विलासकी दूसरी सामग्रियोंकी बाहरी देशोंमें माँग बढ़ी। चीनी मिट्टीके बर्तन अब बहुत अधिक बाहर जाने लगे थे। ८५१ ई० में अरब सौदागर सुलेमानने इसके बारेमें लिखा था—

"चीनमें एक बड़ी अच्छी किस्मकी मिट्टी होती है, जिससे काँचकी बोतल-जैसे पतले प्याले बनाये जाते हैं। पारदर्शक होनेके कारण आदमी उसमें रक्खी चीजको आरपार देख सकता है। ये प्याले उसी मिट्टीके बनते हैं।"

चीनी बर्तनके टुकड़े ब्राह्मनाबाद (सिन्ध) से ते-स-फोन, तर्सुस, येरोशेलम् और काहिरा तक प्राप्त हुए हैं।

§ ६. थाङ्-कालमें बौद्ध साहित्य

(१) थाङ्कालीन अनुवादक—

थाङ-कालमें बौद्धधर्मको चीनके "तीन कोड़ों" में से सबसे जबर्दस्त कोड़े द्वितीय सम्राट् ली-शीः-मिन् से पाला पड़ा था, इसे हम बता चुके हैं, तो भी बौद्धधर्मका प्रचार और साहित्य-रचना बन्द नहीं हुई। प्रथम थाङ-सम्राट्ने ६२७ ई० में राज्यको अपने पुत्रके लिये छोड़ दिया और यही पुत्र ली-शीः-मिन-ताइ-चुङके नामसे २२ वर्षकी उम्रमें गद्दीपर बैठा। उसने जो अत्याचार बौद्धोंपर किया, उसके कारण भारतीय विद्वानोंका चीनमें जाना सम्भव नहीं था, तो भी नीचेकी तालिकासे मालूम होगा कि कुछ भारतीय विद्वान् तब भी वहाँ गये थे।

थाङ्-वंश (६१८-९०७) छाङ्-अन्

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ-संख्या
प्रभाकरमित्र	६२७-३३	(३)
स्वेन्-चाङ	६४५-६४	(७५)
शीची-तुङ-क्वइ-ची	६२७-५३	(४)
किये-फान्-तामो		१
अतिगुप्त		१
नन्दि पुण्योपाय	६५५	२
यानभद्र	६६४	(१)
दिवाकर	६७९-८८	१९
तू-शीन्	६७९	(१)
बुद्धत्रात		(१)
बुद्धपाल	६७६	(१)
देवप्रज्ञ	६८९	(८)
शीः-ह्वी-ची	६९२	(१)
शिक्षानन्द	६९५-७१०	१६
ली-वू-ताउ	७००	(१)

मित्रशांत	६९३-७२१	(१)
रत्नचिन्त	६७१-७१३	(७)
ई-चिङ		(५६)
बोधिरुचि	६९३-७२७	४१
प्रमिति	७०५	(१)
शी-चू-येन्	७०७-२१	(४)
वज्रबोधि	७१९-३२	(११)
शुभाकरसिंह	७१६-३५	(५)
अमोघवज्र	७१९-७४	(१०८)
प्रज्ञा	७८५-८१०	(४)
अजितसेन		(३)
क्वान्-तिङ	मृ० ६३२	(२०)
तू-फा-शुन्	मृ० ६९०	(१)
फा-लिन्	६२४-४०	(२)
ह्वियेन्-ची	६४६	(१)
स्वेन्-यिङ	६४९	(१)
ताउ-स्वेन्	मृ० ६६७	(८)
ताउ-शी	६२६-६८	(२)
येन्-चुङ	६६२-९५	(१)
ह्वइ-ली	६६०	(१)
चिङ-मइ	६६४	(१)
फू-ली	६८१	(१)
ह्वाइ-शू	६२९-८२	(४)
स्वेन्-ई	६८४-७०५	(१)
मिङ्-च्वेन्	६९५	(१)
फा-चेङ्	६९९ ७१२	(७)
आइ-त्वाङ्	७००	(१)
ह्वाइ-वान्	७००	(१)
हू-नन्	मृ० ७१३	(१)
ची-शाङ्	७३०	(५)
चे-जेन्	मृ० ७८२	(१०)
चान्-क्वाङ्	८०६-२०	(४)
चुङ्-मी	मृ० ८४०	(६)
फा-शिङ्	८४२-७०	(१)
ची-स्वेन्	म० ८८१	(१)
स्वेन्-च्याङ्		(१)
च्वेन-सियाउ		(१)

(क) प्रभाकर मित्र—प्रभाकर क्षत्रियवंशी तथा नालंदाके भिक्षु थे। महायानशास्त्र और विनयपिटकके अध्ययनके बाद उन्होंने विनय-नियमोंको कड़ाईसे पालन करनेका प्रयत्न किया, लेकिन उन्हें स्वभावतः बौद्धदर्शनसे अधिक प्रेम था। शिक्षा-समाप्तिके बाद वह भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें घूमते दक्षिण-भारत गये, फिर अपनी जन्मभूमि नालंदा-विहारमें लौट आये। आचार्य शीलभद्र असंगकृत **योगचर्याभूमि** (सप्तदशभूमिशास्त्र) पढ़ा रहे थे। प्रभाकरने उनके पास उसे पढ़ा और हीनयानके बारेमें भी ज्ञान प्राप्त किया। फिर नालन्दा-विहारमें वे अभिधर्मके अध्यापक नियुक्त हुए। प्रभावर्मा, इन्द्रवर्मा जैसे उनके कई प्रसिद्ध शिष्य थे। प्रभाकरका राजा-प्रजा सबमें सम्मान था। भिक्षुके लिये छ माससे ज्यादा एक जगह रहना अच्छा नहीं समझा जाता। उन्होंने नालन्दा छोड़ते समय सोचाः देशमें तो प्रचारक बहुत हैं, उत्तरकी बर्बर जातियोंमें किसीने भगवान्के धर्मका प्रचार नहीं किया, इसलिये वहाँ चलकर प्रचार करना चाहिए। प्रभाकर अपने भिक्षु और गृहस्थ १० शिष्योंके साथ चल पड़े। भिन्न-भिन्न देशोंमें घूमते वह पश्चिमी तुर्क-कगानके यबगूके शिविरमें पहुँचे। उसे उन्होंने बौद्धधर्मका उपदेश दिया। दस दिन रहनेके बाद उन्हें मालूम हुआ कि म्लेच्छ राजाके हृदयमें श्रद्धा और सद्भाव हैं। कगान प्रतिदिन प्रभाकर एवं उनके साथियोंके लिये आवश्यक भोजनादि तथा प्रतिदिन सवेरे-शाम उन्हें नमस्कार भेजता था। तुर्क राजाका बर्ताव उनके साथ बहुत अच्छा था। वह बुद्ध और धर्ममें बहुत श्रद्धा-प्रसन्न था।

६२० में **कौपिङका** राजा चीनसे घुमन्तुओंके देशमें राजदूत बनकर गया। प्रभाकर उससे मिले और अवसर मिलनेके बाद चीन जानेकी तैयारी करने लगे। लेकिन कगान और उसकी प्रजा उन्हें नहीं छोड़ना चाहती थी। इसपर कौपिङ्ने सम्राट्के पास सूचना भेजी और प्रथम थाङ्-सम्राट्ने आज्ञा निकालकर प्रभाकरको चीनकी राजधानीमें बुलाया। वह ६२६ ई० के अन्तमें राजा कौपिङ्के साथ राजधानीमें पहुँचे और सम्राट्के कहनेसे हिङ्-सियेन् विहारमें रहने लगे। ६२९ में सम्राट्ने उन्हें बौद्धग्रन्थोंका अनुवाद करनेके लिये कहा और उनकी सहायताके लिये १९ विद्वान् भिक्षुओंको नियुक्त कर दिया, जिनमें से दो संघ और गुप्त भारतीय थे, उनमें से एक दुभाषियाका काम करता था। ६३० तक अनुवाद-कार्य चलता रहा। इसके बाद सम्राट्ने उपेक्षा दिखलानी शुरू की। प्रभाकर ६९ वर्षकी अवस्थामें ६३३ ई० में मरे। उनके शिष्योंने गुरुकी भस्मपर स्तूप बनवाया। प्रभाकरने तीन ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें से दोका पहले ही अनुवाद हो चुका था। असंगके **महायान सूत्रालंकारका** अनुवाद उनका सबसे बड़ा काम है।

(ख) स्वेन-चाङ (६००-६४)—स्वेन्-चाङ् एक कन्फूसी परिवार (चाङ्-ह्वी)में पैदा हुए थे। वह अपने चार भाइयोंमें सबसे छोटे थे। कन्फूसी ग्रन्थोंकी शिक्षा उन्होंने अपने पितासे पाई। द्वितीय भाईकी देखादेखी उसके साथ-साथ भिक्षु बनके वह भिन्न-भिन्न विहारोंमें गये और उन्होंने बड़े शौकसे बौद्धग्रन्थोंको पढ़ा। २० वर्षकी उम्रमें वह भिक्षु हो गये और कितने ही समय तक वह प्रसिद्ध चीनी विहारोंमें घूमकर अध्ययन करते रहे। उनकी इच्छा श्याक्यमुनिकी जन्मभूमि देखने तथा वहाँके भिक्षुओंसे विद्या सीखनेकी हो रही थी। बौद्धोंपर होते अत्याचारोंके कारण उनकी इच्छा जल्दी पूरी हुई, और ताइ-चुङ् के गद्दीपर बैठनेके दो साल बाद ६२९ ई० में स्वेन्-चाङ् भारतके लिये रवाना हुए। वह मध्य-एसियाके तुन्-ह्वाङ् तथा दूसरे स्थानोंसे होते पहाड़ोंको पार करते भारत पहुँचे। कन्नौजके महाराज हर्षवर्द्धनने उनका बहुत सम्मान किया। नालन्दामें शीलभद्रके पास कई वर्ष तक वह अध्ययन करते रहे।

१६ वर्ष बाहर रहनेके बाद ६४५ ई० में वह स्वदेश लौटे। उनका बड़ा सम्मान हुआ। सम्राट्के कहनेपर उन्होंने अपना यात्रा-विवरण लिखा, जो ६४६ में समाप्त हुआ, ६४८ में उसमें कुछ और जोड़ा गया। स्वेन्-चाङ्के शिष्यने यात्रा-विवरणका दूसरा भाग ६५० ई० में लिखा। तीसरा ग्रन्थ स्वेन्-चाङ्-चरित है, जिसे उनके दो शिष्योंने ६६५ में पूरा किया। स्वेन्-चाङ्ने ७५ ग्रन्थोंका अनुवाद किया। वह ६५ वर्षकी अवस्थामें ६६४ ई० में मरे।

स्वेन्-चाङ्ने अधिकतर योगाचार, अभिधर्म, प्रज्ञापारमिता और सर्वास्तिवादी अभिधर्मका अनुवाद किया। **सर्वास्तिवादके** प्रमुख अभिधर्मग्रन्थ कात्यायनी पुत्रका **ज्ञानप्रस्थान** मूल है, जिसके अंगभूत हैं : **संगीतपर्याय, विज्ञानकाय, धातुकाय, धर्मस्कन्ध** और **प्रज्ञप्तिशास्त्र**। वह अन्तिमका अनुवाद नहीं कर सके। इनके अतिरिक्त उन्होंने पिटकोंकी टीका **महाविभाषा**का भी अनुवाद किया। सारे अभिधर्मकी टीका महाभिधर्मविभाषाका भी उन्होंने अनुवाद किया।

अनुवादोंके अतिरिक्त स्वेन्-चाङ्ने विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदायकी चीनमें स्थापना की। उन्होंने दिङ्नागके दो ग्रंथों **न्यायमुख** और **आलंबनपरीक्षा**का भी अनुवाद किया।

स्वेन्-चाङ् के कई शिष्य और सहायक थे, इनमें कोइ-ची अब भी स्मरण किये जाते हैं।

स्वेन्-चाङ् और ई-चिङ् की यात्रायें एक अज्ञात देशसे दूसरे अज्ञात देशको या परम अज्ञात-पथ से नहीं हुई थीं। अनेक वणिक्पथोंसे दोनों देशोंमें वणिक-सार्थ आया-जाया करते थे, जिनके द्वारा खत-पत्र और भेंट-सौगातका भी दानादान होता था। पर्यटक अपने दूरदेशस्थ मित्रोंसे सम्पर्क स्थापित रख सकते थे। स्वेन्-चाङ्ने भारतमें अपने एक मित्र भदन्त जिनप्रभके पास चीनमें कुछ समय रहकर लौटते फा-चेङ्के द्वारा एक पत्र भेजा था। मूलपत्र संस्कृतमें रहा होगा, किन्तु उसका चीनी अनुवाद ही अब भी सुरक्षित है। पत्रका कुछ अंश इस प्रकार है—

"कुछ वर्ष हुए, एक राजदूतके लौटकर आनेपर मैंने सुना, कि महान् आचार्य शीलभद्र अब जीवित नहीं हैं। यह समाचार सुनकर मैं असह्य शोकमें मग्न हो गया। आह! इस दुःखसागरका पोत मग्न हो गया!! देवों एवं मानुषोंका लोचन मन्द पड़ गया!!! उनके अस्तगमनसे जो दुःख हमें हुआ, क्या उसे प्रकट किया जा सकता है? पूर्वकालमें जब प्रज्ञा (बुद्ध) ने अपना प्रकाश छिपा लिया, तो उनके महान् कार्यको काश्यप आगे बढ़ाते रहे, जब शाणवासने संसार छोड़ा, तो उपगुप्तने सद्धर्मका प्रकाशन किया और अब जब कि (हमारे) धर्मनायक सत्यस्थान (निर्वाण) को चले गये, तो धर्मके प्रत्येक आचार्यको अपना कर्तव्य पूरा करना होगा।...

"जो शास्त्र और सूत्र अपने साथ लाया, उनमें **योगाचर्याभूमिशास्त्र**-कारिका आदि मिलाकर प्रायः ३० पुस्तकोंका अनुवाद मैं कर चुका हूँ।...

"...जिन सूत्रों और शास्त्रोंका मैंने अनुवाद किया है, उनकी प्रस्तावना दिव्यतूलिका (सम्राट्के श्रीहस्त) द्वारा लिखी गई; राजपुरुषोंको आज्ञा दी गई है, कि इन ग्रन्थोंको सारे राज्य में वितरित किया जाय। इस आज्ञाके कारण पड़ोसी देशोंको भी प्रतियाँ मिलेंगी। यद्यपि हम प्रतिमाओंके[1] चरम युगके छोरपर हैं, तो भी सद्धर्मका उज्वल सुमधुर विशुद्ध वैभव फैला हुआ है। श्रावस्तीके जेतवनमें जो व्याकरण हुआ था, उससे यह भिन्न नहीं है, यह मैं विनयपूर्वक आपको सूचित करना चाहता हूँ।

---

[1] **बुद्धगयाके पास दो प्रतिमायें थीं, जिनके लुप्त हो जानेपर बौद्धधर्म लुप्त हो जायगा— यह विश्वास उस समय फैला हुआ था।**

"सिन्-तू (सिन्धनदी) में नौका-दुर्घटना होते समय मेरी पोथियोंका एक बण्डंल खो गया, जिनमें नीचे लिखी पुस्तकें नष्ट हो गयीं। यदि सम्भव हो, तो कृपा करके उन्हें भेज दें। मैं कुछ थोड़ी-सी चीजें आपके लिये भेंटके तौरपर भेज रहा हूँ। मेरी इच्छा है कि उन्हें आप कृपया स्वीकार करेंगे।"

(ग) नन्दी (पुण्योपाय)——६५३ में नन्दी या पुण्योपाय भारत (मध्यमण्डल) से अपने साथ हीनयान तथा महायानकी १५०० पुस्तकें लेते आये। नन्दीने यह पुस्तकें भारत और सिंहलमें घूमते समय संगृहीत की थीं। नन्दीकी चिकित्साशास्त्रमें विशेष प्रवृत्ति थी, चिकित्सा धर्म-प्रचारमें सदा सहायक रही है। अशोकने धर्मदूतोंको ही भेजकर धर्मविजय करनेका प्रयत्न नहीं किया, बल्कि पशु-चिकित्सा और मनुष्य-चिकित्साका भी देशदेशान्तरोंमें प्रचार किया था। सम्राट् कौ-चुङ्ने ६५६ ई० में कुयेन्-लुन् या हुलो-कोन्दोर नामक चीन-समुद्रके एक द्वीपमें औषधियों एवं जड़ी-बूटियोंके जमा करनेके लिये नन्दीको भेजा। वहाँसे ६६३ ई० में लौटकर नन्दीने तीन ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें एक ७३० ई० तक नष्ट हो चुका था।

चार शताब्दियोंके प्रयत्नसे चीनमें बौद्धधर्म कितना मूलबद्ध हो गया था, इसका प्रमाण इतिहासमें हमें कई बार मिल चुका है। वह विदेशी नहीं, स्वदेशी तथा चीनी संस्कृतिका अभिन्न अंग बन गया था। इसीलिये सारा प्रयत्न करनेपर भी उसे नष्ट नहीं किया जा सका। भारतीय धर्मदूतोंने सदा इस बातकी कोशिश की, कि चीनको बौद्धधर्म चीनी रूपमें मिले। धर्मग्रथोंके अनुवादका यह सारा प्रयत्न इसीलिये था, कि चीनी संघ अपने पैरोंपर खड़ा हो। थाङ-कालकी कठिन परीक्षाको पास करते हुए चीनी संघने यह भी दिखला दिया, कि वह अपने पैरोंपर खड़ा है; भारतीय भिक्षुओंके न होनेपर भी, संस्कृत बौद्धग्रन्थोंके न होनेपर भी, वह अपना काम अच्छी तरह चला सकता है। स्वेन्-चाङ् जैसा गम्भीर विद्वान् इस बातका निदर्शन था, कि भारतीय धर्माचार्योंके अभावमें चीनी भिक्षुओंका विद्यातल नीचे नहीं गिरेगा। स्वेन्-चाङ्ने भारतीय बौद्ध-दर्शनकी सर्वोच्च उड़ान विज्ञानवाद—स्थिर नहीं क्षणिक विज्ञानवाद, गतिमान विज्ञानवाद—के पठन-पाठनकी दृढ़ नींव रक्खी; दिङ्नाग जैसे प्रकाण्ड तार्किकके "न्यायमुख" का भी अनुवाद किया—अर्थात् भारतके लिये बौद्ध मस्तिष्ककी सबसे मूल्यवान् देन प्रमाणशास्त्रका चीन-वालोंको परिचय कराया, किन्तु अनुवादोंका तल स्वेन्-चाङ्के बादसे गिरता गया और प्रकाण्ड बौद्ध नैयायिकोंके ग्रन्थोंका चीनी-भाषामें अनुवाद नहीं हो सका। उनकी रक्षाका भार तिब्बतपर पड़ा, जिसके लिये भारतीय सदा उसके कृतज्ञ रहेंगे।

यह हम कह चुके हैं कि फा-शीङ मुख्यतः विनयग्रन्थोंकी खोजमें ही भारत गया था। ई-चिङ्की यात्राका तो उद्देश्य ही विनयके लिये था। जिस वक्त स्वेन्-चाङ् अपनी प्रतिभाका चमत्कार दिखला रहा था, उसी समय बौद्धभिक्षु ताउ-स्वेन्ने एक विनय-सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसमें विनयसूत्रोंमें निर्धारित भिक्षुओंके सादे जीवनपर बहुत जोर दिया गया था। यद्यपि इसमें प्राचीन स्थविर निकायोंसे बहुत प्रेरणा ली गई थी, किन्तु यह उनका अन्धानुकरण नहीं था।

"(इस सम्प्रदायके संस्थापकके) अनेक ग्रन्थोंसे पता लगता है, कि वह रहस्यवादी नहीं, व्यावहारिक प्रवृत्तिके पुरुष थे। सूक्ष्म सैद्धान्तिक बातोंकी जगह जीवनियों, साहित्यिक इतिहास और संघशासनपर अधिक जोर देते थे।"—यह हमें **कौ-सेङ-च्वान्** (महान् भिक्षुओंके चरित) में लिखा मिलता है, जिसे ह्वाइ-च्याउ ने ५१९ में लिखा था। **ताङ-स्वेन्के** विनय-सम्प्रदायको

धर्मगुप्तीय विनय मान्य था, जो चीनमें बहुत जनप्रिय हुआ था। ताउ-स्वेन् कहता था : शील और विनय धार्मिक जीवनके लिये अत्यावश्यक आधार हैं। ६६४ ई० में, जब **स्वेन्-चाङ्की** मृत्यु हुई, उसी समय **ताउ-स्वेन्ने** चीनी त्रिपिटक (चीनी-भाषामें भारतीय ग्रन्थोंके अनुवाद) का एक सूचीपत्र बनाया था, जो आज भी मौजूद है। वह दस अध्यायोंमें विभक्त है। पहले अध्यायमें २४८७ ग्रन्थों—मूलय या अनुवाद—की सूची और उनके कर्ताओंका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे अध्यायमें उस समय जितने ग्रन्थ उपलभ्य थे (जिनकी संख्या ७९९ थी), उनका तीन भागोंमें विभाजन किया गया था। अगले अध्यायोंमें और कितने ही विभाजन-अनुविभाजन किये गये हैं, जिनका पता नन्-जियोके सूचीपत्र और बाग्चीके ग्रन्थसे मिल सकता है।

ताउ-सीने ६५६-६०में कुछ महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्नोंका एक संग्रह तैयार किया था। उसका दूसरा ग्रन्थ "धर्मोद्यानमणिवाटिका" एक विशाल विश्वकोष-सा है, जिसमें त्रिपिटकसे उद्धरण एकत्रित किये गये हैं। चिन्-मयिने 'कू-चिन-ई-चिङ्-तू-ची, नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें सूत्रोंके प्राचीन एवं नवीन सम्बन्धकी परम्परायें एकत्रित की गई हैं, जो काश्यप मातङ् (६७ ई०) से स्वेन्-चाङ् (६६४ ई०) तकसे सम्बन्ध रखती है। इसमें अनुवादकोंका संक्षिप्त परिचय भी है। कहते हैं, इस ग्रन्थके वाक्य पहले ता-चू-अन्-शू विहारकी "अनुवादशाला" की दीवारपर बने अनुवादकोंके चित्रोंके नीचे लिखे हुए थे—यह वही विहार था, जिसमें स्वेन्-चाङ् रहता था।

(घ) दिवाकर (६७६ ई०)—ये मध्यमंडल (भारत) के भिक्षु थे, जो ६७६ ई० में चीन आये और वहाँ रहकर उन्होंने १८ ग्रन्थोंका अनुवाद किया : यद्यपि सम्राज्ञी वू-चो-तियान् की प्रस्तावनाके अनुसार १० ही ग्रन्थोंके अनुवाद करनेका पता लगता है। यह सम्राट् काउ-चुङ्का शास-काल था, लेकिन वह अपनी एक रानी कुउ-शीः अथवा सम्राज्ञी वू-चो-तियान्के हाथका खिलौना बन गया था। वू-चो को संसारकी सबसे बड़ी रानियोंमें गिना जा सकता है। अपने पतिके मरनेके बाद २० वर्षों तक (६८४-७०४ ई०) उसने राज्य किया। यह रानी बौद्धधर्म-पक्षपातिनी थी। उसने अनुवाद और धर्म-प्रचारके कार्यको प्रोत्साहन दिया था। प्रसिद्ध लुङ्-मेन् गुफामें बनी कितनी ही मूर्त्तियाँ इसने ही बनवाई थीं। पति और अपना काल मिलाकर प्रायः अर्धशताब्दी तक साम्राज्यकी बागडोर इसके हाथोंमें थी। इस समय उसने बौद्धधर्मपर किये गये अत्याचारों और आघातोंको मिटानेकी कोशिश की थी। अब फिर मध्य-एसिया और भारतसे भिक्ष आने लगे थे। इन्हींमें एक दिवाकर थे। दिवाकरके १० अनुवादित ग्रन्थोंमें अधिकतर सूत्र और दो अभिधर्म ग्रन्थ हैं। उनका ललितविस्तरका अनुवाद बहुत ही प्रसिद्ध है।

(ङ) देवप्रिय (६८९ ई०)—दिवाकरके आस ही पास खोतन (मध्य-एसिया) के भिक्षु देवप्रिय चीन पहुँचे। इन्होंने सात पुस्तकोंका अनुवाद किया। इसी समय चीनमें रहते एक भारतीय राजाके दूत किसी ब्राह्मणके पुत्र ह्वइ-चीने भी ६९२ ई० में किसी एक ग्रन्थका अनुवाद किया। अगले साल (६९३ ई०) कश्मीरके भिक्षु रत्नचिन्ताने सात ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

(च) शिक्षानन्द (६९५-७१० ई०)—इनका जन्म खोतनमें हुआ था। यह शक-जातिके थे। इन्होंने बौद्धधर्मका व्यापक अध्ययन किया था। सम्राज्ञी वू-चो-तियान् धर्म प्रचारमें विशेष रुचि दिखला रही थी। चीनमें सुरक्षित अवतंसकसूत्रका कुछ भाग लुप्त था। पता लगा कि खोतनमें सम्पूर्ण सूत्र मौजूद है। रानीने उस ग्रन्थको लानेके लिये एक दूत

भेजा और उससे यह भी कहा कि ऐसे विद्वान्को साथ लाना, जो अनुवाद कर सके। दूत 'अवतंसकसूत्र' की पूर्ण प्रतिके साथ शिक्षानन्दको भी लिये चीन लौटा। शिक्षानन्दको ता-पी-येङ्-युन् विहारमें ठहराया गया, जहाँ ६९५ ई० में उन्होंने भाषान्तर शुरू किया। सम्राज्ञी अनुवादमें स्वयं सहायता देनेके लिये आती थीं और अन्तमें उसने उसकी प्रस्तावना भी लिखी। अनुवाद करते समय दक्षिणी भारतके भिक्षु बोधिरुचि संस्कृत पढ़ते और चीनी भिक्षु ई-चिङ् चीनीमें अनुवाद पढ़ते जाते। तीन वर्ष बाद ६९८ में अनुवादका कार्य समाप्त हुआ। ७०० ई० में शिक्षानन्दने **लंकावतारसूत्र'** का अनुवाद किया। ७०४ ई० में वह स्वदेश लौट गये, किन्तु जब सम्राट् हो-ती गद्दीपर बैठा, तो उसने ७०८ ई० में अपनी नई राजधानीमें बुलाकर शिक्षानन्दको **ता-कियेन्-फू** विहारमें ठहराया। वह अधिक दिन नहीं जीवित रहे और ७१० में मर गये। शिक्षानन्दके ग्रन्थोंमें से १६ अब भी उपलभ्य हैं। १५ हजार "श्लोकोंका" **अवतंसकसूत्र** महायानसूत्रोंमें विशेष महत्त्व रखता है, जिसके बारेमें जापानी विद्वान सु-जु-की का कहना है—

"मेरे विचारमें संसारके धार्मिक साहित्यका कोई ग्रन्थ विचारोंमें इतना ऊँचा, अनुभूतिमें इतना गम्भीर और गुम्फनमें इतना विशाल नहीं हो सकता, जैसा कि यह सूत्र है। यह जीवनका अक्षय स्रोत है, जहाँसे कोई धार्मिक पिपासु अर्धतृप्त नहीं लौट सकता"। अवतंसकनिकायका संस्थापक अश्वघोषको बताया जाता है, किन्तु साकेतक सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोष सर्वास्तिवादी थे, इसमें सन्देहकी गुंजायश नहीं। परम्परा अवतंसक-सम्प्रदायके प्रथम गुरु अश्वघोष और द्वितीय नागार्जुनको बतलाती है। चीनमें इस सम्प्रदायके प्रथम गुरु फा-सुन थे, जो तियेन्-ताइ सम्प्रदायके संस्थापक ची-यिके समसामयिक थे। फा-सुन्ने ८४ वर्षकी अवस्थामें ६४० ई० में अवतंसक-सम्प्रदायकी स्थापना की। इसके तीसरे गुरु फा-चुङ्ने **श्रद्धोत्पादकके** अनुवादमें शिक्षानन्दकी विशेष सहायता की थी और अवतंसक सिद्धान्तपर बहुतसे ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें कुछको उन्होंने रानी वू-चो-तियान्की प्रार्थनापर लिखा था। लंकावतारसूत्रका अनुवाद भी शिक्षानन्दने बहुत अच्छा किया था। उनके सहायक फा-चङ्ने इस अनुवादके बारेमें लिखा है—"अनुवादक त्रिपिटकाचार्य शिक्षानन्द खोतनके रहनेवाले थे। अनुवाद मोटा-मोटी समाप्त हो गया था,... किन्तु अभी उसका संशोधन नहीं हो सका था, कि राजाज्ञा पा शिक्षानन्द स्वदेश लौट गये।

(छ) मि-तो-शान—७०२ ई० में त्रिपिटकाचार्य **मि-तो-शान** तुखार[1] (तू-हो-लो) से आये। चीन आनेसे पहले उन्होंने भारतमें १५ वर्ष त्रिपिटकका अध्ययन किया था। सम्राज्ञीकी आज्ञासे उन्हें शिक्षानन्दके अनुवादके संशोधनका काम दिया गया, जिसमें फू-ली, फा-चाङ् आदि अनुवादकोंने सहायता की। फू-लीने संशोधित चीनी अनुवादका अन्तिम रूप तैयार किया और सम्राज्ञीने प्रस्तावना लिखकर इसकी महिमा बखानी :

"चार आह्निकोंका अनुवाद (गुणभद्रकृत) अच्छा नहीं हुआ। इसकी भाषा पश्चिमी व्याकरणके अनुसार है, जिससे अच्छे समझदार आदमी भी भ्रममें पड़ जाते हैं और पढ़ नहीं सकते, अशिक्षित और अल्पज्ञ तो निश्चय ही इसका उल्टा अर्थ लगायेंगे।

"(बोधिरुचिकृत) दस आह्निक अपेक्षाकृत प्रकरण और अध्यायोंमें अधिक पूर्ण है, लेकिन उसका आन्तरिक अर्थ अच्छी तरहसे स्पष्ट नहीं किया गया।...

"इन कमियोंको देखकर सम्राज्ञीको खेद हुआ और उन्होंने दूसरे अनुवादके लिए आज्ञा दी।

---

[1] वक्षु नदीके उभय तटपर अवस्थित उजबेकिस्तान और अफगानिस्तानका भाग।

पाँच संस्कृत प्रतियों (गुणभद्र तथा बोधिरुचिको भी) दो चीनी अनुवादोंका सविस्तर तुलना करके यह अनुवाद तैयार किया गया।"

इससे पता लगेगा कि चीनी अनुवादोंके करनेमें कितनी सावधानी रक्खी जाती थी।

(ज) बोधिरुचि (६९३-७१३ ई०)—सम्राज्ञी वू-ची-तियान्के शासन-कालके एक रत्न शिक्षानन्दके बारेमें हम बतला चुके हैं। दूसरे रत्न ई-चिङ्की यात्रासे भारतीय पाठक परिचित हैं। बोधिरुचि जिन्हें धर्मरुचि, भी कहा जाता है, उस समयके तीसरे रत्न कहे जाते हैं, जिन्होंने अनुवाद ही का काम नहीं किया, बल्कि एक धार्मिक सम्प्रदायकी स्थापनामें सहायता की। बोधिरुचिका पहिला नाम धर्मरुचि था, जिसे सम्राज्ञी वू-चो-तियान्ने बदलकर बोधिरुचि कर दिया। यह काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे और सातवीं सदीके अन्तिम पादमें चीन पहुँचे थे। ६९३-७१३ ई० के बीस वर्षोंमें उन्होंने ५५ ग्रन्थोंका अनुवाद किया, जिनमें ४१ अब भी मौजूद हैं। कहा जाता है, ७२७ ई० में वह १५६ वर्षके होकर मरे। शिक्षानन्दने अवतंसकसूत्रका अनुवाद किया था। महायानके दूसरे विशाल सूत्र-समूह **रत्नकूटके** अनुवादका कार्य बोधिरुचिने पूरा किया। रत्नकूट एक नहीं, ४९ सूत्रोंका संग्रह है। इनमें २५ सूत्रोंका बोधिरुचिने स्वयं अनुवाद किया, बाकीमेंसे कुछ पहले अनुवादित हो चुके थे और कुछको बोधिरुचिके समसामयिकोंने किया। २४००० श्लोक संख्यावाले इस महान् ग्रन्थका अनुवाद ७१३ ई० में समाप्त हुआ। रत्नकूटका तिब्बती अनुवाद चीनी अनुवादसे किया गया था। इसीमें सबसे अधिक पाठ किया जानेवाला सूत्र **सुखावती-व्यूह** है। इसके दूसरे सूत्र हैं **उग्रपरिपृच्छा, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, पितापुत्रसमागम, काश्यपपरिवर्त्त** आदि।

सुखावती-व्यूह चीन और जापानमें एक प्रभावशाली बौद्ध सम्प्रदायकी गीता या बाइबिल है। इसमें अमिताभ बुद्ध और उनके स्वर्ग सुखावतीकी विवेचना की गई है। जापानके जोदो और शिन्सू सम्प्रदाय अमिताभ बुद्धके भक्त हैं, और "नमियो अमिदा बुत्सु" (नमोऽमिताभाय) उनके जपका महामन्त्र है। सुखावतीके इससे पहले भी कई अनुवाद हो चुके थे, जो पीछेके सभी अनुवादोंको मिलाकर इसके १२ अनुवाद हुए हैं। बोधिरुचिका अनुवाद १२ वाँ था। इसके पाँच ही अनुवाद अब बच रहे हैं। उपलभ्य अनुवादोंमें सबसे पुराना लोकक्षेम (१४७-८६) का है, जो अन्-शी-काउके समकालीन और मध्य-एसियाके भिक्षु थे। नागार्जुन सुखावती सम्प्रदायके प्रथम गुरु माने जाते हैं और बसुबन्धु द्वितीय। सुखावती या अमिताभ सम्प्रदाय अनन्य-भक्तिका सम्प्रदाय हैं। वह गीताके कृष्णकी तरह अमिताभके बारेमें कहता है—"सभी धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ, चिन्ता मत कर, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ाऊँगा।" सुखावती-व्यूहके बड़े और छोटे दो संस्करण हैं, जिनमें बड़े संस्करणका प्रवेश चीनमें २५१ ई० में संघवर्मा द्वारा हुआ। छोटा संस्करण दो सदी बाद ४०४ ई० में कुमारजीव द्वारा चीन पहुँचा। **हुइ-युवान्** (मृ० ४१६) ने सर्वप्रथम ३८६ ई० में पुण्डरीक-समाज स्थापितकर अमिताभ भक्तिका प्रचार शुरू किया, किन्तु आन्दोलन और आगे नहीं बढ़ा। ६ ठीं सदीके आरम्भमें बोधिरुचिके प्रभावसे **तन्-लुवान्** बौद्ध हुआ। तन्-लुवान्ने सुखावतीके पथको अपनाके ताव सम्प्रदायकी अपनी सारी पुस्तकें जला डालीं और फिर अमिताभका प्रचार शुरू किया। वह ६०० ई० में मरा। फिर **ताउ-चाउ** (जापानी, दो-शा-कू) सुखावती सम्प्रदायका प्रधानाचार्य बना। इसके समयमें सम्प्रदायकी बहुत उन्नति हुई। उसके बाद सन्-ताऊ (जापानी जेन्दो) महन्थ बना। बुद्धकी बुद्धि-प्रधान शिक्षामें अनन्य भक्तिका स्थान कठिनाईसे हो सकता है, किन्तु इसके लिये विदेशी

प्रभावके ढूंढ़नेकी अवश्यकता नहीं, भारतमें भागवतधर्म पहले ही से अनन्यभक्तिका प्रचारक मौजूद था। जैसे पीछे भारतमें भक्तिमार्गने भारी साहित्य तैयार किया, वैसे ही अमिताभ सम्प्रदायने जापान और चीनमें किया। बोधिरुचि इस भक्तिमार्गका प्रथम भारतीय धर्माचार्य थे।

(झ) ई-चिङ (६३५-७१३)—ई-चिङ् थाङ्-सम्राज्ञीके शासन-कालके एक रत्न और भारत आनेवाले चीनके तीन महापर्यटकोंमें एक थे। ई-चिङ् ६३५ ई० में **चो-शाङ** (ची-ली-प्रान्त) में थाङ्-सम्राट **ताइ-चुङ** (६२७-४९ ई०)के शासन-कालमें पैदा हुए—उसी कालमें जब कि बौद्धधर्मको जड़मूलसे उच्छेद करनेका प्रयत्न हो रहा था। सधारण शिक्षाके बाद बारह वर्षकी आयुसे उन्होंने बौद्धग्रन्थोंका अध्ययन शुरू किया और १४ वर्षकी आयुमें साधु हो गये। १८ वर्ष (६५२ ई०) की आयुमें उनके मनमें भारत जानेका खयाल आया। उस समय **स्वेन्-चाङको** भारत-यात्रासे लौटे (६४५ ई०) सात ही वर्ष हुए थे, लेकिन उनकी इच्छा कुछ दिनोंके लिये दब गई या उन्होंने स्वयं दबा दी और अगले उन्नीस वर्षोंके बौद्धधर्मके अध्ययनमें लगाया। वह साधारण पर्यटक नहीं बनना चाहते थे। विद्योपार्जनके बाद पर्यटनका क्या महत्व है, यह वह **स्वेन्-चाङके** जीवनसे जानते थे—स्वेङ-चाङ को **छाङ-अन्में** रहते उन्होंने देखा, उनके उपदेशोंको सुना भी होगा, ६६४ ई० में मृत्युके बाद महापर्यटकके श्राद्धमें स्वयं सम्राट्को शामिल होते देखा या सुना होगा, इसमें संदेह नहीं।

ई-चिङकी आँखोंके सामने भारतके साथ चीनका मधुर सम्बन्ध था। द्वितीय थाङ्-सम्राट्के कोड़ेकी मार पड़नेके बाद भी बौद्धधर्म फिर स्वस्थ और प्रसन्न था, यह हमें मालूम है। चीनसे तीर्थयात्री भारतमें आया-जाया करते थे, उन्हींमें ई-चिङ् भी शामिल हो गये और ६७१ ई० में कान्तनमें जहाज पकड़कर दक्षिणके सामुद्रिक मार्गसे चल पड़े। श्रीविजय (सुमात्रा) में पहुँचकर कुछ महीने ठहरे और ६७३ ई० में वहाँसे चलकर वह ताम्रलिप्ति (बंगाल) पहुँचे। ई-चिङ् भारतवर्षके बहुतसे धार्मिक स्थानोंमें गये, किन्तु उनका अधिक समय नालन्दामें विद्याध्ययनमें बीता। ई-चिङ्ने २५ वर्ष (६७१-९५) घूमते १३० देशोंको देखा। वह ६८५ ई० में ताम्रलिप्तिसे चलकर सिंहलमें कई साल बितानेके बाद ६८९ में श्रीविजय पहुँचे, जहाँ ६ वर्ष रहकर उन्होंने अध्ययन एवं अनुवादका कार्य किया और ६९५ ई० में ६० वर्षकी आयुमें वह स्वदेशमें लौटे। श्रीविजय उस समय संस्कृतका केन्द्र था, वहाँ बहुतसे संस्कृतके विद्वान् भिक्षु रहते थे, इसीलिये ई-चिङ्ने वहाँ इतने वर्ष बिताये। विदेशसे ही अपने अनुवादोंकी १० पोथियाँ—जिनमें उनकी यात्रा भी सम्मिलित थी—उन्होंने एक चीनी भिक्षुके हाथ देश भेज दिया।

६९५ में जब वह चीन लौटे, तो उस समय रानी **वू-चो-तियान्का** शासन था। ई-चिङ् अपने साथ पाँच लाख श्लोकोंके बाराबरके ४०० संस्कृत ग्रन्थ और वज्रासनविहार (बोधिगयाके मन्दिर) का एक नमूना ले गये थे। ई-चिङ्ने पहले शिक्षानन्दके साथ और पीछे स्वतन्त्र भी अनुवाद किये। उनके अनुवादित ५६ ग्रन्थ हैं। ७१३ ई० में ७९ वर्षकी उम्रमें इस महा-पर्यटकने शरीर छोड़ा।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ई-चिङ्की भारत-यात्रा और दक्षिणी टापुओंमें उनके जानेका मुख्य प्रयोजन था **विनयका** संग्रह करना। ई-चिङ् का सबसे बड़ा काम है मूलसर्वास्तिवादी पिटकका चीनीमें अनुवाद। चीनी त्रिपिटकमें इनकी १२ जिल्दें हैं। तिब्बती भाषामें भी इसी निकायका अनुवादित विनयपिटक १२ जिल्दोंमें है। इसके अनुवादके लिये ई-चिङ् की अध्य-

क्षतामें ५४ विद्वान् सात वर्ष (७०३-१०) लगे रहे। विनयपिटकके अतिरिक्त ई-चिङ्ने जिन-मित्र द्वारा रचित 'मूलसर्वास्तिवाद्विनयसंग्रह' और विशाखकी 'मूलसर्वास्तिवादनिकायविनयगाथा' का भी अनुवाद किया। विनयगाथाको ई-चिङ्ने नालन्दामें रहते वक्त अनुवादित किया था। उन्होंने इस विषयपर दो स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। तिब्बती भाषामें मूलसर्वास्तिवादनिकायका अनुवाद नवीं सदीमें हुआ, किन्तु चीनी-भाषामें उसका अनुवाद आठवीं सदीके आरम्भ ही में समाप्त हो चुका था।

ई-चिङ के अनुवादोंमें एक छोटा-सा ग्रंथ अध्यर्धशतकका है, जिसे कनिष्क-कालीन आचार्य मातृचेटने बुद्ध-स्तोत्रके रूपमें बुद्ध-सिद्धांतोंका परिचय करानेके लिये लिखा था। इस ग्रंथकी मूल संस्कृत प्रति मुझे तिब्बतमें मिली थी और अब प्रकाशित हो चुकी है। ई-चिङने इसके बारेमें लिखा है—

"मातृचेट साहित्यिक प्रतिभा एवं सच्छीलतामें अपने समयके सभी पुरुषोंमें महान् थे। . . .उन्होंने पहले चार सौ श्लोकोंका एक स्तोत्र बनाया, फिर दूसरा डेढ़ सौ श्लोकोंका।. . . सारे भारतवर्षमें भिक्षु बननेपर हरएक व्यक्तिको मातृचेटके स्तोत्र पढ़ाये जाते हैं। यह प्रथा महायान और हीनयान दोनोंमें है।"

ई-चिङके अनुवादोंमें एक महत्वपूर्ण पत्र **सुहृल्लेख** है, जिसे नागार्जुनने अपने सुहृत् शात-वाहन् राजाको लिखा था। इसके पहले गुणवर्मा (४३१) और संघवर्मा (५३४) ने भी इसके दो अनुवाद किये थे; किन्तु ई-चिङका अनुवाद अधिक बढ़िया और जनप्रिय हुआ। इसके बारे में ई-चिङ स्वयं एक जगह लिखते हैं—

"बोधिसत्त्व नागार्जुनने एक पद्यबद्ध पत्र लिखा, जिसे सुहृल्लेख कहते हैं। इसका अर्थ है—'घनिष्ट मित्रको पत्र'—इसे उन्होंने अपने दानपति (भक्त) दक्षिण-भारतके राजा जेतक शात वाहनके नाम लिखा था।" **स्वेन्-चाङ** और ई-चिङके बीचके समय (६४५-७१ ई०) में कितने ही और चीनी भिक्षु भारत आये थे। ई-चिङकी पुस्तक सी-यू-चीमें ऐसे ६० भिक्षुओंका उल्लेख है।

(ञ) **स्वेन्-चाउ**—उक्त ६० भारत-यात्रियोंमें **स्वेन्-चाउ** एक थे, जिनका भारतीय नाम प्रकाशमति था। प्रकाशमतिका जन्म ताई जिलेके सियेन्-चाङ स्थानमें हुआ था। भारत जाने-के पहले ६३८ में छाङ-अन जाकर उन्होंने संस्कृत पढ़ी, फिर भिक्षुओंका खर्तरदण्ड अपने हाथमें ले वह पश्चिममें सोग्द, तुर्क और भोटके राज्योंसे होते जालंधर पहुँचे, रास्तेमें डाकुओंके हाथ-से बालबाल बचे। प्रकाशमतिने ४ वर्ष जालंधरमें रहकर सूत्र एवं विनयका अध्ययन किया, फिर वहांसे चलकर ४ वर्ष महाबोधि (बोधगया) में रहे और अभिधर्मके अध्ययनमें सारा समय लगाया। फिर नालंदामें तीन साल रहते हुए मध्यमकारिका (नागार्जुन), शतशास्त्र (आर्य-देव) को आचार्य जिनप्रभसे पढ़ा। तीन साल और गंगाके उत्तर किसी विहारमें बिताके वह नेपाल और तिब्बतके रास्ते बहुत-सी पुस्तकें लिये स्वदेश लौटे।

प्रकाशमतिने **सर्वास्तिवादविनयसंग्रहका** अनुवाद शुरू किया, किन्तु समाप्त करनेसे पहिले सम्राट्ने उन्हें भारत जाकर लोकायत्त नामक ब्राह्मणको लानेका आदेश दिया, जिसके बारेमें कहा जाता था कि वह अमर करनेकी विद्या जानता है। लोकायत उड़ीसाका रहनेवाला था। प्रकाशमति (स्वेन्-चाउ) शिला पुंजोंकी सीधा चढ़ाई और भीषण खड्डोंवाले रास्तों तथा रस्सीके पुलोंसे तिब्बत होकर आगे बढ़े। एक जगह मुश्किलसे डाकुओंसे उनकी जान बची, फिर वह

भारतकी उत्तरी सीमापर पहुँचे। वहाँ उन्हें चीनी राजदूत मिला, जो लोकायतको लिये चीन लौट रहा था। तो भी प्रकाशमति कितने ही प्रदेशोंमें घूमते नालंदा पहुंचे, जहाँ ई-चिङसे उनकी भेंट हुई। वह पश्चिमोत्तर पथसे देश लौटना चाहते थे, किंतु ताजिकों (अरब मुसलमानों) ने उस रास्तेको बंद कर दिया था। तिब्बतका रास्ता भी वैसे ही बंद था, इसलिये वह मगध लौट गये, जहाँ ६० वर्षकी आयुमें उनका देहांत हुआ।

(२) दूसरे चीनी पर्यटक—

भारत आनेवाले अन्य चीनी यात्रियोंमें एक ताव-ही भी थे, जिनका भारतीय नाम श्रीदेव था। वह ची जिलेके ले-चेङ स्थानके रहनेवाले थे। बहुतसे राज्योंसे होते तिब्बतके रास्ते वह महाबोधि पहुँचे और कितने ही वर्ष वहां बिताये। नालंदामें उन्होंने संस्कृत-भाषा और विनयका अध्ययन किया। साहित्यमें उनकी बड़ी रुचि थी। नालंदामें उन्होंने ४००से अधिक अध्यायोंके ग्रंथोंकी प्रतिलिपि की और बोधगयामें एक पाषाणपट्टिकापर चीनी अभिलेख लिखा। वह ई-चिङके समकालीन थे, पर उनसे उनकी भेंट नहीं हुई। वह ५०वर्षकी अवस्थामें मरे। ताव-हीके जिलेके ही दूसरे भिक्षु **सी-पियेन्** थे। उन्होंने भारतमें कई साल रहकर अध्ययन किया। वहीं ताव-हीसे उनकी मुलाकात हुई। बिना कुछ काम किये ही ३५ वर्षकी आयुमें उनका देहांत हो गया।

बोङ-पो (मतिसिंह), **ताउ-फाङ, शान-मिङ** भी इसी समयके चीनी भिक्षु थे, जो भिन्न-भिन्न रास्तोंसे होते हुए भारत आये। **स्वेन्-होइ** चीन-राजधानीके आदमी थे। पश्चिमोत्तर पथसे वह कश्मीर पहुंचे, जहांसे कितने ही स्थानोंको देखते नेपाल लौटे और वहीं उनका देहांत हो गया। चित्रवर्मा एक और चीनी भिक्षु थे। वह पश्चिमोत्तर मार्गसे बलख पहुंचे और वहां नव-विहारमें ठहरे, जो तुरंत ही अरबोंके हाथों ध्वस्त होनेवाला था। यह हीनयानी विहार था। वहां भिक्षु होनेके बाद स्वेन्-जेईका नाम चित्रवर्मा पड़ा। कुछ संस्कृत पढ़नेके बाद वह स्वदेश लौट गये।

ई-चिङ भोटकी रानी (स्रोङ-चनकी पत्नी चीनी राजकुमारी ऊ-चेङ) की धायके दो बेटोंसे मिले। वह संस्कृत खूब पढ़ और बोल सकते थे। ई-चिङ ने उस समय भारत आये कितने ही कोरियावासी भिक्षुओंका भी उल्लेख किया है। आर्यवर्मा उनमेंसे एक थे, जिन्होंने ६३८ ई० में छाङ-अन् छोड़ा और नालंदामें रहते ७० वर्षकी उम्रमें शरीर-त्याग किया। ई-चिङ नालंदामें रहते थे। एक दिन उन्होंने एक भिक्षुकी पुस्तक-धानीको देखा, जिसमें बहुतसे संस्कृत और चीनीके ग्रंथ थे। भिक्षुने बताया, कि एक कोरियन भिक्षु **ह्वइ-ये** ६३८ ई०में नालंदा आये थे और साठ वर्षकी अवस्थामें यहीं मरे। स्वेन्-ताइ (सर्वज्ञदेव) नामक एक और कोरियन भिक्षु तिब्बतके रास्ते भारत आये, जहां वह कई वर्षों (६५०-५५) पवित्र तीर्थोंकी यात्रा करते रहे।

(३) मध्य-एसियाके भिक्षु—

नालंदामें ई-चिङको तुषारके भिक्षु बुद्धधर्म मिले। तुषार या तुखार उस समय उज्बेकिस्तान के दरबंद और हिंदूकुश पर्वतमालाके बीचके प्रदेशको कहा जाता था। बुद्धधर्मने बताया कि हमारे देशमें बौद्धधर्मका खूब प्रचार है। शरीरमें वह बड़े लंबे-चौड़े और बलिष्ठ थे, किन्तु प्रकृतिमें बहुत कोमल। वह चीनके प्रांतोंमें भी घूमे थे, और वहींसे नालंदा आये थे। मध्य-एसियाके एक दूसरे भिक्षु संघवर्मा भी मिले थे। यह सोग्द (समरकंद-

वाले) प्रदेशके निवासी थे। वह जवान ही थे, जब मरुभूमि पारकर चीन पहुंचे। सम्राट्ने उन्हें अपने राजदूतके साथ ६५६-६० ई० में भारत भेजा, जहां उन्होंने वज्रासन (महाबोधि) का दर्शन किया, सात दिन सात रात दीपक जलाये। महाबोधिके बागमें एक अशोक वृक्षके ऊपर उन्होंने अवलोकितेश्वर बोधिसत्वकी मूर्ति उत्कीर्ण की। चीन लौटनेपर सम्राट्की आज्ञा हुई, कि अकाल और महामारीसे पीड़ित **चया-उ** (कोचीन-चीन) के लोगोंकी सहायता करने जायें। वह बोधिसत्वमार्गके पथिक थे, प्रतिदिन लोगोंमें अन्न बाँटते और अनाथों, दुखियोंके लिये रोते। लोग उन्हें "रोदक बोधिसत्व" कहते थे। महामारीमें सेवा करते-करते उन्हें बीमारी लग गई और ६० वर्षकी अवस्थामें उनकी मृत्यु हो गई। कहां समरकंद, कहां नालंदा, कहां छाङ-अन् और कहां चंपा और कोचीन-चीन !

× × ×

सम्राज्ञी **वू-चो-तियान्** बुढ़ापे और बीमारीके कारण ७०४ ई० में सिंहासन छोड़नेके लिये मजबूर हुई और जेलमें डाले अपने पुत्र चाङ-चुन्को निकालकर गद्दीपर बैठाया। नया सम्राट् निर्बल था और ७०८ में षड्यंत्रोंका शिकार हुआ। कुछ संघर्षोंके बाद स्वेङ-चुन्ने गद्दीपर बैठकर ७१३-५५ तक राज्य किया। बौद्धधर्मके प्रति राज्यकी नीतिमें इस समय कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। आरंभमें जरूर नये विहारों और मूर्तियोंके बनानेमें बाधा डाली गई तथा १२००० भिक्षुओंको गृहस्थ बननेकी आज्ञा हुई थी, किंतु इसके बाद ही फिर अवस्था सुधर गई। देशी-विदेशी भिक्षुओंका यातायात फिरसे शुरू हो गया।

(४) अन्य भारतीय पंडित

(क) शुभाकरसिंह (७१६–)—यह ७१६ ई० में राजधानी छाङ-अन्में आये। यह मध्य-एसियाके रहनेवाले थे। जान पड़ता है, शक और शाक्य शब्दोंकी समानतासे शकोंमें धारणा हो गई थी, कि बुद्ध और उनका शाक्यवंश शकोंसे संबंध रखता है। शुभाकरको शाक्यमुनिके चचा अमृतोदनके वंशका कहा जाता था। वह कितने ही समय तक नालंदामें भी रहे। जब वह चीन आये, तो ८० वर्षके हो चुके थे। उन्होंने पांच ग्रंथोंका अनुवाद किया और ८३५ ई० में मर गये। शुभाकरके साथ पहले-पहल बौद्ध-तांत्रिक-साहित्य (वज्रयान) चीनमें प्रविष्ट हुआ और इसने चीनके प्रसिद्ध सामंत चाङ-सुइ (ई-सिङ ६७२-७१७) को प्रभावित किया। शुभाकर-का मत था, कि चीनमें दार्शनिक बारीकियों या व्यवस्थित पूजा-पाठोंमें समय लगाना बेकार है। यहां सारे मतमतान्तरोंको छोड़कर सभी बुद्धों, बोधिसत्वों, हिंदू-देवताओं और चीनी सेङ्को स्वीकार कर लेना चाहिये। साधारण जनताके लिये शुभाकरने एक देवमाला तैयार की और मंत्र द्वारा उन्हें प्रसन्न रखनेकी विधि बताई। मन्त्रोंका महातम बढ़ा, उनके उच्चारणके लिये उच्चारणानुकूल न होनेके कारण चीनी लिपि बाधक हुई, तो भी शुभाकरने उसीमें मंत्रोंको उच्चारणके अनुसार लिखा। तंत्रमतके बड़े देवता वैरोचन और वज्रपाणि थे।

शुभाकरको ही चीनमें तन्त्रमत फैलानेका अगुवा कहा जाता है, और यह भी कि वह कूचानिवासी थे।

(ख) पो-श्रीमित्र—३०७-१२ ई० में चीन आये, वह तांत्रिक ग्रंथोंके अनुवादक थे। तिब्बती इतिहास ग्रंथ **देब्-तेर-ङोन्-पो-मे-लोङमें** बतलाया गया है, कि "श्रीमित्रने महामायूरी और दूसरी धारणियोंको चीनी-भाषामें अनुवाद करके वहां उनका प्रचार किया। यद्यपि इसी

समय कितने ही बड़े-बड़े तांत्रिक भारतीय चीनमें आये, किंतु तांत्रिक ग्रंथोंका अनुबाद बहुत कम हुआ। कुमार श्री (पो-श्रीमित्र) ने भी तांत्रिक सिद्धांतोंको साधारण जनतामें नहीं फैलाया, बल्कि रहस्य रखते हुए अपने एक दो शिष्योंको ही बतलाया; इसीलिये तांत्रिक धर्म बहुत आगे नहीं बढ़ा।

श्रीमित्र और शुभाकरके बीचके ४०० वर्षोंमें केवल थोड़ी-सी धारणियोंका अनुवाद हुआ। भारतमें आठवीं शताब्दी तांत्रिक धर्मके प्राबल्यका समय था। उस समय तंत्रपर कितने ही ग्रंथ लिखे जा रहे थे। परंतु चीनमें तंत्रयानकी वास्तविक स्थापनाका श्रेय वज्रबोधि और अमोघ-वज्रको है, जो ७१९ ई० में चीन पहुंचे।

(ग) **वज्रबोधि**—वज्रबोधिका जन्म मलय (दक्षिण-भारत)में ६०० ई० में एक ब्राह्मण-घरमें हुआ था। इनके पिता कांचीके राजा (पल्लव) के गुरु थे। वज्रबोधि अपने गुरुके साथ हीनयान पढ़ने नालंदा गये। ५० वर्षकी उम्र थी, जब वज्रबोधि अपने शिष्य अमोधवज्रके साथ चीन गये। वह वहीं ७१ वर्षकी आयुमें (७३२ ई०) में मरे। ७२३-३२ ई० में वज्र-बोधिने ११ तांत्रिक ग्रंथ चीनीमें अनुवादित किये। उनके अनुवादोंसे मालूम होता है, कि उनका वज्रयानी साहित्यसे भलीभांति परिचय था। उन्होंने इस बातका पूरा ध्यान रक्खा, कि तंत्र-मंत्रका रहस्य अधिक लोग न जानने पायें, इसीलिये उन्होंने सिर्फ दो चीनी भिक्षुओंको अपना शिष्य बनाया। भारतमें भी तंत्रमंत्रका प्रचार अभी इसी रीतिसे हो रहा था, जिसे ८४ सिद्धोंमें प्रथम (सरहपा) ने अपने लोकभाषाके दोहों द्वारा अधिक सार्वजनीन बना दिया।

(घ) **अमोघवज्र**—यह वज्रबोधिके शिष्य उत्तरी भारतके भिक्षु और ब्राह्मणवंशज थे। जब वह अपने गुरुके साथ ७१९ ई० में चीन पहुंचे, तो उनकी आयु केवल २१ वर्षकी थी। गुरुके मरनेके बाद अमोघने गद्दी संभाली और मांग इतनी बढ़ी, कि सरकारने तांत्रिक ग्रंथोंके आधिक धिक संग्रहके लिये (७४१-४६) उन्हें भारत और विशेषकर सिंहल भेजा। सिंहलमें उस समय जान पड़ता है, तंत्रकी ख्याति बढ़ गई थी। लौटनेके बाद सम्राट्ने अमोघवज्रको चू-चाङ (प्रज्ञाकोष) की उपधि दी। अमोघ अब स्वदेश लौटना चाहते थे और आज्ञा भी मिल गई, किंतु अंतमें राजधानीमें रहना पड़ा। सम्राट् ताई-चुङ (७६३-७९) ने उन्हें कई सम्मानसूचक उपाधियां दीं। अमोघवज्रने अपने बारेमें एक लेख लिख छोड़ा है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है— "बचपनसे ही मैं अपने गुरुकी १४ वर्ष तक (७१९-३२) सेवा करता रहा और उनसे योगकी शिक्षा पाता रहा। (चीनसे) फिर भारतके पांचो खंडोंमें जाकर सूत्र और शास्त्रके ५००से अधिक ग्रंथ मैंने जमा किये। यह ऐसे ग्रन्थ थे, जो अभी तक चीन नहीं आये थे। ७४६ ई० में मैं राजधानी लौटा, तबसे आज (७७१ ई०) तक मैंने ७७ ग्रंथोंका अनुवाद किया, जो १२० जुज़ (१२००० श्लोकके बराबर) हैं।" अमोघकी मृत्यु ७७४ ई० में हुई। उन्होंने सब मिलाकर १०८ ग्रंथोंका अनुवाद किया। सम्राट्ने उनकी सेवाओंसे प्रसन्न हो ३००० प्रजावाली एक जागीर भेंट की। अमोघके बाद चीनी भिक्षु हुइ-लाङ वज्राचार्य बनाये गये। सिङ-गोन् (मंत्र) सम्प्रदायके यह तीसरे प्रधानाचार्य थे।

यद्यपि वज्रयानको राजकी ओरसे बहुत सम्मान प्राप्त हुआ, सुविधायें भी मिलीं, किन्तु चीनमें कभी उसका प्रभाव अधिक नहीं बढ़ा। जापानमें अवश्य उसका जोर बहुत रहा। **कोबो-ताइ-सी चीनमें बौद्धधर्मकी शिक्षाके लिये आये थे।** उन्होंने यहां तंत्रयानकी शिक्षा प्राप्त की

और लौटकर उन्होंने अपने देशमें सिङ-गोन् सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसका केन्द्र कोयाशान् आज भी महातीर्थ है।

× × ×

(ङ) ऊ-किङ (७५४)—सम्राट् स्वेन्-चुङ ने ७५१ ई० में पिन् (कपिशा) के राजाके पास एक दूतमंडल भेजा, जिसमें ऊ-किङ भी था। दूतमंडल अपने राजकीय कामको समाप्त कर लौट गया, किन्तु बीमारीके कारण ऊ-किङको एक विहारमें छोड़ देना पड़ा। ऊ-किङने शपथ ली, कि यदि जीवन बच गया, तो उसे बुद्धकी सेवामें लगाऊंगा। स्वस्थ होनेपर वह ७५७ ई० में १९ वर्षकी अवस्थामें भिक्षु हो गया। गुरुने उसे धर्मधातु नाम दिया। उसने चार वर्ष संस्कृत पढ़ी, फिर कई बौद्ध तीर्थोंका दर्शन करते नालंदा विहारमें जाकर ४ साल रहा। फिर वह उद्यान लौटा। वह देश लौटना चाहता था, लेकिन विहाराधिपतिने मना किया। अधिपति ७५० ई० में चीन गया था और वहांकी अवस्थासे संतुष्ट नहीं था। धर्मधातुको अधीर देखकर विहाराधिपतिने अनुमति दे दी और साथ ही **दशभूमिशास्त्र और भवसंक्रान्तिसूत्रकी** पोथियाँ दीं। रास्तेके देशोंको देखते मध्य-एसियाके नगरोंमें होते वह कू-चा पहुंचा। उसने उन संस्कृत ग्रंथोंको वहांके भिक्षुओंकी सहायतासे चीनीमें अनुवाद करना चाहा। कुछ समय बाद वह पेइ-पिङ (ऊरुमची) गया, जहां खोतनी भिक्षु शीलधर्मने संस्कृतसे अनुवाद किया और भिक्षु शान्-यिन्ने आवृत्ति की। ऊ-किङने संस्कृत और चीनी दोनोंकी तुलना की। गोबीकी मरुभूमिसे बचनेके लिये ऊ-किङ ने उइगुर (तुर्क) लोगोंके देशमें होते उत्तरी मार्गको पकड़ा—उइगुर-खान बौद्ध नहीं था। ऊ-किङ संस्कृत मूलको ऊरुमचीमें छोड़ चीनी अनुवाद लेकर देश लौटा। ७९० ई० में छाङ-अन् पहुंचकर उसने पुस्तक और प्रसादकी दूसरी वस्तुयें सम्राट्को भेंट कीं। सम्राट्ने उसे सम्मानित किया। ऊ-किङ ४० वर्ष (७५१-९०) विदेशमें रहकर ६० वर्षका बूढ़ा हो स्वदेश लौटा था। ऊ-किङकी चीनी जीवनीके अनुवादक **शावान्** और सेल्वेन् लेवीने लिखा है—"भिक्षु ऊ-किङ, जिसे संघने धर्मधातु नाम दिया था, ७३०में पैदा हुआ था। वह ७५१ ई० में पश्चिमके देशोंमें गया और ४० वर्ष बाहर रहनेके बाद स्वदेश लौटा। इसी बीच वह मध्य-एसिया और भारत गया। उसकी यात्रा एक श्रद्धालु भक्तकी थी, एक चतुर पर्यवेक्षककी नहीं। वह स्वयं अच्छा पण्डित नहीं था, इसलिये अपने लाये सूत्रोंके अनुवाद करने और अपनी स्मृतियोंको लिखनेके लिए दूसरोंकी सहायता लेनेको बाध्य था। उसकी लंबी यात्रायें बिल्कुल अर्थहीन नहीं थीं। उसने बहुत देखा, लेकिन बहुतको याद नहीं रक्खा। यद्यपि उसकी टिप्पणियां अत्यल्प और रूखी-सूखी हैं, तो भी वह हमारी दिलचस्पी बढ़ाये बिना नहीं रहतीं; वह अशांति और अनिश्चित युगीन मध्य-एसियाकी उस समयकी हमें झाँकी देती हैं; जब बौद्धधर्म वहांसे लुप्त होने जा रहा था। उस समय उस प्रदेशमें वह कितना समृद्ध और सबल था, इसका हमें उनसे परिचय मिलता है। इनसे एक अप्रत्याशित बात यह प्रकट होती है, कि तब भारत और अफगानिस्तानकी सीमा तक सभी जगह तुर्कोंका प्रभुत्व था।"

(च) प्रज्ञा (७८५-८१०)—स्वेन्-चुङ (७१३-५६) के बाद सू-चूङ (७५६-६३), ताइ-चुङ (७६३-८०) और ते-चुङ (७८०- ८०५) थाङ-सम्राट् हुए। इनके शासन-कालमें कोई बौद्ध भिक्षु मुश्किलसे भारतसे चीन गया। ७८५ ई०में कपिशा (काबुल)के भिक्षु चीन

आये और ८१० तक रहे। इस समय सुन्-चुङ (८०५-८०६), सियेन्-चुङ (८०६-१०), थाङ सम्राट रहे। प्रज्ञाने केवल चार ग्रंथोंका अनुवाद किया, किन्तु वे बड़े-बड़े ग्रंथ हैं। इन ग्रंथोंमें एक है महावैपुल्य-बुद्ध-अवतंसक-सूत्रका एक अध्याय बोधिसत्वसमंतभद्रचर्या और अधिष्ठान। पुस्तकके अंतमें दक्षिण-भारतके ऊ-चाके राजाका चीनी सम्राट्के नाम लिखा पत्र दिया था। राजाने इस संस्कृत-पोथीको ७९५ ई० में सम्राट्को भेंट की थी। प्रज्ञा और उसके साथी भिक्षुओंने ७९६-९८ ई० में उसका अनुवाद किया। प्रज्ञाके अनुवादोंमें महावैपुल्य-महासन्निपात-सूत्र भी है। प्रज्ञाके पारमिता-सूत्रके अनुवादके बारेमें एक परंपरा चली आती है—उस समय चीनमें किङ-चिङ (आदम) नामका एक बड़ा ही सम्मानित नेस्तोरीय ईसाई साधु रहता था। उसने **सिङ-अन्-फूमें** एक मंदिर बनवाया था। प्रज्ञाने इस सूत्रको उक्त नेस्तोरीय भिक्षुकी सहायतासे अनुवादित करके सम्राट् ते-चुङको अर्पित किया, लेकिन सम्राट्ने उसे यह कहकर लेनेसे इन्कार कर दिया, कि किङ-चिङको मे-सी-ही धर्मके प्रचारमें दत्तचित्त होना चाहिये, शाक्यमुनिकी शिक्षाके प्रचारका भार बौद्धोंके ऊपर छोड़ देना चाहिये। पुस्तकपर केवल प्रज्ञाका नाम लिखा गया। परस्पर धार्मिक सहिष्णुताका कितना अच्छा उदाहरण इन दोनों भिक्षुओंने दिया था। मध्य-एसियामें इस्लामकी तलवारके सामने प्राणोंकी बाजी लगाते समय भी इनके धर्मबंधु बौद्ध और नेस्तोरीय साधुओंने ऐसा ही किया था। तरिम-उपत्यकासे लदाख भाग आये बौद्ध भिक्षुओंके साथ उनके बंधु नेस्तोरीय भिक्षु भी थे।

(छ) अजितसेन—थाङ-कालके अंतिम भारतीय पंडित अजितसेन थे। वह किस सन्में आये, इसका पता नहीं, लेकिन इतना मालूम है, कि वह उत्तर-भारतके भिक्षु थे और एक ग्रंथमें उन्हें थाङ-कालमें आया लिखा गया है। उन्होंने तीन सूत्रोंका अनुवाद किया था, जो अब भी मौजूद हैं।

अध्याय ८

पांच वंश और दस रियासतें

§ १. राजनैतिक अव्यवस्था

९०६ ई० में थाङ-वंशका सितारा डूबा। सारे चीनमें विद्रोह और अशांतिका बाजार गर्म हो गया। सब जगह मनस्वी और साहसी व्यक्ति सम्राट् बननेकी होड़ लगाने लगे। उत्तरी चीनके कुछ भागोंमें जो छोटे-छोटे राज्य कायम होकर ९०७-६० तक रहे, उनमें तीन विदेशी वंशके थे। मंचूरिया और मंगोलियाको खित्तनोंने ले लिया। खित्तन ९०७ से ११२५ई० तक शासन करते रहे। चीनी इतिहासकार इसे पांच वंश और दस रियासतोंका काल कहते हैं। इस समय सैनिक प्रदेशपतियों और शक्तिशाली जिलाधिकारियोंने अपनेको राजा, महाराजा और सम्राट् घोषित कर रखा था। एक तरफ उनका स्वेच्छाचारी शासन था और दूसरी तरफ लाखोंकी तादादमें संगठित डाकू गाँवों एवं नगरोंको लूटते, जलाते, मारते घूम रहे थे। थाङ-कालके अस्तके साथ विलासी जीवन भी पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। स्त्रियोंके पैरोंके बाँधनेकी[1] प्रथाके आरंभके बारेमें बताया जाता है, कि थाङ-दरबारकी नर्त्तकियोंसे यह काम शुरू हुआ और उसके अंतिम समयमें ऐसी स्त्रियोंकी संख्या दस लाख तक पहुँच गई थी। यह प्रथा कितनी जबर्दस्त है, यह इसीसे मालूम होगा, कि १०० वर्षके विरोधी प्रचार और विरोधी कानूनके होते भी अभी कितनी ही जगहोंपर इसको छोड़ा नहीं गया है। यह प्रथा चीन-प्रभावित जातियोंमें नहीं स्वीकार की गई। मंगोल, मंचू, जुर्छेन इससे मुक्त रहे। क्वान्तुङकी मलाह स्त्रियोंमें भी इसका रवाज नहीं था।

§ २. छापेका रवाज

नवीं शताब्दीके अंतमें चीनमें एक और उपयोगी चीजका प्रचार बढ़ा, वह है छापेका रवाज। ८६८ ई० में **वज्रच्छेदिकासूत्रको** छापा गया—शायद छापेका प्रचार करनेमें बौद्ध ही पहिले थे। उन्हें अपनी सर्वप्रिय धार्मिक पुस्तकोंको बड़ी संख्यामें प्रकाशित करनेकी अवश्यकता पड़ी। उसी प्रतिको हजारों बार लिखवानेसे मुहरकी तरह लकड़ीकी पट्टियोंपर अक्षरोंको उलटे खुदवाकर वह एक बारके परिश्रमसे दस-बीस हजार प्रतियां छपवा सकते थे। पहिले इस कामको उन्होंने छोटी-छोटी धारणियोंसे शुरू किया होगा, जो चार-पाँच पंक्तियोंकी होती हैं। फिर आगे बढ़ते छोटे-बड़े ग्रंथोंको उसी प्रक्रियासे छापने लगे। धारणियां हमारे यहां भी उलटी लिखी गईं, लेकिन उन्हें पीतलके सांचेपर खुदवा मिट्टीके लोंदेपर दबाकर उतारा जाता था।

---

[1] शैशवमें लड़कियोंके पैरोंको पट्टियां लपेटके कसकर बाँधते थे, जिसमें पैर बहुत छोटे रह जायें।

धर्म-स्थानोंमें इनकी भेंट पुण्यकी बात समझी जाती थी। ऐसी धारणियां भारतके अनेक बौद्ध-स्थानोंमें मिली हैं। जिसने उल्टी खोदी हुई पांच पंक्तिकी धारणीको गीली मिट्टीपर सीधे उतरते देखता, उसके लिये चीनी ढंगकी छपाईकी कल्पना कठिन नहीं थी। भारतमें भी ब्लाक छपाईकी कल्पना और प्रचार होता, यदि यहां कागज जैसी-लचीली लेखन-सामग्रीका पहिलेसे आविष्कार हो गया होता। चीनने कागजका आविष्कार कर लिया था, इसलिए उसने धारणियोंको कागजपर छापना पहिले शुरू किया, फिर पुस्तकोंका नंबर आया। जो भी हो ८७७ और ८८२ ई०में चीनमें पंचांग छपे। ९०० ई० में छपी तीन कुंडलियां मिली हैं—चीनमें पहिले पुस्तकोंको कुण्डलीकी भांति लपेटकर रक्खा जाता था। मंगोलकाल-की छपी ऐसी बहुत-सी कुण्डलियां मैंने तिब्बतके स-स्क्य विहारमें देखीं। ८८३ ई० में चेङ-तू (पश्चिमी जेचुवान) के एक अफ़सरने कई तरहकी छपी पुस्तकोंका उल्लेख किया है। जान पड़ता है, उस समय चेङ-तू ब्लाक-छपाईका केन्द्र था। कागजका नोट भी पहिले-पहल यहीं छापा गया था। ९२९ ई० में लोयाङके राजवंशने जेचुवानपर अधिकार जमाकर पांच वर्ष शासन किया। वहां उन्हें छापाखानेका पता लगा। सरकारने ९३२ ई० में कन्फूसी-संहिताओंके छापनेका हुक्म दिया। २१ वर्षके भीतर १३० जुज़ोंमें यह पुस्तकें छपीं। बौद्ध अपने ग्रन्थोंकी छपाईमें सबसे आगे रहे होंगे, इसके कहनेकी अवश्यकता नहीं। ९७१-८३ के बीच उन्होंने पाँच हजार जुज़ोंमें सारा त्रिपिटक छापा और उसकी प्रतियाँ ९८९ में कोरिया और ९८७ में जापान पहुँचीं। इस प्रकार दसवीं सदीके समाप्त होते-होते मुद्रणकला चीनमें अपने यौवनपर पहुंच गई। हाँ, वह अभी आधुनिक ढंगकी मुद्रणकला नहीं थी। अक्षरोंको अलग-अलग करके उन्हें धातुओंमें ढालकर फिर कम्पोज करके छापनेका काम युरोपने किया। चीनके ऐसा न करनेका कारण यह भी था, कि उनकी लिपिके उच्चारणा-नुसारी न होनेसे उनका काम ४० या ५० अक्षरोंसे नहीं चल सकता था। उन्हें अलग-अलग टाइपके हजारों अक्षर आवश्यक होते। भारतके लिये क्या पूछना है? उसने तो मानो पिछली सात शताब्दियों तक अपनी लुटिया ही डूबा रक्खी थी। कागजके लिये उपयुक्त छाल नीचे और हमालयमें जगह-जगह मौजूद थी, और तिब्बतसे आये कागजपर लिखे पत्रोंको देखा भी होगा; किन्तु भारत बारहवीं शताब्दीके अन्त तक पूरी तरह अपने तालपत्र और भोजपत्रसे चिपका रहा।

§३. विहारों और ग्रन्थोंका संहार

थाङ-वंशके पतन और इलाके-इलाकेके सम्राटोंके समय पहलेसे चली आती। सांस्कृतिक प्रगतिको बहुत धक्का लगा। युद्ध और खून-खराबी चारों ओर फैली हुई थी। शासन क्रूर और भ्रष्टाचारपूर्ण था। सिक्के अपने दरबमें इतने खोटे हो गये थे, कि लोगोंने वस्तुओंका बदलैन शुरू कर दिया। नहरों और सड़कोंकी मरम्मत बन्द हो गई, जिसके फल-स्वरूप बाढ़, महामारी और अकालका प्रसार जोरोंपर था। अभी बौद्धधर्मपर काफी नहीं बीत चुकी थी, इसलिये ९५५ ई० की गरमियोंमें एक और राजाज्ञा निकली, जिसके अनुसार २६९४ विहारोंको छोड़ ३०३३६ को नष्ट कर दिया गया। इससे पहिले ८४५ ई० में ४६०० विहार और ४०००० मन्दिर नष्ट किये जा चुके थे, तथा २ लाख ६० हजार पाँच सौ भिक्षु-भिक्षुणियोंको गृहस्थ बननेके लिये मजबूर किया गया था। पर उत्तरी चीनमें सभी जगह यह बात नहीं थी। हाङ्-चाऊके राजाओंने बहुत-से विहार और स्तूप बनवाये, तीर्थस्थानोंमें बहुत-सी मूर्त्तियाँ स्थापित कीं,

९५५ ई० में पीतलके ८४ हजार छोटे-स्तूपोंको ढलवाया, त्रिपिटकके कुछ भागको बल्कि पत्थरपर भी खुदवाया गया और जापानके साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया। चीन उस छिन्न-भिन्न अवस्थामें अधिक समय तक नहीं रह सकता था। रहनेका मतलब होता सर्वसत्यानाश —जैसा कि मुसलमानोंके आक्रमणके समय भारतमें हुआ। लोग हान् और थाङ्के समयकी, सारे देशकी एकताको भूले नहीं थे। इसका परिणाम हुआ माहन् सुङ्-वंशकी स्थापना, यद्यपि वह सारे चीनको एक नहीं कर पाया।

अध्याय ९

सुङ्-काल (९६०-१२१९ ई०)

§१. प्राचीन प्रताप लुप्त

लोयाङ्के 'सम्राट्' का देहान्त ९५९ ई० में हुआ। युवराज नाबालिग था, इसलिये राज्यके उच्च अधिकारी तथा एक अतिप्रसिद्ध कुलका व्यक्ति चाउ-क्वाङ-चिन् (९२७–७६ ई०) संरक्षक बना। उत्तरमें खित्तनोंका उपद्रव था, जिसे शान्त करनेके बाद ९६० में चाउने राज्यको हाथमें ले लिया और अगले १६ वर्षोंमें दोको छोड़ सभी राज्योंको अपने राज्यमें मिला लिया। ये दोनों राजवंश थे—चे-क्याङके ऊ-यू-यिये और शान्सीके उत्तरी हान्, जो क्रमशः ९७८ और ९७९ ई० तक अपनी स्वतन्त्रता कायम रखनेमें समर्थ रहे। लेकिन इसी समय ९६५ ई० में अनाम स्वतन्त्र हो गया। युन्नन्में नान्चाउके थाई-राज्यने अपनी स्वतन्त्रता बनाये रक्खी। शक्तिशाली खित्तन ह्वाङ्-होके उत्तर अपना ल्याउ-राज्य ९४७ ई० में स्थापित करके चाउको परेशान करते रहे।

(१) खित्तनोंका जोर—

चाउ-परिवारके सुङ्-राजवंश (९६०-१२७९ ई०) ने केवल ९ वर्षों (११२६–३५) के विच्छेदको छोड़ अपना अस्तित्व बनाये रक्खा। थाङ और हान् के प्रतापको लौटाना उसकी शक्तिके बाहर था। वह चारों तरफ शक्तिशाली शत्रुओंसे घिरा था—खित्तन (११२५ तक) जुर्चेन, तुंगुस (१२३४ तक), अम्दू या तुंगुत (९९०-१२२७) और पश्चिमोत्तरमें मंगोल तथा दक्षिणमें अनाम और दक्षिण-पश्चिममें नान्चाउ (थाई)। अब यह सवार सेनाका युग था। चरागाहोंको किसानों या प्रतिद्वन्द्वी घुमन्तुओंने ले लिया था, जिसके कारण पर्याप्त घोड़े नहीं पाले जा सकते थे और इसीलिये सवार-सेनामें प्रबल और घुड़-सवारी युद्धमें कुशल घुमन्तुओंको दबाया नहीं जा सकता था। सुङ जिस बातको सेना द्वारा नहीं कर सकते थे, उसे "दान" से करनेके लिये मजबूर थे; किन्तु वह बड़ी खर्चीली चीज थी, जिससे राज्य-शक्ति क्षीण होती जा रही थी। १००४ में ल्याउ (खित्तन) आक्रमण करके राजधानीके पास इयेन्-लियाङ् (आधुनिक कै-फेङ्) तक पहुँच गये और उन्होंने साम्राज्यसे ढाई लाख तोला चाँदी, २ लाख रेशमी थान वार्षिक कर देनेके लिये मंजबूर किया—पहली क़िस्त १००५ में दी गई। तुंगुतों (अम्दुओं) के प्रतिरोधमें ल्याङ्ने सम्राट्को मदद दी थी, जिसके लिये करको पहलेसे बढ़ाकर पाँच लाख तोला चाँदी और तीन लाख थान रेशम कर दिया गया—यह १०४१-४२ ई० की बात है। १०४३ ई० में सुङ्-सम्राट्ने तुंगुतोंको वार्षिक दस लाख सिक्का, एक लाख थान रेशम और ३०००० ईंट चायकरके रूपमें देकर शांति-भिक्षा प्राप्ति की।

(२) जुर्चेनोंका दबाव—

११२७ ई० में उत्तरी जुर्चेनों (तुंगुसों) ने आक्रमण किया और सुङ् राजधानीको ही नहीं ले लिया, बल्कि सम्राट् उसके पिता तथा अधिकांश अधिकारी (तीन हजार) बन्दी बनाये गये। एक राजकुमारने शेष जनोंके साथ याङ्सी पार भागके लिन्-अन् (आधुनिक हाङ्-चाऊ) में अस्थायी राजधानी स्थापित की। यहीं चाउ-वंशने इस प्रदेशके भीतर अपने शासनको किसी तरह कायम रक्खा। सुङ्-वंशका अन्त मंगोलोंने किया। उन्होंने १२७३ ई० में आधुनिक हूपेमें हान नदीके तटपर अवस्थित दुर्गबद्ध नगरीको अपने हाथमें करते याङ्सी पार हो १२७६ और १२७७ के बीच हाङ्-चाऊ और कान्तनके बीचके सारे समुद्र-तटको ले लिया और १२७९ ई० में मकाऊके पास सामुद्रिक विजयमें अन्तिम सुङ् सम्राट्की सैनिक शक्तिको ध्वस्त कर दिया।

§२. नये आविष्कार और निर्माण

(१) नये नगर और नहरें—

सुङ्-कालमें कई नये नगर बसाये गये, कई नगरोंको दुर्गबद्ध किया गया। नहरोंके निर्माण और बाढ़की रोक-थामका भी प्रबन्ध किया गया। जहाँ थाङ्-वंशने ९२ बड़े-बड़े निर्माण कार्य किये थे, वहाँ सुङ्-वंशने ४९६ योजनाओंको पूरा किया। इसी कालमें ९१० में हाङ्-चाऊसे १८० मील उत्तर तक एक बहुत बड़ा बाँध बनाया जाने लगा था।

(२) आविष्कार—

पहिलेसे घरोंके बनानेमें भी सुधार हुआ। अब छतें ऊँची और फर्श पत्थर बिछे बनने लगे। जमीन या मोटे आसनोंपर बैठनेकी जगह कुर्सियाँ इस्तेमाल होने लगीं। बगीचोंका शौक बढ़ा। चायका सर्वसाधारणमें रवाज हो गया। चीनी मिट्टीके बर्तनोंका चरम विकास हुआ। चीनी बर्त्तन जापान, फिलीपीन, हिन्दीचीन, भारत, सिरिया, यहाँ तक कि अफ्रीका-के भी कितने ही भागोंमें फैल गया। १०५० ई० में मुड़नेवाली पंखी जापानसे कोरियाके रास्ते चीन आई। खेलका ताश भी चीनने इसी समय निकाला।

(३) सामुद्रिक व्यापार—

चीनका सामुद्रिक व्यापार इस समय बहुत उन्नतिपर था। चीनियोंने अरबोंसे भारत-का सामुद्रिक व्यापार छीन लिया था। चू-फेइने ११७८ ई० में चीनी जहाजोंके बारेमें लिखा था—"दक्षिण-समुद्र और उसके दक्षिणकी ओर जानेवाले पोत घरों-जैसे लगते हैं। जब उनके पाल फैला दिये जाते हैं, तो वह आकाशमें श्वेत मेघकी तरह दिखाई पड़ते हैं।...एक-एक जहाजमें कई सौ आदमी चढ़ सकते हैं। उसमें साल-भरके खर्चका अनाज जमा रहता है।"

ग्यारहवीं शताब्दीमें चुम्बकीय सूईवाले दिग्दर्शक यन्त्रका भी चीनी नाविक प्रयोग करने लगे। १११९ ई० में चू-यूने लिखा है—"जहाजका कप्तान रातको तारों, दिनमें सूरजकी ओर देखकर और बादलवाले दिनोंमें दक्षिणावर्त्त सूईको देखकर जहाजके स्थानका निश्चय करता है।"

(४) बारूदका प्रयोग—

जहाजोंके विकासके साथ-साथ सुङ्-कालमें बारूदके उपयोगमें भी भारी प्रगति हुई। लउफर[1] ने लिखा है—"चीनमें बारूदके विकासका काम हम बड़ी अच्छी तरहसे देखते हैं। छठी शताब्दीमें मामूली आतिशबाजीके रूपमें धार्मिक उत्सवोंके समय उसका आरम्भ होता है। बारहवीं शताब्दीके शुरूमें उससे युद्धके समय आगके लुण्डे फेंकनेका काम लिया जाता है और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में वह पूरे तोप-बन्दूकके रूपमें प्रकट होती है।"

चीनी ऐतिहासिकोंके अनुसार युद्धमें पहले-पहल बारूदका प्रयोग ११६१ ई० में जुर्चेन सेनाको नान्किङ्के पास याङ्सी पार करनेसे रोकनेके लिये हुआ था। सुङ्-सेनाने चूना-गन्धक भरे कागजके बने बज्र-बमोंको शत्रुओंपर फेंका। पानीपर जब वह गिरे, तो उनसे आग निकली, कागज फट गया, चूना एक गहरा धुँआ बनकर चारों ओर छा गया, जिससे आदमी और घोड़े देख नहीं सकते थे। इस प्रकार शत्रुकी हार हुई। आगे इस हथियारका उपयोग १२३२ ई० में जुर्चेनोंने काइ-फेङ्में मंगोलोंके विरुद्ध किया, शायद बम या हथगोलेके रूपमें। सियाङ्-इयाङ्के अवरोधके समय शायद तोपका प्रयोग हुआ था। १२९३ ई० में जावामें मंगोलोंने इसका उपयोग अवश्य किया था। रूसी इतिहासकार पावदिनके अनुसार यूरोपमें सर्वप्रथम बारूदका उपयोग ११ अप्रैल १२४१ को सायोके युद्धमें हुआ था, जब कि बातूकी मंगोल सेनाने हुंगरीके राजा बेलाकी सेनाके विरुद्ध इसका उपयोग किया था। सुङ्-कालमें छापेके लिये लकड़ीके ब्लाक तथा धातुकी पट्टीका उपयोग होने लगा था। मिट्टी, टीन और लकड़ीके चलन्तू टाइप भी बन गये थे। पहलेसे अधिक लोग अब पढ़-लिख सकते थे, इसमें सन्देह नहीं। गद्य-साहित्यकी इस समय नींव ही नहीं पड़ी थी, बल्कि उसमें बहुत विकास हुआ था। इसमें कथा और इतिहास ही नहीं, यात्रा, वैदेशिक वाणिज्य शास्त्र, उद्यानशास्त्र, वास्तुशास्त्र आदिपर भी ग्रन्थ लिखे गये। चउ-चू-फेइ (११७८ ई०) और चाउ-जू-क्वा (तेरहवीं शताब्दी) ने इन्दोनेसिया, सिंहल, दक्षिण-भारत, अरब, सोमालीलैंड, सिसली आदिके लोगों तथा वहाँकी सम्पत्ति तथा पैदावारके बारेमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें लिखीं। नाट्यकला भी बहुत बढ़ी। उस समयके करीब एक हजार नाटकोंके नाम अब भी मालूम हैं। ज्योतिष, गणित, चिकित्साशास्त्रमें भी चीनी इस कालमें आगे बढ़े। कीट, पक्षी, मछली पशु, पुष्प, बाँस, कुटीर, महल, मनुष्य, अर्हत्, सन्त और सबसे बढ़कर लैंडस्केपके चित्रणमें सुङ्-कलाकारोंने कमाल किया।

× × ×

§३. बौद्धधर्मकी स्थिति

(१) अनुवाद-कार्य—

इस कालमें धर्मोंकी प्रतिद्वन्द्विताने समन्वयका रूप लेना शुरू किया। विचारकोंमें बौद्ध और कन्फूसी दर्शनोंका सम्मिश्रण देखा जाने लगा। बौद्धधर्म यद्यपि अब भी बिल्कुल निर्बल नहीं हुआ था, लेकिन पश्चिमी बौद्ध देशोंमें इस्लामकी विजयने बाहरसे धर्म-प्रचारकों एवं विद्वानोंके आनेको रोक दिया। ल्याउ (खित्तन्) और सुङ्-काल (९७२-१०५३)

[1] American Anthropologist XIX: 74 (1917)

में केवल ३१ भारतीय धर्मप्रचारक आये, जिन्हें एक तरहसे अन्तिम समझना चाहिए; क्योंकि उसके बाद मंगोल दर्बारमें सिर्फ ध्यानभद्र (मृ० १३६३) को हम आते देखते हैं। भारत जानेवाले तीर्थयात्रियोंकी अन्तिम अधिकतम संख्या ९६६ ई० में थी, जो ३६६ से १५७ तक बतलाई जाती है। वह मध्य-एसियाके रास्ते गन्धार, मगध और नेपाल गये थे। कम होते-होते १०५० में यात्रियोंका आना बिल्कुल बन्द हो गया।

(२) **अनुवाद-कार्य—**

उत्तरी सुङ् (९६०-११२७ ई०) कै-फुङ

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ	जन्म-स्थान
धर्मदेव	९३७-१००१	११८	नालन्दा
तियेन्-सी-चयि	९८०-१०००	१८	जलन्धर
दानपाल	९८२	११८	उद्यान
धर्मरक्ष	१००४-४८	१२	मगध
वेइ-चिङ्	१००९	४	चीन
ज्ञानश्री	१०५३	२	
सुवर्णधारी	१११३	२	
चू-सियेन्	११००	५	मगध
सूर्ययश	१०५०	२	भारत
साउ-तो		१	

दक्षिणी सुङ (११२७-१२८०)

अनुवादक	काल	प्राप्य ग्रन्थ	जन्म-स्थान
शाउ-लुङ्	११३३	१	
फा-युन्	११५१	१	

सुङ्-कालमें अनुवादका कार्य अब अन्तको पहुँच रहा था। अनुवादका काम वैसे बहुत काल तक चल भी नहीं सकता था, क्योंकि पिछली शताब्दियोंमें प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अनुवाद किया जा चुका था। चीनी विद्वान् भी अब स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने लगे थे। इस्लामकी विजय ने मध्य-एसिया, अफगान, पंजाबके रास्तोंको बन्द कर दिया था, जिस रास्ते पहिले भारतीय प्रचारक आया करते थे। अब भारतसे बाहर प्रचार करनेका सवाल नहीं था, क्योंकि भारतमें बौद्धधर्मके लोपके लक्षण प्रकट हो रहे थे। आठवीं सदीके आरम्भमें ही इस्लामने सिन्धपर अपनी विजयपताका गाड़ दी और अब वह पीछे नहीं आगे बढ़ने जा रहा था, तो भी जैसा कि ऊपरकी तालिकासे मालूम होगा, सुङ-कालमें कुछ भारतीय विद्वान् चीन पहुँचे थे। इनमें से दस पंडितोंने २७२ संस्कृत-ग्रन्थोंका चीनी-भाषामें अनुवाद किया, जिनमेंसे तीनका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(३) **अनुवादक पंडित**

(क) धर्मदेव (९७३-१००१ ई०)—यह नालन्दा-विहारके भिक्षु थे और ९७३ ई० में चीन गये। ९७३ से ९८१ तक इन्होंने फा-ती-येन्के नामसे ४६ संस्कृत-ग्रन्थोंका अनुवाद किया। ९८२ में सम्राट् ताइ-चुङ् (९७६–९७ ई०) ने इन्हें चाङ्-चाउ-ता-शी की उपाधि प्रदान की

और नाम फा-सी-येन् बदल दिया। ९८२ से १००१ में अपनी मृत्युके समय तक इन्होंने ७२ और ग्रन्थोंका अनुवाद किया। इनके ग्रन्थोंमें ७२ सूत्रोंका संस्कृत-भाषा किन्तु चीनी संकेतमें लिखना भी शामिल है। इनके अनुवादोंमें सबसे अधिक संख्या धारिणियोंकी है। सूत्रोंके पाठमात्र करने से पुण्य माना जाने लगा था। सूत्र (सूक्त) बड़े-बड़े थे, उनका पाठ जल्दी सम्भव नहीं था, इसलिये दस-पाँच पंक्तियोंकी धारणियाँ बनाई गईं, जिनके पाठमें समय कम लगता और सूत्रोंके बराबर पुण्य होता। इससे अगला कदम मन्त्रोंका आया, जो पंचाक्षर, षडक्षर, द्वादशाक्षर थे। उनके पढ़नेमें समय कम और पुण्य, दिव्यशक्तिकी प्राप्ति अत्याधिक थी। भारतमें अब महायान नहीं मन्त्रयान, शील समाधि नहीं वज्रयानकी विजय-दुन्दुभी बज रही थी। ८४ सिद्धोंका पन्थ उत्कर्षकी चरमसीमापर पहुँचा था। फिर धर्मदेव धारणियों एवं मन्त्रोंको छोड़कर और क्या अनुवाद करते? उनके अनुवाद करनेकी भी अवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उनके अर्थसे नहीं, उच्चारणसे सिद्धि-लाभ होता था। इसीलिये धर्मदेवने मन्त्रों और धारणियोंको चीनी अर्थ-संकेतोंमें से कुछको वर्णका रूप देकर लिखा। हाँ, उनके अनुवादोंमें कुछ स्तोत्रोंका अनुवाद भी शामिल है, जैसे—**अष्टमहाश्रीचैत्यस्तोत्र, त्रिकाय-स्तोत्र, मंजुश्रीनामाष्टक-स्तोत्र, मंजुश्री-गाथा, वज्रपाणिनामाष्टक, सप्तजिनस्तव, गण्डि-स्तोत्र।**

चीनी-लिपि उच्चारणको नहीं प्रकट करती। उसके हरएक अक्षर अर्थके संकेत हैं। "मनुष्य जाता"के मनुष्य और जाता दो संकेताक्षर हैं—मनुष्यके संकेतमें उच्चारण "म-नु-ष्य" का कोई विचार नहीं, इसीलिये उसी वाक्यको जापानी अपनी भाषामें उच्चारण करते हैं और कोरियन अपनी भाषामें। चीनके भी विभिन्न प्रदेशोंमें अलग-अलग उच्चारण हैं। हम भी उनके संकेतोंको सीखकर उसे "मनुष्यो गच्छति" या "मनुष्य जाता" पढ़ सकते हैं। संस्कृतको चीनी संकेताक्षरमें लिखनेके लिये उनके किसी प्रदेशके तत्कालीन उच्चारणके साथ हमारे वर्ण (क, ख, ग) का सदृश रूप दे दिया गया है, जैसे गंडि-स्तोत्रमें—

चीनी—पू-लू-चा-पो-पो-कन्-ङो-पन् मो-सो
संस्कृत— भ्रू-क्षेपाङ्ग-भंगस्
चीनी—मो-लो-शे-लो-सो-लो-सो-तः-पो-चा-मो
संस्कृत—स्मर-शर-लसत्-पक्ष्म
चीनी—तो-लो-चः-पो-तइ
संस्कृत—ताराक्षिपातैः

यह स्मरण रखनेकी बात है कि भ्रूकी जगह पू-लू, अपांग की जगह पो-पन्-ङो वही पढ़ सकता है, जिसने शब्दके तत्कालीन उच्चारणको सीख लिया है। ये पू-लू जैसे संकेत भी अपना अलग अर्थ संकेत रखते थे। खैर, हमारे लिये यह लाभ जरूर है, कि इन चीनी संकेतोंमें लिखे संस्कृत उच्चारणकी सहायतासे यदि तिब्बती अनुवाद भी मिल जाय, तो मूल संस्कृत रूप आसानीसे प्राप्त कर सकते हैं। स्तैल होल्स्ताइनने धर्मदेवकी कृतिके सहारे महाकवि अश्व-घोषकी कृति गंडितोत्रको फिरसे संस्कृतमें कर डाला।

धर्मदेवने अश्वघोषकी **वज्रसूचिका** चीनीमें अनुवाद किया था; किन्तु जो अनुवाद उपलभ्य है, उसे धर्मदेव नहीं धर्मयशकी कृति बताया जाता है—वज्रसूचीमें जातिभेदका खंडन किया गया है।

(ख) ति-यान्-सी-चइ (९८०-)—ति-यान्-सी-चइका भारतीय नाम नहीं दिया गया है। वह जालन्धर या कश्मीरके भिक्षु थे, और ९८० ई० में स्वात (उद्यान) के भिक्षुके

साथ चीन गये। दोनों विद्वान् साथ काम करने लगे। ९८२ ई० में सम्राट् ताइ-चुङ्ने उन्हें उच्च उपाधियोंसे सम्मानित किया। उसी समय अनुवादक-मंडल स्थापित किया गया। सम्राट् ताइ-चुङ्ने राजधानीमें ३६० फीट ऊँचा स्तूप बनवाया। तियान्-सी-चइका २० साल बाद १००० ई० में देहान्त हो गया। उनके अनुवादित १८ ग्रन्थोंमें **मंजुश्रीमूलतन्त्र** (कल्प), **उदानवर्ग** (धम्मपद) भी हैं। यह उदानवर्ग तिब्बती उदानवर्गसे मिलता है।

(ग) दानपाल—दानपालको अपने साथीकी तरह सम्राट्ने सम्मानित किया। उनके १११ अनुवादित ग्रन्थोंमें अधिकतर छोटी-छोटी धारणियाँ हैं। इनके अनुवादोंमें लक्षणविमुक्ति, महायानभवभेद आदि नागार्जुनके भी कुछ ग्रन्थ हैं। कुछ पहलेके अनुवाद किये सूत्रोंके वृहद् संस्करणोंका भी इन्होंने अनुवाद किया।

(घ) धर्मरक्ष—(१००४) यह मध्यमंडल (उत्तरप्रदेश-बिहार) के भिक्षु थे और १००४ में चीन गये तथा १०५८ में ९६ वर्षकी उम्रमें वहीं मरे। १००९ में सम्राट् चेन्-चुङ् (९९७-१०२२) ने अनुवादकमंडल स्थापित किया था, जिसमें यह भी थे। इनके अनुवादोंमें **बोधिसत्व-पिटक**—बारह हजार श्लोकोंका—एक ग्रन्थ है—'अचिन्त्य-गुह्य-निर्देश'। दो हजार श्लोकोंका हेवज्रतंत्र (वज्रयान) का एक ग्रन्थ भी इन्हींने अनुवादित किया। **महायान-संगीति बोधिसत्व-**विद्याके नामसे शान्तिदेवका बोधिचर्यावतार भी इन्होंने ही अनुवादित किया। सर्वास्तिवादी अधिधर्मपिटकका एक ग्रन्थ **प्रज्ञप्तिवाद** पहले अनुवादित नहीं हो पाया था, उसका अनुवाद इन्होंने किया। चीनी अनुवादमें इस ग्रन्थके कर्ताका नाम नहीं दिया गया है, किन्त अभिधर्मकोश-भाष्यके टीकाकार यशोमित्र और भोट-इतिहासकार इसे मौद्गल्यायनकी कृति बताते हैं। तिब्बती अनुवादमें सर्वास्तिवाद-अभिधर्मका यही एक ग्रन्थ अनूदित हुआ है।

(ङ, च) वेइ-चिङ और सूर्ययश—ये दोनों धर्मरक्षके समकालीन थे। वेइ-चिङ्ने मूल-मध्यमककारिकापर स्थिरमतिकी टीकाका अनुवाद किया। सूर्ययशने अश्वघोषके दो छोटे-छोटे ग्रन्थोंको अनूदित किया।

(३) दूसरें भारतीय भिक्षु—ज्ञानश्री चीनमें १०५३ ई० में गये। इन्होंने तीन ग्रन्थोंका अनुवाद किया। भिक्षु सुवर्णधारी ११५३ ई० में आये, उन्होंने दो ग्रन्थोंका अनुवाद किया। मध्यमंडलके भिक्षु मैत्रेयभद्र ल्याउ (खित्तन) राजवंश (९०७-११२५ ई०) के गुरु थे। इन्होंने पांच ग्रन्थोंका अनुवाद किया। सुङ्-वंशका सबसे अंतिम अनुवाद **जातकमाला** (आर्यशूर) है, जिसे भिक्षु शाउ-ते हूइ-सुङ् और दूसरोंने अनुवादित किया। इसके प्रथम चतुर्थांशमें १४ जातक हैं और शेषमें "मुनि जिनदेव" (?) की व्याख्या है, किन्तु अनुवाद अच्छा नहीं हुआ है। तिब्बती अनुवादमें १०१ कहानियां हैं, जिनमें पहिली ३४ संस्कृत जातकमालासे मिलती हैं।

११२६ ई० के बाद सुङ्-राज्यकी राजधानी दक्षिणमें चली गई और उत्तरमें सी-ह्या (तंगुत) और खित्तन (ल्याव) का जोर बहुत बढ़ गया। इस समय कोई भारतीय पंडित नहीं आया। भारतमें ही बौद्धधर्म अब साँस तोड़ने जा रहा था, महमूद गजनवीके बनारस एवं सारनाथ ध्वंस तथा अफगानिस्तान और मध्य एसियामें बौद्धधर्मके बिनाशको देखकर ही तिब्बतमें धर्म-प्रचारके लिये (१०४२) जानेवाले दीपंकर श्रीज्ञानने बड़ी निराशा प्रकट की थी। अब वह निराशा साक्षात् दिखलाई पड़ रही थी।

अगली शताब्दियोंमें अब बुद्धधर्मकी रक्षा और प्रचारका काम चीनियोंने अपने हाथोंमें लिया और भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य किया—विशेषकर ध्यान-सम्प्रदायने कितनी ही सुन्दर चीजें दीं। तेरहवीं शताब्दीके यशस्वी बौद्ध विद्वानों एवं आचार्योंकी जीवनियाँ चूंप्यान्ने १२६९-७१ ई० में लिखीं।

अध्याय १०

मंगोल (यु-आन)

(१२६०-१३६८)

§१. मंगोलोंके प्रतिद्वंद्वी

(१) खित्तन (९०७-११२१ ई०)

मंगोलोंको अपने विशाल राज्यकी स्थापनासे पहिले उन तीन शत्रुओंसे भुगतना पड़ा, जिन्होंने सुङ-वंशको निर्बल कर डाला था। इनमें खित्तन (ल्याउ) दक्षिणी मंचूरियासे ह्वाङ्होके चक्कर तक शासन करते थे। ये मंगोलोंकी ही तरह अशिक्षित, असंस्कृत, किन्तु लड़ाकू घुमन्तू थे। चीनके संपर्कमें आनेपर यह चीनी सभ्यतामें दीक्षित हो गए और कितनी ही अन्य जातियोंकी भांति 'नामरूपे विहाय' चीनी समुद्रमें विलीन हो गये। सुङ-वंशने इन घुमंतुओंको हान या थाङ्-वंशकी भांति शस्त्र-बलसे नहीं, धन और स्त्रीके बलसे अनुकूल करनेकी नीति स्वीकार की थी, यह हम पहिले कह आये हैं। खित्तनके नामसे चीनका नाम खिताई पड़ा। मूलतः ये उसी सी-येन्-पी वंशसे निकले थे, जिसे हम तृतीय शताब्दीके मध्यमें देख आये हैं। खित्तन मंगोलोंके उत्कर्षसे पहिले मौजूद थे और इनकी भाषा मंगोल जैसी थी। १०वीं सदीके आरंभमें ये दक्षिण-पश्चिम मंगोलियामें पशुचारण करते थे। इन्होंने पो-हयि राजाको ९२६ ई० में ल्याउ-तुङमें परास्त किया और तबसे चीनी सम्राट्से समानताका बर्ताव करने लगे। पश्चात्-छिन्-राजवंशका अस्तित्व इन्हींकी सहायतापर निर्भर था, किन्तु उन्होंने इन्हें नाराज कर लिया और खित्तन ओर्दूने अपने दस सालके शासनके बाद ही राजधानी कै-फेङ (आधुनिक) पर आक्रमण किया और वहांकी सारी चीजें "नक्शा, रजिस्टर, ज्योतिष-सारिणी, पाषाण, पाषाण-मूर्ति, जलघड़ी-पीतल-मूर्ति, संगीतके ग्रंथ और यंत्र, कवच तथा दस्तकार-तकली" उठाकर मंगोलिया ले गये, छिन्-राज्यवंश खतम हो गया। जैसा हम पहिले बतला चुके हैं, सेनापति चाउ खित्तनों-को दबानेके लिये भेजा गया, लेकिन वह स्वयं सुङ-वंशका स्थापक बन गया। लेकिन खित्तन अपने ल्याउ-राज्यमें अजेय रह सुङसे भारी कर वसूल करते रहे। पुराने खित्तन पशु और अश्व-चारण, शिकार एवं मछुवाईसे गुजारा करते थे। उनका संगठन अभी कबीलाशाही था। उनके धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज आरंभिक अवस्थामें थे। उनकी कोई लिपि नहीं थी। आगे बढ़ते-बढ़ते वह उत्तरी चीनके मैदानमें पहुँचे, किन्तु उन्होंने अपनी चीनी प्रजाको शांतिपूर्वक खेतीमें लगे रहने दिया। अंतमें वह स्वयं भी खेतीकी चीजोंका इस्तेमाल करने लगे। उन्होंने दो लिपियाँ स्वीकार कीं —जिनमें एक उइगुर-वर्णमालासे निकली थी और दूसरी चीनी संकेत-लिपि से। इनमें उनके कुछ शिलालेख मिले हैं। बौद्ध और ताव-धर्म भी उनके राज्यके भीतर फैले थे। कुछ विहारोंका प्रभाव अपने धनके वैभवके कारण बहुत बढ़ा था। कुछ समय तक खित्तन-राज्य

अत्यंत शक्तिशाली रहा। ये सुङसे तो कर लेते ही थे, पो-हाइ, जुर्चेन, तंगुत और कोरियाको भी वह अपने अधीन समझते थे। उन्होंने ओर्खन नदीके किनारे तातारों (मंगोलों)को हराया। अरब और जापानके साथ उनका दौत्य संबंध था। अरब सुलताननें उनसे अपने राजकुमारके ब्याहके लिये खितन राजकुमारी माँगी थी। यह ल्याउ-राजवंश अपने चरम वैभवके समय कोरियासे मध्य-एसियामें त्यान्-श्यान् पर्वतमाला तक फैला हुआ था। खित्तन-राजपरिवारमें जब-तब वैमनस्य होता रहता था, ११०२ में एक राजकुमारने खुला विद्रोह किया था।

खित्तनोंके सबसे खतरनाक दुश्मन जुर्चेन थे, जिनसे एक शताब्दीसे झड़प होती रहती थी। अंतमें उन्होंने भयंकर प्रहार करना शुरू किया और ११२४-३५ तक अंतिम खित्तन-राजाको हरा दिया। उस समय आठवीं पीढ़ीके खित्तन राजकुमार ये-लू-ता-इ-ची (१०९८-११४२) अपने थोड़ेसे अनुयायियों और घोड़ोंके भारी समूहके साथ ११२३ ई० में पश्चिमकी ओर भागा, जहां उसको पहिलेके अधीन कबीले उइगुरने स्वागत किया। उइगुरोंके साथ मिलकर उसने थोड़े ही दिनोंमें बहुतसे तुर्क-राज्योंको जीत लिया और ११४१ ई० में करा-खिताइ (काला-खिताइ या पश्चिमी ल्याउ) नामका एक नया साम्राज्य स्थापित किया, जो वर्तमान चीनी-रूसी तुर्किस्तान और पामीरसे उत्तरमें अल्ताई तक फैला हुआ था। ये-लू और उसके उत्तराधिकारियोंने खाकान या खानोंके खान जैसी तुर्की उपाधि धारण की। खित्तन अपने साथ चीनी-संस्कृतिको समरकंद में लाये। वे बौद्धधर्मके पक्षपाती और ईसाइयोंसे भी सहानुभूति रखते थे, इसलिये पड़ोसी मुसलमानोंकी आंखोंमें काँटेकी तरह चुभ रहे थे; किंतु वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके। कराखिताई वंशको छिंगीस खानने ध्वंस किया।

कराखिताईके पौन सौ सालके राज्यमें मध्य-एसियासे लुप्तसे हुए धर्मों और संस्कृतियोंने फिर आशा बांधनी शुरू की थी। कुछ परित्यक्त मंदिर और विहार फिर जहां-तहां आबाद होने लगे, किंतु कराखिताई राजके नाशके साथ ही वह आशा नष्ट हो गई—मंगोल सम्राट् धर्मके प्रति बहुत-कुछ प्रजाका मुँह देखा करते थे।

(२) तंगुत् (अम्दो)

तंगुत तिब्बती-भाषा-भाषी जाति है, जिसका दूसरा नाम अम्दो भी है। इसके बारेमें हम पहिले कुछ कह आये हैं। तंगुत आधे घुमंतू और आधे वसती-वासी थे। ९९० ई० में खित्तन-दरबारने महादीवारके छोरके नजदीकके कन्सू-प्रदेशका उन्हें न्यायसंगत शासक मान लिया था। उन्होंने अपना सीया नाम रख निङ-सियाको अपनी राजधानी बनाया। १०३२ ई० में अपने राज्यको उन्होंने साम्राज्य घोषित किया और मध्य-एसियामें उइगुर, उत्तरमें खित्तन और निम्न ह्वाङहोमें चीनियोंके विरोध रहते हुए भी अपना अस्तित्व कायम रक्खा। १०४३ ई० में उन्होंने चीनसे घुटने टिकवाया और उसपर भारी कर लगाया। अगले साल उन्होंने खित्तनोंपर आक्रमण किया।

खित्तनोंके बहुत कम अभिलेख मिले हैं, लेकिन तंगुत अभिलेख हजारोंकी संख्यामें प्राप्य हैं, जिनमें ११३२ और ११९० ई० के दो कोष और दो भाषावाले ग्रंथ हैं। सारा त्रिपिटक तंगुत भाषामें अनुवाद करके छाप दिया गया था। उनकी भाषामें जो अनुवाद हुए, उनमें बौद्धग्रंथोंके अतिरिक्त ताव और कन्फूसीकी पुस्तकें, सैनिकशास्त्र, महावरोंके संग्रह, प्रसिद्ध पुरुषोंकी उक्तियां, विधान और कवितायें भी हैं। उनकी लिपि चीनी लिपिसे किंतु खित्तनी द्वारा निकली। बौद्ध-

धर्म उनका राजधर्म था। १९०२ में रूसी (कजलोफ) अभियानको कराखोतोमें जो सामग्री मिली थी, उससे मालूम होता है, कि बौद्धधर्मका प्रभाव राजवंशपर बहुत अधिक था। उनके विद्यालय चीनी ढंगपर बने थे। ११५४ ई० में उन्होंने एक विद्यापीठ स्थापित किया था, जिसमें एक अध्यापक तंगुत और चीनी साहित्यको पढ़ाता था और चीनीसे तंगुतीमें अनुवाद भी करता था। तंगुतोंके राज्यमें काफी संख्या चीनियों, तिब्बतियों, तातारों तथा दूसरे लोगोंकी थी। तेरहवीं सदीके आरंभमें वे करीब-करीब सुंगों-जैसे सभ्य हो गये थे। दुर्भाग्यसे उनका प्रदेश मंगोलोंके रास्तेमें पड़ता था। छिंगीसने १२०५-१२०७ और १२०९ में उनपर आक्रमण किया, किंतु तंगुतोंने भी जबर्दस्त मुकाबिला किया। फिर १२०९ में भी छिंगीसने चढ़ाई की, उनकी राजधानीको जलमग्न करनेके लिये ह्वाङहोकी धारा बदल दी। तंगुतोंको थोड़ा-सा विश्राम, मिला जब उनके सम्राट्ने अपनी एक लड़की छिंगीसको दी। लेकिन १२२७ ई० में छिंगीसको उन्होंने नाराज कर दिया। छिंगीसने खारेज़्मशाहके विरुद्ध आक्रमण करनेमें उनसे सहायता मांगी थी, किंतु तंगुतोंने इन्कार कर दिया, इसलिये छिंगीसने पश्चिम विजयके बाद घोड़ेकी लगाम पूरबको फेर दी। सारा सीमा-प्रदेश उजाड़ हो गया। निङ-सिया राजधानीका पतन होने ही वाला था, कि विजेता छिंगीज घायल होकर मर गया। बहुतसे तंगुत छिंगीसकी शव-प्रतिष्ठामें बलि चढ़ाये गये, सिर्फ थोड़ेसे विजेताकी विधवाकी सेवाके लिये छोड़ दिये गये। मृत्युसे पहिले छिंगीसके एक जनरलने प्रस्ताव किया था, कि सारे तंगुतोंको मरवाके उनकी भूमिको घोड़ों-ऊंटोंके लिये चर-भूमि बना दी जाय। लेकिन ऐसा न करके कर लगानेकी बात ज्यादा पसंद की गई और वह सलाह नहीं मानी गई।

(३) जुर्चेन (किन्) १११५-१२३४ ई०—

सुङ-वंशके तीसरे शत्रु जुर्चेन थे, जो आमूर नदी और सुदूर उत्तरमें रहते थे। यह तुंगूसी-जातिके लोग थे। पहिले-पहल चीनियोंने सातवीं सदीमें उनके बारेमें सुना था। वे समृद्ध पशुपालक और अच्छे शिकारी थे। पीछे उत्तरी चीनके राजाओंपर खित्तनोंकी जगह इनका आधिपत्य हुआ। चार शताब्दी बाद नूर-हा-ची कबीलेके नेतृत्वमें मिङ-वंशको खतम करके ये ही मंचू कहलाये। जुर्चेन खित्तनोंकी अपेक्षा अधिक दक्षिण बढ़नेमें सफल हुए। कभी-कभी खित्तनोंने ह्वाङहोको अपनी दक्षिणी सीमा माना था, किंतु जुर्चेन ह्वाइ और यांङसी तक पहुँचे। इनका विजय-युद्ध १११४-११२५ तक चलता रहा। पहिले कुछ वर्ष उनके सुंङ राजापर आक्रमण करनेमें बीते। ११३० ई० में वे निङ-पो तक पहुँचे। उन्होंने बहुत से चीनी नगरोंको जला दिया, जिनमें स्थाई राजधानी ह्वाङ-चाउ और याङसीकी सारी नौकायें भी थीं।

११४२ ई० में चीनने उनकी अधीनता स्वीकार की और उन्हें भारी कर देना स्वीकार किया। जुर्चेन राजाने अपनी जातीय प्रथा और राजकीय संगठनोंको—जो अधिक जनतंत्रतामूलक थे—कायम रखनेकी कोशिश की। १११५-३२के बीच जुर्चेनोंने उत्तरी प्रदेशोंपर अधिकार करनेके बाद अपनी राजधानी बदली। ११३२ ई० के बाद उनकी शासन-व्यवस्था अधिकतर चीनियों-जैसी हो गई। ११२० में एक राजकुमारने अपनी जुर्चेन-वर्णमाला निकाली। वह सैनिक अफसर और भूतपुजारी (ओझा) भी था। इसके आधार खित्तनी और चीनी दोनों ही लिपियां थीं। ११३८ ई० में जुर्चेन-सम्राट्ने उसे और सरल बनाया। कन्फूसीके ग्रंथोंका बहुत-सा भाग

जुर्चेन-भाषामें अनुवादित हुआ था। दुभाषिया-कालेजमें तो जुर्चेन-भाषाका अध्ययन मिङ-वंशके समय (१३६८-१६४४ ई०)तक रहा। जुर्चेनोंके भाईबंद तुंगुस अब भी पूर्वी सिबेरियाके जंगलोंमें रहते हैं और सोवियत क्रांतिसे पहिले वह निरक्षर तथा जंगली अवस्थामें थे।

बौद्धधर्म—जुर्चेन लोग पहिले भूतपूजक तथा आरंभिक अवस्थामें थे। आठवीं सदीके आरंभमें ही बौद्ध-प्रचारक उनके बीचमें पहुँच गये। अल्प-परिचित और पिछड़ी जातियोंमें प्रचारकेलिये जानेका उत्साह और आकर्षण बुद्धके ही समयसे जगा था, वह अभी तक बुझा नहीं था। जुर्चेनोंमें बौद्धधर्मका खूब प्रचार हुआ था, किंतु राज-काजके लिये कन्फूसी शिक्षा भी आवश्यक समझी जाती थी। इसीलिये कन्फूसीके सम्मानमें उनकी राजधानी और प्रधान नगरोंमें शालायें भी बनी थीं। नेस्तोरीय साधु भी वहां पहुँचे थे।

जुर्चेनका सुसंस्कृत चीनी जातिसे सम्पर्क हुआ था। संस्कृतिमें अधिक विकसित अल्प-संस्कृतको अंतमें पराजित करके रहता है। चीनी साहित्य, चीनी ज्ञान-विज्ञानका लेना जुर्चेनोंके लिये आवश्यक था, लेकिन जब उन्होंने चीनियोंका अत्यधिक अनुकरण शुरू किया, तो यह बात राजाको अच्छी नहीं लगी। शासक और शासितका भेद किसी भी तलपर मिटाना उसे कैसे पसंद आता? ११८७ ई० में सम्राट्ने निषेधाज्ञा निकाली और नाम और वेश बदलनेको बंद कर दिया, किंतु इसका असर सिर्फ दूरके ही इलाकोंमें हुआ। चीनी मैदानमें प्रवाह रुक नहीं सका। नहरों और बांधोंको ल्याउ शासन-कालमें क्षति हुई थी, उनका इस समय फिर निर्माण हुआ, कृषि और वाणिज्यके पुनर्वासकी व्यवस्था की गई। इस समय नाटक बहुत जनप्रिय हुए, ६९० नाटकोंके लिखे जानेका पता लगता है। गणितमें भी जुर्चेन दक्षिणके चीनियोंसे पीछे न थे। ली-ये:ने अपनी दो कृतियोंको १२३९ और १२५० ई० में प्रकाशित किया। उसने कई मौलिक बातें बताई थीं। १२६० ई० में मंगोल सम्राट् कुबिले खानने दरबारमें बुलाकर उसका सम्मान किया। उसी कालमें ५३५२५ शब्दों-का एक कोष प्रकाशित हुआ था। इतना बड़ा कोष उसके ५०० वर्ष पीछे तक नहीं बन सका था।

§२. मंगोल-प्रभुता

(१) मंगोलोंका उद्गम—

मनुष्य जब असभ्य और जंगली था, तब भी एक कबीलेका दूसरे कबीलेके साथ निष्ठुर युद्ध हुआ करता था। अनुकूल परिस्थितियोंके कारण जब कोई जाति अधिक स्वस्थ संस्कृत हुई और प्रतिकूल परिस्थितियोंके कारण कोई असंस्कृत रह गई, तो पड़ोसी संस्कृत जातिसे भी असंस्कृत जातियां अधिक भयंकर सिद्ध होने लगीं। संस्कृत शत्रुको अपने ग्राम, नगर, परिवारके नष्ट होनेका डर होता है। वह एक सीमाके भीतर ही दावपर अपनेको रखता है, किंतु असंस्कृत बर्बर घुमंतू जातिके लिये कोई सीमा, कोमल संबंधोंके विचारोंकी कोई परतंत्रता नहीं होती। जब सूखा, अकाल जैसे प्राकृतिक उपद्रवोंका प्रकोप बढ़ता या पड़ोसी दुश्मन प्राणरक्षार्थ भागनेके लिये मजबूर करता या स्वयं वर्षोंसे अर्जित होती पड़ोसीकी निधि-को लूटनेका आकर्षण प्रेरणा देता, तो फिर वह प्रलयका रूप धारण करता, तूफानका रूप लेता। सबसे अच्छी उपमा हम उसकी टिड्डीदलसे दे सकते हैं। जैसे छोटी छोटी टिड्डियां और देशके देशको उजाड़ देती हैं, खड़ी फसल और वृक्षोंके पत्तोंको खा डालती हैं, वनस्पतिजीवी मनुष्य और पशुके लिये जीवन दूभर कर देती हैं, ढेरकी ढेर मरती जाती हैं, तो भी जीवित टिड्डियां

आगे बढ़ती जाती हैं। बर्बर घुमंतुओंको मृत्यु भयभीत नहीं करती। खानेके लिये उनके पास ऐसी कोई चीज नहीं, जो अनुकूल परिस्थितिमें दिनों, महीनोंमें न प्राप्त कर ली जायं। इन बर्बर जातियोंको राक्षस, दानव, हूण आदि कितने ही गालीके शब्द इस्तेमाल किये गये, जो केवल यही बताते हैं कि यायावरोंको संस्कृत जातियां कितने भयकी दृष्टिसे देखती हैं। उनसे रक्षा-के लिये सभी देशोंमें बड़े-बड़े आयोजन किये गये। राजगिरिके पांचो पहाड़ोंपर एक बहुत विशाल और मोटी पाषाण-भित्ति खींची गई हैं, जिसे असुरोंकी दीवार कहा जाता ह—असुरोंसे रक्षाके लिये यह दीवार थी। असुरसे मतलब जंगली जातियोंसे था। मध्य-एसियामें समरकंदके आगे बहुत दूर तक "बुढ़ियाकी दीवार" खड़ी है, जिसे न किसी बुढ़ियाने बनाया और न वह किसी दानवी बुढ़ियाके लिये बनी, बल्कि वह शक घुमंतुओंसे बचनेके लिये बनाई गई थी। काकेशस पर्वत-माला और कास्पियन सागरके अत्यन्त समीप आनेकी जगहपर भी दरबंदकी बड़ी-बड़ी दीवारें हैं, यह भी शक घुमंतुओंसे बचनेके लिये बनाई गई थीं। पश्चिमी मध्य-एसियामें 'बुढ़िया दीवार'से और नीचे पहाड़ोंमें एक लौह-द्वार दरबंद था, जिसमें घंटियों-सहित लोहेका फाटक लगा था, इसे चीनी यात्रियोंने भी लिखा है। यह सिबेरिया और मध्य-एसियाके बीचमें बसनेवाली घुमंतू जातियोंके विरुद्ध दूसरी रक्षापंक्ति थी। इसके दक्षिणमें विशाल वक्षु-गंगाको पारकर हिन्दूकुश-की दुर्गम पर्वतमाला है, जो घुमंतुओंके विरुद्ध तीसरी रक्षापंक्ति है, और भारतके लिये पहली रक्षापंक्तिका काम देती थी। उसके बाद दर्रा खैबरकी किलेबंदियां हैं, जो भारतके लिये अंतिम रक्षापंक्ति थीं। इतनी रक्षापंक्तियोंके होते भी शक घुमंतू हमारे यहां आनेसे नहीं रुक पाये। ऐबक, खिलजी, तुग़लक ये सभी उन्हीं घुमंतू तुर्क-जातियोंकी संतानें थीं, जिनके बारेमें हम कुछ पहिले लिख चुके हैं और जो भारतमें आकर रहीं। स्वयं छिंगीस भी सिन्धुके तट तक अपना टिड्डीदल लेकर आया था। तेमूर घुमंतुओंका सरदार था, जिससे दिल्ली और मास्को एक समान दयाकी भिक्षा मांगते रहे, किन्तु वह नहीं मिली।

और उदाहरण देनेकी अवश्यकता नहीं। चीनके बारेमें हम बतला चुके हैं, कि हूण घुमं-तुओंसे बचनेके लिये चीनकी महादीवार बनाई गई थी, जो साधारण समयमें साधारण शत्रुको रोकनेमें समर्थ हो सकती थी, किन्तु खास-खास स्थितिमें असाधारण शत्रुओंको नहीं रोक सकती थी। चीनके पास एक ही महादीवार थी। उसके बाद ह्वाङ्हो कुछ सहायता करती और कुछ याङसी भी, लेकिन उसके उत्तरमें घुमंतुओंका विशाल देश था। पश्चिममें भी तिब्बती घुमंतू थे। चीन हर वक्त घुमंतुओंकी दयापर निर्भर रहता था। उसका इतिहास ही हूणोंके प्रलयलीलासे शुरू होता है। जिस कालका हम अभी वर्णन कर रहे थे, उसमें देख ही चुके हैं, कि पूर्ण या अर्धघुमंतू जातियां चीनकी क्या गति बनाती थीं। वह अपने रेशम, चीनी बर्तन और दूसरी वस्तुओं के व्यापारसे अपार धनराशि पैदा करता था, किन्तु उसमें से भारी मात्रा उसके पड़ोसी घुमंतू ले जाते थे। ये घुमंतू उस मुर्गी पालनेवालेकी तरह बेवकूफ नहीं थे, जो रोज एक सोनेका अंडा देनेवाली मुर्गीको एक ही बार मारकर सारा सोना निकाल लेना चाहता था। वह सुङ-वंशको इसलिये जीवित रहने देना चाहते थे, कि वह उनके लिये धन उत्पादन करते रहें।

लेकिन अब चीनको अपने इतिहासमें सबसे भयंकर घुमंतू शत्रुसे पाला पड़नेवाला था। चीन ही नहीं, बल्कि उस समयके सारे सभ्य जगतका महाप्रलयसे सामना होनेवाला था। यह महाप्रलयकारी थे मंगोल, मंगोल-सम्राट् ते-मू-चिन् या छिंगीस खान।

(२) मंगोलोंकी भूमि—

मंगोल नाम पहिले प्रसिद्ध नहीं था, पहिले उस जातिको तातार (चीनी, ता-ता) कहते थे। वह हूणोंके वंशज थे। चीनके उत्तरमें गोबीकी बालुकाभूमि और उसके उत्तरमें मंगोलिया और उसके उत्तरमें साइबेरिया। यही मंगोलिया हूणोंकी चारण-भूमि थी, किन्तु वह वहीं तक अपनेको सीमित नहीं रखते थे, बल्कि ह्वाङ्होके चतुष्कोण चक्करवाले ओर्दू (ओर्दोस) प्रदेशको अपनी द्वितीय चारण-भूमि मानते थे। जब अनुकूल अवसर पाते, तो उनका टिड्डीदल चीनके हरेभरे गांवों एवं समृद्ध नगरोंपर छा जाता। जब चीनकी सेनाको प्रबल देखते, तो अपने तंबू और डेरोंको तोड़कर गोबीके भीतरसे होते उत्तरको भाग निकलते। उनके भागनेके लिये सारी मंगोलिया, बैकाल झील और उससे उत्तरकी अज्ञात किन्तु वृक्ष-वनस्पति-सहित भूमि मौजूद थी; लेकिन चीनी सेना उतनी ही दूर तक पीछा कर सकती थी, जहां तकके लिये चीनसे रसद ले जाई जा सकती थी। घुमंतू जहांसे भागते, वहाँसे सारा डंडाकुंडा समेटकर भागते; एक छटांक अन्न या एक पूंछ पशु भी पीछे नहीं छोड़ते। इसीलिये चीनने बड़े-बड़े अभियान करके उनका उच्छेद नहीं कर पाया; सबसे विशाल और अद्‌भुत दीवार खड़ी करके भी उनको रोक नहीं पाया। हूण अपनी भूमिसे नष्ट नहीं हुए। वही तो-पा के रूपमें आये, अवार बने, तुर्कोंकी शकलमें दिखाई पड़े, खित्तन, जुर्चेनकी आकृतिमें उपस्थित हुए और अब वही मंगोल बने हुए थे।

(३) छिंगीसका कबीला—

जिस समय खित्तनोंके उत्तराधिकारी जुर्चेन उत्तरी चीनपर शासन कर रहे थे, उस समय उनके सैनिक सहायकोंमें एक तातार कबीला था, जो अपने पशुओंके लिये पुइर-नोर् (नोर मंगोल भाषामें सरोवर है) और खिङ्गन (मंचूरियाके पश्चिमांत) की पहाड़ियोंके बीच घूमा करता था। यह मंगोल नहीं, मंगोलोंका शत्रु एक तातार कबीला था। इससे उत्तर सिबेरियाके भीतर तककी भूमि पशुपालनके लिये बहुत अनुकूल थी, जहां तुंगुस, तुर्क और मंगोल जातिके कबीले कभी शांतिके साथ और कभी लड़ते हुए अपना पशुपाल-जीवन बिताते थे। जब चीनमें लूटका न्योता होता, तो आपसकी सारी शत्रुताको भूलकर वह अपने-अपने घोड़ोंपर सवार हो निकल पड़ते। उनको लिखने-पढ़ने या सभ्यता-संस्कृतिसे कोई वास्ता नहीं था—जहां तक साधारण-जनका संबंध था; किन्तु सरदारोंमें दक्षिणवालोंका कुछ-कुछ प्रभाव देखा जाता था। इन कबी-लोंके नाम अक्सर किसी प्रसिद्ध सरदारके नामसे पड़ जाता था। इन्हींमें एक मंगोल कबीला था, जिसका सर्दार कबुल खान था—खान, हान, कगान, खगान्, खाकान सभी एक ही मंगोल-तुर्क शब्दके रूपान्तर हैं, जिसका अर्थ है राजा। कबुल खान सारे इयक्का मंगोल-कबीलेका राजा था और उसने कभी-कभी दक्षिणके किन् (जुर्चेन) सम्राट्से भी लोहा लिया था। उसके शत्रु वही तातार थे, जिनके बारेमें हम अभी कह आये हैं—अर्थात् पुइर-नोर और खिंगन-पर्वतमालाके बीचके घुमंतू। कबुल खानने उनको कई बार हराया और दबाया, किन्तु उसके मरनेके समय मंगोल निर्बल हो गये थे। उसके पुत्र कुतुलने शत्रुओंसे बदला लेना चाहा, किन्तु मंगोल दिनों दिन निर्बल होते गये और तातार मजबूत। तातारोंका सितारा ऊंचेपर था, दूसरे घुमंतू भी अब आकर उनमें मिलने और तातार बनने लगे, तथा मंगोल नाम विस्मृतिके गर्भमें जाने लगा। अब मंगोल ऐसी अवस्थामें नहीं थे, कि उनका सर्दार खगान् कहा जाता। कुतुलके मरनेके बाद उसके भतीजे ये-सू-कइको उसके सारे कबीलेने अपना बगातुर चुना—यही मंगोल

बगातुर शब्द हमारे यहां बहादुरके रूपमें इस्तेमाल होता है। ये-सू-कइको संतोष था, कि अब भी ४० हजार तंबूवाले चालीस हजार परिवार उसका नेतृत्व मानते हैं। किन् सम्राटने उससे शक्तिशाली तातारोंको दबानेमें सहायता मांगी और ये-सू-कइ बगातुरने उसे स्वीकारकर तातारोंको बुरी तरहसे हराया।

(४) **छिंगीस खानकी अभिवृद्धि—**

(क) बाल्य—मंगोल सर्दार येसुकइको बंदी बनाया। जब लूटके मालसे लदे उसके अनुयाई अपने कैम्प दे-लूगुन-वोल्दोक (ओनन नदीके ऊपरी भागमें) पर पहुँचे, तो बगातुरकी प्रियापत्नी यु-लुन-एके (मेघमाता) को एक पुत्र हुआ (११६२ ई०)। मांने उसका नाम ते-मू-चिन् रक्खा। जन्मके समय शिशुकी एक मुट्ठीमें जमा हुआ रक्त लाल-मणिकी तरह दिखाई पड़ा, इसीलिये ओझोंने भी भविष्यद् वाणी की, कि ते-मू-चिन बड़ा योद्धा होगा—वह क्या बड़ेसे बड़े ज्योतिषी भी ते-मू-चिनके असली भविष्यकी कल्पना तक नहीं कर सकते थे। प्रशान्त सागरसे भूमध्यसागर, सिबेरियासे हिमालय तक जैसे विशाल भू-भागका विधाता न उससे पहिले कोई हुआ और न उसके बाद ही। फिर यह छिंगीस वही ते-मू-चिन् था, उस समय कौन इसकी कल्पना कर सकता था ?

ते-मू-चिन् ९ सालका हो गया। ये-सू-कइ बगातुर अब जातिके रिवाजके अनुसार देर नहीं कर सकता था, वह लड़केके लिये दूर किसी कबीलेमें बहू ढूंढ़नेके लिये निकला। सारा कबीला-ही साथ चल रहा था। पशुओंको चराते-चराते बहू ढूंढ़नेका भी काम करना था। इस ढुंढ़ाईमें बापके साथ ते-मू-चिन भी था। चीनकी महादीवारके समीप बसनेवाले जुंगिरत कबीलेके देखनेका मौका मिला। उसके सर्दार दइ-से-चेनके तंबू, आभूषण, वस्त्र, हथियार सभी अधिक मूल्यवान्, सभी अधिक सुंदर थे। सर्दार दइ-से-चेन्की कन्या बोर्-तेइ उसी उम्रकी थी, जिसका ते-मू-चिन्। पशु-चारणके लिये दोनोंका कबीला कभी-कभी साथ चलता। ते-मू-चिन् और बोर्-तेइ दोनों साथ घोड़ेपर चढ़ चरभूमिको जाते। नन्हीं-सी बोर्-तेइ घुड़सवारी करनेमें अपनी जातिकी दूसरी लड़कियोंकी भांति कुशल थी। वह स्वस्थ और सुन्दर भी थी। ते-मू-चिन् और बोर्-तेइका ब्याह हो गया। दुनियाके न जाने कितने राजवंशोंने पीछे अपनेको बोर्-तेइकी संतान होनेका दावा किया होगा। तेमू-चिन्ने दाइ-से-चेन्के तंबूमें जो वैभव देखा, उससे वह सोचने लगा—कितना अद्भुत होगा यह चीन देश, जहां ऐसी चीजें होती हैं। येसूकइ बगातुर दूसरे कबीलोंको भी एक कर सकता है। दायि-से-चेन्का कबीला भी बड़ा है। मैं दोनोंका उत्तराधिकारी बन सकता हूँ।

तेमू-चिन् तेरह सालका था। वह कितने ही वर्षोंसे अपने ससुरके घरपर था। पिताने देखनेके लिये बुलाया। ससुरको बुरा लगा, किन्तु उसने जाने दिया। लेकिन तेमू-चिन्के डेरे तक पहुँचनेसे पहिले ही शत्रुओंके विष-प्रयोगसे पिता मर चुका था। तेमू-चिन्के लिये बुरे दिन आये। उसके पिताके शत्रु कबीलेको ही तहस-नहस करनेसे संतुष्ट नहीं थे, बल्कि वे तेमू-चिन्को भी नष्ट करना चाहते थे। फिर तो भागना और छिपकर जान बचाना, यही उसका काम था। चार सालकी लुका-छिपी बिल्कुल निष्फल नहीं रही। इसी बीच उसने कितने ही परिचय प्राप्त किये और कितने ही मित्र भी। सबसे बड़ी खुशीकी बात उसके लिये यह थी कि बोर्-तेइसे वह वंचित नहीं हुआ। दामादको देखकर दायि-से-चेन ने कहा—

"मैं खुश हूं कि तुम स्वस्थ और प्रसन्न हो। तुम्हारे इतने शत्रुओंको देखकर मुझे आशा नहीं थी कि तुमको फिर देख सकूंगा।"

(ख) तरुणाई—सत्रह सालका तेमू-चिन् खूब लंबा हो गया था। उसका कंधा ऊंचा था, छाती चौड़ी थी, आंखें दृढ़ और प्रभावशाली। वह पहिलेसे भी कम बोलता था; लेकिन जो बोलता था, वह सोच-समझकर।

जब उसने ससुरका घर छोड़ा, तो उसके साथ केवल बोर्-तेइ ही नहीं थी, बल्कि कितने ही और भी स्त्री-पुरुष हित-मित्र थे, जो साथ-साथ ओनन् तटपर पहुँचे। सर्दारकी बहूका अलग तंबू होना चाहिये, अलग नौकर-चाकर होने चाहिये, बोर्-तेइ अपने साथ सब लाई थी। तेमू-चिन्का ओर्दू (कबीला) एकाएक धनजन-सम्पन्न हो गया। उसके योद्धा अपने सर्दार ही की भांति अति तरुण थे। अभी तेमू-चिन्के विपत्तिके दिनोंका अन्त नहीं हुआ था। मेर्-कित् कबीलेने एक रात आक्रमण किया—उसी कबीलेने, जिनकी स्त्री यू-लुन्-एकेको बीस साल पहिले ये-सू-कइ हर ले गया था। तेमू-चिन्की नींद ठीक वक्तपर खुली और भाला उठा घोड़ेपर चढ़ वह जंगलमें भाग गया। कृतज्ञता प्रकाशित करनेके लिये बुरकन् कल्दुन्के सबसे ऊंचे शिखर-पर चढ़ उसने अपने कमरबंदको खोल गरदनमें डाला, टोपी उलटकर हाथमें ली, ९ बार दंडवत् की, घोड़ीके दूधकी शराब (कुमिस्) की धार दी और प्राणरक्षाके लिये मेन्को-कोको-तेङरी, (सनातन नील नभ) भगवान्को बहुत-बहुत धन्यवाद दे बड़ी भक्तिसे कहा—"दूसरी बार बुरकन् कल्दुन्ने मेरे अकिंचन जीवनकी रक्षा की। मैं अब सदा उसके लिये बलि चढ़ाऊंगा और अपने पुत्रों तथा पौत्रोंको वैसा करनेके लिये कह जाऊंगा।" तेमू-चिन्के आदमी जब आकर मिले, तो बोर्-तेइ उनमें नहीं थी। बोर्-तेइको ढूंढ़ निकालना उसके लिये सबसे बड़ा काम था। उस वक्त उसे अपने पिताके रक्तबंधु (अंडा) के-रयितोके राजा तोगरल खानकी याद आई। खानने अपने मित्रके लड़केका स्वागत किया और उसकी सहायतासे तेमू-चिन् फिर अपनी बोर्-तेइको पा सका; किन्तु इसमें सबसे अधिक हाथ उसकी अपनी बहादुरीका था। उसने मेर-कितोंको इतनी बुरी तरहसे हराया, कि हर जगह लोग उसका यश गाने लगे। यहां से भिन्न-भिन्न कबीलोंपर शांति या युद्ध द्वारा विजय पाते उसने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की। यह स्मरण रखना चाहिये कि तेमू-चिन्की मां यू-लून-एके असाधारण वीर नारी थी और बोर्-तेइ तो विश्वविजयके बाद दुनियाकी सभी रंभा-मेनिकाओंके हाथ जोड़े रहनेपर भी तेमू-चिन् की प्राणप्रिया बनी रही।

(ग) कबीलेका खान—तेमू-चिन्की सफलतायें उसके कबीलेको मालूम थीं। बिना खानके कबीला कैसा और खानके पदके इच्छुक वहां उसके चार और भाई-भतीजे मौजूद थे। सारा कबीला अपना खान चुननेके लिये इकट्ठा था। तेमू-चिन्ने अपने लिये कोई प्रयत्न नहीं किया, बल्कि उसने कहा कि मुझसे चारों इस पदके लिये अधिक योग्य हैं। लेकिन सारे कबीलेने जोर देते हुए कहा—"हम तुम्हें खान बनाना चाहते हैं। यदि तुम खान बनोगे, तो शत्रुओंके साथ लड़नेमें हम सदा प्रथम रहेंगे। जब हम सुंदर स्त्री या लड़की बंदी बनायेंगे, तो हम उन्हें तुम्हारे पास लायेंगे और सबसे अच्छी वस्तु तुम्हारी होगी। शिकारमें सबसे पहिले हम होंगे और जो शिकार हाथ आयेंगे, उन्हें तुम्हें देंगे। युद्धमें यदि हम तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करें या शांतिके समय तुम्हारी बुराई करें, तो हमसे हमारी स्त्रियों और पशुओंको छीन लेना और हमें निर्जन मरुभूमिमें खदेड़ देना।"

तेमू-चिन्ने उनकी बात स्वीकार करते हुए कहा—"यहां एकत्रित तुम बस लोगोंने सदा मेरे साथ रहनेको स्वीकार करते, मुझे खान बनाया है। यदि भगवान् मुझे जीवित रक्खें और मेरी सहायता करें, तो तुम्हीं मेरे प्रथम अनुयायी, मेरे भाग्यवान् साथी होओगे।"

२८ वर्षके तेमू-चिन्के खान बननेके उपलक्षमें पान और भोज हुआ। उसके खान होनेके साथ-साथ तेमू-चिन्की मां यू-लुन-एके कबीलेके एक मुखिया मोन्-लिकसे ब्याह कर रही थी, इससे आनन्द और बढ़ गया था—यह साधारण विवाह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मंगोलोंमें मरनेके बाद पत्नीको स्वर्गमें अपने पतिके पास लौटना होता था। मोन-लिक् ये-सू-कइके इस अधिकारको रखते हुए अपना संबंध स्थापित कर रहा था।

तेमू-चिन्के खान निर्वाचित होनेपर केरइतोंके खान तोगरलको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने कहा—"अच्छा, अंतमें मंगोलोंने अकल सीखी। बिना खानके भला कैसे काम चल सकता था!"

तेमो-चिन्के आसपास जो वीर जमा हुए, उनमें से चार थे जेबेइ, बोगुरची, जेल्मी और सगू-ताइ। तेमो-चिन्की नैमन कबीलेके साथकी लड़ाईमें इन्होंने बड़ी बहादुरी दिखलाई। नैमनोंकी पूर्ण पराजय हुई और उसके साथ तेमो-चिन्का भविष्य निश्चित हो गया। नैमन् संस्कृत और सबल कबीला था। मंगोलोंको संस्कृतिकी शिक्षा उन्हींसे मिली। नैमन् लिपिका प्रयोग करते थे। लिखे हुए पत्रोंपर मुहर लगानेसे उनकी प्रमाणिकता बढ़ती है—यह बात जब नैमन्-खान बाइबुका तायन्के उइगुर प्रधानमन्त्री ता-ता-तुङोने बताया, तो तेमो-चिन्को आश्चर्य हुआ। उसने भूतपूर्व प्रधानमन्त्रीको आज्ञा दी कि तुम हमारे बच्चोंको लिखना-पढ़ना सिखलाओ। तभीसे मंगोलोंने अपनी भाषाके लिये उइगुर-लिपि स्वीकार की, और आज भी मंगोल भाषाके लिये उसीका उपयोग होता है। उइगुर लिपिको नस्तोरीय साधुओंने सिरियन अक्षरोंसे तैयार किया था।

(घ) छिंगीस खान—तेमो-चिन्के इस तरह घुमंतुओंको एक सूत्रमें बांधनेकी खबर चीन पहुँची और साथ ही यह भी कि महाकूरिल्ताई (मंगोल जन-परिषद्) ने तेमो-चिन्को खाकान—खानोंका खान (राजाधिराज) चुना है।

बात ठीक थी, साथ ही उसी समय महाओझा गोक्चू-ते-तेङरी (भगवतसम्मत) मेक् मोन्लिकके पुत्र मेक्-चू ने घोषित किया: देवताने मुझे मंगोल जनताको यह कहनेके लिये हुक्म दिया है, कि तेमू-चिन्को भगवानने सारी जातियोंपर राज्य करनेके लिये नियुक्त किया है, अबसे उसका नाम छिंगीस खान होगा। खानके बंधुओं और सरदारोंने काला नम्दा जमीनपर बिछा दिया और तेमू-चिनको उसपर बिठाकर कोनेसे पकड़के नम्देको ऊपर उठा यह जयघोष किया, उसे सिंहासनासीन करना था। तेमू-चिन् ४४ वर्षकी अवस्थामें छिंगीस और खाकान बना। उसने लोगोंसे कहा—"तुम मुझे अपना शासक बनाना चाहते हो, तो क्या बिना ननुनचके मेरी बातको माननेके लिये तैयार हो—अर्थात् जब मैं बुलाऊं तो आओ, जहां भी तुम्हें भेजूं वहां जाओ, और जिसकी ओर इशारा करूं उसे मारो?" सबने हाँ किया। फिर छिंगीसने कहा—"अबसे केवल मेरा वचन मेरी तलवार होगा।"

छिंगीस व्यवस्था और अनुशासनका बहुत कड़ी तरह पालन करता-कराता था। युद्ध हो या शांति सदा भिन्न-भिन्न पदोंका स्थान नियत था—राजकुमार, सरदार (नोयन), कबीलेके मुखिया और युद्धमें दसहजारी (तुमान) सेनप, एक हजारी और एक सौके सेनापति। छिंगीसने अपने साम्राज्यके भविष्यके संचालकोंके बारेमें विचार करके एक दिन कहा—"अब

जबकि तिङरीने मुझे सभी लोगोंपर शासन करनेकी आज्ञा दी है, तो मेरा हुकुम है कि तुमानों, हजारियों और शतिकोंमें से दस हजार मेरे निजी गारद बनें। ये मेरे शरीर-रक्षक होनेवाले गारद मेरे अत्यन्त समीपी होंगे। उन्हें लंबा, बलिष्ठ, सीधा सरदारों, मुखियों और स्वतंत्र योद्धाओंका पुत्र होना चाहिये। मेरे गारदके अफसरका पद एकहजारी सेनाके पदसे ऊंचा होगा।" ये थे छिंगीसके चुने हुए आदमी, जो अपने स्वामीके लिये जान हथेलीपर लिये दुनिया विजय करने निकले। छिंगीसका प्रताप सारी घुमंतू-भूमिमें छा गया।

§३. छिंगीसकी दिग्विजय

(१) जुर्चेनोंपर अभियान—

छिंगीसके राज्यके पूरब और दक्षिण-पूरब महादीवारके पीछे किन् (जुर्चेन्) का विशाल राज्य था। दक्षिणमें सी-हियाका तंगुत राज्य था और पश्चिममें पामीर तक फैला हुआ करा-खिताइका विशाल राज्य। यह तेरहवीं शताब्दीका आरंभ था, जबकि दिल्ली मुसलिम भारतकी राजधानी बन चुकी थी और वहां गुलाम-वंशके नामसे तुर्क राज्य कर रहे थे। छिंगीसको अब अपनी दिग्विजय घुमंतू कबीलोंसे आगे ले जानी थी। १२०४ ई० में वह सारे मंगोलियाका स्वामी बन चुका था। १२०६ ई० में कराकोरममें कूरिल्ताईने उसे खाकान बना दिया था। इससे एक साल पहिले ही वह तंगूतोंके साथ बल-परीक्षा कर आया था। १२०९ ई० में उसने अब किन् (जुर्चेन)-साम्राज्यकी ओर ध्यान दिया—वही साम्राज्य, जिसके वैभवको वह लड़कपनसे सुनता आया था। कई आक्रमण किये, लेकिन अभी वह महमूदकी तरह लूटका धन अपने अनुयायियोंमें बाँट रहा था। उसने अपने जीवनमें सारे जुर्चेन राज्यपर अधिकार स्थापित करनेमें सफलता नहीं पाई। खुली लड़ाईमें वह अप्रतिहत था, लेकिन प्राकारबद्ध नगरपर उसका जोर नहीं चलता था। १२१५ ई० में कुछ घरके विभीषणोंके कारण पेकिङ (तत्कालीन येन्-चिङ) ने अधीनता स्वीकार की। राजधानी लूटकर जला दी गई और निवासियोंको तलवारके घाट उतारा गया—आंतक पैदा करके शत्रुकी हिम्मत तोड़ देना आवश्यक था। उस समय अराल-सागरके उत्तरसे लेकर सिंधु और ईरान तक ख़ारेज़्मका राज्य था, जिसने मंगोलोंकी प्रजा व्यापारियोंपर अत्याचार किया था। इसलिये छिंगीसको उधर ध्यान देना पड़ा। अपने एक योग्य सेनापतिको कुछ सेना देकर वह पश्चिमकी ओर दौड़ पड़ा। उक्त सेनापति आठ साल तक मारता-काटता, लूटता-पाटता, सारे उत्तरी चीनमें आतंक फैलाता रहा, किन्तु वह लोगोंके प्रतिरोधको नहीं बंद कर सका। इसी बीच मंगोल सेनापति कोरियामें घुसे; ईरान और क्रिमिया तक धावा मारकर चीन लौटे। इस दिग्विजयमें ख़ारेज़्मके भाग्यका सितारा डूबा। कराखेताइ भी छिंगीसके राज्यका भाग बन चुका, किन्तु तंगुत (अम्दो) अब भी पासमें खाकानकी शक्तिका उपहास कर रहे थे। १२२७ ई० में छिंगीस उनके ऊपर पड़ा, किन्तु बिना फैसला हुए ही वहीं उसे प्राण देना पड़ा।

(२) उत्तरी चीनपर विजय—

छिंगीसके उत्तराधिकारी ओगोदाइने १२३१ ई० में फिर लड़ाई शुरू की। उसकी एक सेना ह्वाङहो नदीके निचले भागपर पहुंची और दूसरी सुङराजके अधीन जेचुआन प्रदेशमें। सँड़सीकी तरह बढ़ती हुई वह दक्षिणमें होनानमें मिलना चाहती थी। ईरान

और रूसकी विजयोंका अनुभव लिये मंगोल-सेनाका महाप्रतिभाशाली सेनापति सु-बो-ताइ इसी समय आ पहुँचा और १२३३ ई०में उसने कै-फेङको ले लिया—बारूदके बम और दूसरे बारूदी हथियार यहीं चीनियोंने मंगोलोंके विरुद्ध इस्तेमाल किये। अंतमें १२३४ ई० में जुर्चेन (किन्) राज्यको मंगोलोंने पूरी तरह जीत लिया। मंगोलोंका सुङ राजकी ओर अभी तक कोई ध्यान नहीं था, लेकिन दक्षिणके साम्राज्यने 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' का उदाहरण देते हुए मंगोलोंपर आक्रमण कर दिया। यह सीधी आत्महत्या थी। मंगोलोंने सफलता पाई, किन्तु सारे दक्षिणी चीनको लेनेमें उन्हें ४५ वर्ष लड़ना पड़ा। यूरोप और एशियाके किसी राज्यने इतना डटकर मंगोल सेनाका मुकाबिला नहीं किया था। मंगोल सेनापतियोंका अनुभव बहुत व्यापक था। चीन, मध्य-एसिया, ईरान और यूरोप सभीके अस्त्र-शस्त्र, सभीके आविष्कार मंगोलोंको मालूम थे और वे उनका पूरा उपयोग करनेको तैयार थे। वह मेसोपोतामियाके यन्त्रचतुर मिस्त्रीको चीन लाये। छिंगीसके पौत्र हुलागूने पश्चिमी एसियाकी विजय (१२५३-५८ ई०) में एक हजार चीनी इंजीनियरोंको बारूदके गोलों और पत्थर फेंकनेवाले यंत्रोंके बनानेमें इस्तैमाल किया। बगदादके खलीफाके ऊपर आक्रमण करनेवाला हुलागूका एक प्रमुख जेनरल चीनी था।

(३) मंगोल राज-व्यवस्था—

मंगोल-सरकारके प्रधान व्यक्ति मंगोल थे, किन्तु उनकी सेनामें चीनी, तंगूती, ईरानी और उइगुरी डिवीजन भी थे।

मंगोल राज्यमें सड़कों और डाकका बड़ा अच्छा प्रबंध था—चीनसे ईरान जानेका रास्ता १२१९ ई० में बनाया गया था। इन सड़कोंपर इतने व्यापारिक सार्थ जाते थे, जितने कभी नहीं गये थे।

उनकी राजधानी कराकोरम मंगोलियामें थी। वहीं खानके दरबारमें विजित राज्योंका खजाना भेजा जाता था। वहीं रूसके राजुल पेरिस, पेकिङ और दमिश्कके शिल्पकार, ल्हासा, रोम और आर्मीनियाके दूत एवं धर्मदूत जाते थे। वहीं सिबेरियामें सारा यूरोप और एसिया जमा होता था।

मंगोल-शासनमें चीनको कई फायदे हुए। सड़कें एवं नहरें पहिलेसे भी अच्छी बनाई गईं और पहिलेसे भी अधिक बढ़ा दी गईं। सरकारी कामके लिये **डाक-चौकियोंपर दो** लाख घोड़े रहा करते थे। पेकिङको—जिसका नाम उस वक्त **खानबालिक** था—शरद कालकी राजधानी बनानेकी योजना १२६० ई०में पूरी हुई।

§४. कुबिले खान

(१) **दिग्विजय—**कुबिले खान (१२६०-९४ ई०) ने नवनिर्माणके कार्यमें बड़ी दिलचस्पी दिखलाई। १२६० ई० में राजघोषणा द्वारा कुबिले खानने बूढ़े पण्डितों, अनाथों, बीमारोंको आर्थिक सहायता देनेकी आज्ञा निकाली। १२७१ ई० की आज्ञा द्वारा बीमारोंके लिये चिकित्सालय बनवाये। मारकोपोलो १२७५ से १२९२ तक चीनमें रहा। उसका कहना है कि सम्राट् बीस हजार गरीबोंको प्रतिदिन दान देता था।

चीनके नतमस्तक होनेके बाद थाङ-कालसे स्थापित थाई-राज्य अब भी चीनका आधिपत्य

माननेको तैयार नहीं था। १२५३-५४ में पुराने जेनरल सु-बो-ताइके पुत्र उरियाङ-ताईके नेतृत्वमें सेना भेजी गई—उरियाङ-ताई रूस और पोलैंडमें लड़ चुका था।

१२५७-५८ ई० में उरियाङ-ताईने अनामपर आक्रमण करके वहांके राजाको अधीनता स्वीकार करनेके लिये मजबूर किया। उरियाङ-ताईने जापान जीतना चाहा, किन्तु उसमें उसको सफलता नहीं मिली। १२९४ ई० में कुबिले मरा। मंगोल-साम्राज्य उस समय कोरियासे दन्यूब तक फैला हुआ था। चीनी इंजीनियरों एवं शिल्पकारोंकी हर जगह मांग थी, नवगोरद, मास्को और तबरीज़में चीनी मुहल्ले थे। मंगोल खानके एक दूतने १२८७-८८ ई० में इंग्लैंड और फ्रांसके राजासे भेंट की। नये-नये खाद्य, नये-नये वस्त्र-आभूषण, नई-नई विलास-सामग्री एक देशसे दूसरे देशमें फैलने लगी। भट्टीसे खींचकर शराब चुआनेका ढंग मंगोलोंके साथ चीनमें आया। तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें काहिरा (मिश्र) के आदमी चीनियोंको चीनी साफ करनेकी विद्या बताने आये। भारतने चीनी बनाना चीनसे सीखा और मिश्री बनाना मिश्रसे। चौल-मोगरा नामक एक वृक्षसे निकलनेवाला तेल कुष्टरोगकी दवा है, यह बात इसी समय चू-तान्-ची (१२८१-१३५८) ने लिखी थी। वाद्ययंत्र भी दुनियाके भिन्न-भिन्न भागोंसे आकर मंगोल-दरबारमें प्रयुक्त हो रहे थे। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा सभीमें देशोंकी सीमायें और जातीय बाँध टूट रहे थे।

(२) मंगोलोंमें बौद्धधर्म—

तेरहवीं शताब्दीसे पहले मंगोलोंके ऊपर बौद्धधर्मका प्रभाव नहीं था। छिंगीस खान स्वयं अपनी प्रतिज्ञानुसार नीलनभन् भगवान्को सफेद घोड़ेकी बलि चढ़ाता रहा। यद्यपि उसने तावी भिक्षु चाङ्-चुन् (११४८-१२२७) को चीनसे वक्षुके तटपर धार्मिक वार्तालापके लिये बुलाया था, किन्तु उसने किसी दूसरे धर्मको स्वीकार नहीं किया। जुर्चेनोंके साथ लड़ाईके वक्त बहुतसे बौद्धमंदिर उजाड़ हो गये। उनमें कुछ ताव-साधुओंको मिले। छिंगीस (१२०६-२७ ई०), ओगोताइ (१२२९-४६ ई०), कूयुक् (१४६-५१), मंगू (१२५१-६० ई०) के शासन-काल तक मंगोलोंके भीतर बौद्धधर्म धीरे-धीरे प्रवेश करता रहा। कुबिले खान केवल भारी विजेता और राजनीतिज्ञ ही नहीं था, बल्कि उसको धर्म और दर्शनसे भी प्रेम था। उस वक्त मंगोल खानोंको अपने धर्ममें लानेके लिये भिन्न-भिन्न धर्मोंमें होड़ लगी हुई थी और पृथ्वीके कोने-कोनेसे बड़े-बड़े धर्माचार्य ग्रीष्म-राजधानी कराकोरम और शरद-राजधानी खान-वालिकमें जमा होते थे। कुबिलेसे पहिले मंगू खानने १२५४ ई०में कराकोरममें एक बड़ा धर्म-सम्मेलन किया था, जिसमें ईसाई, मुसलमान और बौद्ध आचार्योंमें शास्त्रार्थ हुआ। उसमें बौद्धोंको कोई सफलता नहीं मिली। १२५५ ई०की सभामें मंगू खान भी मौजूद था, जिसमें बौद्ध-आचार्य फू-यो ने ताववादियोंको हरा दिया। खानने आज्ञा दे दी, कि बौद्धोंके मंदिर उनको लौटा दिये जायें, लेकिन ताववादियोंने इसे नहीं माना। १२५६ ई० में दूसरी सभा बुलाई गई। अच्छे अच्छे बौद्ध विद्वान् तिब्बत और चीनसे आये हुए थे, लेकिन तावी नहीं आये। मंगोल खानने इसे ताववादियोंके पक्षकी निर्बलता समझा और बौद्धधर्मकी सफलता स्वीकार करते हुए कहा—"जैसे हाथकी हथेलीसे निकली अंगुलियां हैं, बौद्ध-सिद्धांत हाथकी हथेली जैसा है और दूसरे धर्म हैं अंगुलियोंकी तरह।" मंगू खानने ताववादियोंके विरुद्ध कोई कार्रवाई न कर यह मामला अपने छोटे भाई कुबिलेके हाथमें दे दिया।

(क) बौद्धधर्म विजयी—१२५८ ई० में कुबिलेने दोलोन-नोरके उत्तर-पश्चिम शाङ-तोनमें एक धर्म-सम्मेलन बुलाया, जिसमें ३००० बौद्ध भिक्षु और २०० तावी उपस्थित हुए। २०० कन्फूसी पंच बनकर आये थे। बौद्धोंके मुखिया थे राजगुरु न-मो शाउ-लिन् विहारके अध्यक्ष और प्रसिद्ध तिब्बती भिक्षु फग्स-पा (१२३९-८०)। फ़ग्स-पाकी आयु यद्यपि १९ वर्षकी थी, लेकिन शास्त्रार्थमें उसका भाग बहुत महत्वपूर्ण था। शास्त्रार्थमें बौद्धोंकी विजय हुई—फ़ग्स-पाकी युक्तियां बहुत प्रबल थीं। तावी पराजित हुए और उनके १७ नेता पूर्वप्रतिज्ञा-अनुसार सिर मुड़ाकर बौद्ध भिक्षु बन गये। बौद्धोंको उनके २३७ विहार लौटा दिये गये। कुबिलेने बौद्धधर्मको स्वीकार किया। बौद्धधर्मके खण्डनमें लिखे गये तावी ग्रंथ जला दिये गये। १२६० ई० में गद्दीपर बैठनेके बाद कुबिलेने फ़ग्स-पाको राजगुरु बनाया और तिब्बतका राज्य उसे दे दिया।

(ख) तिब्बती धर्म-प्रचारक—अब भारतीय भिक्षु और भारतीय बौद्धधर्म कहाँ रह गया था? भारतमें तो बौद्धधर्म स्मृतिसे भी विलीन होता जा रहा था। इसी समय तिब्बतने उत्तराखंडके लिये बौद्धधर्मका नेतृत्व स्वीकार किया। वहांसे चीन और मंगोलियामें प्रचार होने लगा। फ़ग्स-पाके चचा तथा विक्रमशिलाके अंतिम नायक शाक्य श्रीभद्रके शिष्यने इस शास्त्रार्थसे पहिले ही मंगोलोंमें जाके बौद्धधर्मका प्रचार किया था। फ़ग्स-पाने संस्कृत और तिब्बती वर्णमालाके अनुसार मंगोल भाषाके लिये एक लिपि बनाई, किंतु वह बहुत दिनों तक नहीं चल पाई।

(ग) मंगोल अनुवाद—फग्स-पाने अनुवाद-कार्य भी शुरू किया और मूल सर्वास्तिवादके कर्म-वाचाग्रंथका चीनी भाषामें अनुवाद किया। उसकी प्रेरणासे कुबिले खानने मंगोल-भाषामें बौद्ध-ग्रन्थोंका अनुवाद शुरू कराया, लेकिन वह बहुत दिनोंतक नहीं चल सका, कि फ़ग्स-पा ४२ वर्षकी उम्रमें १२८० ई० में मर गया। फ़ग्स-पाका एक और काम था—चीनी त्रिपिटकके एक नये संग्रहका प्रकाशन, यह काम राजाज्ञाके अनुसार १२८०-८१ ई० में संपन्न हुआ। कुबिलेके बाद जेन-चुङ, बोयन्थू (१३११-२० ई०) ने त्रिपिटक और ग्रंथोंका अनुवाद मंगोल-भाषामें करने-की आज्ञा दी, और अनुवाद किये ग्रंथोंको सोनेके अक्षरोंमें लिखवाया। इसी समय (१३१४) फ़ग्स-पाके शिष्य शालो-पाने चेङ-सू-चू-लिन्का चीनीमें अनुवाद किया। इस ग्रंथको लेखकने कुबिले खानके युवराज चाङचिन्के लिये लिखा था। इसमें बहुतसे शास्त्रों एवं सूत्रोंके उद्धरण हैं।

चीनमें मंगोल-वंशको युआन्-वंश कहते हैं। इसी वंशके समय बौद्धग्रंथोंके अंतिम चीनी अनुवाद हुए थे। कुबिलेखानके समयसे मंगोलोंके लिये बौद्धधर्म राष्ट्रीय धर्म हो गया और पीछे तो वह सिंहल, बर्मा, स्याम और तिब्बतकी भांति राष्ट्रीयताका प्रतीक बन गया। १३६८ ई० में चीनमें मंगोल शासनका अंत हुआ, किन्तु मंगोलोंमें बौद्धधर्मके विस्तार और कामका अंत नहीं हुआ।

अध्याय ११

चौदहवीं शताब्दीके बाद

§ १. मिङ्-वंश

मंगोल-राज्यको हटाकर साधारण परिवारमें पैदा हुए एक बौद्ध भिक्षु यु-आन्-चाङ (१३२८-९८) ने १३५६ ई० में नानकिङपर अधिकार करते हुए मिङ-वंश (१३६८-१६४४ ई०) का शासन स्थापित किया। लेकिन मंगोलोंको पेकिङसे १३६८ ई० में, मुख्य चीनसे १३७१ ई० में तथा युन्नसे १३८२ ई० में ही बाहर किया जा सका। मिङ-वंशके एक सेनापतिने थिएन्-शान तक धावा किया। मंगोलोंको उनकी राजधानी कराकोरमसे भी निकलना पड़ा। कोरिया, मंचूरिया सब उनके हाथसे छिन गये। एक बार फिर वह पुराने घुमंतू पशुपालक बन गये और १४०४ से पहिले मिङ-वंशके विरुद्ध कुछ करनेकी हिम्मत उन्हें न रही। उस साल मंगोल खान तेमूरने भारी सेना लेकर चीन-राज्यपर चढ़ाई की थी, किन्तु उतरार (सिर तट) में उसकी मृत्युके बाद संघर्ष वहीं खतम हो गया।

मंगोलोंका उपद्रव बराबर जारी रहा, यद्यपि उसका प्रभाव चीनके सीमांतीय इलाकोंपर ही पड़ता रहा। मिङ-सम्राट् यूङ-लो (१४०३-२४) ने उतरारमें मंगोलोंको हराकर ही दम नहीं लिया, बल्कि पश्चिममें हामीसे पूरबमें सुंगारी नदी (मंचूरिया) तक जीते प्रदेशको सुप्रबंधित कर दिया। यूङ-लोका काल चीनके लिये अंतिम वैभवका समय है। १४०३ ई० में चीनके राजदूत तिब्बत, जावा, स्याम और बंगाल तक पहुँचे। १४०५ और उसके बाद कई सामुद्रिक अभियान इन्दोनेसिया, दक्षिणी भारत और ईरानकी खाड़ी तक भेजे गये। तीन अभियान मंगोलोंके विरुद्ध गये। १४२१ ई० में राजधानी नानकिङसे हटाकर पेकिङ बना दी गई। यूङ-लोके शासनकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है उसका सामुद्रिक अभियान। पहिले अभियानमें २७८७० आदमी थे और जहाजोंकी संख्या ६४। नौसेनापति चेङ-हो ने पलेम-बङ (सुमात्रा) के सुलतानको पकड़कर नानकिङ भेजा। तीसरी यात्रामें प्रतिरोध प्रदर्शनके कारण सिंहल राजाको पकड़ लिया गया। १४०५ और १४२१ ई० के बीच सात अभियान जावा, सुमात्रा, भारत और अरब तथा अफ्रीकाके तट तक पहुँचे। भेंट और सौगातके अति-रिक्त इन अभियानोंमें भिन्न-भिन्न देशोंके बारेमें कितनी ही ज्ञातव्य बातें एकत्रित की गईं। मल-क्कासे होरमुज्द तकके १६ राज्योंने चीनके पास १४१५ ई० में उपायन भेजा था। इन उपायनोंमें शुतुर्मुर्ग, जेबरा और जराफा जैसे अद्भुत जंतु भी थे। चीनकी नौ-सैनिक शक्तिका यह चरम उत्कर्ष-काल था। इसी समय चीनियोंने सिंगापुरकी खाड़ीका उपयोग किया था, जिसे पोर्तुगीज बहुत पीछे जान पाये। चीनकी नाविक शक्ति जैसे एकाएक प्रकट हुई, वैसे ही एकाएक वह लुप्त भी हो गई, और तभीसे चीनका निर्बल होना आरंभ हुआ। सामुद्री डाकुओंने चीनके समुद्रीतटको

ही नहीं, नदियोंके कूलोंको भी कितने ही स्थानोंपर अरक्षित कर दिया। जापानी समुद्री डाकुओं-ने पहिले उपद्रव मचाया, फिर दूसरे भी शामिल हो गये।

१४४९ ई० में मंगोल खान फिर थोड़ी देरके लिये इतना शक्तिशाली हो गया, कि उसने ५ लाख चीनी सेनाको हराकर सम्राट्को बंदी बना लिया। १६वीं सदीके मध्यमें मंगोलने उत्तरी चीनपर भी चढ़ाई की।

सोलहवीं शताब्दीके साथ-साथ यूरोपीय जातियां भी चीन पहुँचीं, जिनमें सबसे पहिले १५१४ में पोर्तुगीज आये। १५३७ में मकाऊ और १५४४ ई० में अमोयमें उन्होंने अपनी बस्तियां स्थापित कीं। १५६५ ई० में स्पेनवालोंने फिलीपीनपर अधिकार करना शुरू किया और वहांसे संबंध स्थापित करके वह चीनके रेशम, चीनी बर्तनको मेक्सिको, चिली आदिमें ले जाने लगे। १६२२ ई० में डच ताइवान (फारमोसा) में जम गये। १६३७ ई० में पांच अंग्रेजी जहाजोंने जबर्दस्ती कान्तन पहुंचकर अपना माल बेचा। इससे पहिले ही रूस स्थल मार्गसे बढ़ता हुआ मंचूरिया तक पहुंच गया। उधर जापानने कोरियाकी तरफ हाथ बढ़ाना शुरू किया और १५९३ ई० से पहिले वहां अपना पैर जमा लिया। चीनमें अब इस वक्त शत्रुओंसे बचनेके लिये देशके दरवाजोंको चारों ओरसे बंद करनेकी नीति अपनाई गई, किन्तु उससे विदेशियोंको रोका नहीं जा सकता था।

(१) बौद्धधर्म उपेक्षित—

मिङ-वंश संस्थापक पहिले बौद्धभिक्षु था, तो भी इस वंशकी बौद्धधर्मके प्रति उतनी सहानुभूति न थी, जितना कि कन्फूसी शिक्षापर जोर दिया जाता था। कन्फूसीकी शिक्षा राज-भक्ति और राजमें शांति-स्थापनापर बहुत जोर देती है, इसलिये शासकोंकी सहानुभूति उधर होनी ही चाहिये। पर साधारण जनतामें बौद्धधर्मका बहुत प्रचार रहा।

(२) ईसाई प्रभाव—

यूरोपीय जातियोंके संपर्कसे चीनमें ईसाई धर्म-प्रचारकोंका फिरसे आवागमन् शुरू हुआ। इन प्रचारकोंमें एक मातियो रिचीका जन्म १५५२ ई० में इतालीमें हुआ था। उसने अध्ययनके बाद जेसुइत साधुओंमें शामिल हो पूर्वमें प्रचार करनेका निश्चय किया और गोवा होते १५८२ ई० में मकाऊ पहुँचा। उसने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञानके प्रति चीनियोंमें जागृति पैदा की। १६०१ से १६१० ई० तक वह राजधानी पेकिङमें रहा और १६१० ई० में उसने वहां गिरजा स्थापित किया। इसी समय कुछ उच्च राजकर्मचारी ईसाई बने।

(३) मंचू वंश—

मिङके बाद मंचू वंश स्थापित हुआ, जो १६४४ से १९११ ई० तक चीनपर शासन करता रहा। मंचू चीनियों नहीं, मंगोलोंके अधिक नजदीक थे, लेकिन दोनों घुमंतू जातियोंमें आनुवंशिक वैर था। मंचुओंने पहिले मंगोलोंको नहीं छेड़ना चाहा। नूर-हा-चीने एक साधारण स्थितिसे उठकर मंचूरियामें अपना अधिकार बढ़ाया और १६१६ ई० में अपनेको खान घोषित किया। १६२५ ई० में उसने मुकदनमें अपनी राजधानी स्थापित की। मंचू भाषाके लिये मंगोल लिपि इसीने १५९९ ई० में स्वीकृत की। नूर-हा-चीके मरनेके बाद १६२९ ई० में मंचु-ओंने महादीवार पार कर ली और वह पेकिङ तथा दूसरे नगरोंके द्वारपर पहुंच गये। १६३७ ई० में कोरिया उनके हाथमें चला गया। १६२७ और १६४२ ई० में मिङ-वंशने अपनी भीतरी

निर्बलताके कारण मंचुओंकी शर्तपर सुलह कर ली, किन्तु अपनेको वह अधिक दिनों तक नहीं बच सके। विद्रोहियोंके दमन करनेके लिये मंचू १६४४ ई० में पेकिङके भीतर पहुँचे। फिर वहांसे उन्हें कौन हटा सकता था ? फिर उन्होंने अपने खानको भी वहां लाकर पेकिङको दूसरी राजधानी बना लिया। तबसे १९११ ई० तक मंचू-वंश चीनपर शासन करता रहा। चीनियोंके अत्यन्त सम्पर्कमें आकर मंचू चीनी बन गये। मंचुओंने ही चीनी पुरुषोंको चोटी रखनेके लिये मजबूर किया।

स्रोत-ग्रन्थ

1. Mukerji. P.K. : Indian Literature in China, Calcutta 1931
2. Goodrich. L.C. : A Short History of the Chinese People, New Yark 1943
3. Prandin. M. : Mangol Empire, London 1941
4. Lamb. Harold : Genghis Khan, London
5. TSui Chi : A Short History of Chinese Civilisation, London 1945
6. Fitzgerald. C. P. : China (A short cultural History), London 1942
7. Le Coq. A. Von : Buried Treasurs of Chinese Turkistan, London 1928
8. Latourette. K.S. : The Chinese, their history and culture, New Yark 1946
9. Li Ung Bing : Outlines of Chinese History, Shanghai 1914
10. Ghosal. U. N. : Progress of Greater Indian Research, Calcutta 1943
11. Hirth. F. The Ancient history of China; New Yark 1923
12. Hawks Pott, Fl. : A Sketch of Chinese History, Hongkong 1923
13. Chao-Ying. shih. : The Chinese year book 1936-37. Shanghai
14. Tsui Chi : A Short History of Chinese Civilisation, London 1945

भाग ६

कोरिया, जापान

अध्याय १

कोरिया

§१. आमुख

चीनके बाद बौद्धधर्मका अगला पग ३७२ ई० में कोरियामें था। कोरियाके सांस्कृतिक विकासमें चीनका काफी हाथ रहा, किन्तु साथ ही उसमें बौद्धधर्मका भी भाग कम नहीं था। यद्यपि कोरियामें बौद्ध-सांस्कृतिक परम्पराका कभी उच्छेद नहीं हुआ, किन्तु उसे कोरियाके लोगोंकी तरह बहुतसे संघर्षोंका सामना करना पड़ता रहा। कोरियाका छोटा-सा देश अधिकतर छोटे-छोटे राज्योंमें बंटा था, जिनके पारस्परिक कलहका शिकार बहुधा बौद्ध विहारों और सांस्कृतिक संस्थाओंको भी होना पड़ता था। जब चीनकी शक्ति बढ़ती, तो कोरियाको लपेट-में लानेकी पूरी कोशिश की जाती, लेकिन स्वतंत्रता-प्रेमी कोरियनोंने बार-बार अपने शक्ति-शाली शत्रुओंको भग्नमनोरथ किया। थाङ-वंशकी अपार सैनिक शक्तिका मानमर्दन कोरिया-ने किया और आगे भी उसने कई बार अपने जौहर दिखलाये।

कोरियाने किस तरह जापानको बौद्धधर्मका संदेश दिया, इसे हम आगे बतलायेंगे। कोरिया-की यद्यपि उच्चारणानुसारिणी एक वर्णमाला है, किन्तु वहां चीनी संकेत लिपिका ही अधिक प्रचार रहा, इसलिये बौद्धग्रंथोंके अनुवाद करनेकी दिक्कतसे बच जाना पड़ा। कोरियाके साहित्य और कलाके निर्माणमें बौद्धधर्मका उतना ही हाथ रहा, जितना जापानमें; किन्तु पिछली एक शताब्दीमें जीवन-संघर्ष वहां अधिक रहा, जिससे कोरियन लोगोंका ध्यान अपनी सांस्कृ-तिक परम्पराओंकी ओर कम हो गया। बल्कि जापान जैसे बौद्ध नामधारी देशके अत्याचारोंसे वहांके नवशिक्षित तरुणोंमें कितनों ही का ध्यान पश्चिमी संस्कृतिके साथ ईसाइयतकी ओर झुका। तो भी बौद्धधर्मने कोरियन जातिकी जो सेवायें कीं, वह इतनी हल्की नहीं थीं, कि उन्हें आसानीसे भुलाया जा सके। कोरियन लोगोंका भारतीय संस्कृति और बौद्धधर्मके साथ कितना प्रेम है, इसका पता १९३५ ई० में मुझे अपनी यात्रामें मिला।

§ २. वज्र-पर्वतविहार

सिंहलकी तरह कोरियाका बीचका भाग पहाड़ी और बहुत सुंदर है। इसे वज्रपर्वत (कोङ्गो-सान्) कहते हैं। वज्रपर्वतमें घूमते वक्त मुझे बार-बार हिमालयके देवदार-वन याद आते थे। बौद्धधर्मकी स्थापनाके साथ-साथ मनोहर प्राकृतिक स्थानोंमें भिक्षुओंके विहार स्थापित होने लगे। फू-वून विहारकी स्थापना चौथी-पांचवीं शताब्दीमें हुई। यद्यपि इस मठ-की स्थापना पन्द्रह शताब्दियों पहिले हुई, किन्तु लकड़ीका अधिक इस्तेमाल होनेसे पुरानी इमारतें कई बार जल चुकी हैं। इस समयका सबसे पुराना मंदिर सुखावती (खुग्-नग्-चोन्) तीन सौ वर्ष पहिले बना था। प्रधान मंदिरको बने सिर्फ चालीस वर्ष हुए हैं, और उसके भीतरकी गौतम-

बुद्ध, लोकेश्वर, मंजुश्रीकी काष्ठमूर्तियां तो सिर्फ ६ वर्ष पहिले बनी थीं, किन्तु प्रधान मंदिरके द्वारपर एक पत्थरका चीनी ढंगका ८-९ फीट ऊँचा स्तूप है, जो मंदिरके प्रथम निर्माणके वक्त बनाया गया था। पत्थर संगखारा है, और पन्द्रह शताब्दियोंके जाड़े गर्मीने उसे जीर्ण-शीर्ण कर दिया है, तो भी स्तूपके चौखूंटे घेरेमें कहीं-कहीं पुरानी मूर्तियोंकी रूपरेखा दिखलाई पड़ती है। विहारमें दो-तीन और छोटे-छोटे मंदिर हैं, किन्तु वह भी नये हैं। मुख्य द्वार दो महला और बिल्कुल नया है। विहारके देखनेसे मालूम होता है, कि कोरियाके बौद्धधर्ममें नई जान आ रही है। मंदिरके हातेमें एक ओर पाठशालाका मकान था, जिसमें आसपासके गाँवोंके पैंतीस लड़के चौथे दर्जे तककी पढ़ाई करते थे। अध्यापक विहारके एक भिक्षु थे। यह भी मालूम हुआ कि विहारमें २०के करीब भिक्षु रहते हैं। उनके निर्वाहके लिये काफी जंगल और खेतकी आमदनी है।

(१) यू-देन्-जी—

मैं जापानी भाषा ही के कुछ सौ शब्दोंको जानता था और मेरे मेज़बान भी जापानी थे, इसलिये मुझे स्थानोंका नाम जापानी भाषामें ही बताया जाता था। यू-देन्-जीका कोरियन नाम क्या था, इसे मैं नहीं जान सका। यू-देन्-जी जापानी भाषाका नाम है। वह वज्रपर्वतका सबसे बड़ा विहार है। १९३५ में वहां १०६ भिक्षु रहा करते थे। इस विहारकी स्थापना चौथी सदीमें हुई थी। परम्परा कहती है, कि विहार उसी स्थानपर बनाया गया, जहां धर्म-प्रचारार्थ आये भारतीय भिक्षुओंको नवनागोंने डरा-धमकाकर भगाना चाहा था। इस जगहसे पर्वत-पंक्ति कुछ दूर हट गई है, इसलिये बीचमें काफी मैदान-सा निकल आया है, जिसमें चारों ओर देवदार ही देवदार दिखलाई पड़ते थे। नदी, देवदारुवन और पर्वत-श्रेणीको देखकर मैं तो अपनेको हिमालयमें समझने लगा था। प्रधान मंदिरके भीतर एक कृत्रिम वृक्षकी शाखा-ओंपर बहुतसे बुद्ध खड़े थे। कहा तो गया ६०० बुद्ध हैं, किन्तु उतने मालूम नहीं पड़ते थे। विहार जिस वक्त स्थापित हुआ था, उस समयकी इमारतोंमेंसे एक चतुष्कोण पाषाण स्तूप बचा रह गया है। स्तूपमें ९ तले हैं। विहारकी सबसे पुरानी इमारत प्रधान द्वार-मंडप है, जो नदीके तटके करीब है। यह मंडप तेरहवीं सदीमें बना था। प्रधान मंदिरके एक ओर ४०० वर्ष पुराना एक विशाल घंटा है। उसीकी बगलमें यहांका संग्रहालय है, जिसमें कुछ पुरानी पुस्तकें, चित्रपट, कपड़े और बर्तन रक्खे हैं—एक पुस्तक ७०० वर्ष पुरानी है। ६०० वर्ष पुराने दो-तीन जापानी चित्रपट, ६०० वर्षोंका एक भिक्षु-वस्त्र (चीवर) भी है। विहारका हाता खूब साफ है और मकानोंको भी साफ रक्खा गया है। मठके विद्यार्थियोंके पढ़नेके लिये एक विद्यालय है, जिसमें साठ विद्यार्थी अध्ययन करते हैं। मेरे पहुँचते ही दूध-जैसी सफेद मधुसे मेरा स्वागत किया गया। भारतीय भिक्षुके आगमनकी निशानी रहनी चाहिये, इसलिये कुछ हाथके बने कागजोंपर मुझसे संस्कृत-वाक्य लिखवाये गये।

(२) प्यव-हुन-शा (ह्यो-कुन्-जी)—इस नामका एक मठ भी वज्रपर्वतमें है। मठ अच्छी अवस्थामें है। इसकी स्थापना भिक्षु प्यव-हुन्ने ६७७ ई० में की थी। पुरानी इमारतें जल चुकी हैं और आजकी इमारतोंमें पन्द्रहवीं सदीसे पहिलेकी कोई नहीं है। इस विहारके एक दर्जनसे अधिक शाखा-विहार हैं।

कोरियाके मठोंकी बहुत कम इमारतें पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदीसे पहिले जाती हैं। काठकी चीजें, जान पड़ता है, आगमें जल गई, धातुकी मूर्त्तियाँ लापता हो गई, किन्तु पर्वतवक्षमें उत्कीर्ण

अब भी कितनी ही मूर्त्तियाँ देखी जाती हैं, जिनसे पता लगता है कि बौद्धधर्मने कोरियाकी कलाके विकासमें कितना हाथ बँटाया था।

द्वितीय विश्व-युद्धके बाद कोरिया दो टुकड़ोंमें बँट गया। उत्तरमें समाजवादका जोर है और दक्षिणमें अमेरिका पूँजीवादको दृढ़ करनेमें लगा हुआ है। जब तक देशका बँटवारा मिट न जाय, तब तक कोरियाकी सांस्कृतिक प्रगति अवरुद्ध है। किन्तु बहुत दिनों तक उसे इस अवस्थामें नहीं रखा जा सकता। भारतने अपने सांस्कृतिक प्रभावसे साम्राज्यवादी उद्देश्योंकी पूर्त्तिकी कभी कोशिश नहीं की। कोरियाके लिये हमारी मंगल-कामना है।

स्रोत-ग्रन्थ

१ Eliot. Charles : Hinduism and Buddhism.
२ सांकृत्यायन, राहुल : जापान

अध्याय २

जापान

§१. आमुख

(१) जापानी जाति—

जापानी जाति कई जातियोंका सम्मिश्रण है, जैसा कि प्रायः सभी देशोंमें देखा जाता है। जापानके तीन प्रधान और अनेकों छोटे-छोटे द्वीपोंके उत्तरी भागमें रोमधारी ऐनू रहते थे। दक्षिणमें मलयवंशज भी पहुँचे। एक तीसरी जाति, जिसने पीछे प्रधानता हासिल की, कहींसे आ टपकी। हो सकता है, यह तीसरी यमातो जाति भी किसी एक वंशकी नहीं थी। यह पहिले चू-कू-शी (क्यू-शू) द्वीपमें बसी, फिर प्रधान द्वीपके उत्तरी तटकी ओर भी बढ़ गयी। इसी (यमातो) जातिने आगे प्रधानता प्राप्त की। इनकी आकृति थी—आकार मझोला, मुँह लम्बोतरा, बाल काले और नाक तोते-जैसी। ऐन्यू, मलय और तीसरी मुखिया (यमातो) जातिके अतिरिक्त राज्य-क्रान्तियोंके समय भागकर कितने ही कोरियन और चीनी आये और कितने ही सिबेरियाके बर्बर भी। सभी जातियाँ आती गईं, लेकिन वह अपना पृथक् अस्तित्व न रखकर एक जापानी जातिका रूप लेती गईं। मुख्य जाति अपने सूर्यवंशी होनेका विश्वास रखती थी। वह साहसी थी। द्वीप हरित, कमनीय और सुन्दर था। समुद्रने प्रकृतिको और कोमल बना दिया था। एक अच्छी संस्कृति विकसित करनेके सारे भौतिक साधन वहाँ मौजूद थे।

जापानियोंका आदिम धर्म पितरपूजा था, जिसे बौद्धधर्मने हटानेकी कोशिश कभी नहीं की और जो आज भी वहाँ शिन्तोके रूपमें मौजूद है। चीनियोंके सम्पर्कसे कन्फूसी प्रभाव भी शिक्षा एवं कानूनकी संस्थाओंपर पड़ा। जापान ईसाकी तीसरी शताब्दीसे पहिले ही चीनी संस्कृतिसे परिचित हो चुका था। आदिम समुद्रयात्रियोंके लिये भी कोरियासे जापान पहुँचना उतना ही आसान था, जितना भारतसे लंका।

लेकिन संस्कृतिकी सर्वतोमुखीन प्रगतिमें मानवता-प्रचारक विश्वजनीन बौद्धधर्मकी देन सबसे अधिक है। जापानी कला और साहित्य एवं उसके जातीय जीवनके प्रत्येक पहलूपर बौद्ध विचार-धाराने प्रभाव डाला है।

(२) इतिहास-संक्षेप—

जापानी राजनीतिक इतिहासका संक्षेप है—ईस्वी सन्के आरम्भसे सामन्तशाही समाज-की स्थापना; फिर तेरहवीं सदीमें सामन्त-सैनिक तानाशाहीकी स्थापना; तेरहवीं सदीसे महंतराजों और सामन्तोंका द्वन्द्व; सत्रहवीं सदीमें परदेशी (ईसाई) धर्मका दमन-निष्कासन और कूपमंडूकताका एकाधिपत्य; अठारहवीं सदीके अन्तमें दरवाजा खोलनेका प्रथम प्रयत्न; १८५९ ई० में अमेरिकन तोपों और जहाजों द्वारा दरवाजेका तोड़ा जाना और जापानकी

कूपमंडूकताका अंत; १८६८ ई० में मी-को-ता (मिकाडो) का अधिकारारूढ़ होना, पश्चिमी सभ्यता, नई शिक्षाका प्रचार; १९०४ ई० में रूसको पछाड़कर पूँजीवादी पाश्चात्य देशोंकी पंक्तिमें बैठना और साम्राज्यवादकी लिप्सा, १९१६ ई० से साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाके पीछे-पीछे चलकर द्वितीय विश्व-युद्धमें सारे पूर्वीय एसियापर अधिकार करके १९४५ ई० में पराजित होना, फिर अमेरिकाका पुछल्ला बनना।

§ २. बौद्धधर्म-प्रचार

(१) कोरियासे सम्बन्ध—

जापानी समुद्र-तटसे कोरिया बहुत दूर नहीं है। सिमोनोसकीसे १२२ मीलकी खाड़ी पार करके कोरियाके तटपर पहुँचा जा सकता है; किन्तु इस खाड़ीके भीतर भी कई आबाद टापू हैं, जो पुराने नौयात्रियोंके बड़े कामके थे। ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोंमें जापान और कोरियाके बीचका यातायात ही बहुप्रचलित ही नहीं था, बल्कि कोरियाके दक्षिणी तटपर कितनी ही जापानी बस्तियाँ बसी हुई थीं। कोरियामें उस समय एक ही राजा नहीं था, वहाँके तीन राज्योंका वर्णन हम चीनके प्रकरणमें कर चुके हैं। कोरियाके राजाओंके साथ जापान-का दौत्य सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। हान्-वंशके समय (२०८ ई० पू०—२२० ई०) चीन और कोरियाके बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। पाँचवीं सदीसे तो कोरिया बौद्ध बन चुका था और अब इस स्थितिमें था कि चीनसे जला-कर लाये अपने धर्मप्रदीपको जापानमें पहुँचाये।

(२) बौद्धधर्मका प्रवेश—

दक्षिण-कोरियामें कुदारा एक राज्य था। ५३८ ई० में भेंट भेजते समय कुदाराके राजाने कुछ बौद्धग्रन्थ, बुद्ध और अर्हतोंकी मूर्त्तियाँ तथा पूजा-सामग्रीके साथ यमातो (जापानी) राजाके पास एक पत्र भी भेजा था। इस पत्रकी कुछ पंक्तियाँ निम्न प्रकार थीं—

"यह धर्म सभी शिक्षाओंमें अति उत्तम है, यद्यपि इसका अवगत करना कठिन और समझना मुश्किल है। चीनके मुनियोंको भी इसका समझना आसान नहीं था। इसके माननेवाले अपरि-मित सुख और फलके भागी और बुद्धत्व-प्राप्ति तकके अधिकारी होते हैं। चिन्तामणि जैसे सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली समझी जाती है, वैसे ही यह महान् रत्न आदमीकी अभिलाषा पूरा किये बिना नहीं रहता। यह धर्म सुदूर भारतसे कोरियामें आया है, और बीचवाले देशोंके सभी लोग इसके पक्के अनुयायी हैं, कोई इससे बाहर नहीं है।"

पत्रके साथ आये उत्कृष्ट कलाके नमूने उन मूर्त्तियों और चित्रपटों तथा संस्कृति और समयके मूर्त्ति-स्वरूप आये भिक्षुओंको देख जापानके भाग्यविधाताओंकी आँखें खुलीं। इससे दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व ही-से जापानने कोरिया द्वारा चीनसे सम्बन्ध स्थापित किया था और उसने चीनी लिपि तथा कुछ और बातें सीखी थीं, किन्तु अभी-तक उसे सभ्यताके विकासके इन उच्चतम नमूनोंको देखनेका अवसर नहीं मिला था। दर्बारियोंमें इसपर मतभेद रहा, कि इस भेंटको स्वीकार किया जाये या नहीं। सोगा-वंशने बौद्धधर्मका विरोध किया। दर्बारकी अनिश्चित राय होनेपर भी बौद्धधर्म धीरे-धीरे फैलने लगा।

यमात्तो दर्बारमें बौद्धधर्मके स्वीकारके विरोधी सैनिक अफसर और शिन्तो पुरोहित थे। विरोध ५० साल तक जारी रहा।

यहाँ यह बात स्मरण रखनेकी है कि कुदाराके धर्मदूतोंके आनेसे पहिले ५२२ ई० में सिबा-तचिता नामक एक चीनी बौद्ध चीनके पूर्वी तटसे जापान आ बना था। प्रथम जापानी भिक्षुणी इसी वंशकी थी और सातवीं सदीके सर्वश्रेष्ठ चित्रकार इसी वंशने पैदा किये। इसमें सन्देह नहीं, कोरियन और चीनी शरणार्थियोंमें काफी बौद्धधर्मी थे।

दर्बारके प्रभावशाली व्यक्तियों एवं पुरोहितोंके विरोध करनेपर भी बौद्धधर्मने लोगोंका हृदय अपनी ओर आकृष्ट किया था, जिनमें ३२ वें मिकोता (मिकाडो) सूशुन् तेन्नो और उनकी रानी भी थी।

(३) शोतोकू—

सूशुन् तेन्नो और उनकी बुद्धभक्ता पत्नीको ५७४ ई० में एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम उमयदो रखा गया। बौद्धधर्मके दर्बारमें प्रवेश होनेके समयसे अब ३६ वर्ष बीत चुके थे और अब भी विरोध चल रहा था। किन्तु राजधर्म स्वीकृत न होनेपर भी राजा और रानी व्यक्तिगत तौरसे बौद्ध थे।

दर्बारियोंमें भी बौद्ध और बौद्ध-विरोधी दो दल थे। प्रगतिका पक्षपाती होनेसे बौद्धदल अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। ५९२ ई० में सम्राट् सूशुन्की मृत्यु हो गयी। कहते हैं, उन्हें सोगाकी ओरसे विष दिया गया था। शोतोकूने पिताकी हत्याका बदला नहीं ले क्लीवता दिखलाई, यह आक्षेप पुराना नहीं है। अभी हालकी बात है, एक जापानी जेनरलने बड़े कठोर शब्दोंमें शोतोकू पर कायरताका दोष लगाया था, और उसके लिये जापानमें ऐसा विरोध हुआ, कि जेनरलको अपने पदसे अलग होना पड़ा। सोगाने इतना ही नहीं किया, बल्कि पुत्र (शोतोकू) को राज्यसे वंचितकर उसकी चाची सुइ-को (५९२–६२९ ई०) को गद्दीपर बैठाया। १९ वर्षकी अवस्थामें शोतोकू उपराज बनाये गये। शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी शोतोकूने यह अन्याय क्यों सहा, इसका उत्तर एक ही हो सकता था, कि शोतोकूको व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं थी।

राज्यकार्य सँभालनेसे पहिले ही पिताकी इच्छासे उपराज शोतोकूको विरोधियोंसे मुकाबला करना पड़ा और वह शिरस्त्राणपर चार महाराजों (वैश्रवण, विरूढक, धृतराष्ट्र, विरुपाक्ष) की प्रतिमायें लगाकर युद्ध करनेके लिये निकले। विजय प्राप्त करनेपर उसके उपलक्षमें उन्होंने ननिवा (वर्त्तमान ओ-साका) में चारों महाराजाओंका मन्दिर (तेन्नोजी) बनवाया।

५९२ ई० में राज्य सँभालनेके साथ ही उन्होंने बौद्धधर्मको राजधर्म घोषित किया, और वर्त्तमान ओसाकामें तेन्नोजीका आश्रम स्थापित किया। इस आश्रममें एक मठ, एक आश्रम, एक चिकित्सालय तथा एक औषधशाला—चार संस्थायें थीं। मठ ध्यान-पूजा मात्रका स्थान नहीं था, बल्कि वहाँ एक अच्छा विद्यालय था, जिसमें साहित्य, धर्म और दर्शनकी शिक्षा दी जाती थी। शोतोकूने स्वंय माध्यमिक (नागार्जुन) दर्शन का विशेष अध्ययन किया था।

जापान उस समय कला-विज्ञान आदिसे कोरा था। शोतोकूने जहाँ सैकड़ों विद्यार्थियोंको कोरिया और चीनमें शिक्षा पानेके लिये भेजा, वहाँ बहुतसे वास्तुशिल्पी, प्रस्तरशिल्पी, मूर्त्तिकार, चित्रकार, राज, जुलाहे, बढ़ई, लोहार तथा दूसरे शिल्पियोंको बुलाकर वैसे ही वेगसे जापानकी शिक्षा शुरू की, जैसी कि वह तेरह सौ वर्ष बाद पिछली शताब्दीके उत्तरार्द्धमें देखी गयी। शोतोकू

बहुमुखी प्रतिभा रखते थे। उन्होंने ६०४ ई० में जापानका सत्रह धाराओंका पहिला विधान बनाया। वह आज भी जापानकी सबसे बड़े अभिमानकी चीज़ है। उसमें एक जगह वह कहते हैं—

"मतभेद होनेपर हमें चिढ़ना नहीं चाहिये। हरएक आदमीके पास अपना दिमाग है, और हरएक दिमाग अपना विशेष झुकाव रखता है। हो सकता है, जो एककी दृष्टिमें उचित हो, वह दूसरेकी दृष्टिमें अनुचित हो। हम लोग न निर्भ्रान्त ऋषि हैं, न बिल्कुल ही मूर्ख। हम सभी केवल साधारण मनुष्य हैं।" दूसरी धारामें वह कहते हैं—"हृदयसे तीनों रत्नोंका सम्मान करो। बुद्ध, धर्म, संघ—यह तीन रत्न सभी प्राणियोंके शरण्य और सभी मनुष्योंके परम श्रद्धाभाजन हैं। कौनसे ऐसे मनुष्य हो सकते हैं, जो उन्हें बिल्कुल भुला दें? बिल्कुल ही दुष्ट व्यक्ति बहुत कम हैं, हरएक पुरुष इस (सत्य) को अनुभव करेगा, यदि उसे ठीकसे बतलाया जाय। बिना तीनों रत्नोंकी सहायताके भला कौन बुराई दूर की जा सकती है?" राजमन्त्री या राज्याधिकारीके कर्त्तव्यके बारेमें कहा है—"व्यक्तिगत बातोंसे विमुख हो, सार्वजनिक कामोंमें लगना—यह राजमन्त्रीका मार्ग है।"

उपराज शोतोकू कोरे आदर्शवादी न थे। उन्हें अपने अशिक्षित देशबन्धुओंको शिक्षित करना था, यह पहिले कह चुके हैं। उन्हें नाना वंशों द्वारा अलग-अलग सर्दारियोंमें बिखेरे जापानको एकताके एक सूत्रमें ग्रथित करना था। उन्होंने इसके लिये शिक्षण, चिकित्सा तथा और-और मार्ग इस्तेमाल किये। शोतोकू जापानके सर्वप्रथम सड़क बनानेवाले हैं। नये-नये बीजों और फलों-की खेतीका प्रचारकर उन्होंने कृषिकी भी बहुत अच्छी उन्नति की। शोतोकू स्वयं एक अच्छे धर्मोपदेष्टा और धार्मिक लेखक थे। जब वह धर्मासनपर बैठकर धर्मोपदेश करते, तो छोटे-बड़े सभी श्रेणियोंके हजारों नर-नारी धर्मोपदेश सुननेके लिये आया करते। उन्होंने **सद्धर्मपुंडरीक, विमल-कीर्त्तिनिर्देश** और **श्री मालादेवी-सिंहानद** इन तीन बुद्धोपदेशोंपर व्याख्यान लिखे है, जिनमें सद्धर्म-पुण्डरीककी व्याख्या तो उनकी अपनी हस्तलिपिमें आज भी मौजूद है। सद्धर्मपुण्डरीकमें बुद्धने कहा है—अपने ही दुखसे बचनेकी कोशिश मत करो। जबतक एक भी प्राणी दुःख और शोकमें है, तबतक तुम्हें अपनी मुक्तिकी चिन्ता न कर उसे दुखसे निकालनेकी कोशिश करनी चाहिए। सर्वस्व त्यागपूर्वक परोपकारमय बोधिसत्व-कर्तव्यका जिस सूत्रमें उपदेश किया गया है, उस ग्रन्थको अपनी व्याख्याका विषय बनाना, विशेष तात्पर्य रखता था। उपराज शोतोकूका वही अपना आदर्श था, और वह चाहते थे, कि उस आदर्शके दीवाने और भी साथी उन्हें मिलें। **विमलकीर्त्तिनिर्देश** भी उनके अपने आदर्शका परिपोषक उपदेश है। विमलकीर्त्ति वैशालीका एक बौद्ध गृहस्थ था, जिसके बारेमें सूत्रमें कहा गया है—"प्रज्ञा उसकी माता है, सबका संग्रह करना पिता, सभी प्राणी उसके बन्धु हैं, अनासक्ति उसका वासस्थान, सन्तुष्टि उसकी स्त्री है, करुणा पुत्री और सत्य पुत्र। इस प्रकार गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते भी वह सांसारिक बन्धनोंसे निर्मुक्त है।" इस सूत्रपर व्याख्या करते हुए शोतोकू लिखते हैं—"विमलकीर्त्ति पहुँचा हुआ मुनि था। उसका आध्यात्मिक जीवन राग-द्वेषकी सीमाको पार कर चुका था। उसका मन राज या समाजके कारबारमें आसक्त न था।..उसके भीतर अपार करुणा थी, और इसीलिये अपार दयासे प्रेरित हो गृहस्थका जीवन बिताते हुए वह निरन्तर लोगोंके हितके कामोंमें लगा रहता था।" इसमें क्या सन्देह है, कि शोतोकू विमलकीर्तिके नामसे अपने ही जीवनके आदर्शको अंकित कर रहे थे।

काशीकी रानी श्रीमाला आदर्श गृहस्थ महिला थीं। वह मातृभक्ता और पतिपरायणा थी। रानीको जीवन बिताते हुए भी उसने अपने गुरु बुद्धके सामने अपने कर्त्तव्यकी इस प्रकार प्रतिज्ञा ली थी—मेरा सर्वस्व गरीबों और अनाथोंको अर्पण है। मैं हर तरहसे दीन-दुखियोंकी सेवा करूँगी। यदि इसके लिये मुझे अपने प्राणोंको देनेकी अवश्यकता होगी, तो उससे भी मैं नहीं हिचकिचाऊँगी। श्रीमालाके इस आदर्श जीवनको लेकर अवश्य शोतोकू अपनी चाची रानीको उसी आदर्शपर ले जाना चाहते थे, अनाथों और रोगियोंकी सेवाके लिये देशमें हर जगह आश्रम उन्होंने इसी आदर्शपर बनाये थे। बोधिसत्त्व-जीवनके इस उच्च आदर्शने कहाँ तक लोगोंको प्रभावित किया, इसके आगे भी हम उदाहरण पाते हैं। सम्राट शोम् (७२४–४९ ई०)—जो जापानके दूसरे महान् बौद्ध-आदर्शपरायण शासक थे—की रानीके बारेमें कहा जाता है, कि वह रोगियोंकी अनन्य भावसे अपने हाथों सेवा करती थी। उसकी परीक्षा लेनेके लिये बुद्ध स्वयं कोढ़ीका रूप धारण करके आये। जब मक्खियाँ भिनभिनाते कोढ़-चूते उस रोगीको देखकर घृणाका भाव जरा भी चेहरेपर न लाये सहानुभूतिके साथ रानीने अपने हाथों घावको धोना शुरू किया, तो बुद्धने अपना रूप प्रकट कर दिया।

उपराज शोतोकू यह सब करते हुए अपने आत्मिक विकासके दूसरे साधनोंको भी हाथसे न जाने देते थे। होर्योजीमें आज भी वह अठपहलू मन्दिर (युमे-दोनों) दिखलाया जाता है, जहाँ शोतोकू ध्यानावस्थित हो आत्म-परीक्षण करते थे। होर्योजीमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वर-की अद्भुत काष्ठ-प्रतिमाको शायद अपने इसी भावको दर्शानेके लिये उन्होंने अपने हाथों बनाया था। इस प्रतिमाको देखकर लोग कहते—शोतोकूने जिसमें हाथ लगाया, उसीको कमालपर पहुँचाया।

शोतोकूके बनाये मन्दिरोंमें प्रधान होर्योजीका मन्दिर है, जो जापानी बौद्धोंका बोधगया और जापानी राष्ट्रीयताका मूर्त्तिमान रूप है।

इतने अधिक आदर्श, इतनी अधिक धार्मिकताके कारण अक्सर राजाओंको शासकके गुणसे वंचित होते देखा जाता है, किन्तु शोतोकूमें आदर्श और व्यवहारका अद्भुत सम्मिश्रण था। राजकार्यमें उनका व्यवहार अपने पदके अनुकूल होता था। सन् ६०७ ई० में उन्होंने सर्वप्रथम चीनसे सीधा राजनैतिक सबन्ध स्थापित किया। राजदूतके हाथ उन्होंने जो पत्र भेजा था, उसमें चीन-सम्राट् (यङ्-ती ६०५-१७) को—"सूर्योदयभूमि (जापान) का शासक सूर्यास्त-भूमिके शासकको अपना सन्देश भेजता है," कहकर सम्बोधित किया। इससे चीन-सम्राट् नाराज हो गये और उन्हें बड़ी व्याख्याके बाद शान्त किया जा सका। उत्तरमें चीन-सम्राट्ने यह कहकर पत्र लिखा—"सम्राट्, यमातोके राजकुमारसे कहते हैं" उत्तरमें शोतोकूका उत्तर इन शब्दोंके साथ गया—"पूर्वका देवराजा पश्चिमके सम्राट्से कहता है।" इस प्रकार चीनके सामने उन्होंने अपने बराबरीके दावेको नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने ३० वर्षके शासन-कालमें क्या किया—इसके बारेमें जापानी-संस्कृतिके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् डा० मसाहरू अनेसाकी कहते हैं[1]—

"उनका तीस वर्षका शासन जापानी इतिहासमें अत्यन्त युगप्रवर्त्तक काल है।..वह जापानी सभ्यताके प्रतिष्ठापक तथा जापानकी राष्ट्रीय एकताके निर्माता थे।" वह और भी लिखते हैं—"उन्होंने राष्ट्रीय एकताकी स्थापना की, बौद्धधर्मके आध्यात्मिक आदर्श द्वारा जातिको

[1]History of Japanese Religion. pp. 57, 65.

अन्तःप्रेरणा दी, पथप्रदर्शन किया। उन्होंने जापानियोंको कला, विज्ञान तथा दूसरी साँस्कृतिक बातोंकी शिक्षा दी। यह बिल्कुल स्वाभाविक है, जो पीछेके ही नहीं, समकालीन बौद्ध भी उन्हें करुणामय बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरका अवतार मानते। उनका उद्योग और आदर्श, उनकी प्रतिभा और प्रज्ञा उनकी वैयक्तिक विशेषता थी (इसमें शक नहीं); किन्तु उस (वैयक्तिक विशेषता) में भी बौद्धधर्मको श्रेय देना पड़ेगा, जिसने उस पुरुषमें आत्मा फूँकी, उसकी प्रतिभाको शिक्षित और विकसित किया, और उसे एक उच्च आदर्शपर राष्ट्रीय जीवनकी आधार-शिला रखनेमें सफल होनेमें सहायता की।"

जब ६२१ ई० में उपराजका देहान्त हुआ, तो उस समयके बारेमें पुराने इतिहास-लेखक लिखते हैं, हलवाहेने हल जोतना छोड़ दिया और कूटनेवालियोंने मूसल रख दिया। सब कह रहे थे—"सूर्य और चन्द्र निस्तेज हो गये। पृथ्वी और नक्षत्र लोक चूर्ण-विचूर्ण हो गये। अबसे हम किसका आसरा लेंगे?" गरीब और अमीर सारा जापान व्याकुल था। बूढ़े समझते थे, उनका एकलौता प्रिय पुत्र मर गया। तरुण समझते थे, उनसे उनका पिता छीन लिया गया। सारी सड़कें और गलियाँ इन सन्तप्त, क्रन्दन करते नर-नारियोंसे भर गयी थीं।

(४) होर्योजी मन्दिर—

जापानका यह सबसे पुराना मन्दिर है, जिसका निर्माण हर्षवर्द्धनसे सोलह साल पहिले ५८६–८७ ई० में उपराज शोतोकूने किया। बीचमें एक बार मकान जल गया था, फिर ७३९ ई० में दूसरी इमारत बनाई गई, जो आज भी वहाँ मौजूद है। होरोमियाँ स्टेशनसे मोटरबस द्वारा होर्योजी घंटे-डेढ़-घंटेमें पहुँचा जा सकता है।

होर्योजी वह स्थान है, जहाँ जापानने सभ्यता, कला, विज्ञान तथा धर्मकी शिक्षा आरम्भ की और पूरी की। यहाँकी कुछ इमारतें संसारकी सबसे पुरानी लकड़ीकी इमारतें हैं। जापानकी सबसे पुरानी मूर्त्तिकला, चित्रकला आपको यहाँ देखनेमें आयेगी। १९३५ ई० में होर्योजीको देखते हुए मैंने उसके बारेमें निम्नपंक्तियाँ लिखी थीं—"होर्योजी मन्दिर समतल भूमिपर एक विस्तृत प्राकारसे घिरा हुआ है। भीतर जानेका प्रधान द्वार दक्षिणकी ओर है। होर्योजीके दर्शनके लिये हजारों आदमी रोज आया करते हैं। स्कूलके छात्र और छात्रायें सैकड़ोंकी संख्यामें आती हैं। उनके लिये होर्योजी जापानी इतिहासकी जीवित पाठशाला है। अध्यापक हरएक स्थानको, हरएक चीजको अच्छी तरह समझाते हैं। उस दिन भी छात्र-छात्राओंकी कई टोलियाँ आई थीं। प्रधान दक्षिण द्वार प्राकारके साथ है। इसके बाद दोतल्ला मध्य द्वार। खपड़ैलकी पुरानी छतोंवाले मकानोंके साथ बीच-बीचमें खड़े प्राचीन देवदार मिलकर अद्भुत शोभा प्रदान करते हैं। इसी मध्य द्वारमें दो द्वारपाल देवताओंकी काष्ठ-मूर्त्तियाँ हैं। यह द्वार आठवीं सदीके आरम्भमें बना था। मूर्त्तियाँ भी उसी समयकी होंगी। इनके रोम-रोम-से अपार शक्ति प्रभासित होती है। रग-पेशियोंकी प्रबलता दिखलानेमें कमाल किया गया है। मध्यद्वारको पारकर हम प्रधान आँगनमें पहुँचे, जिसमें कि प्रधान देवालय खड़े हैं। बायीं ओर पाँचतलेका "स्तूप" है, दाहिनी ओर अत्यन्त पवित्र प्रधान देवालय है। हमें पहिले प्रधान देवालयमें पहुँचना था। पथप्रदर्शक हमें पहिले पूर्व ओरके एक बरांडेमें ले गये। वहाँ हमें कपड़ेका साफ स्लीपर पहननेको दिया गया। जिनके पैरोंमें बूट थे, उन्हें उसे ढाँकनेवाला कपड़ेका गिलाफ मिला। जापानी बौद्ध-मन्दिरोंमें जूता ले

जाना अच्छा नहीं समझा जाता, और यही बात उनके अपने जातीय ढंगसे सजे घरोंके बारेमें भी है।

"प्रधान मंदिर और इमारतोंकी भांति लकड़ीका है। भयंकर भूकंपोंकी लीलाभूमि जापानमें दूसरे प्रकारके मकान कभी सुरक्षित न थे, इसीलिये जापानमें लकड़ीकी इमारतोंको अधिक पसंद किया जाता है। आज (२१ जून १९३५) लिखते समय जापान पहुंचे डेढ़ मासके करीब ही हुए हैं, किन्तु, इतने ही समयमें एक दर्जन बार भूकंप आ चुके हैं। आज ही सवेरे खासा भूकंप आया था, किन्तु रातको देर तक जगे होनेसे हम खर्राटे ले रहे थे। जापानी लोग भूकंपोंसे झट सजग हो जाते हैं।

"प्रधान मंदिरमें चारो ओर चार द्वार हैं। बीचमें थोड़ी-सी ऊंची वेदी पर सभी दर्शनीय मूर्त्तियां तथा दूसरी पुरानी चीजें रक्खी हुई हैं। वेदीके चारो ओर परिक्रमा है। हम लोग पूर्व ओरसे घुसे। जापानमें गावों तकमें किसानोंके झोंपड़ोंको भी बिजली प्रकाशित करती है, किन्तु यहांके पुराने मंदिरोंमें बिजलीका बायकाट-सा किया गया है। हमारे पास बिजलीका मशाल था, इसलिये हमने हरएक चीजको ध्यानसे देखना शुरू किया। हमारे साथियोंमें श्री बेंकटाचलम् भारतीय कलाके लेखक हैं, इसलिये उनकी टिप्पणियोंसे भी लाभ उठानेका हमें मौका मिल रहा था। यहां लकड़ीकी दीवारों पर पतला पलास्तर करके चित्र अंकित किये गये हैं। रंग बहुत धुँधला हो गया है, किन्तु यह समझनेमें देर न लगी, कि होर्योजीके इन दुर्लभ भित्तिचित्रोंका अजन्ताके चित्रोंसे बहुल सादृश्य है। चित्रोंको कोरियाके चित्रकारोंने अंकित किया था। मालूम होता है छठी शताब्दीमें (वही समय अजंताके अधिकांश चित्रोंका भी है) भारतीय चित्रकला सभी बौद्धदेशोंमें प्रचलित थी। एक बोधिसत्त्व चित्र तो ठीक अजन्ताके प्रसिद्ध बोधिसत्त्वकी नकल मालूम होता है। किसी समय सारी दीवार चित्रित थी, किन्तु अब पांच-छ ही चित्र बाकी रह गये हैं, जिनमें भी कुछ साफ देखे जानेवाले दो ही एक हैं। जापानी जाति कला-की अत्यन्त भक्त जाति है, और फिर होर्योजीका मंदिर तो उसके लिये प्राणोंसे प्रिय है। सरकारने यहांकी चीजोंकी रक्षाकी ओर विशेष ध्यान दिया है। यहांकी सौ से ऊपर वस्तुयें जातीय निधि मानी गई हैं। बीचकी वेदी पर रक्खी हर एक मूर्त्ति, हर एक संदूकची, हर एक पात्रके साथ पुराना इतिहास है। यह उपराज शोतोकूके हाथकी हैं, यह उनकी चाची सम्राज्ञी सुइको (५९३-६०७ ई) की पूजाकी चीज है। इन फूल-पत्तियोंको कोरियाके भिक्षु दोनू-चोने स्वयं बनाया था। इन्ही वस्तुओंमें जापानी जातिके आरम्भिक कला-अभ्यासके कितने ही नमूने हैं।

"प्रधान मंदिर से हम पंचतले "स्तूप" की ओर निकले, और वहांसे उत्तर ओर विशाल उपदेश-शालामें गये। शालाकी अगल-बगलमें घंटाघर और भेरी-घर(नक्कारखाना) हैं। पहिले की इमारत बिजली गिरनेसे नष्ट हो गयी थी, किन्तु वर्त्तमान इमारत भी ९२१ई० की है। केन्द्रमें बुद्ध की प्रतिमा है, जिसके चारो ओर चारों दिक्पाल देवता हैं। फिर हम लौटकर पंचतले "स्तूप" में आये। स्तूप नहीं, नेपाली या चीनी ढंगका यह एक मंदिर है। मंदिर ११२ फीट ऊँचा है और भीतर बुद्ध-जीवन-संबंधी दृश्य अंकित किये गये हैं। इन मूर्तियोंके निर्माणके लिये मिट्टी भारतसे लायी गई थी। उस समय भारतसे मिट्टी लाना उतना आसान न था, किन्तु जिस मिट्टीसे बुद्धका शरीर बना था, उसका बहुत पवित्र होना जरूरी ही ठहरा, इसलिये श्रद्धालुओंने इतना परिश्रम किया होगा।"

§ ३. बौद्धधर्मकी समृद्धि

(१) नारा—

जापान यद्यपि सातवीं सदीसे बहुत पहले ही सुसंगठित सामन्ती सत्ता स्थापित कर चुका था, किन्तु अभी उसकी राजधानी हर एक सम्राट्के मरने पर एक जगहसे दूसरी जगह बदलती रहती थी। नाराके रूपमें जापानने अपनी पहली स्थायी राजधानी ७०९ई० में स्थापित की। राजधानियोंको बदलना अवश्यक समझा जाता था, क्योंकि शिन्तो-धर्मके अनुसार जिस स्थान पर एक शासक मर जाता, उसे मनहूस समझा जाता था। बौद्ध-विचारोंके प्रचारसे अब मनहूसियतका डर कम हो गया था। सम्राट् शोमूने नाराको अपनी राजधानी बनाया। शोतोकूके बाद सम्राट् शोमूको जापानके प्रतापी और अतिश्रद्धालु शासक माना जाता है। नाराकी यात्राके समय मैंने लिखा था—

"उन्होंने जहां अपनी राजधानीको सुंदर प्रासादों और दर्बारोंसे अलंकृत करना शुरू किया, वहां मठों और मंदिरों पर भी पानीकी तरह सोना बहानेमें कोई कोर-कसर नहीं रक्खी। ७५२ ई० में उन्होंने संसारकी प्राचीनतम और उच्चतम पीतलकी बुद्धमूर्त्ति दाईबुत्सु (=महाबुद्ध) को ढलवाया। यह कितनी विशाल है, इसके अनुमानके लिये देखिये—बैठी मूर्त्तिकी ऊँचाई ५३.५ फीट, चेहरा १६-९.५ फीट, आँखें ३.९ फीट लंबी, कान ८.५ फीट लंबे, मुँह ३.७ फीट, नाक ३.९ फीट, नाकका छिद्र ३ फीट परिधि, अंगूठा ४.५ फीट। सिंहासनका पद्म १० फीट ऊँचा और ६९ फीट परिधिमें। इसके ढालनेमें १२२७५ मनके करीब पीतल, २२५ मन मोम, साढ़े दस मन सोना, साठ मन पारा लगा था। प्रतिष्ठा-महोत्सवके समय भारत, अनाम, चीन, कोरिया तकके गायक और नृत्यकार यहां आये थे।

"नारा पहुंचने पर हम लोग पहिले वहांके म्यूजियमको देखने गये। म्यूजियम मृगदाव या हिरनोंके बनमें है। सारनाथ (बनारस) में भगवान् बुद्धने अपना प्रथम उपदेश या धर्म-चक्रप्रवर्त्तन किया था। सारनाथका पुराना नाम मृगदाव या हिरनोंका बन है। उसी ख्यालको लेकर राजधानी नारामें मृगदावकी स्थापना हुई। यह उद्यान जापानका सबसे बड़ा बाग है। हजारके करीब पालतू हिरन इसमें घूमा करते हैं। दो पैसेकी रोटियां ले लीजिये, एकको डालिये, देखिये पचासों आपके गिर्द जमा हो जाते हैं। जापानके और म्यूजियमोंकी भांति यहां भी बहुत थोड़ी ही चीजें हैं, तो भी संख्याकी कमी गुणकी अधिकतासे पूरी हो जाती है। इस म्यूजियममें नारा-काल (७१०-८०ई०) तथा कुछ पीछेकी भी बहुत-सी मूर्त्तियां और चित्र एकत्रित किये गये हैं। कुछ द्वारपाल यक्षों-की मूर्त्तियाँ अद्भुत हैं। देखिये उनके तने शरीर, रगों और पुट्ठोंके उभार, शरीरके सुडौल-पनको। एक-एक रोममें मालूम होता है, हजारों हाथियोंका बल है। जापानी शारीरिक बलके बड़े प्रेमी हैं। जापानके स्कूलों और कालेजोंमें लड़कोंके शरीर पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। विद्यार्थियोंको नियमपूर्वक हर हफ्ते कुछ घंटे गदका-फरी, जूजुत्सु आदि सीखना पड़ता है। मंत्रिमंडलके सदस्य तक जुजुत्सु या तीर-धनुषके दो हाथ दिखलानेमें नहीं हिचकिचाते। यहां लोग उनके बड़े शौक़ीन हैं और खेलोंकी विजय बहुत जल्द घर-घर और आदमी-आदमीके पास पहुंच जाती हैं।

"म्यूजियमके पास ही कोफुकुजी मंदिर और विशाल स्तूप है। स्तूप राष्ट्रीय निधि है।

राष्ट्रीय निधि बतलाते हुये मेरे साथीने टिप्पणी की—पिछली शताब्दीमें सरकार इस स्तूपको ५० येन् पर बेंच रही थी, किन्तु कोई खरीदनेवाला नहीं मिला। सरकारके कर्णधार उस समय जापानसे बौद्धधर्मका नाम मिटा डालने पर तुले हुये थे। स्तूपके तोड़नेमें खर्च ज्यादा पड़ता, इसीलिये तोड़ा नहीं, और आग लगाने पर आसपासके घरोंके खतरामें पड़नेका डर था, इसलिये जलाया नहीं गया। इस प्रकार स्तूप नष्ट होनेसे बच गया।

"नाराके वन, उसके विशाल देवदारों और मृगोंके झुंडको देखते हम दाई-बुत्सुकी ओर चले। यद्यपि दोपहरकी गर्मी थी, तो भी सैकड़ों यात्री आये हुये थे। फाटकके बाहर एक छोटी पुष्करिणी है। फाटकमें द्वारपाल यक्षोंकी विशाल काष्ठ-प्रतिमायें हैं। आठवीं शताब्दीके इस शिल्पीने ओज और वीर्य दिखलानेमें कमाल कर दिया है। जापानकी यह प्रतिमायें कलामें अद्वितीय समझी जाती हैं। भीतर एक ओर जापानके सबसे बड़े घंटोंमें तीसरा[१] टँगा हुआ है। प्रधान मंदिरके सामने एक पीतलकी लालटेन खड़ी है। यह भी आठवीं सदीकी कारीगरीका उत्कृष्ट नमूना तथा राष्ट्रीय निधि करके संरक्षित है। मंदिरकी विशाल दाई-बुत्सुकी मूर्त्तिका वर्णन पहले कर चुका हूँ। आग लगनेमें सिर दो बार गिर गया था, जिसे फिरसे लगा दिया गया। मंदिर कितनी ही बार जल चुका है। ३५ हाथसे ऊपरकी यह बैठी मूर्त्ति देखनेमें उतनी बड़ी नहीं मालूम होती। आसपासकी सभी चीजोंके उसी प्रकार बड़े होनेसे यह भ्रम होता है। इस मूर्त्तिके प्रभामंडलमें अवस्थित १२ बुद्ध-मूर्त्तियां मनुष्यके बराबर होंगी। यद्यपि कामाकुराकी बुद्धमूर्त्ति इससे पीछेकी तथा क़दमें छोटी है, किन्तु, इसमें कोई शक नहीं, वह मूर्त्ति इससे कहीं अधिक सुंदर, कहीं शांत, कहीं प्रभावशाली है।

"दाईबुत्सुके मठका नाम तोदाइजी है। यहांके भिक्षु जापानके सर्वपुरातन तीन बौद्ध सम्प्रदायोंमें से एक केगोन-सम्प्रदायके माननेवाले हैं। केगोन् कहते हैं **अवतंसक** को। इस मठको अवतंसक-सूत्र अधिक मान्य थे, इसीलिये सम्प्रदायका नाम सूत्रके नाम पर पड़ गया। जहां दूसरे सम्प्रदायोंके हजारों भिक्षु और मंदिर हैं, वहां इस सम्प्रदायके भिक्षुओंकी संख्या २३ और मंदिर दस हैं। सम्प्रदायके मंत्री भिक्षु बड़े प्रेमसे मिले। उन्होंने भारतके बौद्धधर्मके बारेमें बहुत प्रश्न किये, अपने सम्प्रदायके बारेमें पूछने पर वह अधिक आशावान् नहीं जान पड़े। मैंने कहा—यदि संख्यामें आपके भिक्षु अधिक नहीं बढ़ सकते, तो गुणमें तो बढ़ सकते हैं। क्यों नहीं कोशिश करते, अधिक शिक्षा, अधिक योग्यता बढ़ाने की।

"शोसोइन् नाराका अद्भुत संग्रहालय है। शोसोइन और होर्योजी जापानके पुरानी वस्तुओंके अद्वितीय संग्रहालय हैं। इसके बारेमें एक लेखक (सन्सोम्) लिखता है—

'इस भंडारमें सम्राट् शोमूकी ७५६ वस्तुयें सुरक्षित हैं, जिन्हें उनकी विधवा रानीने महाबुद्धको अर्पित किया था। वह आज तक वैसी ही अक्षुण्ण चली आयी हैं। इनमें हस्तलेख, चित्रपट, आभूषण, हथियार, वाद्ययंत्र, पात्र तथा दूसरे पूजा-भांड शामिल हैं। यह वस्तुयें उस समयके राजकीय जीवनको अच्छी तरह अंकित करती हैं। उनमें कुछ वस्तुयें विदेशी प्रभाव प्रदर्शित करनेके कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं। कितने ही कांच, मिट्टी या धातु के बर्त्तन, लाक्षाकर्म, और पट हैं, जो मध्य-एसियाके रास्ते ईरान या यूनानसे आये या उनकी नकलमें बने।'

"सम्राट् शोमूकी उक्त रानी अपने पतिकी भांति धर्मपरायणा थीं। उनका हृदय अत्यन्त

[१] प्रथम ओसाका (शितेन्नोजी) का, दूसरा क्योतो (चि-ओन्-इन्ने) का

करुणापूर्ण था। वह अपने हाथों रोगियोंकी सेवा किया करती थीं।

"पहाड़के ऊपर थोड़ा चढ़कर निगात्सु-दो और सङ्गात्सु-दो दो पुरातन मंदिर हैं। निगात्सु-दोका निर्माण ७३३ ई० में हुआ था। इसके भीतर ब्रह्माकी मूर्त्ति सुंदर और अतिप्रसिद्ध है।

"लौटते हुये हम कासुगा-जिन्शा (शिन्तो मंदिर) में गये। यह मंदिर अपनी पीतलकी हजार लालटेनोंके लिये बहुत प्रसिद्ध है। इस मंदिरके बाहर हजारों पत्थरकी लालटेनें हैं। पासमें एक वृक्ष है, जिसके तने पर छ भिन्न-भिन्न जातिके वृक्षोंकी कलम लगी है।"

(२) दूसरे विहार—

नारा प्रदेशमें कई जगहों पर सुंदर ऐतिहासिक विहार और मूर्त्तियां मिलती हैं। जापानमें बौद्ध प्रभाव कुछ घटता-बढ़ता भी छठीं सदीसे आज तक एक-सा चला आता है, इसलिये वहांकी प्राचीन कृतियोंके शत्रु काल और आग ही अधिक दिखलाई पड़े। इनके आक्रमणके बाद बहुत-सी पुरानी चीजें आज भी सुरक्षित मिलती हैं। याकुसी-जी विहारकी स्थापना ६८०ई० में हुई थी। उस समयका तीनतला स्तूप आज भी वहां मौजूद है, किन्तु मंदिर आगसे जल गया और नया मंदिर १६७४ ई० में बना। मंदिरमें पीतलकी भैषज्य गुरु बुद्धकी मूर्त्ति है, जिसकी काली वार्निशसे मालूम होता है, कि वह लाहकी है। यह मूर्त्ति आठवीं सदीके आरंभमें बनी थी। इसके प्रभामंडलमें कुछ संस्कृत वाक्य उसी लिपिमें लिखे हैं, जो हर्षवर्द्धनके समय उत्तरी भारतमें व्यवहृत होती थी। उपदेशशालामें खड़े अवलोकितेश्वरकी एक पीतलकी मूर्त्ति है, जिसे कुदारा (कोरिया) के राजाने ६७२ ई० में भेजा था।

इस मठका दर्शन करनेके बाद मैंने लिखा था—

"सूर्य कभीके डूब चुके थे। सघन देवदारकी पंक्तियोंमें अँधेरा भी आ चला था। मंदिरके पथके विद्युत् प्रदीप जल उठे थे। अभी हमें घंटे भरकी रेलयात्रा करनी थी, इसलिये लौटनेकी जल्दी पड़ रही थी। किन्तु, याकुसी मठके प्रधान श्री हाशीमोतोसे मिल लेना चाहते थे, क्योंकि जापानके सर्वपुरातन तृतीय सम्प्रदाय होस्सो (योगाचार) के बारेमें कुछ जानना था। योगाचार सम्प्रदायसे हम अपनी अधिक आत्मीयता अनुभव करते थे, क्योंकि वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् नैयायिक बुद्धिवादी इसी सम्प्रदायके पोषक थे, नालन्दा इसका प्रधान केन्द्र था। सोचा था कुछ मिनटोंमें छुट्टी मिल जायेगी, किन्तु हाशीमोतो अपने योगाचार दर्शनके ही जानकार नहीं हैं, उन्होंने तिब्बती भाषा भी पढ़ी है, और वसुबंधुकी मूल पुस्तक त्रिंशिकाका तिब्बती भाषासे चीनी (जापानी) भाषामें अनुवाद भी किया है। उन्होंने बतलाया—होस्सो सम्प्रदाय में ६०० भिक्षु, २० भिक्षुणी और ११२ मंदिर हैं। इस विहारके प्रधान—जो होर्योजी विहारके भी प्रधान हैं—जोइन्-सयेकी हैं, जो जापानक प्रधान विद्वानोंमें हैं। क्योतोके प्रधान भदन्त ओन्निशीके बारेमें आगे लिखूँगा, जिससे मालूम होगा वह भी अद्वितीय व्यक्ति हैं। ऐसे नायकोंकी योग्यता और प्रचारके कारण गहन दार्शनिक सिद्धान्त रखते भी यह सम्प्रदाय उन्नति कर रहा है। भारतमें उनके विरोधी आचार्य शंकरके वेदान्तको प्रच्छन्न बौद्धमत कहते हैं। शंकरके सिद्धान्त इसी योगाचार या विज्ञानवादसे लिये गये हैं।"

(३) जापानी बौद्धसाहित्य—

जिस तरह भारी परिश्रमके साथ तिब्बती, चीनी और मंगोल भाषाओंमें भारतीय ग्रन्थोंका अनुवाद करना पड़ा, जापानियोंके लिये वह कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। उनके लिये

अनुवाद करनेका सारा भार चीनी त्रिपिटकके अनुवादकोंने ले लिया था। जापानमें भी उच्चारण-लिपि नहीं अर्थ-संकेत-लिपिका प्रचार है, और वह अर्थ-संकेत वही हैं, जो कि चीनी भाषामें माने गये हैं। चीनीमें अनुवादित एक ही सूत्रकी उसी पुस्तकमें चीनी और जापानी दोनों भिक्षु पाठ कर सकते हैं। दोनों एक ही अर्थ समझेंगे, किन्तु उच्चारण दोनोंका अलग-अलग होगा। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि चीनी लिपिमें उच्चारण-संकेत नहीं, अर्थ-संकेत रहता है। लिपिकी एकताके कारण जापानियोंको बौद्धग्रन्थोंके अनुवाद करनेका कष्ट तो नहीं उठाना पड़ा, हाँ, उन्होंने बहुत परिश्रमके साथ चीनी त्रिपिटकका सर्वांगपूर्ण संस्करण (थैसो-संस्करण) निकाला, जिसमें तुन् ह्वाङ्-गुहा विहारसे प्राप्त ग्रन्थोंको भी सम्मिलित कर लिया गया। वैसे जापानी विद्वानोंने सारे पाली त्रिपिटकका अनुवाद किया है, जो चीनके भी कामका है।

चीनमें अध्ययन—बौद्धधर्मके प्रचारसे जैसे फा-शीन्, स्वेन्-चाङ् और ई-चिङ् जैसे महान् पर्यटक विद्याकी खोजमें भारत आये, उसी तरह जापानी धर्मजिज्ञासु चीन आये। दो-शो (६२९-७०० ई०) ने चीनमें जाकर स्वयं स्वेन्-चाङ्से शिक्षा प्राप्त की। स्वेन्-चाङ्ने भारतसे लौटनेके बाद भारतीय ग्रन्थोंके जो नये अनुवाद किये थे, उनको भी वह साथ ले आये। विज्ञानवादी होस्सो-दार्शनिक सम्प्रदायकी जापानमें स्थापना उन्होंने ही की। उन्होंने स्वयं पुस्तकें नहीं लिखीं, किन्तु बहुतसे विद्वानोंको पढ़ाया। जीवनके अंतिम वर्षोंमें दो-शो बराबर चारिका करते रहे और उन्होंने जगह-जगह विहार, अन्नशालायें, नदियोंके पुल और नाव-घाटोंका निर्माण बड़े पैमानेपर किया। दो-शोने ही जापानमें शव-दाहका प्रचार किया।

७३६ ई० में भरद्वाजगोत्रीय बोधिसेन जापान आये। उनके साथ चीन, हिन्दीचीनके भिक्षु और कलाकार भी थे। उन्होंने बौद्धधर्म और भारतीय कलाका प्रचार करते हुये यहीं ७६० ई० में शरीर छोड़ा। उनकी मृत्युके ६ साल पहिले (७५४ ई० में) चीनी भिक्षु कंजिन् (रित्सु-संस्थापक) आये। उन्होंने भिक्षु बनानेकी शाला (सीमा) स्थापित की, बौद्ध भिक्षु बनाये, देशमें जगह-जगह दातव्य औषधालय और औषधि-उद्यान स्थापित किये। कंजिन् बहुत सम्मानित और राजाके गुरु थे। ७६३ ई० में उनका देहान्त हुआ।

लेकिन इन भारतीय और चीनी भिक्षुओंके पहिले गियेन् (मृ० ७२८ ई०) और उनके शिष्य ग्यो-गी (६७०-७४९ ई०) जैसे विद्वान और धुनवाले प्रचारक जापान पैदा कर चुका था। ग्यो-गीने ३४ भिक्षु-विहार और १५ भिक्षुणी-विहार बनवाये। यही नहीं, लोगोंकी आर्थिक अवस्था सुधारनेके लिये लोगोंके श्रमको संगठितकर उन्होंने बहुतसे सरोवर, सिंचाईकी नहरें, फलोद्यान और जहाज-घाट बनवाये। देशकी अवश्यकताओंको जाननेके लिये ग्यो-गीने ही सर्वप्रथम जापानमें जनगणना करवाई।

आठवीं सदी तक जापान बौद्ध हो चुका था। तब तक जापानके होस्सो (विज्ञानवाद) सम्प्रदायकी स्थापना दो-शोने रित्सु (विनय) सम्प्रदायकी स्थापना कंजिन्ने और केगन् (अवतंसक) सम्प्रदायकी स्थापना कोरियन भिक्षु जिन्-जो (मृ० ७४२ ई०) ने कर डाली थी। नाराकी प्रौढ़ और सुन्दर कलाने हमारे यहाँकी गुप्त-कलाकी भाँति जापानी कलाको चरमउत्कर्षपर पहुँचा दिया था। चीनसे कन्फूसीकी शिक्षा भी जापानमें पहुँची थी, जिसका उसकी मातृभूमिमें बौद्धधर्मके साथ कड़ा विरोध था, उसी तरह आरम्भमें शिन्तो पुरोहित भी बौद्धधर्मके स्वागतके विरोधी थे। किन्तु इन दो शताब्दियोंमें बौद्धधर्मने बतला दिया, कि वह विदेशी नहीं स्वदेशी धर्म है।

वह सभी जगह स्वदेशीयताको स्वीकार करनेके लिये तैयार है। तीनों विचारधाराओंका सुन्दर उदाहरण एक जापानी सामन्त ईसोनो-कामी-नो-याकत्सु गू (मृ० ७८१ ई०) के आचरणमें देखा जाता है। उसने अपने भवनको बुद्धपूजाके लिये दे दिया, और कन्फूसी पुस्तकोंका एक पुस्तकालय स्थापित किया। वह कहता था, "बुद्धधर्म और कन्फूसी शिक्षा दो द्वार हैं, एक भीतरी और एक बाहरी।"

§४. बौद्ध-संप्रदाय

(१) क्योतो राजधानी (७९६–१८६७ ई०)—

बौद्धधर्मने दो शताब्दियोंमें जापानकी सर्वतोमुखीन सेवा की थी। अपनी सेवाओंके कारण बौद्धधर्माचार्योंका प्रभाव इतना बढ़ गया था, कि वहाँके राजनीतिक अपनेको अत्यन्त निर्बल समझते थे। इसीलिये ७९६ ई० में राजधानीको नारासे मि-यको ले गये, जो आगे चलकर क्यो-तोके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

७९४ ई० से १८६८ ई० तक क्यो-तो जापानके सम्राट्की राजधानी रहा। इस प्रकार पौने ग्यारह शताब्दियोंका जापानी इतिहास क्योतोके साथ संबद्ध है। नाराको सिर्फ सत्तर वर्ष ही (७१०–८० ई०) जापानकी राजधानी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। कहते हैं, नारामें बौद्ध मठाधीशोंकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी, और उसका प्रभाव शासकोंपर भी पड़ता था, इसी ख्यालसे सम्राट् क्वम्मूने मियको (=क्योतो) को अपनी राजधानी बनाया; किन्तु असल बात यह है कि दर्बारियोंने नारामें अपनी दाल गलती न देख वैसा करवाया। इसीके द्वारा फुजीवारा-वंशने ४०० वर्षों तक (७८४–११४२) सम्राटोंको कठपुतली बनाके अपने वंशमें कर रखा। उसके बाद तो खुल्लम्-खुल्ला शोगुन-प्रणाली आरम्भ हो गयी, और सम्राट् केवल पूजाके योग्य रह गये। यद्यपि शोगुन-शासनकाल (११९२–१८६८ ई०) में शोगुनकी राजधानी कामाकुरा, या येदो (तोक्यो) में रही, जिसके कारण उक्त नगर बड़े समृद्धिशाली हो गये, तो भी क्योतोमें सम्राट्के निरंतर रहनेसे उसका सारा वैभव क्षीण नहीं हुआ। क्योतोमें जापानके सभी बौद्ध-सम्प्रदायोंके केन्द्र हैं, इसलिये भी क्योतोको बड़ा सहारा मिला। १८६८ ई० के बाद यद्यपि तोक्योके राजधानी हो जानेसे क्योतोको हानि हुई, तो भी कितनी ही चीजें हैं, जिनके लिये आज भी क्योतोका स्थान तोक्योसे भी ऊँचा है। क्योतो लगातार चित्रकारों, कवियोंका निवास-स्थान रहा है। आज भी कलाकी दृष्टिसे क्योतोका जापान-भरमें प्रथम नम्बर है। आज भी बड़े-बड़े चित्रकार, काष्ठ-प्रस्तर-शिल्पी क्योतोके हैं। हालमें जब फिल्म कम्पनियोंने काम शुरू किया, तो क्योतोकी अद्वितीय प्राकृतिक सुन्दरता देख, उन्होंने फिल्म स्तुदियो यहीं बनाये। चित्र, नृत्य, कविता मानो क्योतोकी हवामें है, इसीलिये सांस्कृतिक विशेषतामें क्योतो अव्वल है।

पर्वत-कक्षमें बसा नारा भी रमणीक स्थान है, किन्तु क्योतोपर प्रकृतिने सौन्दर्यको दिल खोलकर लुटाया है। जिस ओरसे देखिये, हरे-हरे पहाड़ दिखलाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो नगर उनके भीतर तक घुस गया है और कहीं-कहीं वह कुछ दूरपर छूट जाता है। कामो और कत्सुर नदियाँ नगरके बीचसे बहती हैं। यद्यपि वह उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं हैं, तो भी उनमें पानी रहता है, और बरसातके दिनोंमें कभी-कभी उनकी प्रचंड बाढ़ क्योतो वासियोंको वह पाठ पढ़ाती है, जिसे समय-समयपर आनेवाले भूकम्प तोक्योको सिखाते हैं। जापान भूकम्पकी भूमि कही

जाती है, किन्तु उसका यह मतलब नहीं कि सारा जापान ही वैसा है। नारा-क्योतोवाले प्रदेश बहुत कम भूकम्प द्वारा त्रस्त होते हैं। उनके नीचेवाली पृथ्वीकी बनावट अधिक ठोस है।

सन्‌जु-सङ्-गेन्-दो क्योतोके अत्यन्त दर्शनीय बौद्ध-मन्दिरोंमें हैं। इस मन्दिरकी स्थापना ११३२ ई० में हुई थी, किन्तु वह १२४९ ई० में आगसे नष्ट हो गया। वर्तमान इमारत १२५१ ई० में बनी थी। सात सदियों बाद आज भी यह काष्ठ-मन्दिर सुरक्षित अवस्थामें है। मन्दिर एक लम्बी शालाके रूपमें है, जिसका विस्तार ३९२×५६ फीट है, और खपड़ैलकी छतको सम्भालनेके लिये १५८ लकड़ीके विशाल स्तम्भ लगे हैं। प्रधान मूर्त्ति करुणामय (अवलोकितेश्वर) की है। अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वने अपनी मुक्तिको भी तिलांजलि दे दी। उन्होंने कहा—"जब तक संसारमें एक भी प्राणी दुःखमें है, मैं उसकी सहायता करना छोड़ कैसे मुक्ति लेनेका ख्याल कर सकता हूँ।" जब सहायता करते उन्होंने अपने दो भुजाओंको अपर्याप्त समझा, तो वह चतुर्भुज बने, पीछे उन्हें भी अपर्याप्त समझ वह सहस्रभुज हो गये। यहाँकी प्रधान मूर्त्ति सहस्रभुज है, जिसे महान् तक्षण-शिल्पी तनकेई और उसके शिष्यों कोयेन् और कोसेयिने निर्मित किया था। मूर्त्तिके गिर्द चारों दिग्पाल देवता (चतुर्महाराज)की मूर्तियाँ हैं। फिर एक हजार करुणामयकी मूर्त्तियाँ सारी शालाको भर रही हैं। पीछेकी ओर करुणामयके २८ अनुचरोंकी भव्य मूर्त्तियाँ हैं। इस मन्दिरकी अनेक मूर्त्तियाँ राष्ट्रीय निधि हैं।

आगे जानेपर हमें कियोमिज़ू बौद्धमठ मिला। प्राकृतिक दृश्यमें यह मठ अद्वितीय है। ओतोवा पर्वतकी आधी ऊँचाई चढ़कर मठपर पहुँचा जाता है। और वहाँसे पहाड़की ओर देखनेपर जहाँ देवदारु, मापल और चेरीके वृक्षोंका गहन वन है, वहाँ नीचे क्योतोकी ओर देखनेपर सारा शहर चित्रखचित-सा मालूम होता है। मठका क्रीडोद्यान भी बहुत सुन्दर है। जिस पुरुषने मठ बनानेके लिये इस स्थानको चुना था, वह पैर चूमने लायक था। इस मठकी स्थापना ८०५ ई० में योगाचार (होस्सो) सम्प्रदायके साधुओंके लिये हुई थी, जिनकी तूती उस समयसे चार शताब्दियों पहिलेसे नालन्दाके विश्वविद्यालयमें भी बोल रही थी। तबसे आज तक यह योगाचार-सम्प्रदायके ही अधिकारमें है। बीचमें आग लगनेसे मन्दिर जल गया था। वर्त्तमान इमारत १६३३ ई० में शोगुन यियेमित्सुने बनवाई थी। प्रधान मूर्त्ति सहस्रभुज और सहस्राक्ष अवलोकितेश्वरकी है।

(२) हियेइ-विहार—

इस विहारकी स्थापना क्योतोके राजधानी बननेसे ६ साल पहिले (७०८ ई० में) हुई थी। इसके संस्थापक साइ-यो चीन देशके एक विद्वान् भिक्षु थे। नारासे राजधानीको क्योतो लानेमें उन्होंने बहुत सहयोग दिया था, जिसके कारण दर्बारकी इस विहारके प्रति बहुत आस्था थी। यह कितना सम्मानित विहार था, इसका अन्दाज आप इसीसे लगा सकते हैं, कि बारहवीं सदीसे उन्नीसवीं सदी तक राजवंशिक कुमार ही इस विहारके महंथ हुआ करते थे।

क्योतो बहुत सुन्दर नगर है और हियेयि-ज़ानपर तो प्रकृतिने मुक्तहस्त हो अपने सौन्दर्यको लुटाया है। हियेयि पर्वत प्रायः तीन हजार फुट ऊँचा है। ऊपरका दृश्य देवदारु-आच्छादित हिमालय सा मालूम होता है। साइ-चो तेन्-दायि सम्प्रदायके जापानमें प्रथम प्रचारक थे—इसका दूसरा नाम सद्धर्मपुण्डरीक सम्प्रदाय भी है। इस सम्प्रदायका चीनमें विकास भिक्षु चि-यि (५३१–९७) ने किया था। उसीका साइ-चोने यहाँ प्रचार किया। जापानमें भिक्षु बनानेका अधिकार तब तक नाराको ही था। साइ-चोने ८१८ ई० में अपने विहारके लिये उपसम्पदा देनेका

अधिकार माँगा, जिसपर ८२२ ई० में उनकी मृत्युके एक सप्ताह बाद राज्य-स्वीकृति मिली। तैन्-दायि सम्प्रदायसे ही आगे हो-नेन (११३३–१२१२ ई०) ने भक्ति-प्रधान जोदो-सम्प्रदायकी स्थापना की, इसी जोदोसे आगे शिन्-रन् (११७३–१२६३ ई०) ने शिन्सू-सम्प्रदायकी स्थापना की। शिन्-रन्ने भिक्षुका वेश छोड़ ब्याह कर लिया और उसकी सन्तान आज करोड़पति गृहस्थ महंथोंके रूपमें जापानियोंकी एक बड़ी संख्याका गुरु है। यह हमारे यहाँके भागवत (वैष्णव) धर्मकी भाँति अमिताभकी अनन्य शरणमें जाने-मात्रसे मुक्ति मानते हैं। शरणागत होनेका दृढ़ संकल्प या अधिष्ठान होना चाहिये, फिर बेड़ा पार है। अधिष्ठानको जापानीमें होङ्-वान् कहते हैं, इसीलिये शिन्सू-मन्दिरोंका नाम होङ्वानजी पड़ा।

(३) ज़ेन-सम्प्रदाय—

ज़ेन ध्यानका ही विकृत उच्चारण है। चीनमें पहिले ही से इस सम्प्रदायका बहुत प्रचार था। जापानमें इसके संस्थापक येइ-साइ (११४१–१२१५ ई०) थे। ये हियेयिके भिक्षु थे। चीनकी अपनी दो यात्राओंमें ये ध्यानमार्गी भिक्षुओंके पहिले सम्पर्कमें आये और ११९१ ई० में लौटनेके बाद इन्होंने जापानमें ज़ेन-सम्प्रदायकी स्थापना की। ज़ेन-सम्प्रदायकी ओर सामन्तों, सेनपों और उच्चशिक्षितोंका अधिक रुझान रहा है और अब भी है। ये अपनेको बुद्धके प्रधान शिष्य महाकाश्यपके अनुयायी बतलाते हैं और दूसरे वादों और कर्म-काण्डोंको हेय समझकर ध्यान और आत्म-संयमको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। यद्यपि येइ-साइने इसकी स्थापना की थी, किन्तु इसे दृढ़ और सुसंगठित करनेका श्रेय दो-गेन् (१२००-५३) को है।

(४) शिंगोन्-सम्प्रदाय—

शिंगोन्-सम्प्रदाय तान्त्रिक-बौद्धधर्मको मानता है, किन्तु इसके तन्त्रसे वज्रयान अभिप्रेत नहीं है। तन्त्रसे उनका मतलब मन्त्र और "मंडल" से है। जापानमें इस मतके संस्थापक कू-कइ (७७४–८३५ ई०) थे, जो को-बो-था-इ-सी के नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं। को-बो-था-इ-सी अच्छे दार्शनिक, सुन्दर लेखक, दक्ष चित्रकार-मूर्तिकार और पक्के साधक थे। वह सर्वतोमुखीन प्रतिभाके धनी थे। पहिले वह सरकारी उच्च कमचारी बननेके लिये तैयारी कर रहे थे—वह थे भी सामन्त-परिवारके; किन्तु पीछे उन्होंने संसार त्यागकर भिक्षु-दीक्षा ली। २४ सालकी आयु (७९८ ई०) में उन्होंने एक सुन्दर पुस्तिका लिखी। ८०४ ई० में वह अध्ययनार्थ चीन गये। ८०६ ई० में स्वदेश लौटनेपर क्योतोमें उनका बड़ा सम्मान हुआ। ८२२ई० में उन्होंने अपना प्रधान ग्रन्थ "रहस्य-निधि-कुञ्चिका" लिखी।

(कोयासान्)—यद्यपि क्योतोके आसपास भी कितने ही रमणीक और एकान्त स्थान थे, किन्तु कोबो थाइसीको वहाँ कोई स्थान पसन्द नहीं आया। उन्होंने अनुकूल स्थान ढूँढ़ना शुरू किया। कहते हैं, जब वे कोयासान्की जड़में आये, तब पासके देवताने शिकारीका रूप धारणकर काले और सफेद दो कुत्तोंके साथ उन्हें रास्ता बतलाया। पहाड़के ऊपर अपेक्षाकृत चौरस तथा देवदारसे हरीभरी उपत्यकाको देख, वहीं उनका मन लग गया और उन्होंने वहाँ अपने मठकी स्थापना की। ८३५ ई० में देहान्त होनेपर उनका शरीर भी वहीं ओकुनो-इन्में रक्खा गया। तबसे कोयासान् शिङ्गोन्-सम्प्रदायका केन्द्र बन गया। आजकल को-बो-था-इ-सीके अनुयायियों-की संख्या नवासी लाखके करीब है, और उनके मन्दिर बारह हजारसे अधिक हैं। मन्त्र

और पूजाका मान्य करनेसे जापानके इस सम्प्रदायके भिक्षुओंको कुछ संस्कृत-मन्त्र तथा सातवीं शताब्दीमें प्रचलित उत्तरी भारतकी लिपिको जरूर सीखना पड़ता है।

दो मीलसे अधिक दूर तक फैले इस संघाराममें सौसे ऊपर मठ हैं। हरएक मठमें कितने ही पुराने कलाकारोंके चित्र या मूर्त्तियाँ हैं; कितनी ही पुरानी स्मृतियोंसे युक्त आवास हैं; किन्तु उनको देखनेके लिये महीनों चाहिये। पहाड़पर देवदार वृक्षोंके नीचे स्थापित लाल स्तूपको देखते हुये हम दाइतो (महास्तूप) के पास गये। इस स्तूपको पहिले-पहल कोबो-थाइसीने बनवाया था, किन्तु काठका होनेसे इसमें कई बार आग लगी और कई बार पुनर्निर्माण हुआ। ११४९ ई० में शोगुन (ताइरा-नो) कियोमोरीने इसका पुनर्निर्माण कराया और अपने रक्तसे लिखित मंडल-चित्रको इसमें स्थापित किया। वह चित्र आज भी यहाँके म्यूजियममें सुरक्षित है। १६० फीट ऊँचा यह स्तूप कोयासान्‌की अत्यन्त भव्य इमारतोंमें है। कुछ वर्ष पूर्व यह आगसे जल गया था, अभी (१९३५ में) पुनर्निर्माणका कार्य समाप्त नहीं हुआ है। पास ही में मिये-इदो है। इसमें राजकुमार शिन्‌न्यो द्वारा अंकित कोबो-थाइसीका चित्र है। राजकुमार कोबो-थाइसीके दस प्रधान शिष्योंमें थे। इस चित्रको उन्होंने अपने गुरूकी मृत्युसे ६ दिन पूर्व समाप्त किया था। कहावत है, इस चित्रकी आँखोंपर कोबो-थाइसीने स्वयं तूलिका फेरी थी। कुछ दूरपर इसी हातेमें कुन्‌दो विहार है। इसे भी कोबो-थाइसीने बनाया था। किन्तु मूल-विहार कई बार आगसे जला और नया बना। पिछले वर्ष संस्थापकके निर्वाणकी एकादश शताब्दी मनायी गयी थी, उसी समय सीमेन्टनिर्मित नई इमारत तैयार हुई। हातेसे बाहर किन्तु थोड़ी ही दूरपर रेयिहोकान् (संग्रहालय) है। इसमें पाँच हजार मूर्त्तियाँ चित्रपट तथा दूसरी चीजें संगृहीत हैं। इन वस्तुओंमें कितनी ही राष्ट्रीय निधि मानी गई हैं। जापान-भरके मठों और मन्दिरोंमें जहाँ कहीं भी कला, इतिहास या दूसरी दृष्टिसे कोई अधिक महत्वपूर्ण मूर्त्ति, चित्र आदि होते हैं, उन्हें सरकारने राष्ट्रीय निधिके तौरपर दर्ज कर लिया है और ऐसी राष्ट्रीय निधिकी सुरक्षा आदिके लिये विशेष नियम और प्रबन्ध हैं। कोयासान्‌के विहारोंमें ऐसी राष्ट्रीय निधियाँ कई सौ हैं।

वहाँसे कोयासान् कालेजमें गये। कोयासान्‌के विहारने अपने भिक्षुओंकी शिक्षाके लिये हाईस्कूल और एक कालेज (या विश्वविद्यालय) स्थापित किया है। हाईस्कूलके चार सौ विद्यार्थियोंमें ३०० भिक्षु हैं। कालेजके २६० लड़कोंमें ५-७ ही बाहरी हैं, बाकी सभी भिक्षु हैं। हाईस्कूल पास करनेमें ग्यारह वर्ष लगते हैं और कालेज पास करनेमें ५ वर्ष। कालेजको डिग्री देनेका सर्कारसे चार्टर प्राप्त है, इसलिये इसे यूनिवर्सिटी भी कह सकते हैं। कालेजकी पढ़ाईमें बौद्ध-धर्म और दर्शनके अतिरिक्त संस्कृत भी सम्मिलित है। संस्कृतके प्रधान अध्यापक प्रोफेसर फुजिदा जर्मनीके पी-एच० डी० हैं। वे भारतमें भी तीर्थाटन कर चुके हैं। कालेजके पुस्तकालयमें ७० हजार पुस्तकें हैं। इमारत तिमहली और चौमहली है, जिसपर तीन-चार लाखसे कम खर्च न हुआ होगा।

पहिले कोङ्-गो-बुजी गये। यह शिङ्-गोन् सम्प्रदायका केन्द्रीय विहार है। सम्प्रदायके प्रधान या खन्-चो यहीं रहते हैं। प्रधान देवालय २१० फुट लम्बा और १८० फुट चौड़ा है। इस सारे विहारको दसवीं शताब्दीसे लेकर बीसवीं शताब्दी तकके अनेक चोटीके चित्रकारोंकी चित्र-प्रदर्शनी समझें। मोतोनोबू, तन्सायि, तोयेकी जैसे महान् चित्रकारोंकी अमर कृतियाँ यहाँ चलभित्तिफलकोंपर अंकित हैं। और मन्दिरोंकी भाँति इस मन्दिरमें भी कई बार आग

लगी है, किन्तु चित्र खिसकनेवाले पट-फलकोंपर होनेसे बचाय जा सके हैं।

शोजो-शिन् विहार कोयासान्‌के मठोंमें सर्वसुन्दर समझा जाता है। पुराने चित्रों और मूर्त्तियोंका यहाँ भी अच्छा संग्रह है। पीछेकी ओर पहाड़की जड़में इसका क्रीड़ा-उपवन तो अद्वितीय है।

कोबो-थाइसीकी समाधिका नाम आकुनो-यिन् है। पहला पुल पार करते ही दोनों ओर समाधि-पाषाण दिखलाई देने लगते हैं। हरएक पत्थरपर उस व्यक्तिका नाम खुदा हुआ है, जिसकी राख उसके नीचे दबी हुई है। यदि आप चीनी अक्षर पढ़ सकते हैं, तो एक-एक अक्षर पढ़ते जाइये। अथवा इन लाखों पत्थरोंका पढ़ना असम्भव समझते हों, तो बड़े-बड़े स्तूपाकार पत्थरोंको पढ़िये। इनमें आप पुराने जापानके कितने ही सेनापतियों और सामन्त-राजाओंको पायेंगे। मिट्टीके स्तूपोंको पढ़िये, ये सम्राटों और सम्राटकुमारोंकी समाधियाँ हैं। इन सबकी अन्तिम कामना थी, कि मरनेके बाद अपने उपदेशक, अपने गुरूकी समाधिके पास उनको जगह मिले। कहीं आप तीन हाथ लम्बे खम्भे जैसे चिकने पत्थरोंको एक ओर खुले मुँहवाले आयत क्षेत्रके रूपमें देखेंगे। ये हैं क्योतो या तोक्यो, ओसाका या याकोहामाकी नर्त्तकियाँ (गेयिशा)। जीवनकालमें भी उन्होंने इसी तरह पंक्तिवद्ध हो नृत्य किया था, मरनेके बाद भी आज वे उसी प्रकार पंक्तिवद्ध खड़ी हैं। बीच-बीचमें आपको कोबो-थाइसीकी पीतल या पत्थरकी बाल्य, तारुण्य वा वार्धक्यकी मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ेंगी। और दो-दो सौ फीट ऊँचे देवदार! उनका तो कहना ही क्या। सुन्दर पुल, स्वच्छ पत्थर बिछे हुये रास्तेके छोरपर पहुँचिये। यहाँ कितने ही चिराग अहर्निश जल रहे हैं। किन्तु समाधि यह नहीं है। परिक्रमा करते हुये पीछे चलिये। चहारदीवारीसे घिरे देवदारके वृक्षोंके बीच देखिये, वह छोटा झोंपड़ा-सा मकान। यही है उस महान् दार्शनिक, महान् कलाकार, महान् पर्यटक, महान् सिद्धका समाधि-गेह।

जापानमें १९४८ ई० की जनगणनाके अनुसार आबादी दस करोड़की मालूम हुई। यहाँकी दोतिहाईसे अधिक जनता बौद्धधर्मको मानती है। ऊपर हमने जापानके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके संस्थापकोंके बारेमें कुछ लिखा है। ऐसे कुल सम्प्रदायोंकी संख्या ११ है।

इन सम्प्रदायोंका विशेष विवरण निम्न प्रकार है :—

नाम	स्थापना-सन्	पुरोहित	भिक्षुणी	मन्दिर	उपदेशशाला
१. होस्सो	६२९–७००	१३	०	४४	२४
२. केगोन	७४२	१६	१	३२	६
३. रित्सु	७५४	६	१७	२२	४
४. तेन्दाइ	७८८	२७४६	८३	४११५	११८
५. शिङ्-गोन	८१५	७३९९	६६	११७५७	१२४२
६. युजुनेम्बुत्सु	१११७	२५	१०	३५३	४
७. ज़ेन्	११४०–१२१५	१६११०	७७१	२२०७३	५२१
८. जोदो	११७४–६१११	०	०	८२१३	३७०
९. शिन्-शू	११७३–१२४२	१५९३९	३	१९६६६	२५१८
१०. निचिरेन्	१२२२–८९	४०२१	४५	५०४५	११९०
११. जिशू	१२३९–६२	१	०	४९६	४

एक जापानी लेखकने लिखा था:—

"आजकल संसारमें जापान ही मुख्य बौद्ध देश है। बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमिमें ध्वस्त हो गया, किन्तु जापानी द्वीपोंमें वह एक नये फूलके रूपमें खिल उठा। उसने यहाँके लोगोंके जीवन-सम्बन्धी विचारोंको प्रभावित किया। यहाँके शिव सुन्दर विचारोंको अपने विचारोंमें ढाल दिया।"

लेकिन बीसवीं शताब्दीमें जो जागृति फिरसे जापानी बौद्धोंमें देखी गई, वह पहलेसे अविच्छिन्न नहीं चली आई थी। जापानमें जब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय स्थापित हो गये, तो उनकी प्रतिद्वन्द्विताने अच्छा रूप नहीं लिया। हर महंथने दूसरोंको नीचा दिखाने और अपनी प्रभता अक्षुण्ण रखनेके लिये हमारे यहाँके नागों-जैसी भिक्षुओंकी पल्टन स्थापित की। इस पल्टनका प्रयोग सिर्फ प्रतिद्वन्द्वी महंथोके ही विरुद्ध नहीं होने लगा, बल्कि इससे वहाँके समन्ती शासक भी भयभीत होने लगे। नोबो-नगा शोगोन्ने १५७१ ई० में हियेइके सैनिक भिक्षुओंको परास्त कर वहाँके विहारको भस्मावशेष कर दिया। १५८१ ई० में वही अवस्था कोयासान्की हुई।

§५. ईसाई धर्म

पोर्त्तगीज एसियामें सबसे पहले पहुँचे। जापान आनेवाले यूरोपियनोंमें भी वह पहिले थे। पोर्त्तुगीज पादरी धर्म-प्रचारकके रूपमें जगह-जगह फैलने लगे। १६वीं सदीमें वे अकबरके दरबारमें मौजूद थे। जेसुइत् साधु साविये (सेंट ज़ेवियर) पहिले गोआमें धर्म-प्रचार करने आया था। वहाँसे सिंहल और दूसरी जगहोंमें होते १५४९ ई० में वह दक्षिणी जापानके शत्सुमा स्थानमें पहुँचा। एक जापानी अपराधी भगोड़ा दुभाषिया बना। पहिले ईसाइयोंने अपनेको भारतके धर्मका प्रचारक बतलाया, इसलिये वह जनप्रिय होने लगे, किन्तु जब बात खुल गई, तो उसकी प्रतिक्रिया भी हुई। तो भी ईसाई धर्म १५६० ई० में राजधानी मियेकोमें पहुँच गया। १५६९ ई० में जब नोगू-नगा राजधानीमें पहुँचा, तो वहाँ ईसाइयोंके प्रचारक मौजूद थे। नोगू-नगाकी उनके साथ कुछ सहानुभूति भी थी। १५८२ में नोगू-नगाके मरनेपर ईसाई धर्मकी प्रगति रुक गई। १५९६ ई० में एक स्पेनिश जहाजने पहुँचकर जापानियोंको धमकी दी। अब शासकोंकी आँख खुली। उन्हें मालूम हुआ कि बाइबिलके पीछे तोपें भी हैं। इसका परिणाम ईसाइयोंके लिये बहुत बुरा हुआ। १५९७ ई० में जापानमें ईसाइयोंका कत्लआम हुआ और कुछ ही समयमें ईसाई धर्मका वहाँसे नामोनिशान मिट गया।

अकबरकी मृत्युसे ५ साल पहिले (१६०० ई० में) नये शोगोन् वंश तोकू-गावा (१६००–१८६८)ने राज्य सम्हाला। मिकादो अब भी राज्य-शासनसे वंचित हो पर्देमें रहता था। इस सारे कालमें यद्यपि बौद्धधर्मको राज्याश्रय और राजसम्मान प्राप्त था, किन्तु उससे उसका पतन रुका नहीं। १८६८ ई० में जब जापान अपना द्वार खोलनेके लिये मजबूर हुआ और उसने पश्चिमी शिक्षा एवं साइन्सको स्वीकार करना शुरू किया, तो बौद्धधर्मके लिये भारी खतरा हो गया। शिक्षित लोग धड़ाधड़ ईसाई बनते जा रहे थे। बौद्ध कुछ समयतक किंकर्त्तव्यविमूढ़ दिखलाई पड़े, किन्तु उन्होंने भी अपने तरुणोंको संस्कृत सीखनेके लिये पश्चिमी देशोंमें भेजा और सामाजिक सेवाको भी धर्म-प्रचारका साधन बनाया। बीसवीं सदीके आरम्भ तक पासा पलट गया और ईसाई धर्म दो ढाई लाख अनुयायियोंसे आगे नहीं बढ़ सका।

उपसंहार—जापानी साम्राज्यवाद जब अपने चरम उत्कर्षपर था, तो बौद्ध-महंथोंने भी

बहती गंगामें हाथ धोनेकी कोशिश की, किन्तु बौद्धधर्म अपने करोड़पती महंथों तक ही सीमित नहीं था, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि भीषण पराजयके बाद वह फिर सम्हल गया। विश्वमें भारतने अब जो स्थान प्राप्त किया है, उससे आशा है, दोनों देशोंमें और भी घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होगा।

स्रोत-ग्रन्थ

1. Anesaki, Masaharu : History of Japanese Religion., London. 1930
2. Eliot, C. : Japanese Buddhism
सांकृत्यायन राहुल : जापान, १९३६

भाग ७

तिब्बत, मंगोलिया

अध्याय १

तिब्बत (भोट) देश

§१. भोट जाति

ईसवी प्रथम शताब्दीमें बौद्धधर्म हिन्दचीन और जावा तक पहुँच गया था। सन् ५६ ई० में खोतनके काश्यप मातंगने चीन जाकर बौद्ध ग्रन्थोंका अनुवाद किया था, जो वहाँ अब भी प्राप्त हैं। ३७२ ई० में वह कोरिया और ५३८ ई० में जापान तक पहुँच गया था, किन्तु हमारे पड़ोसी भोट (तिब्बत) देशमें उसका प्रवेश ६४० ई० में हुआ। इस देरका कारण दुर्लंघ्य हिमालय पर्वतमालायें और लोगोंका भी सामाजिक तौर पर बहुत पिछड़ापन था, किन्तु भोटवालोंके संगे बंधु तंगुत ईसाकी चौथी सदीसे पहले ही बौद्ध हो चुके थे। तंगुत लोग अम्दो नामसे भी प्रसिद्ध हैं। किसी समय उनका निवासस्थान व्हाङ-हो (पीत-नदी) के चौकोने घुमाववाले ओर्दू प्रदेशसे तरिम नदीकी मरुभूमि और झीलमें विलीन होनेके पास तक था। विलीन स्थानके पास ही कराखोतामें बहुत समय तक उनकी राजधानी रही। ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दीसे ईसवी सन्के आरंभ तक ओर्दू-प्रदेश हूणों के परिवार-दल, सैन्य-दल या ओर्दूका वासस्थान था। यद्यपि हूण और तंगुत चेहरे-मोहरेमें एक-से तिब्बतवालों जैसे ही रहे, किन्तु दोनोंकी भाषायें अलग-अलग थीं। चौथी सदीके अन्तमें फा-शीनकी यात्राके समय ओर्दू और उसके पश्चिमवाला प्रदेश तंगूतोंकी भूमि थी। यद्यपि बड़े लड़ाकू थे; किन्तु चीनियों और हूणोंकी संतान तुर्कोंसे लड़ते उन्हें बड़ी क्षति उठानी पड़ी। बारहवीं सदीके आरंभमें हूणोंके वंशज मंगोल, छिंगिस खान (चंगेज खाँ) के नेतृत्वमें तंगुतों पर टूट पड़े और इस प्राचीन वीर जातिको ध्वस्त कर डाला। आज वह अधिकतर कोकोनोर (नील सरोवर) के पास और पूर्व तरफ कन्सू-प्रदेशमें रहते हैं और बौद्धधर्मको अपनी जातीयताकी प्रतीक मानते हैं। इतना ही नहीं, चौदहवीं सदीके उत्तरार्द्धसे आज तक तिब्बती भाषामें सुरक्षित भारतीय विद्या और बौद्ध दर्शनके बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक यहीं पैदा होते आ रहे हैं। महान् सुधारक और विचारक चोङ-ख-पा सुमतिकीर्त्ति (१३५७-१४१९ ई०) इसी तंगुत (अम्दो) जातिमें पैदा हुआ था। तंगुत लोगोंमें बौद्धधर्म कश्मीर, काशगर और मध्य-एसियाके रास्ते पहुंचा था। फाशीनके समय वह सभ्यता और संस्कृतिमें काफी आगे बढ़े थे, लेकिन तो भी मुख्य तिब्बतमें अभी बौद्धधर्म नहीं पहुँचा था। धर्मोंकी अवश्यकता केवल मानसिक और आध्यात्मिक संतोषके ही लिये नहीं होती, बल्कि सांस्कृतिक विकासमें भी सहायक होनेसे वह आवश्यक हो जाते हैं। कबीलाशाही (जनप्रथा) अवस्थामें भी धर्मोंका प्रभाव और प्रसार देखा जाता है। इस्लाम और यहूदी धर्मोंका तो उद्गम ही कबीलाशाही मानव-समाज था। हाँ, वह अपने चरम विकास पर सामन्तशाही समाजमें

पहुँचे। सामन्तशाही समाज धर्मको चरम विकास पर पहुँचाता है और धर्म सामन्तशाही समाजको साहित्य, कला, दर्शन आदिकी देनोंसे समृद्ध करता है।

तिब्बतकी जनसंख्या चालीस-पचास लाखसे ज्यादा नहीं है, किन्तु उसका क्षेत्रफल बहुत अधिक है—कश्मीरके उत्तरसे लेकर बर्माके उत्तरमें चीनकी सीमा तक फैला यह देश क्षेत्र-फलमें भारतसे बहुत कम नहीं है। अब भी ब्रह्मपुत्र (चाङ-पो)से उत्तरके बहुतसे इलाकोंमें और ल्हासासे उत्तरके प्रदेशमें घुमंतू मेषपाल चँवरीके बालके काले तम्बू लिये घूमते हैं। उनके लिये मांस सुलभ तथा अन्न दुर्लभ है।

§२. बौद्धधर्म-प्रचार

(१) स्रोङ-चनकी दिग्विजय—

भारतमें जब हर्षवर्धनका शासन था और प्रसिद्ध चीनी पर्यटक स्वेन-चाङ भारतमें भ्रमण कर रहा था, उसी समय सारा तिब्बत प्रायः घुमंतू जीवन बिता रहा था। हाँ, आजके पश्चिमी तिब्बतमें तब तिब्बती लोगोंकी बस्ती नहीं थी। चङ-पो (ब्रह्मपुत्र) नदीके निम्न भागमें अवस्थित ल्होखा-प्रदेशमें सभ्यताका कुछ-कुछ प्रवेश हो चुका था और खेती भी होने लगी थी। यहीं पर ६१५ ई० में एक सामन्तके घरमें स्रोङ-ग्चन्-स्गम्-पोका जन्म हुआ। वह सातवीं सदीमें विश्वका एक बड़ा विजेता था। तेरह वर्षकी अवस्था (६२८) में बापके मरने पर स्रोङ-ग्चन अपनी पैक संपत्तिका उत्तराधिकारी हुआ। उस समय तिब्बती घुमंतू कबीलों या छोटी-छोटी सर्दारियोंमें बँटे हुये थे। स्रोङ-ग्चन्ने मुहम्मदकी तरह इन सर्दारियोंको तोड़ते हुए भोट-जातिका एकी-करण किया और उनकी सेना संगठित कर वह आसामसे कश्मीर तकके सारे हिमालय और चीनके तीन प्रदेशोंका स्वामी बन गया। ६५० ई० में उसके मरनेके समय उसके राज्यकी सीमा हिमालयकी तराईसे पूर्वी मध्य-एसियाके भीतर थ्यान-सान्की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। तिब्बतकी सीमाके पार होते ही उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम जिधर भी उसने पैर बढ़ाया, उधर ही वह बौद्धधर्मके सम्पर्कमें आया। उसके राज्यके दक्षिणी भागमें नेपाल, कश्मीरके रूपमें बौद्धधर्मकी जन्मभूमि भारत था। उत्तर और पूर्वमें तुर्क और चीन जैसी समृद्ध बौद्ध जातियां निवास करती थीं। घुमंतू विजेता इन उच्च संस्कृतियोंके सम्पर्क-में आकर अछूते कैसे रह सकते थे? स्रोङचनके अपने विशाल साम्राज्यके संचालनके लिये लिखा-पढ़ीकी अवश्यकता पड़ी। उसे अपने साम्राज्यके अनुरूप एक नगरी भी बनानी थी, जिसे देखकर उसके नानाजातीय प्रजाजन रोबमें आ सके। स्रोङचन्ने ल्हासामें अपनी राज-धानी बनाई। जो पहिले रा-सा (अजभूमि) थी, वह अब ल्हासा (देवभूमि) बन गई।

(२) भारतीय लिपि और धर्मका प्रवेश—

अपने विशाल राज्यको शिक्षा और संस्कृतिमें उन्नत करनेके लिये भारत और चीनने उसकी सहायता की। इस सहायताकी प्रतीक थीं नेपालराज अंशुवर्मा और चीन सम्राट्की पुत्रियाँ ख्री-चुन और कोङजो। विजेताको उपहार रूपमें वह मिली थीं। चीन राजकुमारी कोङजो एक ऐतिहासिक बुद्ध प्रतिमा अपने साथ दहेजमें लाई। उसी तरह नेपाल राजकुमारी भी धार्मिक भेंट अपने साथ लाई। पड़ोसी देशोंकी तड़क-भड़क, उनके नागरिक और

सांस्कृतिक जीवनको देखकर हिमालयका यह असंस्कृत योद्धा बहुत प्रभावित हुआ। उसने जहां ल्हासाको एक अच्छे सांस्कृतिक नगरका रूप दिया, वहां अपनी नेपाली रानीके लिये नगरके मध्यमें जो-खङका मन्दिर बनवाया। तिब्बतका यह प्राचीनतम बौद्धमन्दिर अब भी मौजूद है।

ल्हासाके एक कोनेमें रहनेवाली रानीने अपनी बुद्ध-प्रतिमाके लिये रमोछीका मन्दिर बनवाया, किन्तु सम्राट्की मृत्युके बाद उस मूर्तिको भी सम्राट्के बनवाये मन्दिरमें स्थानान्तरित कर दिया गया। रमोछीका मन्दिर आज भी है, किन्तु स्रोङ्चनका बनवाया मन्दिरऽख्रुल-स्नङ सबसे प्रतिष्ठित माना जाता है।

राजधानीको मन्दिरों और प्रासादोंसे सजानेसे भी अधिक अवश्यकता थी लिपिकी, जिसमें लिखा-पढ़ी द्वारा राजका कारबार चल सके। सम्राट्ने भोट-भाषाको लिपिबद्ध करनेके लिये अपने मन्त्री थोन-निवासी (थोन्मी) अनुपुत्र सम्भोटाको नियुक्त किया। थोन्मीने तत्कालीन उत्तर भारतीय लिपि और मध्य-एसियामें भी प्रचलित भारतीय लिपिसे भोट-भाषाके लिये लिपि बनाई। घ, झ, ढ, ध, भ और ष, इन छ अक्षरोंके उच्चारण भोट-भाषामें नहीं थे, इसलिये थोन्मीने उन्हें छोड़ दिया, किन्तु भोट-भाषाके अपने विशेष उच्चारणके लिये विशेष चिह्न लगाकर उसने च़, छ़, ज़, स़, और ऽ—इन छ नये अक्षरोंका निर्माण किया। उसने अपने कुल अक्षरोंकी संख्या तीस रक्खी। इ, उ, ए, ओ को अ पर ही मात्रा लगाकर बना दिया। तिब्बती भाषाके दो प्रकारके अक्षर होते हैं, एक शिरोरेखा-संयुक्त, जिसे पुस्तकोंकी सुन्दर लिखाई और छापनेके लिये प्रयुक्त किया जाता है और दूसरा घसीट राजके कारबारके लिये, जो कि शिरोरेखा-विहीन होता है। जान पड़ता है, शिरोरेखा-विहीन लिपि तंगुत लोगोंमें पहिले ही से प्रचलित थी, इसलिये शिरोरेखा-युक्त ही थोन्-मी और स्रोङ-चनकी देन है।

तंगुत लोगोंने अपनी भाषामें कितने ही बौद्धग्रंथोंका अनुवाद किया था, किन्तु आज जो हजारों भारतीय ग्रन्थ कंजुर और तंजुरके दो महान् संग्रहोंमें मौजूद हैं, उनका अनुवाद थोन्मी और स्रोङ्-चन्के बादमें ही हुआ। थोन्मीने प्रथम व्याकरण बनाया, किन्तु लिपिकी तरह इस विषयमें भी तंगुतोंने पहिला प्रयास जरूर किया होगा। थोन्मीका व्याकरण आज भी मौजूद है। स्रोङ्चन्ने बड़ी तत्परतासे नये व्याकरण और नये ग्रन्थोंको पढ़ा। ल्हासाके लोह्-पर्वतमें खोदकर बनाई हुई गुफाको दिखाके अब भी बताया जाता है कि स्रोङ्चन्ने चार वर्ष तक इसीमें रहकर अध्ययन किया था। बौद्ध ग्रन्थोंके कितने ही अनुवाद इस समय हुये थे। थोन्मीने "करंडव्यूह", "रत्नमेघ" और "कर्मशतक"के अनुवाद किये। चीनी विद्वानोंने कुछ गणित और वैद्यककी पुस्तकोंके अनुवाद किये। ली (चीनी मध्य-एसिया) देशके विद्वानोंने भी अनुवाद और बौद्ध धर्मके प्रचारमें सहायता की। अनुवादकोंमें भारतीय पंडित कुशर (कुमार) नेपाली शीलमंजु, कश्मीरी अनंत, चीनीभिक्षु महादेव, थोन्मी और उसके शिष्य धर्मकोश और ल्ह-लुङ-छोस्-र्जे-द्पल्के नाम अब भी सुरक्षित हैं। आरंभिक अनुवाद उतने अच्छे न थे, इसलिये ग्रन्थोंके फिरसे अनुवाद किये गये और पुराने अनुवाद लुप्त हो गये।

स्रोङ्चन्के प्रपौत्र ख्रि-ल्दे-ग्चुग-ब्र्तन (७०४-५४ ई०) ने वंशकी राजलक्ष्मीको और भी आगे बढ़ाया और थाङ (चीन) सम्राट्ने अपने खोये प्रदेशोंको छीनना चाहा, जिसके लिये लड़ाई हुई, चीनको करारी हार खानी पड़ी। चीन-सम्राट्ने अपनी कन्या चिन्-चेङ (ग्यिम्-क्य) को भोट-युवराज ऽजय्-छ-ल्ह-द्पोनके लिये प्रदान किया। जिस वक्त राजकुमार

अपनी भावी पत्नीसे मिलनेके लिये जा रहा था, उसी समय किसी आकस्मिक घटनावश उसका शरीरांत हो गया। अंतमें राजकुमारीका सम्राट् ग्चुग्-बर्तनके साथ ब्याह हुआ। इस ब्याहके दहेजमें भोटराजको ह्वाङहो नदी तटवर्ती चिन्चु और कु-ए-इ प्रदेश मिले। (ब्लन्-क) मूलकोष और (ङग्) ज्ञानकुमारने इस समय कुछ बौद्ध ग्रन्थोंके अनुवाद किये, जिनमें **सुवर्ण-प्रभासोत्तमसूत्र** मुख्य था।

जैसा कि अभी कहा, भोट संस्कृतिमें बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था। उसकी न कोई लिपि थी और न कोई साहित्य। बौद्ध धर्मने उस देशकी संस्कृतिका विकास करनेमें बड़ी उदारतासे काम लिया। उसने भोट जातिको भारतीयताके रंगमें रंगना नहीं चाहा, बल्कि भोट देशकी प्रारंभिक संस्कृतिमें भारतीय देनोंसे सहायता देकर उसे भोट देशकी संस्कृतिके रूपमें ही विकसित होने दिया। भारतीय बौद्धोंने कभी इसका आग्रह नही किया, कि भोटके लोग धर्मका ज्ञान भारतीय भाषा द्वारा प्राप्त करें, धर्मग्रन्थोंको संस्कृतमें ही पढ़कर पुण्यार्जन करें। उन्होंने आरंभसे ही बौद्धग्रन्थोंका भाषान्तर आरंभ कर दिया और नाना विषयोंके ग्रन्थोंका अनुवाद करते हुए भोट-भाषाको समृद्ध ही नहीं किया, बल्कि उसे इस योग्य बना दिया, कि उसमें संस्कृतकी गंभीरसे गंभीर बातोंको प्रगट किया जा सके। चतुर माली जैसे नवजात बिरवेका बड़ी कोमलता और सहानुभूतिके साथ संबर्धन करता है, वैसे ही बौद्ध मनीषियोंने भोटदेशीय सभ्यता और संस्कृतिका संबर्धन किया।

(३) प्रथम विहारकी स्थापना—

८०२ ई० में ख्रि-स्रोङ-लदे-ब्चन् (७५५-९७ ई०) के गद्दी पर बैठते समय उसकी अवस्था केवल तेरह सालकी थी। बौद्ध धर्मको तिब्बतमें पहुँचे सौ वर्ष हो चुके थे। यद्यपि वह बड़ी सावधानीसे फूंक-फूंककर पैर रख रहा था, तो भी राज्यमें अपना प्रभाव कम होते देख पूर्वसे प्रचलित भूत-प्रेत-पूजावाले बोन धर्मकी ओरसे बहुत विरोध किया गया और राजाके बाल्यपनसे लाभ उठाकर शत्रुओंने बौद्धधर्मको उच्छिन्न करना चाहा। लेकिन, बौद्ध धर्म और संस्कृति जातिके अंग-अंगमें प्रविष्ट हो गयी थी। भोटराजकी प्रार्थना पर नालंदाके महान् दार्शनिक आचार्य शांतिरक्षित तिब्बत गये। राजाको उन्होंने बौद्ध धर्मके भिन्न-भिन्न विषयों पर कई उपदेश दिये। यद्यपि बौद्ध धर्मका तिब्बतमें प्रवेश सौ वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु अब तक न कोई भोटदेशीय भिक्षु बना था और न वहाँ कोई मठ ही स्थापित हुआ था। राजाकी इच्छानुसार आचार्यने ब्रह्मपुत्रसे प्रायः दो मील उत्तर एक मठके निर्माणके लिये भूमि चुनी। यहीं मगधेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९-८०२ ई०) के बनवाये उडंतपुरी (विहार शरीफ) महाविहारके नमूने पर सम्-ये (बसम्-यस्) विहारकी नींव डाली गई। विहारका आरंभ होकर बारह वर्षोंमें वह समाप्त हुआ। मठके मध्यमें सुमेरुकी भाँति प्रधान विहार (मंदिर) बना और चारों तरफ चार महाद्वीप और आठ उपद्वीपोंकी भाँति भिक्षुओंके रहनेके लिये बारह ग्लिङ (द्वीप) बनाए गये। इनमें दस द्वीप निम्न हैं—(१) खम्स्-ग्सुम्-खङ-ग्लिङ, (२) ब्दुद्-ऽदुल्—ङग्-पा-ग्लिङ्, (३) नम्-दग्-ख्रिम्स्-खङ्-ग्लिङ, (४) दगे-र्ग्यस्-व्ये-म-ग्लिङ, (५) ऽछल-ग्सेर्-खङ-ग्लिङ, (६) मिं-ग्यो-ब्सम्-ग्तन्-ग्लिङ, (७) ब्दे-स्व्योर-छङ्स्-पऽ-ग्लिङ, (८) द्कोर्-म्जोद्-पे-हर्-ग्लिङ, (९) जम्-ग्लिङ, (१०) ग्यं-गर-ग्लिङ। दोके नामोंका पता नहीं। प्रधान विहारके चारों कोनों पर, कुछ हटकर, पक्की ईंटोंके लाल,

नीले आदि रंगोंवाले चार सुंदर स्तूप बनवाये गये। चक्रवालकी भाँति एक ऊंचे प्रकारसे सारा संघाराम घेर दिया गया और चारों दिशाओंमें प्रवेशके लिये चार फाटक बनाये गये। इस विहारके बनानेमें बहुत श्रम और धन लगा। जिस समय विहार तैयार हुआ होगा, उस समय वह अद्भुत चीज रही होगी, लेकिन दुर्भाग्यवश बारहवीं शताब्दीके आरंभमें किसी असावधानीके कारण उसमें आग लग गई, जिससे अधिकांश मकान जल गये। फिर (वँ)-लो-च्-व-दोर्जे-ग्रग्स्ने उसी शताब्दीमें इसका पुनर्निर्माण कराया। यह मठ पहाड़की भुजापर न हो तिब्बतके अन्य पुराने मठों श-लु (स्थापित १०४० ई०), स्नर्-थङ (स्थापित ११५३ ई०) आदिकी भांति अथवा भारतके पुराने मठोंकी भाँति, समतलभूमिपर, बना है।

विहार-निर्माण आरंभ करते समय ही राजाकी इच्छा हुई, कि भोट-देशीय पुरुष भिक्षुदीक्षासे दीक्षित किये जावें। विहारका कुछ काम हो जानेपर आचार्यने नालंदासे सर्वास्तिवादी भिक्षुओं-को बुलवाया। भिक्षु-नियमके अनुसार भिक्षु बनाना संघका काम है, कोई एक व्यक्ति भिक्षु नहीं बना सकता। यद्यपि मध्य-मंडल (उत्तरप्रदेश, विहार)से बाहर पाँच भिक्षु भी होनेसे कोरम् पूरा हो जाता है, तो भी आचार्यने बारह भिक्षु बुलवाये, और मेषवर्षमें (१) ज्ञानेन्द्र, (२) द्पल्-द्बयङ्स्, (३) (ग्चङ) शीलेन्द्र रक्षित, (४) (मँ) रिन्-छेन-म्छोग्, (५) (ख्रोन) क्लुऽ-द्वङ-पो, (६) (ग्चङ) देवेन्द्ररक्षित, (७) (प-गोर) वैरोचन-रक्षित--यह सात भोट-देशीय कुल-पुत्र भिक्षु बनाये गये। भिक्षु-संघ और भिक्षु-विहार स्थापित कर आचार्य शांतिरक्षितने भोटदेशमें बौद्धधर्मकी नींव दृढ़ कर दी।

सौ वर्षकी आयुमें घोड़ेके पैरकी चोटसे आचार्य शांतरक्षितका देहान्त हो गया। विहारके पूर्वकी छोटी पहाड़ीपर उनका शरीर एक स्तूपमें रक्खा गया। साढ़े ग्यारह सौ वर्ष तक, मानो वह उसी पहाड़ी टेकरीपरसे अपने कार्यकी देखरेख कर रहे थे। इस शताब्दीके आरंभमें वह जीर्णस्तूप ढह पड़ा और आचार्यका अस्थिमय शरीर नीचे गिर गया। वहाँसे जमाकर आचार्यका कपाल और कुछ हड्डियां इस समय प्रधान मन्दिरमें शीशेके अंदर रक्खी गई हैं।

आचार्य शांतिरक्षित असाधारण दार्शनिक थे, इसका पता संस्कृतमें प्रकाशित उनके दार्शनिक ग्रन्थ 'तत्वसंग्रह' से लगता है। वह अपने समयके बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी दर्शनोंके प्रगाढ़ विद्वान् थे। ऐसे विद्वान्की देशमें भी प्रतिष्ठा कम न थी, किन्तु यह वह समय था, जबकि भारतसे साहसमय जीवन नष्ट न हुआ था। देशमें प्राप्त सम्मानका ख्याल छोड़ ७५ वर्ष-की उम्रमें हिमालयकी दुर्गम घाटियोंको पार करनेको वह तैयार हो गये, जब उन्होंने देखा, कि इस प्रकार वह अपने धर्मकी सेवा कर सकते हैं। इस त्यागके लिये ही उनका नाम बोधिसत्त्व पड़ा। आज भी तिब्बतमें अधिकांश लोग उन्हें आचार्य शांतरक्षितकी जगह मुखन्-छेन् (महापण्डित) बोधिसत्त्वके नामसे ही ज्यादा जानते हैं।

आचार्य शांतिरक्षितके निधनके बाद भोटदेशमें कुछ धार्मिक मतभेद हो गये, जिसके निवा-रणके लिये उनके शिष्य आचार्य कमलशील नालंदासे भोटदेश गये। उन्होंने अपने विद्याबलसे मतभेदको दूर कर दिया, किन्तु घातकके छुरेके सामने प्राण देने पड़े।

इसी राजाके समय आचार्य विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शांतिगर्भ और विशुद्धसिंहने भोट-देशीय

लो-च-व (अनुवादक)[1]—धर्मालोक, (बन दे) नम्-मख्ऽ, (स्गो) रिन्-छेन्-स्दे, नम्-पर-मि-तोग्-प और शाक्यप्रभकी सहायतासे कितने ही ग्रन्थोंके अनुवाद किये। तो भी वास्तविक अनुवादका काल अभी आरंभ न हुआ था।

मु-नि-ब्चन-पो (७८०-९७ई०)—सम्राट् रिख्र-स्रोङ वीर थे, किन्तु इससे भी अधिक वे धार्मिक थे। उनके विचारोंका असर उनकी संतानपर पड़ा। जब उनके बाद उनका पुत्र मुनि-ब्चन्-पो गद्दीपर बैठा, तो वह दूसरा ही स्वप्न देखने लगा। उसका पिता और सारा घर धार्मिक शिक्षा, विशेषकर बोधिसत्त्व-आदर्श (अर्थात् दूसरोंके हितके लिये तन, मन, धन ही नहीं, हाथमें आई अपनी मुक्ति तकका परित्याग करना) से सराबोर था। तरुण सम्राट्ने अपने आस-पास प्रजामें दरिद्रता देखी; जो दरिद्र नहीं थे, उन्हें भी उसने अपनेसे अधिक धनीकी शान-शौकत तथा अपमान भरे बर्तावसे असंतोषकी भट्ठीमें जलते देखा। वह सोचने लगा: किस प्रकार इस दुःखका अन्त किया जावे। अन्तमें उसकी समझमें आया कि धनका समवितरण ही इसका एकमात्र उपाय है। इस प्रकार ७८०-९७ ई० में उसने आर्थिक साम्यवादका प्रयोग करना शुरू किया। किन्तु इतने बड़े प्रयोगके लिये देशमें क्षेत्र तैयार न था। श्रममें समवितरणके बिना कभी अर्थका समवितरण सफल नहीं हो सकता। एक बार धनका समवितरण हो जानेसे आलसियोंसे काम लेनेवाला कोई न रहा, थोड़े दिनोंमें खा-पीकर वे फिर फाकेमस्त हो गये। सम्राट्ने एकके बाद एक तीन बार अर्थका समविभाजन किया। तीसरी बारके बाद यह प्रयोग दूरके लोगोंको ही नहीं, बल्कि उसकी मांको भी असह्य हो गया और इस प्रकार थोड़े समयके शासनके बाद माता द्वारा दिये गये विषसे इस महात्माकी मृत्यु हुई। मुनि-ब्चन्-पो को कुछ लोग पागल कहेंगे, किन्तु यदि यह पागल था, तो एक पवित्र आदर्शके पीछे।

अब तक तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रचार बहुत व्यापक रूपसे हो गया था, तिब्बती प्रजा अपने देश हीमें अत्यन्त धर्मानुरक्त न थी, बल्कि शासक और सैनिक अपने अधिकृत मध्य-एसिया, लदाख, हिमालय आदिमें भी धर्मका प्रचार करते थे। मध्य-एसियाकी मरुभूमिमें उनके बहुतसे ऐसे लेख मिले हैं, जिनमें किसी बौद्धधार्मिक ग्रन्थके स्वर्णाक्षरमें लिखनेकी चंदासूची उल्लिखित है और किसीमें किसी विहारके स्थापनाकी बात है। स्रोङ-ग्चन्के बादकी यह शताब्दियां केवल सुदृढ़ राज-विस्तारकी ही शताब्दियां न थीं, बल्कि इन्हीं शताब्दियोंमें तिब्बती जातिने दूर-दूर तक अपने उपनिवेश स्थापित किये, जो कि आगे चलकर भाषा और भावमें तिब्बतके अभिन्न अंग बन गये। यही समय था, जबकि मानसरोवर प्रदेश तिब्बत-भाषा-भाषी बना। लदाख् और बल्तिस्तानके खश और दर्द रक्त-मिश्रित हो तिब्बती-भाषा-भाषी बन गये। यही समय था, जब कि किन्नर (कनौर) देश (सतलजकी ऊपरी उपत्यका) के खशमिश्रित किन्नर अपने मुर्दोंको गाड़ने और कब्रोंमें खाद्यपेय रखनेकी प्रथाको छोड़ मुर्दा जलानेवाले बौद्धधर्ममें दीक्षित हुये। उनके कितने ही उत्तरी बन्धु रक्तमिश्रणके आधिक्यसे रूपमें भोट मुखाकृति और भाषामें भोट-भाषा-भाषी हो गये। आज भी कनौरी भाषामें चौदह प्रतिशत भोट शब्द पाये जाते हैं, जिनमें सारी गिनतियों और सम्बन्धियोंके नाम भी हैं; इसका भी प्रसार इसी समय

---

[1] **लो-च-व शब्द लोक और चक्षु दो शब्दोंके आदि अक्षरोंसे मिलकर बना है। चाहे वह लोग लोकके चक्षु न भी हों, किन्तु इसमें तो शक नहीं कि भारतीय आचार्योंके लिये—जो कि भोट भाषासे अनभिज्ञ थे—वह अवश्य चक्षु थे।**

हुआ था। नेपालकी नेवार-भाषापर भोट-भाषाकी छाप इसी समय पड़ी। इन शताब्दियोंमें अपने शारीरिक विस्तारके साथ भोटदेश संस्कृतिमें भी बहुत आगे बढ़ चुका था। लेकिन आज बीस महाभारतसे भी बढ़कर जो भारतीय ग्रन्थोंके अनुवाद भोट-भाषामें मिलते हैं, अभी उनका बहुत थोड़ा ही सा भाग अनुवादित हो पाया था, यह काम बड़े व्यवस्थित और व्यापक रूपमें अगले सम्राट्के समयमें हुआ।

§३. प्रगति और विरोध

(१) **अनुवाद-कार्य**—मुनि-ब्चन्-पोके बाद उसका भाई ख्रि-लदे-ब्चन्-पो (सद्-न-लेगस् ८०४–१६ ई०) सिंहासनपर बैठा। इसका बौद्धधर्मपर स्नेह अपने पिता और भाईसे कम न था। सुदूर पश्चिम बल्तिस्तानके स्कर्दो नगरमें इसने बौद्धमन्दिर बनवाया। अब तक कितने ही ग्रन्थोंके अनुवाद भोट-भाषामें हो चुके थे, किन्तु अभी तक अनुवादके शब्दों और भाषामें किसी खास नियमका पालन नहीं किया जाता था। जिसको जो प्रतिशब्द अच्छा लगा, वह उसीका प्रयोग करता था। अश्ववर्ष (८१४ ई० ?) में सम्राट्ने अनुवाद करनेवाले भारतीय पंडित जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, बोधिमित्र तथा उनके सहायक भोट विद्वान् रत्नरक्षित, धर्मताशील, ज्ञानसेन (ये-शेस्-स्दे), जयरक्षित, मंजुश्री वर्मा, रत्नेन्द्रशीलसे कहा— "पहले देवपुत्र (मेरे) पिताके समय आचार्य बोधिसत्व, ज्ञानेन्द्र, ज्ञानदेवकोष, ब्राह्मण अनन्त आदिने अनुवाद किये, किन्तु उन्होंने इसके लिये ऐसी भाषाका निर्माण किया, जो देशवासियोंके समझने लायक नहीं है। वह चीन, ली (तरिम्-उपत्यका), सहोर आदिकी भाषाओंके अनुवादोंका प्रत्यनुवाद था, जिसमें प्रतिशब्दका कोई नियम नहीं रक्खा गया। इसकी वजहसे धार्मिक ग्रन्थोंके समझनेमें कठिनाई होती है। इसलिये आप लोग अब सीधे संस्कृतसे अनुवाद करें और प्रतिशब्दोंकी एक तालिका बना लें। अनुवादका एक नियम हो, जिसका उल्लंघन नहीं होना चाहिये। पिछले अनुवादोंका फिरसे संशोधन होना चाहिये।"

इस प्रकार नवीं शताब्दीसे संस्कृत-ग्रन्थोंके नियमबद्ध अनुवाद भोटभाषामें होने लगे। इन अनुवादोंमें प्रतिशब्द चुनते समय संस्कृतके धातु-प्रत्ययोंका भोटभाषाके धातुप्रत्ययोंसे मेल होनेका पूरा खयाल रक्खा गया और संस्कृतके प्रत्येक शब्दके लिये एक-एक शब्द नियत कर दिया गया। उदाहरणार्थ—छोस्-ऽजिन् (धर्म-धर), छोस्-स्क्योङ् (धर्मपाल)। सङ् स-र्ग्यस (बुद्ध), ब्यङ्-छुप् (बोधि) आदि कुछ शब्द, जो पिछली शताब्दियोंमें बहुप्रचलित हो गये थे, उन्हें वैसा ही रहने दिया गया। प्रतिशब्दोंको चुनकर उन्होंने पृथक पुस्तकें बनाईं, जो 'व्युत्पत्ति' के नामसे अब भी स्तन्-ग्युर्के भीतर मौजूद हैं।[1] महायान तथा दूसरे सूत्रोंका अधिकांश अनुवाद इसी समयका है। इस समय कुछ तन्त्रग्रन्थोंके भी अनुवाद हुये। इन्हीं अनुवादोंमें नागार्जुन, असंग, बसुबन्धु, चन्द्रकीर्त्ति, विनीतदेव, शान्तरक्षित, कमलशील आदिके कितने ही गम्भीर दर्शन-ग्रन्थ भी हैं। जिनमित्र, ये-शेस्-स्दे (ज्ञानसेन), धर्मताशीलके अतिरिक्त भोटदेशीय आचार्य द्पल्-ब्चें-ग्स् इस कालके महान् अनुवादक थे। जितना तिब्बती अनुवाद कार्य नवीं सदीमें हुआ,

---

[1]तिब्बतमें भारतीय ग्रन्थोंके अनुवादका काम भारतीय पंडित और भोट-देशीय विद्वान् मिलकर करते थे। भोटदेशीय विद्वान् लो-च-वा कहे जाते थे। इस प्रकार भोट और संस्कृत दोनों भाषाओंका गम्भीर ज्ञान एकत्रित हो जानेसे भोटिया अनुवाद संसारमें अद्वितीय हैं।

उतना किसी कालमें न हो सका।

(२) **बौद्धधर्मपर अत्याचार**—शान्तरक्षित और कमलशीलके धर्म-प्रचार तथा बादके हजारों ग्रन्थोंके अनुवादके पश्चात् ८१७ ई० में रल्-प-चन् गद्दीपर बैठा। यह बौद्धधर्मका मूढ़ श्रद्धालु था और अपने चौबीस सालके शासनमें इसने अपनी अंधभक्तिसे बौद्धधर्मको बड़ी हानि पहुँचाई। उसका प्रतिद्वन्द्वी ग्लङ्-दर्-म (८३९–४२ ई०) भाईकी हत्या कराकर गद्दीपर बैठा। चीनी इतिहास[1] लेखक द्र्-मके बारेमें लिखते हैं—वह शराबका प्रेमी, खेलोंका शौकीन-स्त्री-लंपट, क्रूर, अत्याचारी और कृतघ्न था। यह सब होते हुये भी दर्-म-को बौद्धधर्मपर अत्याचार करनेका मौका न मिला होता, यदि बौद्ध भिक्षुओंने प्रभुत्व और मानकी लिप्सासे प्रेरित हो अपने प्रभावसे अनुचित लाभ उठाना न शुरू किया होता, और रल्-प-चन बौद्धधर्मके प्रति अमर्यादित भक्ति दिखलाते हुये अपने राजाके भी कर्तव्यका ध्यान रखता। ग्लङ्-दर्-माने अपने भाईके हत्यारे द्पस्-र्ग्यल्को मन्त्रीका पद प्रदान किया। सभी ऊँचे पदोंपर बौद्ध-विरोधियोंकी नियुक्ति हुई। अनुवादकोंके रहनेके मकान और पाठशालायें नष्ट कर दी गयीं। उसने आज्ञा दी कि भिक्षु अपने धार्मिक जीवनको छोड़ गृहस्थ बन जावें। जो भिक्षुवेष छोड़नेके लिये तैयार न थे, उन्हें धनुषवाण देकर शिकारी बननेके लिये मजबूर किया गया। आज्ञा-उल्लंघन करनेवाले कितने ही भिक्षु तलवारके घाट उतारे गये। जोखङ्के मन्दिरसे हटाकर बुद्धमूर्त्ति बालूके नीच दबा दी गई। मन्दिरका द्वार बन्द करके उसपर शराब पीते हुये भिक्षुओंकी मूर्त्ति अंकित कर दी गई। ल्हासाके र-मो-छे मन्दिर और ब्सम्-यस् (सम्-ये) विहारके द्वार भी इसी प्रकार बन्द कर दिये गये। उस वक्त अधिकांश पुस्तकें ल्हासाकी चट्टानोंमें छिपा दी गई थीं। (अङ्) तिङ्-ङे-ऽज़िन-ब्सङ्-पो और (मं) रिन्-छेन्-म्छोग् मार डाले गये। बाकी पंडित और लो-च-वा देश छोड़कर भाग गये। अत्याचारके मारे बौद्ध भिक्षुओंका रहना असम्भव हो गया। उस समय (ग्चङ्) रब्-ग्सल्, (फो-ख्योङ्-प-यो)द्गे-ऽब्युङ्, और (स्तोद्-लुङ्-प-स्मर्) शाक्य मुनि तीन भिक्षु द्पल्-छुवो-रि (ब्रह्मपुत्रतट) के पहाड़में एकान्त जीवन बिता रहे थे। उन्होंने ख्यि-र-ब्येद्-प भिक्षुको आते देखा। पूछनेपर ग्लङ्-दर्-मके अत्याचारकी बात मालूम हुई। इसपर वह तीनों भिक्षु अपने 'विनय' ग्रन्थोंको समेटकर, एक खच्चरपर लादके मङ्ऽ-रिस् (मानसरोवर) की ओर भाग चले। वहाँसे वह तुर्किस्तान (होर्=उइगुर) पहुँचे। वहाँ उन्होंने बौद्धधर्मका प्रचार करना चाहा, किन्तु भाषा और जातिके भेदके कारण वह उसमें सफल न हो सके और वहाँसे दक्षिण अम्-दो (तंगुत्) में चले गये।

द्रमाका शासन बौद्धधर्मके लिये ही अनिष्टकर न हुआ, बल्कि इस समय स्रोङ-चन् द्वारा स्थापित राज्य भी छिन्न-भिन्न होने लगा और उसके उत्तराधिकारी ऽोद्-स्रुङ्स(८४२-९०५) के शासनके अन्त तक राज्यके अधीनके दूसरे देश ही हाथसे नहीं निकल गये, बल्कि स्वयं भोट-देश छोटे-छोटे राज्योंमें बँट गया। ऽोद्-स्रुङ्सका पुत्र द्पल्-ऽखोर्-व-चन् (९०५-९२ ई०) अन्तिम सम्राट् था।

स्रोङ्-चन्के वंशकी समाप्तिके बाद हम ऽखोर्-व-चन्के पुत्र स्क्यिद-ल्दे-ञि-म-म्गोन्को ल्हासा छोड़नेके लिये मजबूर देखते हैं। वह अपने एक सौ सवारोंके साथ पश्चिमी तिब्बत-के मानसरोवर-प्रदेश(मङ्ऽ-रिस्) में चला गया और धीरे-धीरे पश्चिमी तिब्बत, लदाख, कनौर,

---

[1] 'थङ् शू', 'ऐंटिक्वीटिज अव् इंडियन टिबेट' भाग २, पृ० ९२

और बारहाट (उत्तरकाशी) का एक राज कायम करनेमें सफल हुआ। इसने एक बड़ी भूल की जो राज्यको अपने तीनों पुत्रों—द्पल्-ग्यि-ल्दे (लदाख), ब्क्रशिस्-ल्दे-म्गोन् (स्-पु-रङ्स) और ल्दे-ग्चुग्-म् गोन् (शङ्-शुङ् या गूगे) में बाँट दिया।

§४. धार्मिक सुधार और अनुवाद

(१) **दीपंकरका आगमन**—ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम पादमें तिब्बतमें बौद्धधर्ममें बहुत-से विकार पैदा हो गये थे। भिक्षुओंने धर्मग्रन्थोंका पढ़ना छोड़ दिया था। वह वर्षावासके तीन मास तक ही भिक्षु आचारका पालन करते, उसके बाद उसकी परवाह नहीं करते थे। तान्त्रिक लोग मद्य और व्यभिचारको ही परमधर्मचर्या मानते थे। मठोंके अधिकारी चमकीली वेश-भूषा पहिनकर, अपनेको स्थविर और अर्हत् प्रकट करते फिरते थे। ऽखोर-ल्दे (भिक्षु बननेपर इसका नाम ये-शेस् ऽोद=ज्ञानप्रभ पड़ा) ने स्वयं धर्मग्रन्थोंको पढ़ा था। वह एक विचारशील व्यक्ति था, इसका पता तो इसीसे लगता है, कि तन्त्रोंके बुद्ध-वचन होनेमें उसे बहुत सन्देह था। वह अच्छी तरह समझता था, कि बौद्ध धर्म उसके पूर्वजोंकी एक स्थायी कृति है। धर्मके इस ह्रासको हटानेके लिये उसने सबसे जरूरी बात समझी धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन। इसके लिये उसने रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो (९५८–१०५५ ई०) लेग्स-पऽि-शेस्-रब् आदि इक्कीस तरुणोंको चुनकर पढ़नेके लिये कश्मीर भेजा। मानसरोवर जैसी ठंडी जगहके रहनेवाले नौजवानोंके लिये कश्मीर भी गर्म था। अन्तमें दोको छोड़कर बाकी सब वहीं बीमारीसे मर गये। रिन्-छेन्-ब्सङ्-पोने लौटकर पण्डित श्रद्धाकर वर्मा, पद्मगुप्त, बुद्धश्रीशान्त, बुद्धपाल और कमलगुप्त आदिकी सहायतासे कितने ही दर्शन और तन्त्रग्रन्थोंके भोट-भाषामें अनुवाद किये। 'हस्तवाल-प्रकरण' (आर्यदेव) 'अभिसमयालंकारालोक' (हरिभद्र), 'अष्टांग-हृदयसंहिता' (नागार्जुन) 'चतुर्विपर्यय-कथा,' (मातृचेट), 'सप्तगुणपरिवर्णनकथा' (बसुबन्धु), 'सुमागधावदान' आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये। दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ९८२ मृत्यु १०५४) के तिब्बत पहुँचनेपर (१०४२ ई०) और भी कितने ही ग्रन्थोंके भाषान्तर करनेमें उसने सहायता की। रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो ने गू-गे (शङ्-शुङ्) सुपि-ति और लदाखमें कई सुन्दर मन्दिर बनवाये, जिनमेंसे कई[1] अब भी मौजूद हैं और उनमें उस समयकी भारतीय चित्रकला सुरक्षित है।

राजभिक्षु ज्ञानप्रभने जब देखा, कि मेरे भेजे इक्कीस तरुणोंमेंसे उन्नीस कश्मीरसे जीवित नहीं लौट सके, तो उन्होंने सोचा: यहाँसे भारतमें विद्यार्थियोंको भेजनेके स्थानपर यही अच्छा होगा कि भारतवर्षसे ही किसी अच्छे पण्डितको यहाँ बुलाया जाय। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि विक्रमशिला महाविहारमें ऐसे एक पण्डित-भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान हैं। उनके बुलानेके लिये आदमी भेजा, किन्तु वह न आये। दूसरी बार फिर दूत भेजनेकी तैयारी हुई। इसके लिये कुछ सोनेका संग्रह करने जब वह अपने सीमान्त-प्रदेशमें गये हुये थे, उसी समय पड़ोसी राजाने उन्हें पकड़ लिया। उनके उत्तराधिकारी ब्यङ-छुप् ऽोद् (बोधिप्रभ) ने चाहा, कि धन

---

[1]**लदाखमें सुम्-रा तथा अल्-चीके मन्दिर और सुपितिका ल्ह-लुङ् मन्दिर इन्हींमेंसे हैं। इनके सारे चित्र भारतीय चित्रकारोंके बनाये हुए हैं जो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीकी चित्रकलाके सुन्दर नमूने हैं।**

देकर उन्हें छुड़ा लें, किन्तु ज्ञानप्रभने कहा : धनको भारतसे किसी पण्डितके बुलानेमें खर्च करो।

ग्यारहवीं शताब्दीमें विक्रमशिला विहार (गंगातट जिला भागलपुर) उत्तरी भारतमें एक बड़ा ही विशाल विद्यापीठ था। युवराज होनेकी अवस्थामें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य चम्पाका प्रदेशाधिकारी था। उस वक्त सुल्तानगंजकी दोनों पहाड़ी टेकरियोंपर उसने और एक भिक्षुने कुछ मन्दिर बनवाये, विक्रमके नामपर यह स्थान विक्रमशिलाके नामसे प्रसिद्ध हुआ। पीछे "उसी भिक्षुके अवतार" पालवंशीय महराज धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) ने गंगा-तटवर्त्ती इस मनोरम स्थानपर एक सुन्दर विहार बनवाया, यही विक्रमशिला महाविहार हुआ। इस विहारके कुछ ही दूर दक्षिणमें एक सामन्त राजधानी थी, जिसके यहाँ दीपंकर श्रीज्ञानका जन्म हुआ था। नालन्दा, राजगृह, विक्रमशिला, वज्रासन (बोधगया) ही नहीं, बल्कि सुदूर सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तक जाकर दीपंकरने विद्याध्ययन किया। पीछे वह विक्रमशिलाके आठ महापंडितोंमें एक होकर वहीं अध्यापनका कार्य करने लगे। यद्यपि पहली बार उन्होंने राजभिक्षु ज्ञानप्रभके निमन्त्रणको अस्वीकार कर दिया था, किन्तु जब राजभिक्षु बोधिप्रभके भेजे दूतोंके मुखसे उन्होंने ज्ञानप्रभके महान् त्यागकी बात सुनी, तो उन्होंने चलनेकी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार १०४२ ई० (जलअश्व-वर्ष) में वह ङ-री पहुँचे। भोट देशवासियोंने उनका बड़ा स्वागत किया। पहले मानसरोवरके पश्चिममें अवस्थित थो-लिङ् (शङ्-शुङ्) मठमें रहे। यहीं उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "बोधिपथप्रदीप" लिखा। १०४४ में वह स्पु-रङ्स् गये। यहीं उन्हें (ऽब्रोम् स्तोन्) र्ग्यल्-वऽि-ऽब्युङ्-ग्नस् (१००३–६४ ई०) मिला, जो उनका प्रधान शिष्य बना और तबसे अन्त तक बराबर अपने गुरुके साथ रहा। दीपंकर (अतिशा) के अनुयायी ब्क ऽ-दम्-पाके नामसे प्रसिद्ध हुये। चोङ्-ख-पा (१३५७–१४१९) का भी इसी सम्प्रदायसे सम्बन्ध था और इसीलिये उसके अनुयायी द्गे-लुगस्-पा (भिक्षु नियमवाले) अपनेको नये ब्कऽ दम्-पा भी कहते हैं।

दीपंकर श्रीज्ञानने अपने जीवनके अन्तिम तेरह वर्ष तिब्बत देशमें धार्मिक सुधार और ग्रन्थानुवादमें बिताये। ङ-री (मृङऽ-रिस्) से वह ग्चङ् और द्वुस् प्रदेशोंमें गये। १०४७ ई० में वह बसम्-येस् पहुँचे। उस वक्त वहाँके पुस्तक-भंडारको देखकर वह चकित रह गये। वहाँ उन्हें कुछ ऐसी पुस्तकें भी देखनेको मिलीं, जो भारतके बड़े-बड़े विद्यालयोंमें भी दुर्लभ थीं। १०५० ई० में वह येर्-पा गये और १०५१ ई० (लोह-शश वर्ष)में 'कालचक्र' पर अपनी टीका लिखी। १०५४ ई० में ७३ वर्षकी अवस्थामें ल्हासासे आधे दिनकी दूरीपर उनका शरीरान्त हुआ।

अनुवाद करनेमें उनके प्रधान सहायक (नग्-छो) छुल्-ख्रिम्स्-र्ग्यल्-वा, रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो, द्गे-वऽि-ब्लो-ग्रोस् और शाक्य-ब्लो-ग्रोस् थे। इनके अनुवादित और संशोधित ग्रन्थोंकी संख्या सैकड़ों हैं। महान् दार्शनिक भाव्य (भावविवेक) के ग्रन्थ 'मध्यमकरत्नप्रदीप' और उसकी व्याख्याको इन्होंने ही (र्ग्य) चोन्-सेंङ् और नग्-छोको दुभाषिया बना अनुवादित किया था।

(२) दूसरे पंडित—

(क) सोमनाथ (१०२७)—दीपंकर श्रीज्ञानके भोटदेश पहुँचनेसे कुछ पूर्व कश्मीरी

पंडित सोमनाथ वहाँ गये। (ग्यं-चो)दा-वऽि-ऽोद्-सेर्की सहायतासे इन्होंने कालचक्र (ज्योतिष) का भोट-भाषामें अनुवाद किया और तभीसे भोटदेशमें बृहस्पतिचक्रके साठ संवत्सरोंका नया क्रम जारी हुआ। साठ संवत्सरोंके एक चक्रको भोट-भाषामें रब्-ऽब्युङ् (प्रभव) कहते हैं। यह प्रभव हमारे यहाँके भी षष्ठी संवत्सर-चक्रका आदिम संवत्सर है। सोमनाथके साथ ही लक्ष्मीकर, दानश्री, चन्द्रराहुल भोटदेश गये थे।

(ख) गयाधर—दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु सिद्ध महापंडित अवधूतिपा (अद्वयवज्र या मैत्रीपा) थे। इन्हींके शिष्य वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के रहनेवाले कायस्थ पंडित गयाधर थे। यह (ऽब्रोग्-मि) शाक्य-ये-शेस् (मृत्यु १०७४ ई०) के निमन्त्रणपर भोट गये और पाँच वर्ष रहकर इन्होंने बहुतसे तन्त्रग्रन्थोंके भोट-भाषामें अनुवाद किये। चलते वक्त ऽब्रोग्मिने पाँच सौ तोला सोना अर्पित किया। गयाधर स्वयं भी हिन्दी-भाषाके कवि थे। इनके पुत्र तिब्रूपा एक पहुँचे हुये सिद्ध समझे जाते थे। पंडित गयाधरने (ग्यि-जो) दा-वऽि-ऽोद्-सेर्के साथ "बुद्ध कपालतन्त्र" का अनुवाद किया था, और(ग्गोस्-खुग्-पा)ल्ह-ब्चस्के साथ "वज्रडाकतन्त्र"का।

(ग) स्मृति ज्ञानकीर्त्ति—ज्ञानप्रभके समय ही लो-च-वा पद्मरुचिने स्मृति ज्ञानकीर्त्ति और सूक्ष्मदीर्घ दो भारतीय पंडितोंको अनुवाद कार्यके लिये ले चला। लो-च-वा हैजेसे नेपालमें मर गया। दोनों पंडित भोट पहुँचे। उन्हें उस समय भाषा नहीं आती थी। पंडित सूक्ष्मदीर्घ तो (रोङ्-पा) छोस्-ब्सङ्के पास रहने लगे, किन्तु स्मृतिज्ञानकीर्त्तिने किसीका आश्रय ढूँढ़नेकी अपेक्षा भेड़की चरवाही पसन्द की। यह मालूम नहीं, कितने वर्षों तक तिब्बतके खानाबदोशों (ब्यङ्-प) की भाँति उन्होंने चँवरीके बालोंके काले तम्बुओंमें रह, र्ता-नग्में चरवाहोंका जीवन व्यतीत किया। इस भेड़की चरवाहीसे एक फायदा हुआ, कि उन्हें भोट-भाषाका सुन्दर अभ्यास हो गया। स्मृतिज्ञान और विभूतिचन्द्र (१२०४ ई०) जैसे बहुत थोड़े ही भारतीय पंडित हैं, जिन्होंने बिना लो-च-वाकी सहायताके भारतीय ग्रन्थोंका भोट-भाषामें अनुवाद किया। पीछे (सुप्यल्-से-चब्) ब्सोद्-नम्स्-र्ग्यल्-म्छन्के निमन्त्रणपर स्मन्-लुङ्में जाकर उसे इन्होंने बौद्धग्रन्थोंको पढ़ाया। फिर खम्स् (पूर्वीय भोट) में जाकर ऽदन्-क्लोङ्-थङ्में अभिधर्मकोशके अध्ययनके लिये एक विद्यालय स्थापित किया। इन्होंने 'चतुष्पीठ-टीका', 'वचनमुख' आदि कितने ही अपने लिखे ग्रन्थोंका भी भोट-भाषामें अनुवाद किया।

(घ) शि-व-ऽोद्—ज्ञानप्रभके भाई राजा स्रोङ्-ल्देका पुत्र ल्ह-ल्दे था, जिसके तीन पुत्रोंमें बड़ा ऽोद्-ल्दे राजा हुआ, ब्यङ्-छुप-ऽोद् और शि-व-ऽोद् दोनों छोटे लड़के भिक्षु हो गये। दीपंकर श्रीज्ञानको बुलाकर जिस प्रकार ब्यङ्-छुप-ऽोद्ने धर्म-प्रचार कराया, यह पहले लिखा जा चुका है। राजा ऽोद्-ल्दे ने पंडित सुनयश्रीको बुलाकर कितने ही ग्रन्थोंके अनुवाद कराये। शि-व-ऽोद् (शान्तिप्रभ) स्वयं अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने जहाँ सुजन-श्री ज्ञान, मन्त्रकलश और गुणाकरभद्रसे कितनी ही पुस्तकोंके अनुवाद कराये, वहाँ स्वयं आचार्य शांतिरक्षितके गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' का अनुवाद किया।

(ज) ङोग्-लो-च-व—ऽोद्-ल्देके बाद उसका पुत्र चे-ल्दे मानसरोवर-प्रान्त (शङ-शुङ् और सपु-रङ्स्) का शासक हुआ। १०७६ ई० में उसने एक अच्छा विद्यालय स्थापित किया और (ङोग्) ब्लो-ल्दन्-शेस्-रब् (१०५९-११०८)को उसी साल कश्मीर पढ़नेके लिये भेजा। १०९२ ई० तक ङोग्ने कश्मीरमें रहकर पंडित परहितभद्र और भव्यराजसे न्याय, तथा ब्राह्मण सज्जन और अमरगोमी आदिसे योगाचारदर्शनके कितने ही ग्रन्थोंका अध्ययन किया। पंडित

भव्यराज अनुपमनगर (प्रवरपुर=श्रीनगर) के पूर्व ओर चक्रधरपुर सिद्धस्थानमें रहते थे। यहीं ङोग्ने धर्मकीर्त्तिके प्रसिद्ध न्यायग्रन्थ—**प्रमाणवार्तिक**का फिरसे भोट-भाषामें अनुवाद किया। पंडित परहितभद्रकी सहायतासे उसने धर्मकीर्त्तिके **प्रमाणविनिश्चय** और **न्यायबिंदुके** अनुवाद भी किये। चे-ल्देके बाद उसके पुत्र राजा द्वङ्-ल्दे और पौत्र राजा बक्र-शिस्ल्दे भी ङोग्के काममें सहायता करते रहे कश्मीरमें सत्रह वर्ष रहकर ङोग्ने भोटमें लौटकर चौदह वर्षों तक अपना काम किया और पंडित अतुलदास, सुमतिकीर्त्ति, अमरचन्द्र और कुमारकलशके साथ बहुतसे अनुवाद किये। इसने पंडित कुमार कलशके साथ मिलकर प्रसिद्ध "मंजु-श्रीमूलकल्प" का उल्था किया था।

(झ) फ-दम्-पा सङ्-स्-र्ग्यस् (मृ० १११८ ई०)—१०९२ ई० में यह भारतीय पंडित-सिद्ध भोट देशमें गये। नेपालके रास्ते ञे-नम् होकर ग्लङ्-सकोर पहुँचे थे। यहाँ रहते हुये इन्होंने कुछ ग्रन्थोंके अनुवादमें सहायता पहुँचाई, किंतु यह पूरे परिव्राजक थे। ११०१ ई० में चीन गये, १११३ ई० में फिर तिब्बत आये। इन्होंने शि-ब्येद् संप्रदायकी स्थापना की, जिसका कि एक समय भोट देशमें अच्छा प्रभाव था।

(ञ) प-छब्-पा—इसी कालमें एक और विद्वान् लो-च-वा हुआ, जिसका नाम (प-छब्) ञि-म-ग्रग्स् (रविकीर्ति) है। इसका जन्म १०५५ ई० में पछब् गाँवमें हुआ था, अर्थात् उसी वर्ष जिस वर्ष कि महान् लो-च-व रिन-छेन्-ब्सङ्-पोका देहान्त हुआ। इसने कश्मीरमें जाकर तेईस वर्ष तक अध्ययन किया। इसने (आर्यदेवके) **चतुःशतकशास्त्र**, (चन्द्रकीर्तिके) **'मध्यमकावतारपर भाष्य'** (पूर्णवर्द्धनकृत), **अभिधर्मकोशटीका** 'लक्षणानुसारिणी', (चन्द्रकीर्तिकी) मूलमध्यक-वृत्ति 'प्रसन्नपदा' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थोंके अनुवादोंसे अपनी मातृभाषाके कोशको पूर्ण किया। कनकवर्मा, तिलकलश आदि पंडित इसके सहायक थे।

(मर्-वा) छोस्-क्यि-ब्लो-ग्रोस्। यह सिद्ध नारोपा (नाडपाद, मृ० १०४० ई०) का शिष्य था, और तीन बार भारतमें जाकर रहा था। इसने अनुवादका काम कम किया, किन्तु यह और मि-ल-र स्-पा (१०४०-११२३ ई०) जैसे इसके शिष्य अपनी विचित्र चर्यासे तिब्बतमें चौरासी सिद्धोंके यथार्थ प्रतिनिधित्व कर रहे थे। मि-ल-रस्-पा भोट देशका सर्वोत्तम कवि ही नहीं था, बल्कि उसके निस्पृह अकृत्रिम जीवनने पिछली आठ शताब्दियोंमें बहुतोंके जीवनपर भारी प्रभाव डाला। मर्-पा, मि-लाकी परंपरावाले लोग द्कर्-र्ग्युद्-पा कहे जाते हैं। भोट देशके द्वग्स्-पो, ऽब्रि-गोङ-पा, फग्-ग्रुब-पा, ऽब्रुग्-पा, स्तग्-लुङ-पा और स्कर्-म-पा इसी द्कर्-र्ग्युद्-पा सम्प्रदायकी शाखायें हैं। कर्-म (स्कर्-म) संघ-राज स्कर्-म-बक्र-सि-छोस्-ऽज्ञिन् (१२०४-८३) अपने सिद्धत्वके कारण मंगोल सम्राट्का गुरु हुआ था। फग्-ग्रु-ब्-प और ऽब्रि-गोङ-प लामाओंने कितने ही वर्षों तक मध्य भोटपर शासन किया।

§५. भारतसे अंतिम संबंध

दीपंकर श्रीज्ञानके जानेके बाद भोटदेशमें धार्मिक सुधार और बहुतसे भारतीय ग्रंथोंके अनुवाद होनेकी बात हम कह चुके। अब आगे वह समय आ रहा था, जब भारतसे बौद्धधर्म लुप्त होनेवाला था। उस समय वही ग्रंथ सुरक्षित रह सकते थे, जो मुसलमानोंकी पहुँचके बाहर थे। भारतीय ग्रंथोंके अनुवादका अब अंतिम काल था। तिब्बतमें जिन ग्रंथोंकी मूल संस्कृत प्रतियोंके देखनेका अवसर मुझे अपनी अंतिम तीन यात्राओंमें हुआ था, वह इसी समय

भारतसे भोटदेश ले जायी गयी थीं और यह प्रायः सभी स-स्क्य विहारकी थीं। यही विहार अंतिम समय अनुवादों और अनुवादकोंका केन्द्र बना।

(१) स-स्क्य-विहारका कार्य—(ऽखोन्) द्कोन्-र्य्यल् (१०३४-११०२ ई०) नामके एक गृहस्थ धर्माचार्यने गृचङ (चङ) प्रदेश में १०७३ ई० में स-स्क्य नामक विहारकी स्थापना की। यद्यपि इस विहारका आरंभ बहुत छोटेसे हुआ, किंतु इसने आगे चलकर बौद्ध धर्मकी बड़ी सेवा की। इसके संघराजोंका प्रभाव भोट देशसे बाहर चीन और मंगोलिया तक पड़ा। छिंगिसखानके शासन-कालमें १२२२ ई० में यहींके संघराज आनंदध्वजने सर्वप्रथम मंगोलियामें जाकर बौद्धधर्मका प्रचार किया।

(ऽखोन्) द्कोन्-र्य्यल्ने ब-रि-लो-च-वा (मृ० ११११) को अपना उत्तराधिकारी चुना। व-रि कितने ही समय तक भारतमें जाकर वज्रासन (बोधगया) में आचार्य अभयाकरगुप्तके पास रहा था। अभयाकरगुप्तका जन्म झारखंड (वैद्यनाथके आसपासका प्रदेश) में क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे हुआ था। यह शास्त्रोंके अच्छे पंडित थे। पीछे इन्होंने अवधूतिपाके शिष्य सौरिपासे सिद्धचर्याकी दीक्षा ले ली। मगधेश्वर रामपाल (१०५७-११०२) के यह गुरु थे। नालंदा और विक्रमशिला दोनों विश्वविद्यालयोंके यह महापंडित माने जाते थे। इनका देहान्त ११२५ में हुआ।

व-रिने अपना उत्तराधिकारी, मठके संस्थापक द्खोन्-र्य्यल्के पुत्र कुन्-द्ग ऽ-स्ञिङ-पो (१०९२-११५८ ई०) को चुना। उसके बाद उसके पुत्र ग्रग्स्-प-र्य्यल्-म्छन् (११४७-१२१६ ई०) विहाराधिपति हुआ। यह अच्छा विद्वान् था। इसने दिङ्नागके **न्यायप्रवेश** और **चंडमहारोषणतंत्र** आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये।

(ख्रो-फु) ब्यम्स्-प-द्पल् (जन्म ११७३ ई०) इसी कालमें हुआ था। यही काशिराज जयचंदके दीक्षागुरु मित्रयोगी[1] (जगन्मित्रानंद) को ११९८ ई० में भोट ले गया। मित्रयोगीकी **'चतुरंग-धर्मचर्या'** का इसने अनुवाद किया। १२०० ई० में कश्मीरी पंडित बुद्धश्रीको बुलाकर उनके साथ इसने **अभिसमयालंकार**की टीका 'प्रज्ञाप्रदीप'का अनुवाद किया। इसीके निमंत्रणपर विक्रमशिलाके अंतिम प्रधान-स्थविर शाक्यश्रीभद्र भोट गये।

(२) **शाक्यश्रीभद्र—(११२७—१२२५ ई०)**—इनका जन्म कश्मीरमें ११२७में हुआ था। बोधगया, नालंदा, विक्रमशिला उस समय सारे बौद्धजगत्के केन्द्र थे, इसीलिये यह भी मगधकी ओर आये। सुखश्री इनके दीक्षागुरु थे और रविगुप्त, चन्द्रगुप्त, विख्यातदेव (छोटे वज्रासनीय) विनयश्री, अभयकीर्ति और रविश्रीज्ञान इनके विद्यागुरु। अपने समयके यह महाविद्वान् थे, यह तो इसीसे मालूम होता है, कि यह मगध-नरेशके गुरु तथा विक्रमशिला-महाविहारके प्रधान नायक थे। मुहम्मद-बिन्-बख्तियारने जब नालंदा और विक्रमशिलाको ध्वस्त कर दिया, तो यह

---

[1] **इनका जन्म राढ़ (पश्चिमी बंगाल) देशमें हुआ। सिद्ध तैलोपाके शिष्य ललितवज्रसे इन्होंने सिद्धचर्याकी दीक्षा ली थी। पीछे उडन्तपुरी विहारके प्रधान हुए। काशीश्वर महाराज जयचंद इनके शिष्य थे ('ऽग्रुग्-प छोस्-ऽब्युङ्' पृष्ठ १५३, 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', मार्च १९२५, पृ० ४—३०)**

जगत्तला[1](बंगाल) चले गये। वहाँ कुछ दिन रहकर और संभवतः उसके भी ध्वस्त होनेपर जब यह जगत्तलाके पंडित विभूतिचन्द्र तथा दानशील, संघश्री (नेपाली), सुगतश्री आदि नौ पंडितोंके साथ नेपालमें थे,तो वहीं इन्हें ऽख्रो-फु-लो-च-वा मिला। उसकी प्रार्थनापर यह १२०३ ई० में भोट देशमें जा दस वर्ष रहे। उन्होंने पुस्तक-अनुवादका काम नहीं किया; और इनके ग्रंथ भी एकाध ही अनूदित हुए हैं, इससे जान पड़ता है, कि महाविद्वान होते हुए भी लेखनीके धनी नहीं थे। स-स्क्यामें पहुँचने पर तत्कालीन विहाराधिपति ग्रग्स्-प-ग्यंल्-म्छन्के भतीजे और उत्तराधिकारी; कुन्-द्गऽ-ग्यल्-म्छन् (११८२-१२५१ ई०) १२०२ ई०में इनके भिक्षु-शिष्य हुए और **प्रमाणवार्तिक** आदि कितने ही न्यायके गंभीर ग्रंथोंका उन्होंने इनसे अध्ययन किया। ब्यङ-छुप-द्पल् और द्गे-वऽि-द्पल् आदि और भी कितने ही शाक्य श्रीभद्रके शिष्य हुए। स-स्क्य सम्प्रदायके पीछे इतने प्रभावशाली बननेमें उसका विक्रमशिलाके अंतिम प्रधान नायकसे संबंध भी कारण हुआ। दस वर्ष रहकर, १२१३ ई०में, शाक्य श्रीभद्र अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये, जहाँ १२२५ ई०में ९८ वर्षकी दीर्घ आयुमें उनका देहांत हुआ। उनके अनुयायी विभूति-चन्द्र, दानशील आदि भोट ही में रह गये, जिनमें विभूतिका भोट-भाषापर इतना अधिकार हो गया, कि उन्होंने कितने ही ग्रंथोंके अनुवाद बिना किसी लो-च-वकी सहायताके किये।

(३) **स-स्क्य-पण्-छेन्** कुन्-द्गऽ-ग्यंल्-म्छन्, संघराज (११८२-१२५१ ई०)—भोट देशके यह उन चंद धर्माचार्योंमें हैं, जिन्होंने धर्म-प्रचारके लिये बहुत भारी काम किया। भोट-देशीय ऐतिहासिकोंके मतानुसार छिंगीस खाँ(११६२-१२२७ई०)चीनका सम्राट् हुआ। १२०७ ई० में मिञग् प्रदेशको छोड़कर सारा भोट उसके अधिकारमें चला गया। जिस समय छिंगीस देश विजय कर रहा था, उसी समय स-स्क्य पंडित कुन्-दगऽ-ग्यंल्-म्छन्ने धर्मविजयकी ठानी और उन्होंने १२२२ ई०में मंगोल देशमें धर्म-प्रचारक भेजे। १२३९ ई० में मंगोल सर्दार छि-ग्य-दो-तीने मध्य-भोटपर चढ़ाई की और स-स्क्य मठके पाँच सौ भिक्षुओंको मार डाला। १२४३ ई०में संघराजने अपने दो भतीजों ऽफग्स्-प और फ्यग्-नाको प्रचारके लिये मंगोलिया भेजा। १२४६ ई० में वह स्वयं चीनके मंगोल सम्राट् ओगोताई (गोतन्) से मिले, और दूसरे वर्ष सम्राट्के गुरु बने। मंगोल सम्राट्ने भोट देशको अपने गुरुको प्रदान किया। भोट देशमें धर्माचार्योंके शासनका सूत्रपात इसी समय पहिले पहिल हुआ। धर्म-प्रचारके काममें लगे रहते हुए मंगोलियाके स्प्रुल्-स्दे स्थानमें १२५० ई० में इनका देहांत हुआ। यह अच्छे पंडित और कवि थे। इनकी पुस्तक 'स-स्क्य-लेग्स्-ब्शद्' की नीति-शिक्षापूर्ण गाथाएँ अब भी भोट देशके पाठ्य-विषयोंमें हैं।

(४) **ऽफग्स्-प्र, संघराज** (१२५१–८० ई०)—इनका जन्म १२३४ ई० में हुआ था। इनके मंगोलिया जानेकी बात पहले कही जा चुकी है। चचाकी मृत्युके बाद यह संघराज बने। स-स्क्य विहारमें तबसे यही प्रथा चल पड़ी: घरका एक व्यक्ति भिक्षु बन जाता है, और वही पीछे संघराजके पदपर बैठता है। चचाने ऽफग्स्-पकी शिक्षाका विशेष ध्यान रक्खा था। १२५१ ई०में ऽफग्स्-प भावी चीन-सम्राट, राजकुमार कुब्ले-हान्के गुरु बने। १२६५ ई० तक वह चीन और मंगोलियामें ही रहे। १२६९ ई०में फिर मंगोलिया गये, और १२८० ई०में उनका देहांत हुआ।

---

[1] **इसे मगधराज महाराज रामपाल (१०५७–११०२ ई०) ने अपने शासनके सातवें वर्ष (१०६४) में स्थापित किया था ('स्तन्–ऽग्युर', अष्टसाहस्रिका-टीकाके अन्तमें)**

स्कर्-म-बक्-सि-छोस्-ऽजिन् (१२०४-८३ ई०)। स-स्क्य के ऽफग्स्-प का यह समकालीन था। यद्यपि पांडित्यमें स-स्क्योंकी समानता नहीं कर सकता था, किन्तु यह अपने समयका अद्भुत चमत्कारी सिद्ध समझा जाता था। चीनके मंगोल सम्राट मुन्-खे (मंगू)ने इसके सिद्धत्वकी परीक्षा ली और १२५६ ई० में उसने इसे अपना गुरु बनाया।

§६. अंधेरगर्दी

(१) महंतशाही—

जिस समय स-स्क्य-प और द्कर्-र्ग्युद्-प सम्प्रदायके प्रमुख इस प्रकार विद्या, सिद्धचर्या, और धर्म-प्रचार द्वारा अपने प्रभावको बढ़ा रहे थे, उसी समय आचार्य शांतिरक्षितका अनुयायी भोटका सबसे पुराना धार्मिक सम्प्रदाय ञिङ-म-प नीचे गिरता जा रहा था। इसने पुराने बोन्-धर्मकी भूत-प्रेत-पूजा, जादू-मंतरको अपनाकर, उसमें और-और तरक्की की। इसके गुरु लोग मिथ्याविश्वास-पूर्ण नई-नई पुस्तकें बनाकर उन्हें बुद्ध, पद्मसंभव, या किसी और पुराने आचार्यके नामसे पत्थरों और जमीनसे खोदकर निकाल रहे थे। गतेर्-स्तोनने ११९८ ई० में और ञिङ-म धर्माचार्य स-द्वङने १२५६ ई० में ऐसे जाली ग्रन्थोंको खोद निकाला था।

(२) अवतारवाद—

स्कर्-म-बक्-सि के मरने (१२८२ ई०) पर, उसके योग्य शिष्योंमेंसे उत्तराधिकारी न चुनकर एक छोटा बालक रङ-ऽब्युङ-र्दो-र्जे (जन्म १२८४) उसका अवतार स्वीकार किया गया। इससे पूर्व यद्यपि एकाध ऐसे उदाहरण थे, किन्तु अब तो अवतारी लामोंकी बीमारी-सी फैल गई। स्कर्-म की देखा-देखी पीछे ऽब्रि-गुङ प, ऽब्रुग्-प आदि द्कर्-र्ग्युद्प निकायोंने इस प्रथाको अपनाया। आगे चलकर चोङ-ख-पके अनुयायियोंने भी अपने दलाई लामा (ग्यंल्-व-रिन्-पो-छे) और टशी लामा (पण्-छेन्-रिन्-पो-छे)के चुनावोंमें ऐसा ही किया गया; और इस प्रकार आजकल छोटे-छोटे मठोंसे लेकर बड़ी-बड़ी जागीरवाली महंतशाहियोंके लिये ऐसे हजारों अवतारी लामा तिब्बतमें पाये जाते हैं।

इस प्रथाके इतने अधिक प्रचारका कारण क्या है? गद्दीधरके बाल्यकालमें कुछ स्वार्थियोंको मठका सारा प्रबंध अपने हाथमें रखनेका मौका मिलता है और अवतारी लामाके माँ-बाप और संबंधियोंके लिये मठ एक घरकी संपत्ति-सी बन जाता है। लेकिन इस प्रथाके कारण उत्तराधिकारके लिये विद्या और गुणका महत्व जाता रहा, जिससे अधिकांश नालायक लोग इन पदोंपर आते हैं।

बारहवीं शताब्दीमें चौरासी सिद्धोंके बहुतसे हिन्दी दोहों और गीतोंके भी भोट-भाषामें अनुवाद हुए। इसी समय (शोङ-स्तोन्) र्दो-र्जे-र्ग्यल्-म्छन् (मृ० ११७७ ई० ?) ने पंडित लक्ष्मीकरकी सहायतासे 'काव्यादर्श' (दंडी), 'नागानंद' (हर्षवर्द्धन) और 'बोधिसत्वावदान कल्पलता' (क्षेमेन्द्र) ग्रंथोंके भोट-भाषामें भाषांतर किये।

(३) परस्पर लूट-मार—

अब मठोंके हाथमें शासनका अधिकार आनेपर उन्होंने भी वही करना शुरू किया, जो

दूसरे शासकोंमें हुआ करता है। १२५२ ई० में स-स्क्यवालोंको भोटके तेरह प्रदेशोंपर अधिकार मिला था। १२८५ ई० में ऽब्रिगोङके अधिकारियोंने अपने विरोधी ब्य-युल् मठको जला डाला। १२९० ई० में स-स्क्यवालोंने ऽब्रि-गोङको लूट लिया।

§७. प्रकाशकिरण

(१) **(बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब् (१२९०–१३६४ ई०)**—तेरहवीं सदीके अंतके साथ, भारतके बौद्ध-केन्द्रोंमें बौद्धधर्मका अंत हो गया। अब भोट देशको सजीव बौद्ध-भारतके साथ विचारोंके दानादानका अवसर नहीं रह गया। भोटमें भी अब प्रभावशाली महंतशाहियोंकी प्रतिद्वंदिताका समय आरंभ हुआ। अब तक जितने भी भारतीय ग्रंथ भोट-भाषामें अनूदित हुए थे, उनको क्रम लगाकर इकट्ठा संगृहीत करनेका काम नहीं हुआ था, इसलिये सारी अनूदित पुस्तकोंका न किसीको पता था और न वह एक जगह मिल सकती थीं। ऐसे समय १२९० ई० में (बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब्का जन्म हुआ। वह श-लु विहारमें जाकर भिक्षु हुए। अपने ही समयके नहीं, बल्कि आज तक भी वह भोट देशके अद्वितीय विद्वान हैं। शुरूमें स-स्क्य मठमें भी यह अध्यापनका काम करते रहे, जिससे इन्हें वहाँके विशाल पुस्तकालयको देखनेका अवसर मिला। यद्यपि इन्होंने **कलाप-धातु-काय** (दुर्गसिंह) **'त्याद्यन्तप्रक्रिया'** (हर्षकीर्ति) आदि कुछ थोड़ेसे ग्रंथोंके अनुवाद भी किये हैं; किन्तु, इनका दूसरा काम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने समय तकके सभी अनुवादित ग्रन्थोंको एकत्रितकर क्रमानुसार दो महान् संग्रहोंमें जमा किया, यही स्क-ऽग्युर (कन्-जुर) और स्तन्-ऽग्युर् (तन्जुर) हैं। इनमें कन्-जुर्में उन ग्रन्थोंको एकत्रित किया गया है, जिन्हें बुद्ध-वचन कहा जाता है। 'स्क' शब्दका अर्थ भोट-भाषामें 'वचन' होता है, 'स्तन्' का अर्थ है शास्त्र और 'ग्युर' कहते हैं अनुवादको। स्तन्-ग्युरमें बुद्ध-वचनसे भिन्न आचार्योंके दर्शन, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, देवता-साधन और स्क-ऽग्युर् तथा स्तन्-ऽग्युरकी टीकायें एवं कितने ही और ग्रन्थोंकी टीकायें संगृहीत हैं। बु-स्तोन्ने इन संग्रहोंको अपने तत्वावधानमें और एक निश्चित क्रमसे लिखवाकर अलग-अलग वेष्टनोंमें विभक्त किया, साथ ही ग्रन्थोंकी सूची भी बनाई। यह मूल प्रति अब भी श-लु-विहारमें (ग्याँचीसे दो दिनके रास्ते पर) मौजूद है। बु-स्तोन्ने स्वयं पचासों ग्रन्थ लिखे, जिनमें एकमें भारत और भोट देशमें बौद्धधर्मके इतिहास (१३२२ ई० में लिखित) का महत्वपूर्ण वर्णन है। १३६४ ई० में श-लु-विहारमें इस महान् विद्वान्के देहांतके साथ भोट-देशके धार्मिक इतिहासके सबसे महत्त्वपूर्ण अध्यायकी समाप्ति होती है।

स्-सक्य-युगके अंतमें (यर्-लुङ) ग्रग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन् चन्द्रगोमीके 'लोकानंद' नाटक और कालिदासके 'मेघदूत' तथा कुछ और ग्रन्थोंके अनुवादक ब्यङ-छुप्-चे-मो (१३०३ ई०) जैसे अनुवादक हुए।

(२) **चोङ्-ख-प**—बु-स्तोन्के देहांतके सात वर्ष पूर्व (१३५७ ई०में) अम्-दो प्रदेशके चोङ-ख ग्राममें एक मेधावी बालक उत्पन्न हुआ, जिसका भिक्षु-नाम यद्यपि ब्लो-ब्सङ-ग्रग्स्-प (सुमतिकीर्ति) है, तो भी वह अधिकतर अपने जन्मग्रामके नामसे चोङ-ख-प (चोङ-ख वाला) ही के नामसे प्रसिद्ध है। अम्-दो (तंगुत) ल्हासासे महीनोंके रास्तेपर मंगोलियाकी सीमाके पास एक छोटा-सा प्रदेश है। सात वर्षकी अवस्था (१३६३ ई०) में वह दोन्-रिन्-प का श्रामणेर

बना, तबसे पन्द्रह वर्षकी अवस्था तक वहीं अध्ययन करता रहा। तब उसे विशेष अध्ययनके लिये अच्छे अध्यापकोंकी अवश्यकता हुई, और १३७२ ई० में मध्य-भोटमें चला आया। उन्नीस वर्षकी छोटी अवस्था (१३७६ ई०) में उसने अपना प्रथम ग्रंथ लिखा। (रे-म्दऽ-प) ग्शोन्-नु-ब्लो-ग्रोस्से उसने दर्शनशास्त्र पढ़ा। 'विनय' में इसका गुरु बु-स्तोन्का शिष्य (द्मर्-सतोन्) ग्यं-म्छो-रिन्-छेन् था। बु-स्तोन्के ग्रन्थोंसे चोङ-ख-प बहुत प्रभावित हुआ और वस्तुतः उसके इतने महान् कार्यको सम्पन्न करनेमें बु-स्तोन्के कार्यने बहुत उत्साह प्रदान किया था। उसको अफ़सोस था, कि उसे बु-सतोन्के चरणोंमें बैठकर अध्ययन करनेका सौभाग्य नहीं मिला। उसने स-स्क्य-प, द्कर्-र्ग्युद्-प और (दीपंकरके अनुयायी) ब्कऽ-दम्-प तीनों ही सम्प्रदायोंसे बहुत-सी बातें सीखीं। उसके अनुयायी अपनेको बक्ऽ-दम्-पके अंतर्गत मानकर अपनेको नवीन ब्कऽ-दम्-प कहते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार बक्ऽ-दम्-प मठ स्वेच्छासे द्गे-लुग्-प (चोङ-ख-पके संप्रदाय) में परिणत हो गए, उससे उनका यह कहना अयुक्त भी नहीं है।

चोङ-ख-प के जन्मसे दो वर्ष पूर्व (१३५४ ई० में) फग्-ग्रुब् के (सि-तु) ब्यङ-छुप-र्ग्यन् (जन्म १३०३ ई०) ने सारे गृचङ प्रदेशपर अधिकार कर लिया था। १३४९ ई०में उसने द्वुस् प्रदेशको भी अपने राज्यमें मिला लिया। इस प्रकार चोङ-ख-प के कार्यक्षेत्रमें पदार्पण करनेके समय मध्य-भोटमें एक सुदृढ़ शासन स्थापित हो चुका था। तो भी धार्मिक स्थिति बहुत बुरी थी। बड़े-बड़े विद्वान् एक-एक करके चल बसे थे। पुराने विद्याकेन्द्र अपना वैभव खो चुके थे। मृछन्-ञिद्-प (दर्शनवादी) और बक्ऽ-दम्-प यद्यपि अब भी ज्ञान और वैराग्यकी ज्योति जगाये हुये थे, किन्तु वह ज्योति पहाड़की गुफाओं और देशके गुमनाम कोनोंमें छिपी हुई थी। चोङ-ख-प में ज्ञान और वैराग्य, अथवा प्रज्ञा और समाधि दोनों उचित मात्रामें मौजूद थीं; और उससे भी अधिक उसमें धर्मकी बिगड़ी अवस्थाके सुधारनेकी लगन थी। वह विद्वान्, सुवक्ता और सुलेखक था, अपनी ओर योग्य व्यक्तियोंको आकर्षण करनेकी शक्ति रखता था। इतने अधिक योग्य और कार्य-कुशल शिष्य किसी भी भोट-देशीय आचार्यको नहीं मिले। बु-स्तोन्-का सारा काम एक अकेले व्यक्तिका था। १३९५ ई० तक चोङ-ख-प का विद्यार्थी-जीवन रहा। १३९६ ई० में अब वह अपने जीवनोद्देश्य—बौद्धधर्ममें आयी बुराइयोंके दूर करने और विद्या-प्रचार—में लग गया। वह समझता था, कि लोगोंका मिथ्याविश्वास हटाया नहीं जा सकता, जब तक कि उनमें दर्शनशास्त्र और विद्याका प्रचार न किया जाय। उसके इस कामने मृछन्-ञिद्-प के कामको ले लिया, और इस प्रकार कुछ ही समयमें मृछन्-ञिद्-प के सारे मठ द्गे-लुग्स् सम्प्रदायमें शामिल हो गये। १३९६ ई० में उसने गृङल् (ङल्) का महाविद्यालय स्थापित किया। १४०५ ई० में ल्हासामें संघ-सम्मेलनके लिये एक विशाल-भवन (सूमोन्-लम्-छेन्-पो) बनवाया, और उसी वर्ष ल्हासासे दो दिनके रास्तेपर द्गऽ-ल्दन् (गंदन्) का महाविहार स्थापित किया। उसके शिष्योंमें जम्-ब्यङस् (१३७८-१४४९ ई०) ने १४१६ ई०में ऽब्रस्-स्पुङ (डे-पुङ= धान्यकटक) महाविहारकी स्थापना की। इसी वर्ष चोङ-ख-प की गन्दन् में मृत्यु हुई। पीछे उसके शिष्य (प्रथम दलाई लामा) द्गे-ऽदुन्-ग्रुब (१३९१-१४७४ ई०) ने १४४७ ई० में ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो (टशील्हुन्पो) महाविहार स्थापित किया, और (सृमद्) शेस-रब्-द्सङ (१३९५-१४५७ ई०) ने खमृस् प्रदेशमें छब्-म्दो (१४३७) के महाविहारकी स्थापना की।

चोङ-ख-प ने जहाँ शास्त्रोंके अध्ययनके लिये इतना किया, वहाँ उसने भिक्षुनियमोंके प्रचारके लिये कुछ कम काम नहीं किया। इसी कामके लिये उसके अनुयायी द्गे-लुग्स्-प (भिक्षु-

नियमानुयायी) कहलाये। उसने भिक्षुओंके प्रधान वस्त्रोंके लिये पीला रंग पसंद किया, और विशेष अवसरों पर पहनी जानेवाली टोपियोंका रंग भी पीला रक्खा, जिससे उसके अनुयायी पीली टोपीवाले लामा कहे जाते हैं। अवतारोंकी महामारीसे ग्रस्त भोटदेशमें उत्तराधिकारी चुननेमें उसने योग्य शिष्यका नियम बनाया; और आज तक चोङ-ख-प की गद्दीपर उसका अवतार नहीं, बल्कि उसकी परंपराका योग्य पुरुष बैठता है, जिसे द्गऽ-ल्दन्-ख्रि-प (गन्दनका गद्दीनशीन) कहते हैं। तो भी उसके अनुयायियोंने उसके अन्य मुख्य शिष्योंके उत्तराधिकारके लिये अवतार मान लिया, जिससे आज द्गे-लुग्स्-सम्प्रदायमें अवतारी लामोंकी संख्या सबसे अधिक है।

चोङ-ख-प का शिष्य म्खस्-ग्रुप् (१३८५-१४३८ ई०)—जो पीछे द्गऽ-ल्द्न् का तीसरा संघराज हुआ—उसके सभी शिष्योंमें महाविद्वान् था। उसने अनेक ग्रंथ लिखे और अपने गुरुके कामको आगे बढ़ाया। उसका प्रतिद्वंद्वी (रोङ स्तोन्) शाक्य-र्ग्यल्-म्छन् एक अच्छा दार्शनिक विद्वान् था, जिसका संबंध स्-स्क्य-सम्प्रदायसे था। उसने ल्हासासे उत्तरके पहाड़ोंके पीछे फन्-पो प्रदेशमें भारतीय नालंदाके नामपर नालंदा-विहार बनाया और कुछ समय तक यह विहार एक अच्छा विद्या-केन्द्र रहा। १९३४ ई० के अगस्तमें जब मैं वहाँ गया, तो ढाई हजारके रहने लायक घरोंमें ५०० ही भिक्षु रहते थे और उनमें भी पढ़नेवाले पचाससे अधिक नहीं थे।

(३) पंडित वनरत्न (१३८४–१४६८ ई०)—पंडित वनरत्न अंतिम भारतीय बौद्ध भिक्षु थे, जिन्होंने भोटमें जाकर अनुवाद और धर्म-प्रचारका काम किया। इनका जन्म पूर्वदेश (बंगाल?) के एक राजवंशमें हुआ था। इनके गुरुका नाम बुद्धघोष था। बीस वर्षकी अवस्थामें वह सिंहल चले गये, और वहाँ आचार्य धर्मकीर्ति[1]की शिष्यतामें भिक्षु हुए। छ वर्षों तक वहीं अध्ययन करते रहे। फिर श्रीधान्यकटक होते हुए मगध देशमें आये। वहाँ हरिहर पंडितके पास कलाप-व्याकरण पढ़ा। फिर कई जगह विचरते हुये नेपाल पहुँचे। वहाँ पंडित शीलसागरके पास कुछ अध्ययन कर १४५३ ई० में भोट देश गये। ल्हासा और यर्-लुङस्में कितने ही समय तक रहकर उन्होंने कुछ तांत्रिक ग्रन्थोंके अनुवादमें सहायता की, फिर नेपाल लौटकर शांतिपुरी विहारमें ठहरे। दूसरी बार (सि-तु) रब्-ब्र्त्तन्के निमंत्रणपर वह फिर भोट देश गये। भोटराज ग्रग्स्-प-ऽब्युङ-ग्नस् के समयमें राजधानी चेंस्-थङमें पहुँचे और कितने ही समय रहकर वह फिर नेपाल लौट गये, और वहीं १४६८ ई० में इनका देहांत हुआ। इनके द्वारा अनुवादित ग्रन्थोंमें सिद्धोंके कुछ दोहे और गीत भी हैं। (ऽगोस्-यिद्-ब्सङ-च) गशोन्-नु-द्पल् (जन्म १३९२ ई०), (स्तग्) शेस्-रब्-रिन्-छेन् (जन्म १४०५ ई०) और शेस्-रब्-र्ग्यल् (१४२३ ई०) इनके सहायक (लो-च-वा) थे।

(श-लु) धर्मपालभद्र (जन्म १५२७)—यह अंतिम विद्वान् लो-च-वा बु-स्-तोन्के प्रसिद्ध श-लु विहारका भिक्षु था। उसने **अभिधर्मकोश-टीका** (स्थिरमति), **ईश्वर कर्तृत्व-निराकृति** (नागार्जुन), **मंजुश्रीशब्दलक्षण** (भव्यकीर्ति) आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये। इनसे पूर्व इसी श-लु-विहारके दूसरे विद्वान् लो-च-वा रिन्-छेन्-ब्सङ (१४८९-१५६३ ई०) ने भी कुछ ग्रन्थोंके अनुवाद किये थे।

लामा तारानाथ (जन्म १३७५ ई०)—असली नाम (र्ग्यल्-खङ-प) कुन्-द्गऽ-स्ञिङ-

[1] शायद 'निकाय-संग्रह' के कर्ता प्रसिद्ध राजगुरु 'धर्मकीर्ति'

पो था। यद्यपि इनका अध्ययन बु-स्तोन् या चोङ-ख-प की भाँति गंभीर न था, तो भी बहुश्रुत थे। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें **भारतमें बौद्धधर्म इतिहास** भी एक है। सर्वप्रथम इसी इतिहासका एक युरोपीय भाषामें अनुवाद होनेसे तारानाथका नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके अनुवादित ग्रन्थोंमें अनुभूतिस्वरूपाचार्यका **सारस्वत** भी है, जिसका इन्होंने कुरुक्षेत्रके पंडित कृष्णभद्रकी सहायतासे अनुवाद किया था।

(४) **फिर अन्धेरगर्दी**—पन्द्रहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी भोट देशमें भिन्न-भिन्न मठोंकी प्रतिद्वंद्विताका समय था। यह प्रतिद्वंद्विता सशस्त्र प्रतिद्वंद्विता थी। १४३५ ई० में फग्-ग्रुब् मठवालोंने ग्चङ-प्रदेशको रिन्-स्पुङ वालोंके हाथसे छीन लिया। १४८० ई० में ग्श्व-द्मर् लामा छोस-ग्रग्स-ये-शेस् (मृत्यु १५३४ ई०) ने ग्चङ-की सेना लेकर द्वुस-प्रदेशपर चढ़ाई की। १४९८ ई० में रिन्-छेन्-स्-पुङ-पो ने ग्चङ-की सेना लेकर स्ने ऽु-ग्जोंङ और स्प्यिद्-शङ पर अधिकार कर लिया। इसी वर्ष ग्सङ-फु और स्कर्-म लामोंने वार्षिक धर्म-सम्मेलनके समय स-स्क्य-प और ऽब्रस्-स्पुङके भिक्षुओंको अपमानित किया। १५१८ ई० तक—जब तक कि ग्चङकी शक्ति क्षीण न हो गई—ऽब्रस्-स्पुङ और से-रा के भिक्षु वार्षिक पूजा (स्-मोन्-लम्-छेन्-मो) में अपना स्थान प्राप्त न कर सके। १५७५ ई० में रिन्-स्पुङ (ग्चङ) ने फिर द्वुस् में आकर लूट-मार की। १६०४ ई० में स्कर्-म सेनाने स्क्यि-शोद् दुर्ग नष्ट कर दिया। १६१० ई० में फिर ग्चङ सेनाने द्वुस् पर चढ़ाई की। १६१२ ई० में स्कर्-म महंतराज सारे ग्चङ का शासक बन बैठा। १६१८ ई० में ग्चङ-सेनाने द्वुस् पर चढ़ाईकर ऽब्रस्-स्पुङ विश्वविद्यालयके हजारों भिक्षुओंको मार डाला।

ऊपरके वर्णनसे मालूम होगा, कि उस समय भोट देशके मठ विद्वानों और विरागियोंके एकान्त चिन्तनके स्थान न होकर सैनिक अखाड़े बन गये थे। वस्तुतः सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों-में यह बात भारत और युरोपपर भी ऐसे ही घटती है। भारतमें भी इस समय संन्यासियों और बैरागियोंके अखाड़े और उनके नागे सैनिक ढंग पर संगठित ही न थे, बल्कि कुंभ और मेलों पर उनकी आपसमें खूब मार-काट होती थी। युरोपमें पोपके साधुओंकी भी उस समय यही दशा थी।

(५) **नये विद्याकेन्द्र**—चोङ-ख-पके अनुयायियोंकी प्रशंसामें यह बात जरूर कहनी पड़ेगी, कि १६४२ई० तक—जब कि भोटका राज्य उन्हें मंगोलशिष्यों द्वारा अर्पित किया गया—उन्होंने शासन और राजनीतिमें दखल देनेका प्रयत्न नहीं किया और वह बराबर धर्म-प्रसार तथा विद्या-प्रचारमें लगे रहे। उनके ऽब्रस्-स्पुङ, से-रा, द्गऽ-ल्दन्, ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पोके विहारोंने विश्वविद्या-लयों का रूप धारण कर लिया था, जिनमें भोट देशके ही कोने-कोनेके नहीं, बल्कि सुदूर मंगोलिया और सिबेरियाके भिक्षु भी अध्ययनार्थ आने लगे। इन विश्वविद्यालयोंके कामको देखकर धनी गरीब सभी जनता दिल खोलकर उनकी सहायता कर रही थी। इनके छात्रावास प्रदेश-प्रदेश-के लिये नियत थे, जिनमें कुछ वृत्तियाँ भी नियत हो गई थीं। अर्थहीन विद्यार्थी भी इन छात्रा-वासोंमें रहकर अच्छी तरह विद्याध्ययन कर सकते थे और विद्या-समाप्तिपर अपने देशमें जाकर अपनी मातृ-संस्था और द्गे-लुग्स्-प सम्प्रदायके प्रति प्रेम और आदरका प्रसार करते थे। इतना ही नहीं द्गे-लुग्स्-सम्प्रदायके नेताओंने मंगोलियामें स-स्क्य संघराजके धर्म-प्रचारके कार्यको आगे बढ़ाया। १५७७ ई० में तीसरे दलाई लामा ब्सोद्-नॅम्स्-र्ग्य-म्छो धर्म-प्रचारार्थ स्वयं मंगोलिया गये, और मंगोल-राजा अल्-तन्-खानने (१५७८ ई० में) उनका स्वागत किया।

इस समय तक द्गे-लुग्स्-प विश्वविद्यालयोंके कितने ही मंगोल स्नातक अपने देशमें फैल चुके थे। दूसरे वर्ष दलाई लामाने वहाँ थेग्-छेन्-छोस्-ऽखोर-ग्लिङ्की स्थापना की। इस यात्रामें उन्होंने अम्दो, खम्स् आदिके महाविहारोंका निरीक्षण किया और कुछ नये विहार स्थापित किये। १५८८ ई० में तृतीय दलाई लामाका मंगोलियामें देहान्त हो गया।

§८. नवविधान

(१) **"धर्मयुद्ध"**—चतुर्थ दलाई लामा योन्-तन्-र्ग्य-म्छो १५८९ ई० में मंगोल-वंशमें ही पैदा हुआ। इन बातोंने मंगोल-जातिका द्गे-लुग्स्-पा सम्प्रदायसे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। यही वजह हुई, कि जब भोटके राजलोलुप मठोंने द्गे-लुग्स्-पके प्रभावको बढ़ते देख उनसे भी छेड़खानी शुरू की,तो मंगोल वीरोंने उनकी रक्षाके लिये अपना रक्त देनेका निश्चय कर लिया। १६१८ ई० में ग्चङ् सेनाका डे-पुङ्के हजारों भिक्षुओंको जानसे मारना असह्य हो गया। इस खबरके पाते ही सारे मंगोलियामें ग्चङ्के मठधारियोंके खिलाफ क्रोधका तूफान उमड़ पड़ा। उस समय तक मंगोल वीर गुश्री-खान (१५८२–१६५४ ई०) की कीर्त्ति सारे मंगोलियामें फैल चुकी थी। उसने मंगोल योद्धाओंकी एक बड़ी सेना तैयार कर मध्य-तिब्बतकी ओर कूच कर दिया। ग्चङ् वालोंको मालूम होने पर वह भी उनसे लड़नेके लिये आगे बढ़े। १६२० ई० में र्ग्यङ्-थङ्-गङ में दोनों सेनाओंकी मुठभेड़ हुई। बहुतसे भोटिया सैनिक मारे गये, किन्तु उस वर्ष कोई आखिरी फैसला नहीं हुआ। दूसरे वर्ष (१६२९ ई०) फिर वहीं युद्ध हुआ और ग्चङ् सेना बुरी तरहसे पराजित हुई। तो भी कुछ शर्तोंके साथ फिर राज्य द्गे-ग्रग्स्-प के हाथमें ही रहने दिया गया। लेकिन द्गे-लुग्स्-प को दबानेकी नीति न बदली, बल्कि उनके इतने प्रबल पक्षपातियोंको देखकर विरोध और भी तेज हो उठा। १६३७ ई० में इसके लिये द्गे-लुग्स्-विरोधिनी खल्-खा (मंगोल) जातिको गु-श्री-खान्ने को-को-नोर् झीलके पास युद्ध करके परास्त किया, और वहाँसे द्बुस् प्रदेश (ल्हासावाले प्रान्त) में आकर फिर को-को-नोर लौट गया। १६३९ ई० में बौद्ध-विरोधी बोन्-धर्मानुयायी खम्स्के शासक बे-रि से युद्ध हुआ। वह राज्यसे वंचितकर क़ैद कर लिया गया और दूसरे वर्ष उसके अत्याचारोंके लिये उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। ग्चङ् वालोंकी शरारत अभी कम न हुई थी, इसलिये १६४२ में गु-श्रीने ग्चङ्पर चढ़ाई करके राजाको पकड़कर, ग्चङ् और कोङ्-पो प्रदेशोंको अपने अधिकारमें कर लिया। गु-श्री-खान्ने सारे विजित राज्यको पञ्चम दलाई लामा ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छोके चरणोंमें अर्पण किया, और उनकी तरफसे प्रबन्धके लिये वह भोटका राजा उद्घोषित हुआ। इस प्रकार भोटमें धर्माचार्योंका दृढ़ शासन आरम्भ हुआ।

(२) **दलाई लामाका राज्य (१६४२-१९५१ ई०) (र्ग्यल्-व) ब्लो-ब्सङ्र्ग्य-म्छो**—चौथा दलाई लामा मंगोल-जातिका था, यह पहिले कह आये हैं। १६१६ ई० में उसकी मृत्युके बाद उसका अवतार समझा जानेवाला पाँचवाँ दलाई लामा ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (१६१७-८२) हुआ। वह अभी दो वर्षका ही था, तभी ग्चङ् सेनाने डे-पुङ्के हजारों भिक्षुओंको मारा था। छ वर्षकी अवस्था (१६२२ ई०) में वह ऽब्रस्-सपुङ् (डे-पुङ्) का नायक उद्घोषित हुआ। जब अवतारसे सब काम होनेवाला है, तब योग्यता और आयुका विचार करनेकी क्या अवश्यकता? १६३८ ई० में ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो विहारके नायक पण्-छेन् (महापण्डित) छोस्-क्यि-र्ग्यल्-म्छन् (१५७०–१६६२ ई०) से इसने भिक्षु-दीक्षा (उपसंपदा) ग्रहण की।

मंगोल-सर्दारने चोङ्-ख-प के गद्दीधर गन्दन्-ठी-पाको राज्य न प्रदान कर क्यों दलाई लामाको दिया, इसका कारण स्पष्ट है : मंगोलियामें धर्म-प्रचारके लिये तीसरा दलाई लामा गया था, और चौथा दलाई लामा स्वयं मंगोल था, इस प्रकार वह दलाई लामासे ही अधिक परिचित थे। स्मरण रखना चाहिए, कि भोटिया लोग दलाई लामाकी जगहपर ग्यल्-व-रिन्-पो-छे (जिन-रत्न) शब्दका प्रयोग करते हैं। **दलाई लामा** यह मंगोल लोगोंका दिया नाम है। मंगोल-भाषामें त-ले सागरको कहते हैं। पहिलेको छोड़कर बाकी सभी दलाई लामोंके नामोंके अन्तमें ग्यं-म्छो (सागर) शब्दका योग होता है, इसीलिये मंगोल लोगोंने त-ले-लामा कहना शुरू किया, जिसका ही बिगड़ा रूप दलाई लामा है। टशी (ब्क्र-शिस्) लामाको भोट-भाषामें पण्-छेन्-रिन्-पो-छे (महापण्डितरत्न) कहते हैं। पञ्चम दलाई लामा सुमतिसागरके गुरु पण-छेन्-छोस्-क्यि-ग्यल्-म्छन्से पूर्व वहाँ अवतारकी प्रथा न थी। पञ्चम दलाई लामाके गुरु होनेसे उनका सम्मान बहुत बढ़ गया; और मृत्युके बाद उनके लिये भी लोगोंने अवतारकी प्रथा खड़ी कर ली। पिछले टशी लामा (पण्-छेन्) छोस्-क्यि-ञि-मा (धर्मसूर्य) उनके पाँचवें अवतार थे। पञ्चम दलाई लामा सुमतिसागर यद्यपि अवतार समझे जानेके कारण उस पदपर पहुँचे थे, तो भी वह बड़े कार्यपटु शासक थे। उनके शासनके समयमें ही १६४४ ई० में मंचू-सम्राट् शी-चु (सुन्-छि) चीनकी गद्दीपर बैठा। १६४५ ई० में दलाई लामाने पोतलाका महाप्रासाद बनवाया। १६५२ ई० में चीन-सम्राट्के निमन्त्रणपर वह चीन गये; और सम्राट्ने उन्हें ता-इ-श्रीकी पदवीसे विभूषित किया। यह सारी अभ्यर्थना चीन-सम्राट्ने शक्तिशाली मंगोल-जातिको अपने पक्षमें करनेके लिये की थी; जिनपर दलाई लामाका भारी प्रभाव था। १६५४ ई० में गु-श्री-खानके मरनेपर, उसका पुत्र त-यन्- खान् (१६६०) भोटका राजा बनाया गया। उसके भी मरनेपर त-ले-खान-रत्न भोटका राजा बना।

पंचम दलाई लामाको भी धर्म-प्रचारकी लगन थी। वह चीनसे लौटते हुये स्वयं इसके लिये बहुतसे प्रदेशोंमें गये। उन्होंने एक होनहार भिक्षु फुन्-छोग्स्-ल्हुन्-ग्रुब्को संस्कृत पढ़नेके लिये भारत भेजा। उसने कुरुक्षेत्रके पंडित गोकुलनाथ मिश्र और पंडित बलभद्रकी सहायतासे रामचन्द्रकी पाणिनि-व्याकरणकी **प्रक्रिया-कौमुदी** (१६५८ ई०) और 'सारस्वत' का (१६६५ ई०) भोट-भाषामें अनुवाद किया। गौतमभारती, ओंकारभारती और उत्तमगिरि नामक रमते साधुओंकी सहायतासे (१६६४ ई० में) उसने एक वैद्यक ग्रन्थका भी अनुवाद किया। यही भोटका अन्तिम अनुवादक था। १६८२ ई० में पाँचवें त-ले लामाकी मृत्यु हुई।

यद्यपि मंगोलोंकी सहायतासे सारे तिब्बतमें दलाई-लामाका एकच्छत्रराज स्थापित हो गया था और पाँचवाँ दलाई लामा शान्ति पूर्वक राज भी करता रहा, किन्तु १७०५ ई० में ल्ह-ब्सङ्ने सरकारी सेनाको परास्त कर अपनेको राजा घोषित किया।

(३) फिर धर्मयुद्ध—

ल्ह-ब्-सङ्के स्वतन्त्र राजा बन जानेकी सूचना जब मंगोलियामें पहुँची, तो वहाँ फिर तैयारी होने लगी, और १७१७ ई०में छुङ्-गर् (मंगोलोंकी बाईं शाखाकी) सेना भोटकी तरफ रवाना हुई। एक प्रचंड तूफानकी भाँति उसके रास्तेमें जो कोई विरोधी आया, उसका उसने सत्यानाश किया। ल्हसाके उत्तर तरफके मैदानमें ल्ह-ब्सङ्ने उनका सामना किया और लड़ाईमें काम आया।

ञिग्-म-लामोंने ल्ह-ब्सङ्का पक्ष लिया था, इसलिये छुङ्-गर् (जुङ्गर) सेनाने उनके मठोंको ढूंढ़-ढूंढ़कर जलाया और नष्ट किया। उनके र्शम्-ग्यल्-ग्लिङ्, र्दो-र्जे-ब्रग् और स्मिन्-ग्रोल्-ग्लिङ् मठ लूट लिये गये। छुङ्-गर्के प्रलयकारी कृत्यके चिह्नस्वरूप आज भी भोट देशमें सैकड़ों खंडहर जगह-जगह खड़े दिखाई देते हैं। इस प्रकार मंगोलोंकी सहायनासे फिर दलाई लामाको राज्यशक्ति प्राप्त हुई। सातवें दलाई लामा स्कल्-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (भद्रसागर) बड़े ही विरागी पुरुष थे। वह राज्य-कार्यकी अपेक्षा ज्ञान-ध्यानमें अपना सारा समय लगाते थे। उनके कालमें १७२७ ई० में एक बार फिर कुछ मन्त्रियोंने बगावत की। उस समय (फो-ला-थइ-जे) ब्सोद्-नम्स्-स्तोब्-र्ग्यस्—जिसे राजा मि-द्वङ् भी कहते हैं—ने मङ्ऽ-रिस् और ग्चङ् की सेनाओंकी सहायतासे उन्हें परास्त कर दिया। इस सेवाके लिये मि-द्वङ् को १७२८ ई०में भोटका उपराज बनाया गया। इसी मि-द्वङ् ने सर्वप्रथम सक्-ऽग्युर और स्तन्-ऽग्युर दोनों महान् ग्रन्थ-संग्रहोंको लकड़ीपर खुदवाकर छापा बनवाया, और उसे स्नर्-थङ्-विहारमें रक्खा। इस मशहूर छापेके छपे कितने ही कन्-जुर्, तन्-जुर आज दुनियाके पुस्तकालयोंमें पाये जाते हैं।

सातवें दलाई लामाके समयमें रोमन कैथलिक साधु (कैपुचिन)[1] ल्हासा गये, और १७०८ ई० तक ईसाई धर्मका प्रचार करते रहे। इनसे पहले १६२६ ई० में पोर्तुगीज जेसुइत् पादरी अंद्रेदाने तिब्बतमें प्रवेश किया था, किंतु वह ल्हासा या ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पोतक नहीं पहुँच सका।

§६. भारतीय ग्रंथरत्नोंकी रक्षा[2]

भोटदेशकी संस्कृति, साहित्य, कला अपने बाल्यकाल ही से भारतसे अनुप्राणित है। भारतने अपनी महान् देनोंसे हिमालय-पृष्ठके इस महादेशको समृद्ध ही नहीं किया है, बल्कि भोटदेशका भी हमारे देशपर भारी ऋण है। हमारी मूर्ति और चित्रकलाके नमूने अब भी वहाँ मौजूद हैं, हमारे नालंदा और विक्रमशिलाकी शिक्षा-प्रणाली अभी बहुत-कुछ वहाँ जीवित रूपमें मौजूद है। यद्यपि हमारे लिये वह केवल ऐतिहासिक महत्व रखती है; किन्तु वहाँके छात्रों, स्नातकों और अध्यापकोंके गौन और टोपियाँ, जो कि भारतीय विहारोंसे ली गई थीं, अब भी हमारे देखनेके लिये मौजूद हैं, हम चाहें तो उनकी मददसे अपने विश्वविद्यालयोंके लिये अपने ढंगकी टोपियाँ और गौन बनवा सकते हैं। किन्तु भोटका सबसे अधिक उपकार भारतपर है, जो कि उसने हमारे हजारों ग्रन्थोंको अपने अनुवादोंमें सुरक्षित रक्खा है। भारतीय न्याय-शास्त्रका सबसे महत्वपूर्ण अंग बौद्धन्याय इन अनुवादोंमें मौजूद है। धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, ज्ञान श्री जैसे महान् नैयायिकोंके ग्रन्थ चीनीमें अनुवादित नहीं हो सके थे, वे भोटदेश ही की कृपासे हमें आज मिल सकते हैं। कितने ही ग्रन्थोंकी मूल संस्कृत-प्रतियोंको भी भोटने हमारे लिये सुरक्षित रक्खा। प्रमाणवार्तिका संस्कृत मूल तिब्बतमें गये हस्तलेखोंमेंसे मिला, प्रमाणवार्तिककी टीका और भाष्य हमारे पूर्वजोंने वहीं ले जाकर रक्खे थे, जो हमें वहाँ मिले। अश्वघोषकी जिस व्याख्यानविद्या-संबंधी पुस्तकका ईचिङ्ने अपने यात्रा-विवरणमें वर्णन किया है, वह वहींके एक मठ (पो-खङ)ने मिली। ई-चिङ्ने लिखा—"बिहारमें लौटकर वे (भिक्षु) आम तौरसे जिस स्थानपर इकट्ठा होते हैं, वहाँ आकर सबके बैठ जानेपर एक वाचक सिंहासन पर बैठ

[1] Capuchin fathers

एक छोटा सूत्र पढ़ता है। ऐसे समय पढ़नेके लिये जिन ग्रन्थोंका उपयोग किया जाता है, उनमें से एक है...जिसे अश्वघोषने संग्रहीत किया है। उसके पहले भागमें दश गाथायें हैं, दूसरे भागमें बुद्ध-वचनके कुछ भाग हैं और तीसरे भागमें दशसे अधिक गाथायें हैं, जिनमें पुण्यानुमोदनकी प्रार्थना है। पाठके बाद एकत्रित भिक्षु 'साधु साधु' करते हैं। वाचक नीचे उतरता है और भिक्षु क्रमसे सिंहासनको प्रणाम करते हैं।"[1]

तिब्बतने अपने यहाँ सुरक्षित बहुमूल्य संस्कृत-ग्रन्थोंको हमारे लिये सुलभ कर दिया, पचास-साठ अनमोल ग्रन्थोंके फोटो भी आकर पटनामें ग्यारह वर्षसे पड़े हैं, किन्तु हमारे देशको उनकी परवाह नहीं! उसके पास इसके लिये रुपया नहीं!!

तिब्बत आज तक पिछड़ा हुआ देश था, किन्तु अब वह बहुत दिनों तक पिछड़ा नहीं रह सकता। सिङक्याङकी भाँति वह भी चीनका अंग है। पुराने चीनकी जगहपर नवीन चीन हमारी आँखोंके सामने उठ रहा है, जो तिब्बतको पिछड़ा और उपेक्षित नहीं रख सकता। तो भी तिब्बतके प्रति हमारे भी कुछ सांस्कृतिक कर्त्तव्य हैं।

स्रोत-ग्रंथ

१ सांकृत्यायन राहुल: तिब्बतमें बौद्धधर्म।
२ ,, ,, तिब्बतमें सवा बरस।
३ ,, ,, मेरी तिब्बत-यात्रा।
४ ,, ,, मेरी जीवन-यात्रा (२)।
५ ,, ,, मध्य-एशियाका इतिहास २ जिल्द

[1] तकाकुसूका अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १५३-५४।

अध्याय २

मंगोलिया

§१—भौगोलिक

(१) भूगोल—

भारतसे उत्तर तिब्बत और उससे उत्तर चीनके प्रदेशोंको पार कर रेगिस्तान और पहाड़ोंसे घिरा बाइकाल सरोवर तक फैला मंगोलिया देश है। वह उत्तर-पश्चिममें अल्ताई, उत्तरमें सयान, पूर्वमें महत्तरखिंगन, दक्षिणमें इन्शान् तथा अल्ताई, होलन्शान् और दक्षिण-पश्चिममें ननशान्से घिरा है। इस प्रकार पहाड़ोंसे घिरा यह दूसरा तिब्बत है। समुद्रसे दूर होनेके कारण वर्षाकी यहाँ कमी रहती है। उसका बहुत-सा भाग मरुस्थल या अर्धमरुस्थल है और कुछ भाग छोटी पहाड़ियों जैसा है। मरुस्थल एक तरह मध्य-एसियाके मरुस्थलका ही बड़ा भाग है। इसके चार स्वाभाविक विभाग हैं।

(१) **प्रथम**—उत्तर-पश्चिमी मंगोलियामें कितने ही काफी ऊंचे पहाड़ हैं, जिनमें कितनी ही झीलें हैं, जैसे- कब्दो, दुर्गा, अचित्, उरियू, किरगिज़, उब्सा। यह पशुचारणके लिये आदर्शभूमि है। नीचे हरीभरी घासकी उपत्यकायें हैं और ऊपर पहाड़ियोंपर देवदार एवं भूर्जके वृक्ष। यहांकी झीलें नदियोंसे सम्बद्ध होनेके कारण सभी मीठे पानीकी हैं। मंगोलियाका यह भाग राजनीतिक तौरसे सोवियत्-संघका एक अंग है।

(२) भाग—

(क) बाहरी मंगोलिया—यह गोबीकी विशाल मरुभूमिसे साइबेरिया तक फैला हुआ पहाड़ी इलाका है। पश्चिममें खंगाई पर्वत-माला और पूरबमें महत्तर खिंगनके कारण तीन तरफ इसकी सीमा प्राकृतिक है। उत्तरमें सोवियत सीमाके भीतर बुर्यत् मंगोलोंका अपना स्वायत्त प्रजातंत्र बाइकाल सरोवरके तीन तरफ फैला हुआ है। सेलेंगा और आमूर जैसी महानदियोंका उद्गम यहीं है। सेलेंगाकी शाखा ओर्खोन बहुत ऐतिहासिक नदी है। इसीके किनारे हूणों, उइगुरोंकी राजधानियां थीं। यहीं छिंगीस खानकी राजधानी कराकोरम थी, जहां यूरोप और एसियाके राजा-राजदूत, व्यापारी-पुरोहित महान खाकानके दरबारमें मुजरा बजानेके लिये जाते थे। सेलेंगा नदी बाइकाल झीलमें गिरती है, दूसरी नदियोंके निकलनेके कारण जिसका पानी खारा नहीं है। बाह्य मंगोलियाकी अधिकांश भूमि घासके पहाड़ी मैदानों जैसी है, जहां चिरकालसे मंगोलोंके घोड़ों, ऊँटों और चमरियोंके झुण्ड चरा करते रहे हैं। यह स्मरण रखनेकी बात है, कि एक घोड़ेको अच्छी तरह चरनेके लिये ९ एकड़ भूमिकी अवश्यकता होती है। यहां एकड़ोंकी कमी नहीं है। घोड़े यद्यपि टांघन हैं, पर वे बहुत मजबूत होते हैं। हूणों एवं मंगोलोंके लिये तो ये मांस, दूध और सवारी सबका काम देते रहे हैं। जनसंख्या यहांकी १० लाख है।

(ख) गोबी—यह मंगोलियाके बीचोबीच विशाल मरुभूमि है। चीनी लोग इसे हान्-हाई (शुष्क सागर) कहते हैं। वस्तुतः है भी यह सूखा सागर ही; क्योंकि यह चारों ओर ऊँची पहाड़ियोंके भीतर निचली भूमि है। किसी समय यहां समुद्र रहा होगा, जो धीरे-धीरे सूख गया। भूगर्भशास्त्रियोंने यहां बहुतसे युगों पहिले लुप्त हो गये महाशरटोंके कंकाल ही नहीं, उनके अंडे तक प्राप्त किये हैं!

(ग) आन्तरिक मंगोलिया—इसके उत्तरमें गोबी, दक्षिणमें कृषि-प्रधान चीनके प्रदेश, पूरबमें मंचूरिया और पश्चिममें कन्सू प्रान्त है। चहार, सुइयान और निङशा आदि इसीके भाग हैं। इसीके दक्षिणमें मंगोलोंके ही पूर्वज हूणोंके डरसे चीनियोंने महादीवार बनवायी थी। यह भी पशु-चारणके लिये बहुत सुंदर भूमि है, और इसका बहुत-सा भाग हरेभरे घासके मैदानों एवं जंगलोंसे ढँका है। इसके पहाड़ोंमें १५०००फुटसे ऊपरके शिखर हैं और होलन्शान-पर्वतमाला १० हजार फुटसे अधिक ऊंची है। सारे मंगोलोंकी जनसंख्या है प्रायः ४५ लाख (बाहरी मंगोलिया १० लाख, बाकी ३५ लाख)।

§ २–धर्म-प्रचार

चीनके इतिहासको जबसे प्रामाणिक तौरसे जाना जा सकता है, तभीसे मंगोलियाको हम इतिहासमें प्रविष्ट देखते हैं। यह उन्हीं हूणोंकी भूमि थी, जिनसे पहले पहल चीनियोंको भुगतना पड़ा और उन्होंने महादीवार बनाकर अपनी रक्षा करनी चाही; किन्तु उसने उतनी सहायता नहीं की। शांतिका हथियार उनपर नहीं चल सकता था, दान और दण्ड-से साधारण ही रोक थाम हो सकती थी; किन्तु सबसे उपयोगी सिद्ध हुआ था विभेद या फूटका हथियार। इसके कारण हूणोंकी एक बड़ी संख्याको देश छोड़कर भागनेके लिये मजबूर होना पड़ा और वह दन्यूब तकके देशोंके लिये कराल काल-से बन गये।

(१) बौद्धधर्मका प्रथम प्रवेश—

अन्यत्र[1] हम लिख चुके हैं, कि कैसे हूणोंके प्रहारके कारण शकोंको अपनी मातृभूमि शकद्वीपके पूर्वी भाग (ह्वाङ्होसे वोल्गा तक) को खाली करके दक्खिनकी तरफ भागना पड़ा। ईसापूर्व द्वितीय सदीमें जब शकोंका निष्क्रमण आरंभ हुआ, तभीसे इली और चू नदियोंकी उपत्यकायें हूणोंकी चरभूमि बन गईं और तभीसे तरिम-उपत्यकाके साथ भी उनका घनिष्ट संबंध हुआ। तो भी रक्त-संबंध उतना घनिष्ट नहीं हुआ, जितना कि उनके वंशज तुर्कोंका इस्लामके आगमनके बाद हुआ, और जिसके कारण वहाँकी पुरानी तुखार और शक जातियां अपनी भाषा और स्वरूपको खो बैठीं। लेकिन तरिम-उपत्यकाके निवासियों द्वारा संस्कृतिके साथ-साथ धर्मका भी संदेश हूणोंमें ईसापूर्व प्रथम शताब्दीमें ही पहुंच गया था। यह धर्म था बौद्ध-धर्म, जिसका प्रथम बीज वहां ईसापूर्व दूसरी शताब्दी तक पड़ गया था। हूणोंके बाद अवारों और तुर्कोंमें भी बौद्धधर्मका प्रचार हुआ, तुर्कोंमें तो और भी अधिक, क्योंकि वह तरिम-उपत्यका में ही नहीं, चीन-सम्राट्के दरबारमें भी बौद्धधर्मका बहुत आदर देखते थे। तुर्कोंके बहुतसे खानोंके नाम संस्कृत[1]में मिलते हैं, जिससे जान पड़ता है कि वह तिब्बत या चीनवालोंकी भाँति

---

[1]मध्य-एसियाका इतिहास (१)

नामोंका भी अनुवाद नहीं करते थे। तुर्कोंके साथ उनके भाई-बंधु उइगुर भी बौद्धधर्ममें दीक्षित हो चुके थे, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि इन उत्तरी घुमंतुओंमें बौद्धधर्म छोड़ दूसरा धर्म प्रचलित नहीं था। उनमें मानीका धर्म भी मौजूद था, जिसे एक बार उइगुरोंने राजधर्म घोषित किया था। नेस्तोरीय और ज़र्तुश्ती भी उनके भीतर थे, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि बौद्धधर्म अधिक प्रचलित था। छिंगीस खानने उइगुरोंको जीतकर उनकी लिपि अपनाई, उनकी विद्या सीखी। फिर कैसे हो सकता था, कि छिंगीसके बेटे पोते बौद्धधर्मसे परिचित न होते। आजके मंगोल विद्वानोंमें भी एक परम्परा सुननेमें आती है, जिसके अनुसार तिब्बती लामाओं और तिब्बती साहित्यके सम्पर्कमें आनेसे पहले ही मंगोलोंको कुछ कुछ बौद्धधर्मसे परिचय हो चुका था।

(२) मंगोल-सम्राटोंके समय बौद्धधर्मः—

हम चीनके प्रकरणमें बतला चुके हैं, कि किस तरह स-क्याके लामा फग्स्-पा ने कुबिलेके दरबारमें शास्त्रार्थमें विजय प्राप्त की और पीछे खानने उसे अपना धर्मगुरु बनाया। फग्स्-पाके गुरु तथा चचा स-क्य महापंडित आनंदध्वजने पहले ही (१२४६) मंगोलोंमें जाकर धर्म-प्रचार किया था। हाँ, जहां तक मंगोल-भाषामें बौद्ध-पुस्तकोंके अनुवादका संबंध है, वह शायद कुबिलेखानसे पहले आरंभ नहीं हो पाया था।

(३) मंगोलोंका साम्राज्यः—

चीनमें मंगोल साम्राज्यके बारेमें हम अन्यत्र कह आये हैं, किन्तु छिंगीस द्वारा स्थापित एवं अनुवर्द्धित मंगोल-साम्राज्य चीन-देश तक ही सीमित नहीं था, अल्ताई और कज़ाकस्तानपर छिंगीस्के एक पुत्रकी संतान शासन कर रही थी। छिंगीस्का पौत्र बातू खान पश्चिमी कजाकस्तानसे पोलैंड और पूर्वी योरपके कितने ही भागों पर शासन कर रहा था। उभय मध्य-एसिया और इली-चू उपत्यकापर छिंगीस्के पुत्र जगताई (चगताई) का वंश राज्य कर रहा था। छिंगीस्का पोता हुलाकू तथा उसके वंशज सिंधसे सीरिया और काकेशश तक राज्य कर रहे थे। ये छिंगीस्-वंशी खान पीछे केन्द्रबद्ध न हो स्वतंत्र हो गये, किन्तु तो भी वह एक दूसरेके साथ अपने पैतृक तथा सांस्कृतिक संबंधको बनाये रखना चाहते थे। चीन और मंगोलियाको छोड़ एक-एक कर सभी खानोंको इस्लाम कबूल करना पड़ा, किन्तु उन्होंने यह तब किया, जब राजवंश बहुत कुछ निर्बल हो चुका था और अपनी मुस्लिम प्रजा और सामंतोंकी सहानुभूतिसे वह अपनी आयुको कुछ और बढ़ती देख रहे थे। १२६० ई० के आसपास कुबिलेके बौद्ध हो जानेपर तो छिंगीस् घरानेके सभी खानोंमें बौद्ध-पूजा-प्रतिष्ठा फैशन-सी बन गई थी।

* * * *

मंगोल जातीय जीवनकी विशेष घटनायें निम्न प्रकार हैं—

१९६२-१२२७ छिंगीस् खान

१२७९-१३६८ चीनका मंगोल (युआन) राजवंश।

१४७० तायन खानने सभी मंगोलोंको एकताबद्ध किया।

१५७१ चीनके पश्चिमी मंगोलोंका राजा मान लेनेपर अन्दाके आक्रमणोंका अंत

	हुआ। अन्दा आन्तरिक मंगोलियाका शासक था।
१६८९.	सभी मंगोलोंने मंचू-सम्राट्को अपना राजा स्वीकार किया।
१७५७ई०	पश्चिमी मंगोल (कलमक़) साम्राज्यका ध्वंस।
१९१२.	बाहरी मंगोलिया चीनसे स्वतंत्र हो गया।
१९१४.	आंतरिक मंगोलियाको जेहोल, चहार, सुइयान और निङस्याके चार भागोंमें विभक्त कर दिया गया।
१९१९.	बोल्शेविक क्रांतिसे बाध्य होकर चीनने मंगोलियाको स्वायत्त-शासनका अधिकार दिया।
१९२४.	बाहरी मंगोलिया चीनसे अलग हो गया।
१९४६.	बाहरी मंगोलिया स्वतंत्र राज्य स्वीकृत हुआ।

× × ×

(कल्मक)—कल्मक मंगोल-जातिका ही एक कबीला है, जिसने १७वीं १८वीं शताब्दीमें अल्ताईसे लेकर कास्पियन सागर तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था और एक समय मालूम होने लगा था कि उभय मध्य-एसिया उनके हाथमें चला जायेगा। लेकिन १८वीं सदीके मध्यमें पहुंचते-पहुंचते तोपों और बारूदवाले हथियारोंकी शक्ति ही प्रबल नहीं हो चुकी थी, बल्कि अब उनके बनानेके लिये बड़े कारखानोंकी अवश्यकता थी और वह मंगोल तंबुओंमें नहीं बन सकते थे; इसलिये जब पलासीके युद्ध (१७५७ ई०) के समय नये हथियारोंसे सुसज्जित सेना पहुंची, तो कल्मकोंको परास्त होना पड़ा और उभय मध्य-एसियाके मुसलमानोंने संतोषकी सांस ली। इन्हीं कल्मकोंकी संतान वोल्गाके दोनों तटोंपर जाकर बस गई थी, जिनमें बायें तटके कल्मक १८वीं शताब्दीमें ही दारुण विपत्ति और मौतका शिकार होते स्वदेश लौट गये, किन्तु दाहिने तटवाले १९४१ ई० तक वहीं अपना स्वायत्त प्रजातंत्र बनाये पड़े रहे और जब हिटलरकी सेनायें वहां पहुँची, तो वह भी कास्पियनके पश्चिमी तटकी इस भूमिको छोड़ स्वदेश लौट गये। ल्हासाके महाविहारोंमें सोवियत क्रान्तिके पहले तक हर साल पचासोंकी संख्यामें कल्मक तरुण पढ़नेके लिये आया करते थे—कल्मकोंके दूसरे नाम ओइरोत और जुङगर भी हैं। पांचवें दलाई लामाको सारा तिब्बत जीतकर देनेवाली सेना और उसका सेनापति गूश्री-खान (हो-शद्) कल्मक मंगोल था।

आज प्रायः सारे मंगोल बौद्ध हैं, जिनमें बाइकाल तटवर्ती बुरियत तथा बाहरी मंगोलियाके खलखा शिक्षा-दीक्षामें बहुत आगे बढ़े हुये हैं।

§३. भारतीय ग्रंथोंके अनुवाद—

(१) आरम्भिक अनुवाद—

मंगोलोंमें धर्म-प्रचार करनेमें तिब्बतके बौद्ध-धर्माचार्योंको बहुत कठिनाई नहीं हुई। जो भी प्रतिद्वंद्विता थी, वह कुबिलेखानके दरबारमें ही खतम हो चुकी थी। कुबिलेने फग्स-पाको कूबो-सी (राजगुरु) की उपाधिसे भूषित किया था और उसे मध्य-तिब्बत, खम्स और अम्दोके प्रदेश गुरुदक्षिणामें दिये थे। फग्स-पा १२ साल तक चीनमें रहा। उसने मंगोल भाषा लिखनेके लिये एक लिपि भी तैयार की, जो अधिक उच्चारणानुरूप थी; लेकिन लिखनेमें

समय और स्थान अधिक लेती थी, इसलिये थोड़ेसे अभिलेख और आज्ञापत्र ही उसमें निकाल पाये। कुबिलेके परिवारमें बौद्धधर्मका प्रवेश अच्छा हो गया था। उसके एक पोतेका नाम आनंद खान और बेटेका मंगल खान था। यही नहीं, छिंगीसकी एक बहू जगताई (१२२७-४२ ई०)की पत्नीका नाम धर्मश्री था। आदिम अनुवादोंमें एक आचार्य शांतिदेवका सुमधुर ग्रंथ बोधि-चर्यावतार भी है, जिसे लामा छोस्-कि-ओद्-ज़िन (धर्मप्रभाधर) ने किया था। यह और आगेके अनुवाद भी संस्कृतसे नहीं, बल्कि तिब्बती भाषासे हुये। मंगोल-सम्राटोंके समय जो अनुवाद हुये थे, उनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

कुछ प्रवचन—लो-च-वा-शेस्-रब-सेङ-गे और लामा द्गऽ-वा, ब्चोन्-नम्स् (स-स्क्या)

सप्तर्षि नक्षत्रसूत्र—तुब्-तेमुर खानके समय १३३० ई० में अनुवादित हुआ।

(२) विशाल अनुवाद-कार्य—

इन आरंभिक प्रयत्नोंके बाद मंगोल-भाषामें भारतीय ग्रन्थोंका विशाल अनुवाद-कार्य तब हुआ, जब कि स्वयं मंगोल तिब्बती भाषामें अनूदित भारतीय शास्त्रोंके महान् पंडित होने लगे। यह याद रखनेकी बात है, कि तबसे आज तक तिब्बतके बड़े-बड़े महाविद्यालयोंमें सबसे अधिक मेधावी छात्र और प्रगाढ़ पंडित मंगोल होते रहे हैं।

यह सुभीता उन्हें तब मिला, जब चोङ-ख-पा सुमति कीर्ति (१३५७-१४१४ ई०) और उसके शिष्योंने तिब्बतमें नालंदा-विक्रमशिलाके नमूनेपर बड़े-बड़े महाविद्यालय (डे-पुङ-से-रा, गन्-दन्, टशील्हुन्-पो) स्थापित किये, जिनमें मंगोल भिक्षु हजारोंकी संख्यामें आकर पढ़ने लगे। मंगोल खान यद्यपि अब चीनके सम्राट् नहीं थे, तो भी वह इन विहारों एवं लामाओंकी सहायता-में सदा तत्पर रहते थे। अल्तन खानके राज्यकालमें तीसरे दलाई लामा मंगोलिया गये और उन्होंने देवताओंके सामने पशुबलि बंद करा दी। तृतीय दलाई लामाका देहांत मंगोलियामें ही हो गया। चौथे दलाई लामाका अवतार भी मंगोल-घरमें हुआ था, यह मंगोल-जातिके लिये बड़े सम्मानकी बात थी, और इससे यह भी समझमें आ जाता है, कि मंगोल क्यों बौद्धधर्मको अपनी जातीयताका अभिन्न अंग समझते हैं। पांचवें दलाई लामाके समय जब तिब्बतमें चोङ-ख-पा के अनुयायी भिक्षुओं पर अत्याचार हुये, तो मंगोल सेनाने आकर सारा तिब्बत जीत १६४२ ई० में पांचवें दलाई लामाको अर्पित कर दिया; जिसके कारण हाल तक तिब्बतमें धर्माचार्यका राज्य चलता रहा।

तिब्बतके लामाओंके दूर होनेके कारण मंगोलियाकी राजधानी उर्गा (उलान्बातुर) में एक और अवतारी लामा तैयार किया गया था, जिसे लामा तारानाथ (तिब्बत) का अवतार माना जाता था।

× × ×

तिब्बती भाषामें भारतीय ग्रन्थोंके अनुवादोंके दो बड़े-बड़े संग्रह हैं, जिनमें बुद्धके वचनके अनुवादको कन्-जुर कहते हैं और बाकी दर्शन, तर्क, साहित्य आदि संबंधी मूल और टीका ग्रन्थोंके अनुवादको तन्-जुर। पहलेमें १०३ पोथियां हैं और दूसरे में २३५। प्रत्येक पोथीमें आठ-नौ हजार श्लोकोंके बराबर सामग्री रहती है। कन्-जुरका अनुवाद चहारके कागान लेग्-दन् ऊ्-तुकुतू (१६०३-३४) के शासनकालमें हुआ था। यह सारी ग्रंथराशि १६२३ ई० में सिर्फ एक सालमें अनुवादित कर दी गयी। महान् पंडित कुन्-गा ओद्-ज़ेर (आनन्दप्रभ) की अधीनता-

में सैकड़ों उभय-भाषाविशारदोंने इस अनुवाद-कार्यमें भाग लिया था। पीछे इस अनुवादका संशोधन करके औरंगजेब-कालीन चीन-सम्राट् शेङ-चू या खाङ-सी (१६६२-१७२२ ई०) ने ब्लाकमें छपवाया।

मंचू-संम्राट् चियेन्-लुङ (१७३६-९५) ने तन्-जुरके ग्रन्थोंका अनुवाद करवाया। चन्-स्क्या रोल्-पइ-दो-र्जे और ब्लो-ब्ज़ङ ब्स्तन्-पइ ञिमा इन दोनों विद्वानोंके अधीन अनुवादका काम निष्पन्न हुआ। पहले इन विद्वानोंने अनुवादके लिये तिब्बती-मंगोलकोश तैयार किया, फिर एक वृहद् व्याकरण बनाया, तब उन्होंने अनुवादके काममें हाथ लगाया। कन्-जुरकी भांति यहां भी सैकड़ों विद्वानोंने लगकर १७४० ई०में काम समाप्त कर दिया। इन विद्वानोंको संस्कृतके ज्ञानकी अवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्होंने संस्कृतसे नहीं तिब्बती अनुवादोंसे अपने अनुवाद किये। किन्तु अनुवाद-कार्य आसान नहीं था। अनुवाद किये जानेवाले ग्रन्थोंमें अश्वघोष-का **बुद्धचरित** कालिदासका **मेघदूत** ही नहीं थे, बल्कि नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, दिङनाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित जैसे महान् दार्शनिकों तथा अष्टांगहृदय जैसे आयुर्वेदके गंभीर ग्रन्थ सम्मिलित थे।

मंगोल अनुवादमें कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जो तिब्बतीमें नहीं थे। काश्यप मातंगके "द्विचत्वारिंशत्सूत्र" का अनुवाद चीनीसे किया गया था और पञ्चतंत्र, सिंहासनबत्तीसी, (सिंहासनद्वात्रिंशतिका) जैसे ग्रन्थोंका शायद उइगुर भाषासे मंगोलमें अनुवाद हुआ। हो सकता है, ऐसे कुछ और भी संस्कृत-ग्रन्थोंके अनुवाद मंगोल-भाषामें हों, जिनका तिब्बती और चीनी भाषामें अनुवाद नहीं था।

(३) उपसंहार—

यद्यपि मंगोल-जाति भारतीय धर्म और संस्कृतिके निकट संपर्कमें उस समय आयी, जब कि भारतसे बौद्धधर्म नामशेष हो रहा था, किन्तु वह इसे भलीभांति जानती है, कि उनके धर्म और संस्कृतिका मूल स्रोत भारत है: शाक्यमुनि लुंबिनीमें पैदा हुये, वज्रासन (बोधगया) में बुद्धत्व प्राप्त हुये, वाराणसीमें उन्होंने प्रथम धर्मोपदेश दिया और कुशीनारा (कसया) में निर्वाण प्राप्त किया। आज भी बइक्काल तटपर कितने ही वृद्ध-वृद्धायें मिलेंगे, जो मरनेके बाद भारतवर्षमें जन्म लेनेकी लालसा रखते हैं। वहाँ कितने ही तरुण विद्यार्थी मिलेंगे, जो दिङनाग और धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभासे मुग्ध हो भारत-भूमिके दर्शनके लिये लालायित हैं। आज सारी मंगोलभूमि समाजवादकी भूमि बन गई है, किन्तु समाजवाद संस्कृति और धर्मको अपने स्थानपर अपनी मर्यादाके भीतर रहनेको अनुचित नहीं समझता, इसलिए भारतके साथ मंगोलिया जिस सुवर्णसूत्रसे सदियोंसे बँधा हुआ है, उसके टूटनेका डर नहीं है।

स्रोत ग्रन्थ

१Prawdin : The Mongol Empire
२Mukherji, Prabhat Kumar : Buddhist Literature in Mongolia
३The Sino-Indian journal, July 1947

७. भारत—बोधगया विहार (पृष्ठ ६)

८. भारत (मुलतानगंज)—बुद्ध (पीतल) (पृष्ठ ३४)

९. भारत (साँची)—काश्यपदमन, राजगृह नगर स्वागत (पृष्ठ ३३)

२०. जापान--बोधिसत्त्व (नारा ८वीं सदी, पीतल)
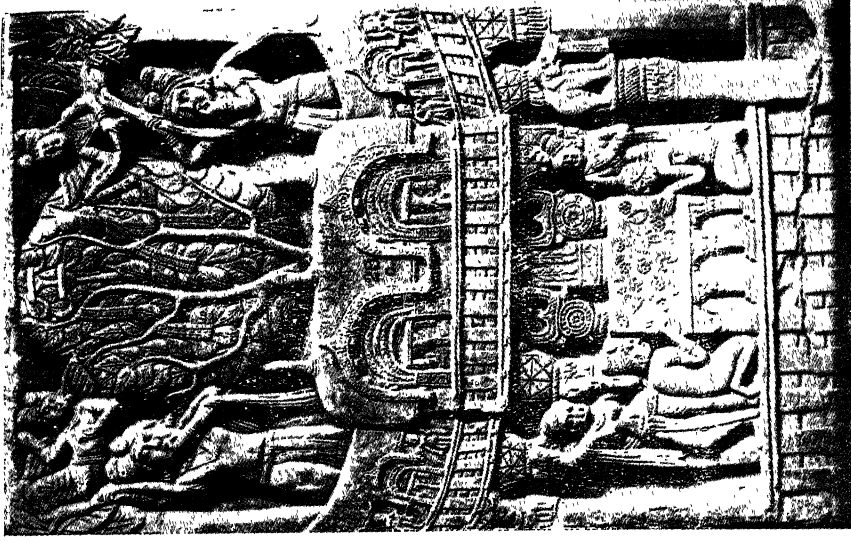
२. भारत (भरहुत)--वज्रासन (बोध गया) (पृष्ठ ६)
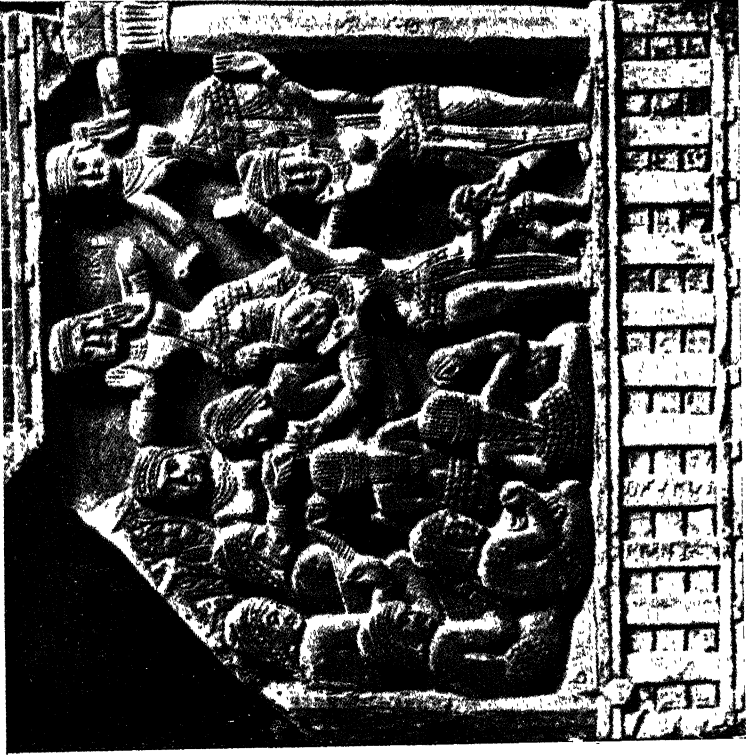
३. भारत––मारकन्यायें (पृष्ठ ६)

१६. गंधार––मैत्रेय (पृष्ठ २२६)

१४. हिन्द-चीन—बायन

४. भारत (भरहुत)—जेतवन (पृष्ठ १०)
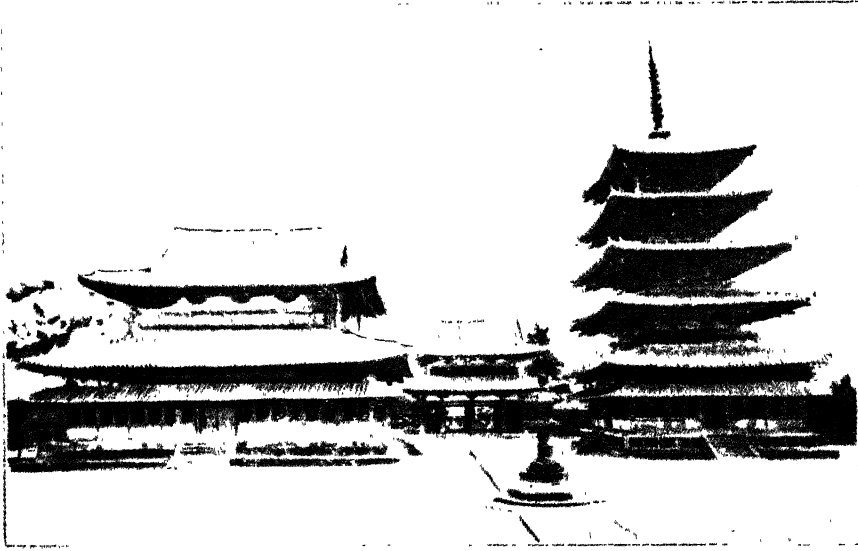
११. जापान--होरियोजी विहार (पृष्ठ ३८५)
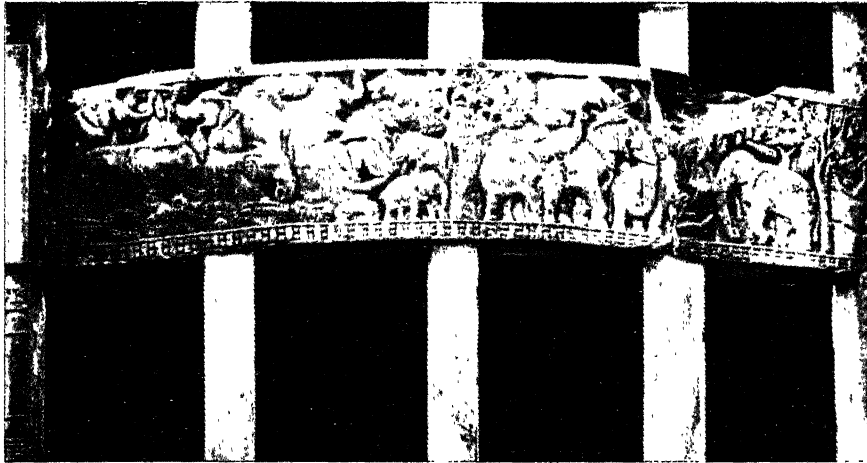
५. भारत (साँची)--छद्दन्त जातक (पृष्ठ ३३)
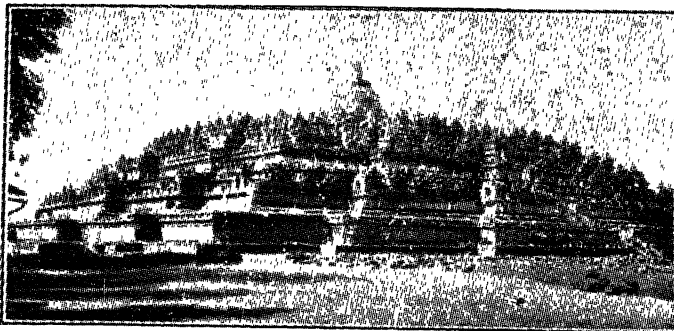
१२. बोरोवुदूर का महाचैत्य (पृष्ठ १७०)
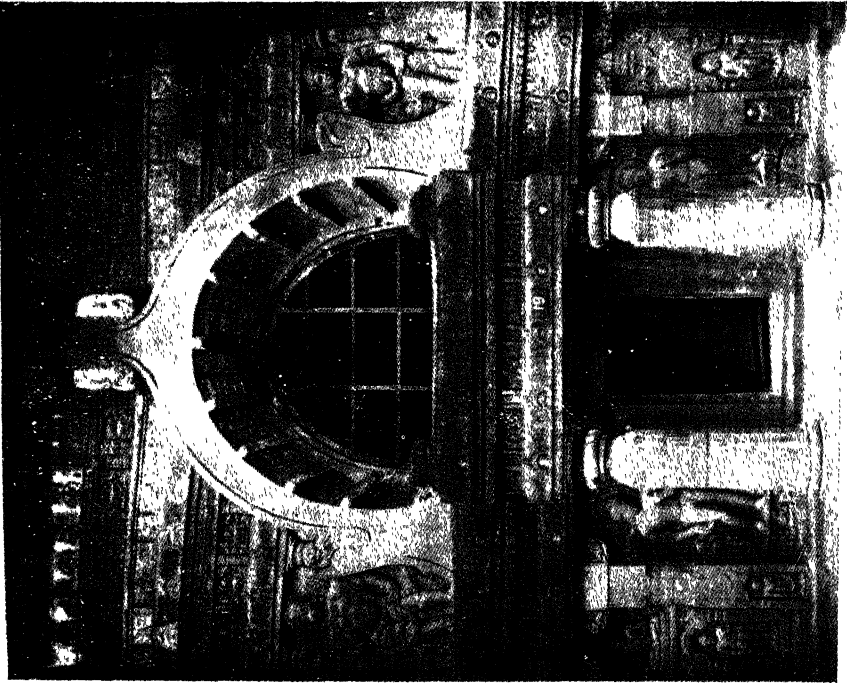
७. भारत—गुहाविहार, अजन्ता (पृष्ट ३३)
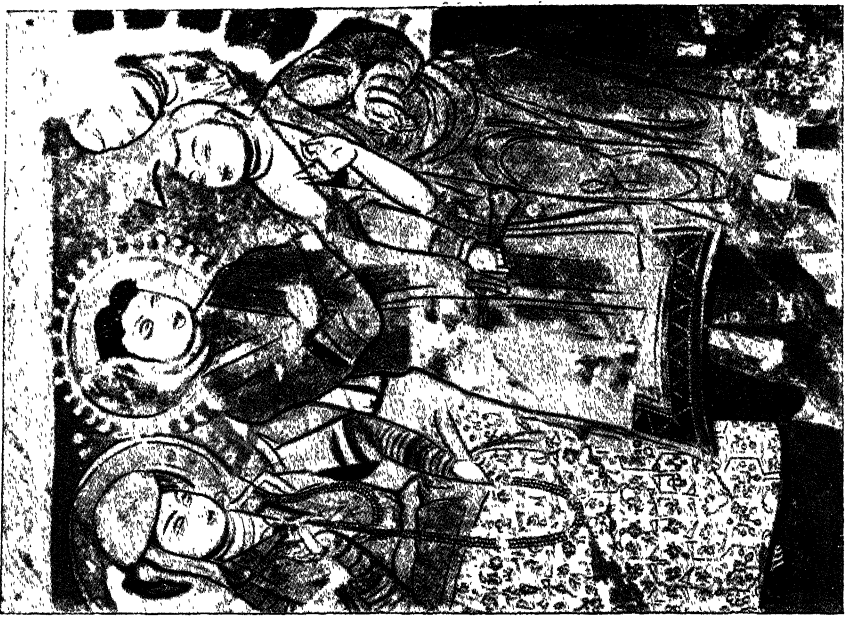
१८. मध्य एशिया—तुखार राजा-रानी (पृष्ठ २४)

९. लंका--सीगिरिय छठीं सदी (पृष्ठ ४१)
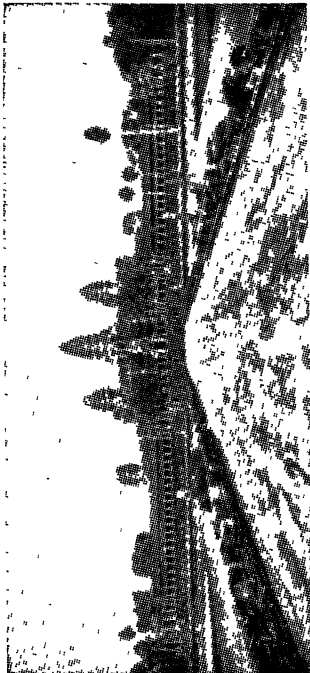
१३. कंबुज--अङकोरवात (पृष्ठ १८२)

१५. गन्धार--बुद्ध (पृष्ठ २२६)
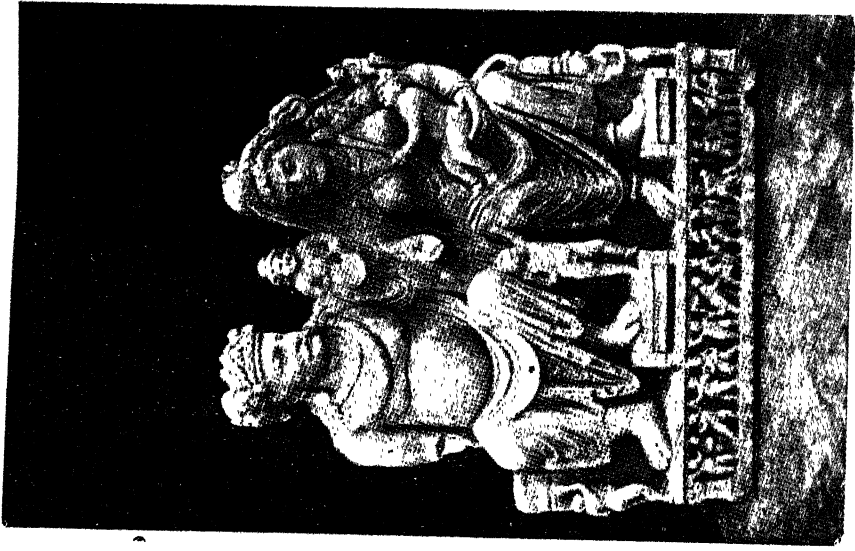
१७. गंधार (पेशावर)——कुवेर और हारीति (पृ० २२६)

१०. जावा——प्रज्ञापारमिता (पष्ठ ९७)

११. जावा——अगस्त्य (पृष्ठ ९७)

२. लंका
जाफ्ना
ता म्र प र्णि
अनुराधपुर
जंबुकोल
(लं
का)
चैत्यपर्वत
(मिहिंतले)
बत्तीकोलम
कोलंबो
कांडी
श्रीपाद ७३५२ फुट
मागम
गालल

पृष्ठ ३५

नदी चीन
मेकाङ् न
सितङ् न
अ रा का न
सालविन न
बं गाल खाडी
मांवल
हंसावती
(पेगू)
रतनपुर
(आवा)
सुधमावती
(थातोन्)
श्रीक्षेत्र
(ह्मावजा)
म र्त बान खाडी
तवाय
अयुथिया
बङ्‌काक
स्याम खाडी
३. बर्मा

पृष्ठ ४६

४. मलय-सुवर्णद्वीप

५. सुवर्णद्वीप-जावा

१. भारत

अफगान
भारत
विदेह
(कामरूप)
(विदर्भ)
अपरान्त
समुद्र
पूर्वान्त
समुद्र
सुवर्णभूमि
भारत महासागर

६. यवद्वीप

लोबबुरी
भीमपुर
(फीमेया)
महेन्द्रपर्वत
प्रेहविहेयर
कोहेकर
बतचुम्
शंभुपुर
(सम्बोर)
ला ओ
ज
बु
कं
स्या म स मु द्र
व्याधपुर
चीन समुद्र
को ची न ची न
८. कंबुज

९. चीन
तीन राज्य
(२२०-२६५-२४०ई०)

आमूर न०
ह्वाङ्हो न०
छाङ्अन्
लोयाङ्
नान्किङ्
याङ्ची न०
ल्हासा
भा र त

१०. चीन
(थाङ् वंश ७५०ई०)

११. मंगोल साम्राज्य
(१३०० ई०)